विश्वभारतीपत्रिका

अनुक्रमणिका

खण्ड २

सं० १९९९—२०००-वि०

सन् १९४३ ई०

सम्पादक

हजारीप्रसाद द्विवेदी

लेखकानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

विश्वभारती पत्रिका

खंड २, अंक ४ — कार्तिक, २०००

विषय-सूची

विश्वभारती पत्रिका

पौष, १९९९ खण्ड २, अंक १ जनवरी, १९४३

साहित्य

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

उपनिषद् ने ब्रह्मस्वरूप के तीन भाग किए हैं—सत्यम्, ज्ञानम् और अनन्तम्। चिरन्तन के इन तीन स्वरूपों को आश्रय करके मानव-आत्मा के भी निश्चय ही तीन रूप हैं। एक है, 'मैं हूं' और दूसरा है, 'मैं जानता हूं'; फिर और भी एक बात इसके साथ है और उसीको आश्रय करके आज चर्चा चलाने जा रहा हूं—वह है, 'मैं व्यक्त करता हूं।' अंग्रेज़ी में कहना हो तो कहेंगे—I am, I know, I express, मनुष्य के यही तीन पहलू हैं और इन्हीं तीनोंसे एक अखण्ड-सत्य बनता है। सत्य के ये तीन भाव हमें नाना कार्यों और चेष्टाओं में सदा उद्यत किए रहते हैं। जीवित बचे रहने के लिये अन्न चाहिए, वस्त्र चाहिए वासस्थान चाहिए और स्वास्थ्य चाहिए। इन्हींके लिये मनुष्य नाना भांति के संग्रह, रक्षण और गठन कार्य में लगा रहता है। "मैं हूं" सत्य का यह भाव उससे नाना प्रकार के कार्य कराता है। इसीके साथ लगा हुआ है—"मैं जानता हूं"—इसका तक़ाज़ा भी कम नहीं है। मनुष्य के जानने का आयोजन बहुत विस्तृत है और वह केवल बढ़ता ही जा रहा है, उसकी क़ीमत को मनुष्य बहुत अधिक मानता है। इसीके साथ मानव सत्य का और भी एक पहलू है—"मैं प्रकाश करता हूं या व्यक्त करता हूं।" "मैं हूं" यह ब्रह्म के सत्यस्वरूप के अन्तर्गत है, "मैं जानता हूं" यह ब्रह्म के ज्ञानस्वरूप के अन्तर्गत है, और "मैं प्रकाश करता हूं" यह ब्रह्म के अनन्त-स्वरूप के अन्तर्गत है।

'मैं हूं' इसकी रक्षा करना जिस प्रकार आत्मरक्षा है—उसी प्रकार 'मैं जानता हूं' इस सत्य की रक्षा करना भी आत्मरक्षा ही है,—क्योंकि मनुष्य का स्वरूप ज्ञान-स्वरूप है। इसलिये केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि मनुष्य जाने कि किस प्रकार और क्या खाने से हमारी पुष्टि होगी बल्कि अपने ज्ञान-स्वरूप की खातिर उसे रातों जागकर पूछना पड़ता है कि उस मंगलग्रह में वे जो चिह्न-जाल दिखाई दे रहे हैं वे क्या हैं? ऐसी जिज्ञासा से, खूब संभव है, उसकी दैनिक जीवन-यात्रा में अनेक असुविधाएं आ जायं, उसे कष्ट उठाने पड़ें। अतएव मनुष्य के ज्ञान-विज्ञान को उसकी ज्ञानमय प्रकृति के साथ संगत करके जानना ही ठीक जानना है, उसकी प्राणमय प्रकृति के साथ एकान्त युक्त करके जानना ठीक जानना नहीं है।

मैं हूं, मुझे बना रहना होगा, यह बात जब संकीर्ण सीमा में होती है तब आत्मरक्षा और वंश-रक्षा केवल हमारे अहं को जकड़कर पकड़े रहती है। किन्तु जब मनुष्य कहता है कि औरों के बने रहने में ही मेरा बना रहना है, तो जिस परिमाण में वह इस बात को मानता है उसी परिमाण में अपने जीवन में अनन्त का परिचय देता है, उसी परिमाण में उसके लिये मैं हूं और दूसरे हैं—इन दो बातों का व्यवधान दूर हो जाता है। दूसरों के साथ ऐक्य-बोध का यह जो माहात्म्य है वही आत्मा का ऐश्वर्य है, इसी मिलन की प्रेरणा से मनुष्य अपनेको नाना भांति से प्रकाश करता रहता है। जहां मनुष्य अकेला है वहां उसका प्रकाश नहीं है। जीवित रहने की असीमता को अर्थात् 'औरों के बने रहने में अपने बने रहने' की अनुभूति को मनुष्य अपने ही व्यक्तिगत शुद्ध दैनिक व्यवहार के भीतर प्रच्छन्न नहीं रख सकता। ऐसी अवस्था में उस महाजीवन के प्रयोजन-साधन के उद्देश्य से वह नाना भांति की सेवा और त्याग में प्रवृत्त होता है और इस महाजीवम के आनंद और आवेग को साहित्य में, चित्रकला में, मूर्तिशिल्प में गान में, प्रकाशित करता रहता है।

पहले ही कह चुका हूं कि सिर्फ अपने आपको बनाए रखने के व्यापार में भी ज्ञान की आवश्यकता है। किन्तु उस ज्ञान में दीप्ति नहीं होती। ज्ञान के राज्य में जहां असीम की प्रेरणा है वहां मनुष्य की शिक्षा का विशाल आयोजन है, कितनी ही पाठशालाएं हैं, विश्वविद्यालय हैं, निरीक्षण हैं, परीक्षण हैं, आविष्कार हैं, उद्भावनाएं हैं। वहां मनुष्य का ज्ञान सार्वजनिक और सार्वकालिक होकर मानवात्मा के सर्वत्र प्रवेश के अधिकार की घोषणा कर रहा है। इस अधिकार का विचित्र आयोजन विज्ञान में और दर्शन में विस्तृत होता रहता है किन्तु उसका विशुद्ध आनन्द-रस नाना रचनाओं के द्वारा साहित्य और आर्ट में प्रकाशित होता रहता है।

तभी देखता हूं कि पशुओं की तरह मनुष्य की भी जिस प्रकार बने रहने की इच्छा प्रबल है, पशुओं के समान मनुष्य को भी जिस प्रकार प्रयोजनीय ज्ञान के प्रति सदा सचेष्ट

कौतूहल रहता है, इसी प्रकार मनुष्य के पास और भी एक चीज़ है जो पशुओं के पास नहीं है। यह वस्तु लगातार उसे केवलमात्र प्राणधारण करने को जो सीमा है उससे बाहर ले जाती है। यही प्रकाश-तत्त्व है।

प्रकाश या अभिव्यक्ति का संबंध ऐश्वर्य से है। जहां मनुष्य दीन है वहां उसमें प्रकाशन की योग्यता भी नहीं है। ऐसी हालत में वह जो कुछ संग्रह कर लाता है उसे ही खाता है। जिस वस्तु को स्वयं ही पूरी तरह से शोषण करके हम निःशेष नहीं कर देते उसके द्वारा ही प्रकाश (अभिव्यक्ति) संभव है। लोहा गर्म होते होते जब तक दीप्तताप की अवस्था तक नहीं पहुंच जाता तब तक उसमें प्रकाश नहीं होता। आलोक ताप का ऐश्वर्य है। मनुष्य के जो भाव उसके व्यक्तिगत प्रयोजन में ही समाप्त नहीं हो जाते, जिनके प्राचुर्य को वह अपने आपमें ही नहीं रोक पाता, जो स्वभावतः ही दीप्यमान हैं—उन्हींके द्वारा उसके प्रकाश (अभिव्यक्ति) का उत्सव चलता है। रुपये में यह ऐश्वर्य कहां है? जहां वह हमारे एकान्त प्रयोजन को पार कर जाता है, जहां वह हमारी जेब में ही प्रच्छन्न नहीं रहता, जहां उसकी समस्त रश्मि हमारे काले-कलूटे 'अहं' के द्वारा पूरी तरह सोख नहीं ली गई है, वहीं उसमें अशेष का आविर्भाव होता है और वह अशेष ही नाना भाव में प्रकाशमान होता है। उस प्रकाश की प्रकृति ही यह है कि हम सभी कह सकते हैं कि यह तो मेरा है। वह रुपया जब अशेष को स्वीकार करता है तभी वह किसी एक अमुक विशेष व्यक्ति की भोग्यता के मलिन संबंध से मुक्त होता है। अशेष के प्रसाद से वञ्चित उस विशेष भोग्य रुपये की बर्बरता से ही सारी वसुंधरा पीड़ित है। दीनता के भार से बढ़कर दूसरा भार नहीं है। रुपया जब दैन्य का वाहन होता है तब उसके पहिये के नीचे कितने ही मनुष्य चूर्णविचूर्ण होकर धूल में मिल जाते हैं। उसी दैन्य का नाम प्रताप है, वह आलोक नहीं है, सिर्फ दाह है,—वह जिसकी चीज़ है केवल उसीकी है, इसीलिये उसे अनुभव किया जा सकता है, स्वीकार नहीं किया जा सकता। निखिल के इस स्वीकार करने को ही प्रकाश कहते हैं।

प्रताप के इस रक्त-पंकिल अशुचि स्पर्श को प्रकृति अपनी श्यामल धारा से पोंछ दिया करती है। फूल-समूह सृष्टि के अन्तःपुर से सौन्दर्य की डाली सजा लाते हैं और मारे लाज के प्रताप के कलुषित पदचिह्नों को बारबार ढंके दे रहे हैं। वे बताए दे रहे हैं कि हम छोटे हैं, हम कोमल हैं, किन्तु फिर भी चिरन्तन हैं, क्योंकि सभी हमें वरण कर लेते हैं। और वह जो घूंसा ताने हुए विभीषिका है, जो पत्थर सजाकर अपने क़िले को अभ्रभेदी बनाती जा रही है, वह कुछ भी नहीं है, क्योंकि उसके खुद के सिवा और कोई भी उसे स्वीकार नहीं करता—माधवी-वितान की सुंदरी छाया भी उसकी अपेक्षा अधिक सत्य है।

यह जो ताजमहल है—ऐसा अपूर्व ताजमहल—इसका कारण यह है कि शाहजहां के हृदय में उनके प्रेम ने, उनकी विरहवेदना के आनन्द ने, अनन्त को स्पर्श किया था; अपने सिंहासन को वे चाहे जिस खाने में भी क्यों न रखें अपने ताजमहल को उन्होंने अपने आप-से मुक्त कर दिया है। उसका अपना-पराया कोई नहीं है, वह अनन्त की वेदी है। शाहजहां का प्रताप जब डकैती करता है तब उसके लूट का माल चाहे जितना भी अधिक क्यों न हो, उससे उसकी थैली का भी पेट नहीं भरता, अतएव वह क्षुधा के अन्धकार में गायब हो जाता है। और जहां उसके चित्र में परिपूर्णता का आनंद उपलब्ध होता है वहां उस आकाशवाणी को वह अपने कोषागार में या अपने विपुल साम्राज्य के किसी स्थान में नहीं रख सकता; सर्वलोक और नित्यकाल के हाथ में उसे सौंप देने के सिवाय दूसरी गति नहीं रह जाती। इसीको प्रकाश—अभिव्यक्ति—कहते हैं। हमारे समस्त मंगल अनुष्ठान में ग्रहण करने का मंत्र है ॐ—अर्थात् 'हां'। ताजमहल वही नित्यउच्चारित ॐ है—निखिल लोक ने उसे स्वीकार किया है और वह स्वीकारमंत्र ताजमहल के रूप में मूर्तिमान् हो रहा है। शाहजहां के सिंहासन पर वह मंत्र नहीं पढ़ा गया—एक दिन उसकी चाहे जैसी शक्ति रही हो—वह आज 'ना' होकर न जाने कहां गायब हो गया। उसी प्रकार कितने ही बड़े बड़े 'ना' के दल आज दंभ के साथ विलुप्ति की ओर दौड़े जा रहे हैं, उनके तोपों के गर्जन और बंदियों की शृंखलध्वनि के कलरव से कान बहरे हो गए, पर वे माया हैं, वे अपनी ही मृत्यु का नैवेद्य लेकर कालरात्रि-रूपी महासमुद्र के कालीघाट की ओर जा रहे हैं। किन्तु वह जो शाहजहां की कन्या जहान-आरा थी उसका एक क्रंदन-गान? उसे लेकर हमने कहा है—ॐ।

किन्तु हम दान करने की इच्छा रखने मात्र से ही दान कर सकते हैं? यदि कहें "तुभ्यमहं संप्रददे", तो इस वाक्य के उच्चारण करते ही क्या वर आकर हाथ फैला देगा? नित्यकाल और निखिलविश्व यही कहते हैं—'यदेतत् हृदयं मम'—अर्थात् यह जो मेरा हृदय है उसके साथ तुम्हारे संप्रदान का मेल होना चाहिए। तुम्हारे अनन्तं जो देंगे, वही मैं ले सकता हूं। उन्होंने मेघदूत को स्वीकार किया है, वह उज्जयिनी की विशेष सम्पत्ति नहीं है, उसे विक्रमादित्य के पल्टन-प्यादे रखवाली करके उनके अन्तःपुर की हंसपदिकाओं के महल में नहीं रोक सके। पंडित लोग लड़ाई करते रहें कि वह ईसा मसीह के पांच सौ वर्ष पहले बना था या बाद में! उसके शरीर पर सब तारीखों की मुहर है। पंडित लोग तर्क करते हैं: वह सिप्रा के किनारे रचित हुआ था या गंगा के तट पर? पर असल में उसकी मन्दाक्रान्ता में पूर्ववाहिनी और पश्चिमवाहिनी सभी नदियों की कलध्वनि मुखरित हो रही है। फिर दूसरी ओर ऐसे बहुत से कवित्त हैं जिनकी अनुप्रासच्छटा की चमकती चिनगारियों की वर्षा से सभा के हजारों सभासद मुग्ध हो गए

हैं, परन्तु उनकी विशुद्ध स्वादेशिकता से हम कितने ही उत्तेजित क्यों न हों उन रचनाओं के देश-काल निर्दिष्ट हैं ; किन्तु सर्व देश और सर्व काल ने उनका वर्जन किया है इसलिये वे उसी प्रकार निःसन्तान रह जायंगी जिस प्रकार बंगाल के कुलीनों की अविवाहिता कन्याएं अपने व्यर्थ कुल-गौरव को केले के वृक्ष को समर्पण करके हो जाया करती थीं।

उपनिषद् में जहां ब्रह्म का स्वरूप अनन्तम् बताया गया है वहीं ब्रह्म के प्रकाश के संबंध में कहा है—'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।' यही हमारी असली बात है। संसार यदि गारद-घर ही होता तो भी सभी सिपाही मिलकर राजदण्ड की चोट मारकर भी हमें विचलित नहीं कर पाते। हम हड़ताल करके बैठ जाते, कहते कि हमारा खाना-पीना बंद हुआ, किन्तु मैं तो स्पष्ट ही देख रहा हूं कि ऐसा नहीं है ; केवल चारों ओर तगादा ही नहीं चल रहा है।

बार बार मेरा हृदय यहां मुग्ध हुआ है। इसकी क्या ज़रूरत थी ? टीटागढ़ के जूट के कारखाने में जो मज़दूर जुते रहते हैं वे मजूरी पाते हैं ज़रूर, पर उनके हृदय के लिये तो किसीको कोई परवा नहीं होती। फिर भी इस कारण कारखाने के कलपुर्जों में तो कोई गड़बड़ी नहीं आई, वे तो ठीक ही चल रहे हैं। जो मालिक लोग ४००) फ़ी सैकड़े के हिसाब से नफ़ा पाते हैं वे मन हरण करने के लिये तो एक पैसे की भी फ़िजूलखर्ची नहीं करते। लेकिन संसार में मनोहरण की तो कोई सीमा नहीं है। अर्थात् देखा जाता है कि यह केवल बोपदेव के मुग्धबोध का सूत्रजाल नहीं है, यह काव्य है। अर्थात् इस जगत् में व्याकरण तो दासी की भांति पीछे पड़ गया है और रस की लक्ष्मी आगे आगे चल रही हैं। तब इसके प्रकाश में दंडी का दंड ही स्पष्ट हो रहा है या कवि का आनंद ?

यह जो सूर्योदय है, आकाश से पृथ्वी तक सौंदर्य की बाढ़ है, इसके भीतर तो कहीं भी ज़बर्दस्त सन्तरी की चपरास का कोई चिह्न भी नहीं दिखाई देता। भूख में एक तक़ाज़ा ज़रूर है पर वह स्पष्ट ही 'नहीं' का मुहर दिया हुआ पदार्थ है। 'हां' भी है उस क्षुधा मिटानेवाले फल के भीतर जिसे रसना सरस आग्रह के साथ 'आत्मीय' कहकर अभ्यर्थना कर लेती है। तो फिर किसे हम अग्रयायी समझें और किसे अनुयायी ? व्याकरण को अग्रयायी समझें या काव्य को ? पाकशाला को या भोज के निमंत्रण को ? गृहस्वामी का उद्देश्य कहां प्रकाशित होता है ? वहां, जहां हाथ में निमंत्रणपत्र लिए और सिर पर छाता लगाए हम पैदल चलकर पहुंचे या वहां जहां हमारा पीढ़ा लगाया गया है ? सृष्टि और सर्जन तो एक ही बात हुई। गृहस्वामी ने अपने आपको विसर्जन कर दिया है, मिटा दिया है, इसीलिये हमारे प्राण जुड़ा जाते हैं—इसीलिये हमारा हृदय कहता है—'आहा, कितना आनंद हुआ!'

शुक्लपक्ष की संध्या का आकाश चांदनी से उद्भासित हो रहा है—इस बात को अब किसी

कमेटी की मीटिंग में तर्क वितर्क चल रहा हो तब भूले रहा जा सकता है, लेकिन उसके बाद दस बजे रात को मैदान से होकर जब घर लौटना पड़ता है तो घनी चिन्ता की फांक से, जो प्रकाश मेरे मन के आंगन में आ खड़ा होता है, उसे देखकर और क्या कहूं—कहता हूं, आनंदरूपममृतं यद्विभाति। वह जो 'यत्' है, आनंदरूप में जिसका प्रकाश है, वह कौन पदार्थ है? वह क्या शक्ति-पदार्थ है?

रन्धनशाला में शक्ति का प्रकाश छिपा हुआ है। किन्तु भोज के थाल में क्या वह शक्ति का प्रकाश है? मुग़ल-सम्राट् ने शक्ति को प्रकाश करना चाहा था। उस बेहिसाब ईंट-चूने के प्रकाश को क्या प्रकाश कहते हैं? उसकी मूर्ति कहां है? औरंगजेब के नाना आधुनिक अवतारों ने भी रक्त-रेखा के रूप में शक्ति को प्रकाश करने के लिये बहुत विराट् आयोजन किए हैं। किन्तु जो 'आविः' हैं, जो प्रकाश-स्वरूप हैं, जो आनंद-रूप में व्यक्त हो रहे हैं उन्होंने इस रक्तरेखा पर अभी से रबर रगड़ना शुरू कर दिया है। और उनकी आलोक-रश्मि की सम्मार्जनी ऐसे लोगों के आयोजन की गंदगी के ऊपर भी निश्चय ही पड़ने लगी है। क्योंकि आनंद ही तो उनका प्रकाश है और आनन्द में ही उनका प्रकाश है।

इस प्रकाश को आच्छन्न करके अपनी शक्ति को यदि वे आगे रख देते तो उन्हें मानने के समान अपमान हमारे लिये और कुछ नहीं हो सकता। मैं जब जापान जा रहा था तो एक बार जहाज़ भयंकर तूफ़ान में जा फंसा। मैं डेक पर बैठा हुआ था। मुझे डुबा देने के लिये हवा का एक झोंका ही काफी था। किन्तु काले समुद्र के वक्षःस्थल पर उस उन्मत्त तूफ़ान का जो नृत्य हो रहा था उसका आयोजन इसीलिये था कि हमारे भीतर जो पागल मन है उसे उन्मत्त कर दे। उस विपुल समारोह के द्वारा ही पागल के साथ पागल का आमने-सामने रहस्यालाप हो सका। डूबता तो डूब जाता—वह क्या इससे बड़ी बात होती? रुद्रवीणा के उस्ताद ने अपनी रुद्रवीणा के शागिर्द को उस फेनिल तरंग-ताण्डव के भीतर से दो-एक चक्र-वायु के तान द्रुतताल में सुना दिए। ऐसे ही अवसर पर मैं कह सका कि तुम मेरे अपने हो।

इस तूफ़ान की मूर्ति अन्तर्धान हो गई। एक दिन मेरी स्मृति भी लुप्त हो जा सकती है। किन्तु उस दिन विराट् आकाश पर प्रमत्तता का जो प्रलय-चित्र अंकित हुआ था वह बाहर से जितना भी स्वल्पकालस्थायी क्यों न हो, उस क्षण भर के समय में ही अमृत का प्रवेश हुआ था। चटकल के पास जो गंदी बस्ती है वह समय के माप से यद्यपि बड़ी है फिर भी उसे मरी हुई ही समझिए।

अब फिर प्रकृत विषय पर आया जाय। काव्य में हम जिसे छन्द में पिरोते हैं, "रूप-दक्ष" जिस रूप की रचना करता है, वह यदि आनंद का प्रकाश हो तो वह मृत्युञ्जयी है। यह

"रूप-दक्ष" शब्द हमें नया मिला है। एक प्राचीन लिपि (इन्स्क्रिप्शन्) में मिला है, यह आर्टिस्ट का बड़ा ही सुंदर प्रतिशब्द है।

काल या चित्र की समाप्ति में ही तो समाप्ति नहीं है। मेघदूत का सुनाना हो गया, चित्र देखकर घर लौट आया किन्तु मन में एक अवसाद तो नहीं ले आया। गान जब सम पर आ कर रुका तो बड़े आानंद से हमने सिर हिलाया। सम का मतलब तो रुकना है—फिर उसमें आनंद क्यों? इसका कारण यह है कि आनन्दरूप रुकने में ही नहीं रुक जाता। किन्तु रुपया ज्यों ही समाप्त हो जाता है त्यों ही तो सिर हिलाकर हम 'वाह-वा' नहीं कह उठते।

गान रुका—फिर भी वह शून्य की भांति, अन्धकार की भांति क्यों नहीं रुका? क्योंकि गान में एक ऐसा तत्त्व है जो समग्र विश्व की आत्मा में हैं—इसीलिये वह उस ॐ का आश्रय करके रह जाता है; उसके लिये कहीं भी कोई गर्त नहीं है। इस गान को हम सुनें; इसे प्रत्यक्षतः किसीने लिया या नहीं लिया, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। कितना अमूल्य धन चित्र में और काव्य में खर्च हो गया—किन्तु वह एक बाह्य घटना है, एक आकस्मिक व्यापार है। असली बात यह है कि उसने आनंद के ऐश्वर्य को प्रकाशित किया है, प्रयोजन के दैन्य को नहीं। उस दैन्य के रूप को यदि देखना चाहते हो तो जूट-मिल के कारखाने में घुसो जहां ग़रीब किसान के रक्त को चक्करमार चक्र के वेग से कई सौ गुने मुनाफ़े में परिणत किया जा रहा है। गंगा किनारे उस वटच्छाया-समाश्रित जिस क्षुद्र देवालय को लोप करके यह विस्फारित-वदन प्रकाण्ड कारखाना धुआं उगल रहा है, उस लुप्त पक्ष की अपेक्षा भी यह कारखाना मिथ्या है। क्योंकि आनंदलोक में उसका स्थान नहीं है।

वसन्त में राशिराशि पुष्प मंजरियां झरा करती हैं, इसमें डर की कोई बात नहीं है, क्योंकि उनका क्षय नहीं है। वसन्त की डाल में अमृतमंत्र है। रूप के नैवेद्य से वह बार बार भर उठती है। सृष्टि के प्रथम युग में भूमिकम्प के जिन महिषों ने अपने शृंगाक्षेप से, भूगर्भ से, तप्त-पंक उत्क्षिप्त किया था, वे फिर नहीं लौटे; जो अग्नि-नागिनियां रसातल से पृथ्वी के आवरण को तोड़कर प्रतिमूहूर्त फण-फूत्कार से मेघाच्छन्न आकाश को दंशन करने को उद्यत हुई थीं वे न जाने किस वंशी की ध्वनि को सुनकर शान्त हो गईं। किन्तु इन नवल-कोमल श्यामल दूर्वाओं के मृदुल चुंबन ने आकाश के नील नेत्रों को बारबार शीतल किया है। वे प्रतिदिन लौट आती हैं। मेरे दरवाज़े के पास कई कांटेदार झाड़ियां हैं जिनमें वसन्त के सुहाग से फूल निकल आते हैं। ये कंटकारी के फूल हैं। उसके बैगनी रंग के कोमल वक्षःस्थल में ज़रा सा पीला सोना आकाश की ओर ताकता हुआ सूर्य की किरण का जो ध्यान करता है, वह ध्यान ही मानों उसके वक्षःस्थल में मधुर होकर रह गया है। इस फूल की क्या कोई

ख्याति है ? वह क्या झर-झरके गिर नहीं पड़ता ? किन्तु उससे क्या कोई नुकसान हुआ ? पृथ्वी के बड़े बड़े पहलवानों से भी वह अधिक निर्भय है। वह अन्तर के आनंद से जीता है, वह अमृत है।

मृत्यु के हथौड़े की चोट से ही महाकाल के दरबार में अमृत की जांच होती रहती है। ईसा मसीह के मृत्यु-संवाद से यही बात खीष्टीय पुराणों में नहीं कही गई ? उनकी अमृतशिखा क्या मृत्यु के आघात से ही उज्ज्वल नहीं हो गई थी ? लेकिन एक बात हमें याद रखनी होगी—हमारी या तुम्हारी ओर से सिर हिलाने की क्रिया का पाया जाना ही अमृत का प्रकाश नहीं है। वह जहां है वहां हमारी दृष्टि नहीं भी जा सकती है, हमारी स्मृति के बांट से उसके अमृतत्व की नाप नहीं हो सकती। पूर्णता के आविर्भाव को कलेजे में ढोता हुआ यदि वह अमृत आया हो, तो उसने मुहूर्त भर में ही उस नित्य को दिखा दिया है—मेरी धारणा पर उसका आश्रय नहीं है।

शायद ये बातें तत्त्वज्ञान के कोठे में पड़ती हैं—मेरे-जैसे अनाड़ी के लिये विश्वविद्यालय में तत्त्वज्ञान की आलोचना के क्षेत्र में उतरना असंगत है। किन्तु मैं यह बात शिक्षक के मंच पर खड़ा होकर नहीं कह रहा हूं। अपने निजी जीवन की अभिज्ञता से भीतर और बाहर जो कुछ रस का परिचय मुझे मिला है, वहीं से मैंने सब समय अपने प्रश्नों का उत्तर संग्रह किया है। उसीको मैं यहां ले आया हूं। हमारे देश में परम पुरुष की एक संज्ञा है—उन्हें कहा गया है सच्चिदानंद। इसमें आनंद ही सबसे अन्तिम बात है—इसके बाद और कुछ नहीं। उसी आनंद में जब प्रकाश का तत्त्व है तब इस प्रश्न का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता कि आर्ट द्वारा हमारा कोई हितसाधन होता है या नहीं।*

---

* कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिया हुआ एक व्याख्यान।

शंकराचार्य के उपनिषद्भाष्य

विधुशेखर भट्टाचार्य

उपनिषदों के जितने भाष्य शंकराचार्य के नाम पर चलते हैं वे सभी ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार प्रधान शंकर के ही लिखे हुए हैं, यह नहीं कहा जा सकता। साधारणतः यह प्रसिद्ध है कि शंकर, रामानुज तथा अन्यान्य आचार्यों ने प्र स्था न त्र य अर्थात् श्रुति स्मृति और सूत्रों की व्याख्या की है और ऐसा करते समय उन्होंने दस प्रधान उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। परन्तु वस्तुतः यह जनश्रुति सत्य नहीं है ; रामानुज का लिखा हुआ कोई उपनिषद्भाष्य नहीं है। अथवा इस जनश्रुति की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—प्रत्येक आचार्य ने यद्यपि पृथक् पृथक् उपनिषद्भाष्य नहीं लिखे तथापि ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करते समय उन सब लोगों ने ही उपनिषदों की अनेक श्रुतियाँ उद्धृत की हैं और उनकी व्याख्या भी की है, इस प्रकार उपनिषदों की व्याख्या करने से उन्होंने तीन प्रस्थानों के अन्तर्गत श्रुतिप्रस्थान की व्याख्या कर दी है। क्योंकि यद्यपि प्र स्था न शब्द का साधारण अर्थ गमन है तथापि उक्त प्र स्था न त्र य शब्द में के प्र स्था न का अर्थ यहां 'जिसके द्वारा गमन किया जाय वह' अर्थात् मार्ग है। वेदान्त के तीन प्रस्थान या तीन मार्ग हैं ; इन तीन प्रस्थानों या मार्गों से वेदान्त के प्रतिपाद्य ब्रह्म-तत्त्व तक पहुंचा जा सकता है। ये तीन हैं—(१) श्रुति अर्थात् उपनिषद् प्रभृति, (२) स्मृति अर्थात् महाभारत आदि और (३) सूत्र या ब्रह्मसूत्र। इन तीन स्थानों से यात्रा करने से ब्रह्म तक पहुंचा जा सकता है। या फिर प्र स्था न शब्द का साधारण अर्थ गति या गमन मान लेने से भी काम चल सकता है। वेदान्त के तीन प्रस्थान अर्थात् वेदान्त की तीन गति। श्रुति, स्मृति और सूत्र ये तीनों ही गति अर्थात् इन तीनों की ही गति ब्रह्म की ओर है ; इसलिये भी इन तीनों को प्र स्था न त्र य कहा गया है। सो यह अनायास ही कहा जा सकता है कि यद्यपि आचार्यों ने पृथक् भाव से उपनिषदों का भाष्य नहीं लिखा पर वस्तुतः सूत्र की व्याख्या करते समय श्रुति प्रस्थान की भी व्याख्या कर दी है, इस प्रकार प्रत्येक आचार्य के प्र स्था न त्र य की व्याख्या करने की प्रसिद्धि का समर्थन हो जाता है। जो हो, यह मानने के लिये प्रौढ़ प्रमाण हैं कि शंकराचार्य के नाम पर प्रचलित उपनिषद् भाष्यों में से कई ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार प्रधान शंकराचार्य के लिखे हुए नहीं है। आगे हम यही बात दिखाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

केनउपनिषद् के दो भाष्य प्रचलित हैं, प द भा ष्य और वा क्य भा ष्य ; ये दोनों

ही पंडितसमाज में शंकराचार्य के रचित माने जाते हैं। किन्तु इन दोनों भाष्यों में से एकको प द भा ष्य और दूसरेको वा क्य भा ष्य क्यों कहा जाता है यह बात कोई साफ़ साफ़ बता सकता है, ऐसा नहीं जान पड़ता। दोनों ही भाष्य एक ग्रन्थकार के नाम पर चल रहे हैं किन्तु यह समझ में नहीं आता कि एक ही व्यक्ति एक ही पुस्तक की दो व्याख्याएं क्यों करने जायगा। इसीलिये इस प्रश्न को हल करने के लिये कहा जाता है कि कि एक ही बात को ग्रन्थकार ने दो विभिन्न प्रणालियों से व्याख्या करने के लिये दो भाष्य लिखे हैं, एक है पदों का भाष्य और दूसरा वाक्यों का। किन्तु असल में इन दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है। वस्तुतः आभ्यन्तरिक प्रमाण इस युक्ति के विरुद्ध जाता है। दोनों भाष्यों के सिर्फ भाष्य ही भिन्न नहीं हैं, उनकी प्रदर्शित युक्तियां भी भिन्न हैं। सावधानी से देखने पर जान पड़ेगा कि शंकर के अत्यन्त प्रसिद्ध मत भी वा क्य भा ष्य में कभी भिन्न रूप में और कभी विरुद्ध रूप में वर्णित हुए हैं। उदाहरण के लिये पाठक केन उपनिषद् ४।७ (३२) के इस स्थान के दोनों भाष्यों को मिलाकर देखने से जान सकेंगे कि दोनों भाष्य परस्पर कितने विरुद्ध हैं। आलोच्य श्रुति (४।७) इस प्रकार है :—

> **उपनिषदं भो ब्रूहीति। उक्ता त उपनिषद्, ब्राह्मीं वाव त उपनिषदम-ब्रूमेति ॥ ३२ ॥**

इसका पदभाष्य इस प्रकार है :—

> **"उपनिषदं रहस्यं यच्चिन्त्यं, भो भगवन् ब्रूहि इत्येवमुक्तवति शिष्ये आह आचार्यः—उक्ता अभिहिता ते तव उपनिषद्। का पुनः सेत्याह— ब्राह्मीं ब्रह्मणः परमात्मन इयं तां...उपनिषदमब्रूम इत्युक्तामेव परमात्म-विद्यामुपनिषदमब्रूमेत्येव धारयत्युत्तरार्थम्।"**

और वाक्यभाष्य इस प्रकार है—

> **"उपनिषदं भो ब्रूहि इत्युक्तायामुपनिषदि शिष्येणोक्त आचार्य आह— उक्ता ते तुभ्यमुपनिषद् अधुना ब्राह्मी वाव ते तुभ्यम् ब्रह्मणो ब्राह्मण-जातेरुपनिषदमब्रूम वक्ष्याम इत्यर्थः। वक्ष्यति हि ब्राह्मो नोक्ता उक्ता त्वात्मोपनिषद्। तस्मान्न भूताभिप्रायोऽब्रूमेति शब्दः ॥"**

यहां 'अब्रूम' और 'ब्राह्मी' इन दो पदों की व्याख्या देखने से ही दोनों भाष्यों का आकाश-पाताल अन्तर समझ में आ जायगा। यह तो कहना ही बेकार है कि पदभाष्य की व्याख्या ही उत्कृष्टतर और सत्य है, इस बात में किसी बुद्धिमान् पाठक को कोई संदेह नहीं होगा। सावधानी से मिलाकर देखने से जान पड़ेगा कि दोनो भाष्यों में सिर्फ व्याख्या में ही नहीं मूल के पाठ के विषय में भी प्रचुर भेद विद्यमान है। उदाहरणार्थ विभिन्न व्याख्या के लिये केन २।१'२ को और

विभिन्न पाठ के लिये २।२ को मिलाया जा सकता है। २।२ के पदभाष्य में मूल का पाठ ना ह .भ्र् मानकर व्याख्या की गई है और वाक्य भाष्य में ना ह मानकर। पदभाष्य और वाक्य-भाष्य जो दो आचार्यों के लिखे हुए हैं यह बात मैंने आज से कई वर्ष पहले कही थी। बाद में सन् १९१९ के पूना के ओरियेंटल कानफरेंस के साधारण संवाद में यह जानकर मुझे बड़ा हर्ष हुआ कि अध्यापक श्रीधर शास्त्री पाठक भी इसी नतीजे पर पहुंचे हैं। उन्होंने यह भी बताया है कि पदभाष्य ही वस्तुतः मूल शंकराचार्य का लिखा हुआ है और वाक्यभाष्य के रचयिता का नाम विद्याशंकर है जो बाद में चलकर प्रधान शंकराचार्य की गद्दी पर अधिष्ठित हुए थे।

मेरा विचार है कि श्वेताश्वतर का भाष्य भी आदि शंकराचार्य का नहीं है। इसकी रचना-रीति और व्याख्या-पद्धति ब्रह्मसूत्र के भाष्य की अपेक्षा निकृष्ट और भिन्न है। श्वेताश्वतर में पुराणों से जिस प्रकार दीर्घ-दीर्घतर वचन उद्धृत हुए हैं, उस प्रकार के वचन शंकर के अन्य किसी भी सर्ववादिसम्मत भाष्य में नहीं हुए दिखते।

श्वेताश्वतर के भाष्यकार ने (१।८ ; आनन्दाश्रम ३य संस्करण पृ० ३०) गौड़पाद की एक कारिका (३।५) को इस प्रकार उद्धृत किया है—'तथाच शुकशिष्यो गौड़पादाचार्यः'। गौड़पाद शंकर के परमगुरु हैं और गुरु हैं गोविन्द भगवत्पाद। अतएव यह हम सहज ही समझ सकते हैं कि शंकर अपने परमगुरु के नाम के पहले शुकशिष्य विशेषण न देकर कोई अधिक सम्मानसूचक विशेषण (जैसे 'भगवान्') देते। वस्तुतः अन्यान्य स्थलों पर उन्होंने ऐसा ही किया है। उदाहरणार्थ, बृहदारण्यक उपनिषद् (१।४।१० ; आनन्दाश्रम १८९१ पृ० १६७) में शुक के गुरु व्यास को उन्होंने इस प्रकार स्मरण किया है—"तथाच स्मरणमनुगीतासु भगवतो व्यासस्य।" या फिर यह भी संभव था कि कोई भी विशेषण न देकर प्रकारान्तर से गौड़पाद का स्मरण करते। वस्तुतः ब्रह्मसूत्र में दो जगह उन्होंने ऐसा किया है। एक स्थान पर (१।४।१४) "संप्रदायविदः" कहकर और दूसरी जगह (२।१।९) "संप्रदायविद्भिराचार्यैः" कह कर उन्होंने गौड़पाद के मत का उल्लेख किया है।

माण्डूक्य उपनिषद् का भाष्य भी मूल शंकराचार्य का नहीं है। इस भाष्य के आरंभ में मंगलाचरण के रूप में दो ऐसे निकृष्ट श्लोक हैं जिनको किसी प्रकार प्रधान शंकराचार्य का नहीं माना जा सकता। भाष्य के अन्त में भी ठीक उसी प्रकार के तीन श्लोक हैं। इनमें का जो आखिरी है उसमें व्याकरणसंबंधी दोष भी है।[1] मंगलाचरण के द्वितीय श्लोक में तो छन्दोदोष

१. 'मज्जोन्मज्जच्च' पाठ किसी प्रकार ग्रहणीय नहीं है। 'मज्जन्नुन्मज्जंश्च' पाठ मानें तो छन्द ठीक नहीं रहता। 'मज्जन्मज्जंश्च' पाठ चल सकता है, पर वह किसी पोथी में पाया नहीं गया। फिर 'नमस्ये' प्रयोग अशुद्ध है, 'नमस्यामि' होना चाहिए।

भी हैं। इस श्लोक के तीन चरण तो मन्दाक्रान्ता के हैं और चौथा स्रग्धरा का। इस प्रकार का मिश्रण छन्दःशास्त्र द्वारा अनुमोदित नहीं है।

मंगलाचरण, विशेषकर श्लोक के रूप में मंगलाचरण, बहुत परवर्ती पुस्तकों में ही पाया जाता है। एक तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य को छोड़कर शंकर की किसी असंदिग्ध रचना में ऐसा मंगलाचरण नहीं है। ब्रह्मसूत्रभाष्य, गीताभाष्य बृहदारण्यक- और छान्दोग्य-भाष्य आदि किसी भी भाष्य में वैसा मंगल नहीं किया गया है। यहां हमने विवेकचूड़ामणि आदि शंकराचार्य के नाम पर चलनेवाले छोटे छोटे ग्रंथों की बात विचारणीय नहीं समझी है। क्योंकि अभी तक उपयुक्त परीक्षा और विवेचना करके यह बात देखी नहीं गई कि ये पुस्तकें वस्तुतः आदि शंकराचार्य की लिखी हुई हैं या नहीं। विष्णुसहस्रनाम और सनत्सुजातीय के भाष्य भी आदि शंकर के हैं, यह बात अभी भी प्रतिपादन होने को ही है। मुझे तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य के आरंभ में आनेवाले मंगलाचरण के श्लोकों के संबंध में यह संदेह ही है कि वे भाष्यकार के रचे हैं। प्राचीन आचार्यों की भांति शंकराचार्य भी एकदम प्रतिपाद्य विषय को ही आरंभ करते हैं। बृहदारण्यक और कठ उपनिषद् के भाष्य में ब्रह्मविद्या-प्रवर्तक आचार्यों या ऋषियों को छोटे छोटे गद्यात्मक वाक्यों में नमस्कार किया गया है किन्तु वस्तुतः ये छोटे छोटे वाक्य मूल भाष्यकार के लिखे हुए हैं या नहीं, यह बात निश्चय के साथ नहीं कही जा सकती। छपी हुई पोथियां या उनकी आदर्श हस्तलिखित पोथियां सब समय विश्वासयोग्य नहीं होतीं। सावधानी से मिलाकर देखने पर स्पष्ट ही मालूम हो जायगा कि शंकरभाष्य में प्रचलित समस्त भणितियाँ आचार्य की अपनी लिखी हुई नहीं हैं। वे कभी भी अपने ही नाम को इस प्रकार नहीं लिख सकते थे—'परमहंस-परिव्राजकाचार्य-श ङ्क र भ ग व तः कृतौ।' ये सारी भणितियाँ निश्चय ही बाद में उनकी अपनी भणिति के साथ जोड़ दी गई हैं। उदाहरण के रूप में बृहदारण्यक- और छान्दोग्य-भाष्य की भणितियों का उल्लेख किया जा सकता है।[२]

यह भी विशेष भाव से विचार करने की बात है कि शंकराचार्य ने कहीं पर भी माण्डूक्य-

---

२. बृहदारण्यक-भाष्य के जिस-किसी ब्राह्मण का अन्तिम अंश देखा जा सकता है। उनमें सिर्फ इस प्रकार की भणितियां है—'इति बृहदारण्यकभाष्ये प्रथमाध्याये प्रथमं (या द्वितीयं, तृतीयं इत्यादि जैसा प्रसंग हो) ब्राह्मणम्'। इसी प्रकार जहां अध्याय समाप्त हुआ है वहां भी ऐसा ही है—इति बृहदारण्यकभाष्ये प्रथमाध्याये षष्ठं ब्राह्मणम्' किन्तु यहां ठीक इसके बाद ही इस प्रकार जोड़ा गया है—'इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंस-परिव्राजकाचार्यस्य श्रीशंकर-भगवतः कृतौ बृहदारण्यकभाष्ये प्रथमोऽध्यायः। नाम के पहले इस भणिति में जो 'श्री' शब्द है वह भी इसकी अर्वाचीनता का प्रमाण है।

उपनिषद् का कोई वचन उद्धृत नहीं किया ; यहाँ तक कि जहाँ उद्धृत करना उचित था, वहाँ भी नहीं। जैसे, "ओंकारमेवेदं सर्वं"—छान्दोग्य (२।२३।३) के इस वाक्य के भाष्य में माण्डूक्य का 'सर्वम् ओंकार एव' इस वाक्य को वे अनायास ही उद्धृत कर सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। दोनों वाक्यों में इतना मेल है कि एक की बात चलते ही दूसरा स्वतः स्मरण हो जाता है। अन्यान्य स्थलों पर देखा जाता है कि शंकर सदृश श्रुति उद्धृत करने में कभी क्लान्त नहीं होते। इसीलिये यह जान पड़ता है कि मूल शंकराचार्य यदि माण्डूक्य के भी भाष्यकार होते तो निश्चय ही छान्दोग्य-भाष्य के उल्लिखित स्थान पर माण्डूक्य की उक्त श्रुति को उद्धृत करते। छान्दोग्य उपनिषद् के शुरू के भाग में जो ओंकार की ही विस्तृत व्याख्या (उपव्याख्यान) है यह बात वहां स्पष्ट ही कही गई है। शंकर यदि जानते होते कि इसी विषय का कोई एक महत्त्वपूर्ण मूल ग्रंथ है तो वे निश्चय ही छान्दोग्य-भाष्य में उसके प्रमाण का उपयोग करते। यह सुप्रसिद्ध है कि माण्डूक्य में ओंकार ही व्याख्या की गई है (उसके आदि में है—'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्'......और अन्त में है—'एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद' ।) फिर भी छान्दोग्य के उसी प्रसंग में शंकराचार्य द्वारा उसका स्मरण न किया जाना कुछ समझ में आने वाली बात नहीं है। खूब संभव है शंकर के पूर्व और समकाल में भी या तो मूल माण्डूक्य उपनिषद् या थी ही नहीं थी तो प्रसिद्ध नहीं थी। इसकी आलोचना हमने अन्यत्र की है, यहां उस प्रसंग को छेड़ना ठीक नहीं जान पड़ता फिर भी कुछ मोटी बातों की चर्चा कर लेना आवश्यक है।

माण्डूक्य-भाष्य की उपक्रमणिका में यह पंक्ति है—

> **"रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता तथा दुःखात्मकस्य आत्मनो द्वैत-प्रपंचोपशमे स्वस्थता।"**

वेदान्त में, विशेषतः शंकर के दर्शन में, आत्मा आनन्दमय या आनन्दस्वरूप है, दुःखात्मा नहीं। आत्मा में यदि किसी प्रकार दुःख का संबंध बताना होता तो शंकर ने निश्चय ही 'दुःखात्मकस्य' न कह कर किसी दूसरे ढंग से उक्त बात कही होती। इसी प्रकार माण्डूक्य कारिका (१।१०) के 'सर्वदुःखानाम्' इस पद की व्याख्या 'प्राज्ञतैजसविश्वलक्षणानां' इस प्रकार शंकराचार्य के हाथ से कदापि नहीं लिखी जा सकती। फिर शंकराचार्य अपने परमार्थ तत्त्व को सत्, असत्, सदसत, असदसत् इन चारों से अतीत कहकर व्याख्या करेंगे यह भी कुछ अद्भुत-सा लगता है। माण्डूक्य-भाष्य में (अर्थात् माण्डूक्य उपनिषद् के तथा माण्डूक्य उपनिषद् पर गौड़पाद-कृत कारिका के भाष्यों में) इस प्रकार की इतनी असंगत और अद्भुत उक्तियां हैं

कि इनके रचयिता को आदिम शंकराचार्य नहीं माना जा सकता। मैंने अपने "माण्डूक्य उपनिषद् की गौड़पाद कारिका" नामक प्रबंध में यह बात विस्तारपूर्वक दिखाई है।

किसी पुस्तक की भणिति में शंकराचार्य नाम देखकर ही यह नहीं मान लेना चाहिए कि वह आदि शंकराचार्य की है ही। क्योंकि शंकराचार्य अनेक थे और उनमें अनेकों ने वेदान्त-विषयक अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। मेरी दृढ़ धारणा है कि माण्डूक्य भाष्य के रचयिता सिर्फ ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आदि शंकर से ही भिन्न नहीं हैं, वे नृसिंहतापनीय उपनिषद् के भाष्यकार से भी भिन्न हैं।

माण्डूक्य और नृसिंह इन दोनों उपनिषदों के भाष्य के आरंभ में कई साधारण वाक्य हैं[३] किन्तु मूल रूप में वे सभी किस भाष्य से किस भाष्य में उद्धृत या गृहीत हुए हैं, यह किसीमें नहीं लिखा। तो भी यह समझना बिल्कुल कठिन नहीं है कि नृसिंह-भाष्य ने ही वे वाक्य माण्डूक्य-भाष्य से उद्धृत किए हैं। नीचे इसकी कुछ युक्तियां दे रहा हूं।

माण्डूक्य और नृसिंह दोनों ही भाष्यों की उपक्रमणिका प्रायः एक ही है।[४] तो भी माण्डूक्य भाष्य की उपक्रमणिका कुछ अधिक संगत और सुसंबद्ध है। नृसिंहपूर्वतापनीय के भाष्यकार ने अपनी व्याख्येय उपनिषद् के बारे में अभिधेय (प्रतिपाद्य विषय) और प्रयोजन-संबंधी कारण का जो उल्लेख किया है वह नितान्त अनावश्यक है, उसका कोई प्रयोजन नहीं था— यद्यपि माण्डूक्य उपनिषद् और उसकी कारिका के भाष्य में इस प्रकार के उल्लेख का कुछ मतलब हो सकता है। फिर नृसिंहभाष्य में 'संक्षेपतः' शब्द का भी प्रयोग उपयुक्त नहीं हुआ है जब कि माण्डूक्य-भाष्य में उसकी थोड़ी सार्थकता है।

माण्डूक्य-भाष्य में कहीं पर नृसिंहतापनीय उपनिषद् का या उसके भाष्य का कोई नामोल्लेख नहीं है। दूसरी ओर नृसिंह-भाष्य में सिर्फ माण्डूक्य उपनिषद् का नाम ही नहीं है (नृसिंह० पृ० ४६ में चार बार और पृ० ४८ में एक बार) इस प्रकार का प्रयत्न भी किया गया

३। (क) कथं पुनरोंकार निर्णयः......पद्यत इति कर्मसाधनपादशब्दः।—माण्डूक्य (आनंदाश्रम १९००) पृ० ९-१४ ; = नृसिंह (आनंदाश्रम १८९६) पृ० ४४-४५।

(ख) एष हि स्वरूपावस्थः......भूतानामेष एव—मांडूक्य पृ० २४, = नृसिंह पृ० ४८।

(ग) सर्वेषु कारणेषु अविशेषेऽपि......प्राणबन्धनं हि सौम्य मन इति श्रुतेः। मांडूक्य पृ० २७-३० = नृसिंह पृ० ४८-४९ ; इनके सिवा दोनों भाष्यों का आरंभ भी तुलनीय है।

४। 'वेदान्तार्थसारसंग्रहभूतमिदं प्रकरणचतुष्टयम्......अतएव न पृथक् संबंधाभिधेय-प्रयोजनानि वक्तव्यानि। यान्येव तु वेदान्ते संबंधाभिधेयप्रयोजनानि तान्येवेह भवितुमर्हन्ति तथापि प्रकरणव्याचिख्यासुना संक्षेपतो वक्तव्यानि।'—मांडूक्य पृ० ३।

है कि माण्डूक्यभाष्य के साथ उसके मत का सामंजस्य हो।५ माण्डूक्य भाष्य में जो व्याख्या पाई जाती है, स्थान स्थान पर उससे कुछ विभिन्न व्याख्या देकर उसका कारण भी निर्देश किया गया है।६ यदि दोनों भाष्य एक ही व्यक्ति के लिखे होते तो माण्डूक्य भाष्य में नृसिंह या उसके भाष्य की चर्चा अवश्य होती किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं हुआ है।

नृसिंह-भाष्यकार ने माण्डूक्य पर की गौड़पाद-कारिका को मूल माण्डूक्य का अंश-विशेष ही समझा है, किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि वस्तुतः वह एक स्वतंत्र ग्रन्थ है। यह सभी जानते हैं कि गौड़पाद-कारिका मांडूक्य-मूलक स्वतंत्र ग्रन्थ है। इस विषय में मैंने 'मांडूक्य उपनिषद् की गौड़पाद कारिका' नामक अपने अन्य प्रबंध में विस्तृत आलोचना की है। किन्तु मांडूक्मभाष्य इस बात में नृसिंह भाष्य से भिन्न है। इसमें मांडूक्य उपनिषद् और गौड़पाद कारिका को स्वतंत्र ग्रन्थ ही माना गया है। मांडूक्य और नृसिंह के कई-एक पाठों के विचार-प्रसंग में नृसिंहभाष्य की निम्नलिखित कई बातें यहां उल्लेखयोग्य हैं—

अत ऊर्ध्वं माण्डूक्य उक्त एवार्थे श्लोकान् पठित्वा तृतीयः पादः, एतस्मिंस्तापनीये तु तान् विहाय तुरीयः पादः।—नृसिंह० पृ० ४८

अर्थात्, इसके बाद मांडूक्य में इस विषय में (कई) श्लोक पाठ करके तृतीय पाद (उक्त हुआ है) किन्तु इस तापनीय में सभी (श्लोक) छोड़कर चतुर्थ पाद (उक्त हुआ है)।

इस वाक्य में जिन श्लोकों का उल्लेख है वे गौड़पाद की कारिका के सिवा और कुछ नहीं हैं ('बहिष्प्राज्ञो विभुर्विश्वः' इत्यादि)। जान पड़ता है कि कारिकाओं की पातनिका के रूप में जो छोटे छोटे वाक्य ('अत्रैते श्लोका भवन्ति') हैं (माण्डू० पृ० २५, ४६ ५७, ६१) उन्हीं सबोंको नृसिंह-भाष्यकार ने मूल माण्डूक्य के अन्तर्गत मान लिया है। किन्तु यह सहज ही सिद्ध किया जा सकता है कि ये छोटे छोटे वाक्य या तो कारिकाकार के हैं या फिर किसी अन्य व्यक्ति के लिखे हुए हैं। यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि माण्डूक्य-भाष्य या उसकी टीका की कई हस्तलिखित पोथियों में (आनन्दाश्रम, ख, ग, ठ, पोथियाँ) इन वाक्यों को

---

५. नृसिंह पृ० ४६—नन्वेवं सप्तान्यंगानि·········माण्डूक्योपनिषत्प्रणवविद्यायां व्याख्यातम्।" "ननु यथा मांडूक्ये वैश्वानर शब्द सामर्थ्यात्······व्याख्यातम्" इत्यादि। इसके बाद के पृष्ठ भी देखिए।

६. "सप्ताङ्ग" और "एकोनविंशतिमुख" शब्दों की व्याख्या देखी जा सकती है, मांडूक्य पृ० १५ ; नृसिंह पृ० ४५।

वार्तिककार का लिखित बताया गया है—'अथवार्तिककारोक्त वाक्यम्—अत्रैते श्लोका भवन्ति'। वार्तिककार यहां गौड़पाद ही हैं, और कोई नहीं।

नृसिंह परवर्ती उपनिषदों के अन्तर्गत है। यह एक वेदान्तमिश्रित तांत्रिक उपनिषद् है। इसके भाष्यकार अन्ततः एक और तंत्रग्रंथ के रचयिता हैं। इसका नाम है प्रपंचागम-शास्त्र या प्रपंचसार। नृसिंहभाष्य में इन्होंने इस पुस्तक का उल्लेख इन दोनों ही नामों से किया है और यह साफ़ कहा है कि वे इस पुस्तक के रचयिता हैं (दे० नृसिंह० पृ० ३०, ३३, ३५, ३७, ५१, ६१)। यह प्रपंचसार अब भी उपलब्ध है और इसके अनेक संस्करण भी हुए हैं। नृसिंहभाष्य में इससे ६ श्लोक उद्धृत हुए हैं। और ये सभी प्रचलित प्रपंचसार में पाए जाते हैं।७ नृसिंह भाष्य में तांत्रिकता की गंध प्रचुर मात्रा में है किन्तु माण्डूक्यभाष्य में एकदम नहीं है।

मैं आगे चलकर दिखाऊँगा कि नृसिंहभाष्य में व्याकरण-दोष बहुत ही गुरुतर हैं। व्याकरण-दोष माण्डूक्य भाष्य में भी हैं पर उतने भद्दे नहीं। इस विषय में नृसिंह-भाष्यकार ही श्रेष्ठ हैं। सिर्फ यही नहीं कि वे स्वयं व्याकरणसंबंधी ग़लती कर जाते हैं बल्कि उनमें यह गुण भी है कि दूसरों की ग़लती को आंख मूंदकर उद्धृत कर लेते हैं। उदाहरण-स्वरूप दोनों ही भाष्यों में (नृसिं० पृ० ९ और माण्डूक्य० पृ० ९) एक वाक्य में आस्पद शब्द का पुंलिङ्ग में प्रयोग है जब कि वस्तुतः उसका प्रयोग नपुंसक लिंग में होना चाहिए।

दोनों भाष्यों की भाषा और रीति विभिन्न हैं और नृसिंहभाष्य की अपेक्षा माण्डूक्य-भाष्य की ये दोनों बातें अधिक उत्कृष्ट हैं। जो वाक्य उभय उपनिषदों में समान हैं उनकी व्याख्या नृसिंह में बहुत खींचतान के साथ की गई है पर माण्डूक्यभाष्य में यह बात नहीं है।

नृसिंहभाष्यकार लिखित दूसरे ग्रंथ प्रपंचसार से कुछ व्याकरण-संबंधी ग़लतियाँ यहां

---

७. (क) 'हृदयं बुद्धिगम्यत्वात्'—नृसिंह पृ० ३० ; प्रपंच (वाणीविलास प्रेस) पृ० ६४, ६.७

(ख) तुंगार्थत्वाच्छिरोऽगस्य'—नृसिः पृ० ३३ ; प्रप. पृ० ६४, ६.८

(ग) शिखा तेजः समुद्दिष्टं'—नृसिं. पृ० ३५ ; प्रप. पृ० ६४, ६.९

(घ) 'कवचग्रह इत्यस्मात्'—नृसिं. पृ० ३९ ; प्रप. पृ० ६४, ६.१०

(ङ) 'भूपदात्तु व्याहृतयः'—नृसिं. पृ० ५१ ; प्रप. पृ० ४१७, ३८.७.९

(च) 'असुत्रासादिकौ'—नृसिं. पृ० ६१ ; प्रप. पृ० ६४, ६.१२

यहां यह कह रखना आवश्यक है कि दोनों ग्रन्थों के पाठ में कुछ कुछ भेद है।

संग्रह की जा रही हैं। प्रथम शब्द ग्रंथ में अशुद्ध प्रयुक्त हैं, कोष्ठक में उनका शुद्ध रूप दिया हुआ है।

(१) हु ने त् (जु हु या त् के स्थान में ; शुद्ध रूप भी एक जगह है १८.६) १.६२, ६६ ; १७.५। इस प्रयोग में प्राकृत का प्रभाव स्पष्ट है। अनेक तांत्रिक पुस्तकों में ऐसा प्रयोग पाया जाता है।

(२) प्रो क्ता (प्रो च्य) १७.११, १२ ; १९.१०, ११

(३) वी प्स यि त्वा (वी प्स्य १७.१४) १७.१३

(४) अ थो ऽ धो म ध्य (अ थो अ धो०) १७.३३

(५) ल भे त् (ल भे त) १७.३८

(६) क म ल ज ते (क म ल ज त व) ३३.४

(७) वि द्यो त द् (वि द्यो त मा न) १८.४

(८) द्यो त द् (द्यो त मा न) २०.४६

(९) वि भ्रा ज त् (वि भ्रा ज मा न) १.८

(१०) लि ह तां (ली ढा म्) ७.१४

(११) ज प्या त् (ज पे त्) ८.२०

(१२) म न्त्रा णि (म न्त्रा न्) १.२०

(१३) लो ण (ल व ण) ७.६४, ६५। स्पष्ट ही यह प्राकृत शब्द है।

(१४) अ च्यु त का मि नि (० का मि नी) २०.४४

(१५) सू क्ष्म स र स्व ति (० स रस्व ती) २०.१४४

प्रपंचसार में छन्दोदोष भी बहुत अधिक हैं। ग्रंथकार छन्द में, विशेष करके स्रग्धरा, शार्दूल-विक्रीडित आदि छन्दों में यति-रक्षा करने में एकदम असमर्थ दिखते हैं। उनकी आर्याएं भी अनेक स्थलों पर शुद्ध नहीं हैं (दे० ४.६८,६९,७२ ; ७.७९,८३)।

इस प्रकार बिना किसी हिचक के यह सिद्धान्त स्थिर किया जा सकता है कि प्रधान शंकराचार्य को नृसिंहभाष्य और प्रपंचागमशास्त्र या प्रपंचसार के लिये दोषी नहीं कहा जा सकता। और यह भी पहले दिखाया जा चुका है कि माण्डूक्य और नृसिंहभाष्य के रचयिता भिन्न भिन्न हैं और प्रधान शंकराचार्य मांण्डूक्यभाष्य के रचयिता नहीं हो सकते।

प्रतीक्षा

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

हे राजेन्द्र, तव हाते काल अन्तहीन ॥
गणना केह ना करे रात्रि आर दिन
आसे जाय, फुटे झरे युग युगान्तरा ।
विलम्ब नाहिको तव, नाहि तव त्वरा,
प्रतीक्षा करिते जानो । शतवर्ष ध'रे
एकटि पुष्पेर कलि फुटाबार तरे
चले तव धीर आयोजन । काल नाइ
आमादेर हाते । काड़ाकाड़ि करे ताइ
सबे मिलि' । देरि कारो नाहि सहे कभु ॥
आगे ताइ सकलेर सब सेवा प्रभु,
शेष करे दिते दिते केटे जाय काल,
शून्य पड़े थाके हाय तव पूजाथाल ॥
असमये छुटे आसि मने बासि भय,
एसे देखि, जाय नाइ तोमार समय ॥

[छाया]

काल सीमाहीन है राजेन्द्र, तेरे हाथ में गिन कौन सकता है कि कितने दिवस कितनी रात्रियां आतीं इधर जातीं उधर, कितने विकसते और झड़ते युगयुगान्तर कल्प। है तुमको विलंब नहीं न है जल्दी कहीं, तुम जानते करना प्रतीक्षा, देवदेव, अनल्प । सौ सौ वर्ष से चलता तुम्हारा धीरआयोजन खिलाने का कुसुम लघु एक । किन्तु न काल है कर में हमारे, छीन-छान इसीलिये चलती निरन्तर और होता है विलंब न सह्य थोड़ा भी हमें, हे नाथ, सब की सर्वविध सेवा समापन में निकल जाता समूचा काल । खाली हो पड़ा रहता तुम्हारा हाय पूजाथाल। फिर औचक सम्हल हम दौड़कर आते सभय बेचैन पर तुम तक पहुँचकर देखते यह हैंकि प्रभु का काल बीता है न!

संगीत और कंठसाधन

विद्याधर वक्षलवार

हमारे देश में साहित्य, शिल्प और संगीत के क्षेत्र में जो नवीन जागरण हुआ है उसने हमें बहुत से जड़ बंधनों से मुक्ति दी है और हम अतिरिक्त उत्साह लेकर नवीन प्रयोग करने के लिये बेचैन हो उठे हैं। यह एक शुभ लक्षण है इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता। सचमुच ही हमें सब तरफ़ से आज़ादी की ज़रूरत है। नई-पुरानी धारणाओं में काफ़ी प्रभेद है। यों कोई एक ही शैली अथवा पद्धति एकांत भाव से नई अथवा पुरानी धारा का प्रतिनिधित्व भी नहीं कर सकती। हम चंचल हैं, बस इतना ही कहा जा सकता है। भविष्य में हमारी यह बेचैनी किस शैली अथवा धारा को जन्म देगी, उसका रूप और प्रकृति क्या होगी इसकी आलोचना कर सकना आसान नहीं है। किंतु इतनी बात स्पष्ट है कि हम इस समय प्रवीण व्यवसायी की भांति हिसाब-किताब का लेखा-जोखा करने के लिये तैयार नहीं हैं। ऐसे समय खतरे की घंटी बजानेवाला कितना ही सही क्यों न हो, बेसुरा ही समझा जायगा। रास्ता ही हमें रास्ता दिखाता जायगा इसपर विश्वास कर लेना ही सबसे सही रास्ता जान पड़ता है। किंतु सावधानी केवल इतनी ही बरतनी होगी कि हमारे पावों में चलने की शक्ति हो, हमारे साधन स्वस्थ और दुरुस्त हों, तोड़ने को हो चाहे गढ़ने की, ताक़त-भर काफ़ी होनी चाहिए।

ऊपर की बात साधारणतया कलाओं के संपूर्ण क्षेत्र के संबंध में घटित होती है फिर भी हमने विशेष रूप से संगीत को ध्यान में रखकर ही ऐसा कहा है। इतना ही नहीं, अपने वक्तव्य को हमने और भी सीमित क्षेत्र में बद्ध रखने की चेष्टा की है; गीत, वाद्य और नृत्य—संगीत के इन तीन अंगों में से हमने यहां गीत को ही अपना आलोच्य माना है। गीत ही तीनों में सबसे अधिक परिचित, प्रचलित और परिणत अंग है, शास्त्र में भी उसे ही प्राधान्य मिला है। यों भी साधारण बोलचाल में 'गाने' को ही हम समूचे संगीत के अर्थ में व्यवहार करते हैं। गीत का प्रकृत साधन मनुष्य का कंठ है, उसीके द्वारा गीत अपना उद्देश्य लाभ करता है। प्राचीन और अर्वाचीन धाराओं को लेकर उत्साह अथवा क्षोभ का प्रदर्शन इस प्रबंध का उद्देश्य नहीं है। हम यहां केवल कंठ की ठीक-ठीक साधना पर ही विचार करना चाहते हैं।

कलाओं के क्षेत्र में भारतवर्ष के मनीषियों ने 'रस' शब्द का व्यवहार किया है जिसे हम शिल्पमात्र के प्रतीक-स्वरूप स्वीकार कर सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि हम व्यंग्य करते हैं,

व्यक्त नहीं करते। भारतीय संगीत की यही सर्वोपरि विशेषता है कि वह सुख-दुःख की अभिव्यक्ति से ऊपर उठकर रसलोक में प्रवेश करता है। बहुत-कुछ इसी कारण संगीत में सुर ही प्रधान होता गया है, शब्द वहां केवल सुर का मूर्त आधार अथवा उपलक्ष्य-मात्र है, यथार्थ लक्ष्य है सुर। कविता इसी कारण क्रमशः गौण होती गई है। गीत वस्तुगत भाव को छोड़कर सदा सुर की दुनिया में पहुंच जाता है जहां की रीतिनीति तौरतरीके सभी कुछ एकबारगी अपने ही होते हैं। गायक जब "चुनरिया मोरी झीनी रंगभीनी"-कड़ी लेकर गान शुरू करता है तब उसके पांव ज़मीन पर ही होते हैं। किंतु जैसे ही पदांत में उसने तान ली कि वह फिर सुर के रसलोक में प्रवेश कर जाता है। वहां झीनीरंगभीनी चुनरी का छोर भी उड़कर नहीं पहुंच पाता, जो पहुंचता है उसकी चुनरी ही और होती है, वर्णच्छटा भी और। इस निराले संसार को हम केवल सुर का एक निजस्व वातावरण कह सकते हैं। शास्त्रीय संगीत सुर की सहायता से इसी रसलोक की सृष्टि करता है और श्रोता वहीं से अपना आनंद संग्रह करते हैं। गीत जब क्रमशः काव्य की तरफ़ रुजू होता है तब धीरे धीरे सुर के जगत् से अपना लगाव ढीला करता जाता है। सुख-दुःखातीत रस का स्थान सुख-दुःखमूलक वस्तुगत भावों को मिल जाता है। यह ठीक है कि भावों की गति में पंखों-जैसी उड़ान भर देने के लिये सुर के साथ उसका यत्किंचित् संपर्क बनाए ही रखना पड़ता है, किंतु यह रिश्ता दूर का रिश्ता होता है, रक्तमांस का नहीं। सुर से संपूर्णतया वियुक्त संगीत की कल्पना एक ख्याल-मात्र है ; केवल एक एब्स्ट्रैक्शन है।

संगीत कब रस की सृष्टि कर सकता है, इसके लिये शास्त्रकारों की भाषा में शास्त्रीय उत्तर दिया जा सकता है। किंतु सीधी-सादी भाषा में हम कह सकते हैं कि जब गीत ठीक-ठीक गाया जाता है तभी रस की सृष्टि होती है। ठीक-ठीक गा सकना क्या है? यहां भी हम शास्त्रीय उत्तर की दुरूह भाषा को छोड़कर सहज शब्दों में कह सकते हैं कि सुर की संपूर्ण सत्ता को प्रकाश कर पाना ही ठीक ठीक गाना होगा। यह प्रकाशन कंठ द्वारा भी होता है और हृदय द्वारा भी, दोनों के नियत सहयोग से ही यह संपन्न होता है। यह बात केवल एक आकस्मिक शारीरिक संयोगमात्र नहीं है कि कंठ की सारी मशीन आंखों की ओट में रखी गई है। हम जिस यंत्र द्वारा गाते हैं उसे देख नहीं पाते केवल अनुभव कर पाते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि कंठ को अनुभूति की सहायता से अपना फ़र्ज अदा करना होता है। किंतु हृदय को भी अपने प्रकाशन के लिये कंठ का ही सहारा लेना होता है तभी, संगीत की सृष्टि हो सकती है। कंठ इस कार्य के लिये जितना ही तैयार होगा हृदय को अपनी बात कहने में उतनी ही सुविधा होगी। सधे हुए गले की सहायता से गायक का काम सहज हो जाएगा। उसे हर बार गले की संपूर्ण ताक़त को आज़माकर सुर की सत्ता को प्रकाश करने का श्रम नहीं उठाना होगा।

बातचीत में यदि हमें हर क़दम पर सही शब्द और सही फ़िक़रों के लिये खोज करनी पड़े, यदि ये सहज ही हमें न मिलते जायं तब फिर बातचीत कितनी बड़ी कसरत और सज़ा हो जाएगी इसे सहज ही समझा जा सकता है। उस हालत में न तो हमें बात करने में ही मज़ा आएगा और न हमारी बात सुनने के लिये ही कोई तैयार होगा। उस्तादी गाने की महफ़िल से श्रोता के बचकर भागने के नाना कारणों में से एक कारण यह भी है। गायक अपनी सारी शक्ति गले के ज़रिये तान निकालने में ही खर्च किए जाता है और उसकी यह चेष्टा ही सबसे अधिक स्पष्ट हो उठती है। कभी तो वह उसकी मुद्रा की विकृति में दिखाई देती है तो कभी गले की शुष्कता या आवाज़ की फटी हुई कर्कशता में। अवश्य ही यहां सभी उस्तादों की बात नहीं कही जा रही है, फिर भी इतनी बात ज़रूर सच है कि अधिकांश श्रेष्ठ गायक भी केवल स्वर की साधना कर लेते हैं, कंठ की नहीं। कंठ की सम्यक् साधना न होने से गीत केवल बंधी हुई तानों के आधिक्य से बोझिल हो उठता है, उसमें आलाप की प्रकृत और प्रशांत वातावरण उत्पन्न करनेवाली स्थिर शक्ति का अभाव होने लगता है।

भारतीय संगीत में तानों के प्राधान्य का इतिहास है। संगीत ने जब राजाश्रय पाया तब प्रारंभ में गुणग्राही सम्राटों के रसबोध की प्रेरणा पाकर वह खूब विकसित होता गया। पीछे दरबार में प्रतिद्वंद्वी गायकों के बीच अपनी योग्यता प्रदर्शित करने के लिये गायक गले के द्वारा कठिन से कठिन और द्रुत से द्रुत तानें लेने लगा। मुग़ल दरबार में यह गलाबाज़ी और भी बढ़ती गई। गायक धीरे धीरे आश्रयदाता की राजसभा में जितनी शीघ्रता से तानें ले सकता था, जितनी जल्दी पल्टियां फिर सकता था, गमक और गिटकड़ियों का खेल दिखला सकता था, उतनी ही वह वाहवाही पा सकता था। अतएव श्रोताओं को चकित और चमत्कृत करने का सबसे सहज साधन तानें होती गईं। धीरे धीरे जनता भी केवल तानप्रचुर संगीत से ही परिचित रह गई और उसे ही वह श्रेष्ठ संगीत का असली स्वरूप मानने लगी; उसके मूल उद्देश्य को वह भूलती ही चली गई।

तानों की तेज़ी, सफ़ाई और कसरत आवाज़ की करामात प्रकाश कर सकती है किंतु हृदय को छूकर जगाने की क्षमता आलाप में ही सन्निहित है। आवाज़ की करामात और कंठ की दौड़-धूप सम्यक् साधना के बिना भी दिखाई जा सकती है किंतु आलाप के गांभीर्य के लिये सधे हुए कंठ की एकांत आवश्यकता है। तानें भी अपना पूरा प्रभाव सधे हुए कंठ से ही व्यक्त कर सकती हैं। साधारणतः बड़े बड़े गायक भी अस्वाभाविक आवाज़ से ही गाते हैं। किंतु तान कितनी भी मुश्किल क्यों न हो, सहज मानव-कंठ के स्वाभाविक स्वर अर्थात् 'टायम्बर' को विकृत करने का उसे वास्तव में कोई अधिकार है नहीं। कंठ सधा हुआ न होने से ही आवाज़ कभी 'कंपित' हो

जाती है तो कभी 'सानुनासिक'। 'विकल' अथवा 'स्थानभ्रष्ट' हो जाने से श्रुति कभी कम लग जाती है कभी अधिक। गले की कसरत दिखलाने के प्रयास में गायक की मुद्रा कभी 'करालो', कभी 'उद्वड', 'तुंबकी' अथवा 'वक्री' हो जाती है। शास्त्रकारों ने इन सब दोषों की चर्चा की है। यदि गला सधा हुआ हो तो स्वाभाविक कंठ-स्वर विकृत नहीं हो सकता। मिस्सी लगाए हुए दांतों की अपेक्षा स्वस्थ दांतों की प्रकृत उज्ज्वलता कहीं अधिक आकर्षक होती है; उसमें कम-से-कम दांतों का सहज सौन्दर्य तो मिलता है। आवाज़ का सहज गुण ('क्वालिटी') भी इसी तरह अपने आपमें आकृष्ट करने की शक्ति रखता है। मंद्र-सप्तक में नीचे से नीचे स्वरों को भी साफ़-साफ़ सुना दे सकना ही काफ़ी नहीं है और न तार सप्तक के ऊंचे से ऊंचे स्वरों की तान ही काफ़ी होगी, यदि एक में स्वाभाविक 'टायम्बर' बदल जाता है और दूसरे में आवाज़ खरखरी हो जाती है। एक तो गायक का ध्यान राग और ताल की ओर लगा ही रहता है, फिर यदि गला भी उसके रहे-सहे ध्यान को अधिकृत कर ले तब फिर मर्मस्पर्शी संगीत की आशा छोड़ ही देनी चाहिए। यदि गला सधा हुआ हो तो सुर मशीन से निकलनेवाली तैयार वस्तु के समान अपने निर्दोष अथवा 'फ़िनिश्ड' रूप में स्वयं ही बाहर हो सकेगा। गायक को अपना ध्यान उसके मर्म की ओर केन्द्रित करने का अवसर मिलेगा और श्रम भी कहीं कम करना पड़ेगा। बिना कान अथवा मस्तिष्क पर ज़ोर डाले आवाज़ स्वयं ही सुर से सुर की ओर स्फूर्त भाव से दौड़ती जाएगी। चेष्टा की छाप उसपर नहीं होगी और मानव-कंठ का स्वाभाविक गुण भी उसमें मिलेगा। चमत्कार का प्रदर्शन जब तक इस तरह सहज और स्वाभाविक नहीं होगा तब तक वह चेष्टा ही सबसे बड़ी होकर खटकेगी। गायक भी श्रोता को आकृष्ट नहीं किए रह सकेगा। ताल की लय के अपने गुण से 'सम' पर आकर श्रोता का सिर भले ही हिल जाए, दिल नहीं हिल सकेगा। ऐसे संगीत की अपील केवल उसी विशेष श्रेणी के श्रोताओं के भीतर ही बद्ध रह जाएगी जो तानों की तैयारी अर्थात् गले की दौड़ का टूर्नमिण्ट ही पसंद करते हैं, जिनके लिये सङ्गीत की महिमा इसी शारीरिक रियाज़ में ही चुक जाती है, जो केवल मस्तिष्क के लिये ही रस संग्रह करते हैं। गले की स्वाभाविक आवाज़ का आकर्षण, गीत की प्रशांत गभीर और सूक्ष्म सहृदयता उनके निकट कोई महत्त्व नहीं रखती। कहना व्यर्थ है कि यह गायक और श्रोता-समाज लक्ष्य को भूलकर उपलक्ष्य में ही भटकता रहता है।

ऊपर हमने स्वर-साधना से स्वतंत्र कंठ-साधना का महत्त्व दिखाने की चेष्टा की है। शास्त्रकारों ने जब नाद की उत्पत्ति पर विचार किया था तभी उन्होंने संपूर्ण आंतरिक प्रक्रिया के साथ समूचे कंठ-यंत्र के संचालन की बात कही थी : 'जब आत्मा कुछ कहना चाहता है तो वह मन को प्रेरित करता है, फिर मन श्वास-इन्द्रिय को आहत करता है, इसके बाद उक्त इन्द्रिय

वायु को प्रेरित करती है। इस प्रकार वक्षःस्थल में स्थित वायु ऊपर को उठता हुआ हृदय, कंठ और मुख आदि शरीर अवयवों से समुत्थित होता हुआ नाद की संज्ञा पाती है।'—

आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः,
श्वसनेन्द्रियमाहंति तत्प्रेरयति मारुतम्।
वक्षःस्थलस्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन्,
हृत्कंठास्यादिगात्रोत्थो लक्ष्ये नादोऽभिधीयते ॥

ध्वनि के संबंध में आधुनिक गवेषणाओं ने ऊपर के तथ्य को प्रायः गणित की प्रामाणिकता से ठीक ठीक सिद्ध कर दिया है। वास्तव में मनुष्य का स्वरोत्पादक यंत्र अत्यंत सूक्ष्म, जटिल और परिपूर्ण संगीतयंत्र है। उसके तीन प्रधान भाग हैं : एक वह जिससे श्वासोच्छ्वास की क्रिया चलती है, दूसरा वह जो नाद उत्पन्न करता है, और तीसरा वह जो नाद को प्रतिध्वनित ('रेज़ोनेट') करता है। तीनों सम्मिलित भाव से कार्य करते हैं। सधा हुआ गला सहज ही मांस-पेशियों को इस तरह परिचालित करता है जिससे ठीक सुर की ही उत्पत्ति हो। मुखविवर अपनी आकृति में परिवर्तन करके आवश्यकतानुसार स्वर को प्रतिध्वनित कर सकता है। किसी भी स्वर के सहज गुण में एक अपनी विशेषता होती है जिसके अन्तर से एक ही स्वर वाद्ययन्त्र में एक प्रकार की और मनुष्य के गले से दूसरे प्रकार की विशिष्ट ध्वनि उत्पन्न करता है—उसकी ऊंचाई-निचाई अथवा तीव्रता चाहे जैसी हो। इसे ही हम 'टायम्बर' (Timbre) कहते हैं। उदाहरण के लिये तानपूरे से झङ्कृत किए हुए पञ्चम सुर तथा मनुष्य के कण्ठ से प्रतिध्वनित पञ्चम सुर का टायम्बर अलग-अलग होगा। गायक को यदि टायम्बर की ठीक ठीक धारणा न हो तो वह गले की ताक़त के अनुसार चाहे जिस सुर को चलाता जाएगा आवश्यकतानुसार ऊंचे-नीचे तीव्र-कोमल-मध्यम आदि को उत्पन्न नहीं कर सकेगा। इससे केवल मेहनत ही बढ़ेगी। फिर आ इ उ ए आदि स्वरवर्णों का उच्चारण ठीक किस जगह से होता है यह भी जानना आवश्यक है। यहां हम गला साधने के लिये 'आ' स्वर को ही सबसे उपयुक्त, स्वाभाविक तथा वैज्ञानिक मानते हैं। अन्य स्वरों से साधी हुई आवाज़ निर्दोष नहीं होती। इस बात पर पूर्वी और पश्चिमी आचार्य एकमत हैं। आ ही स्टैण्डर्ड स्वरवर्ण है। उसका उच्चारण सबसे सहज होता है ; शिशु भी अपने सारे भाव इसीके सहारे व्यक्त कर लेता है। हवा का प्रवाह आ के उच्चारण के समय पूरा-पूरा और बाधाहीन होता है। आ की आवाज़ से सुर के सूक्ष्म से सूक्ष्म दोष भी पकड़े जा सकते हैं और ध्वनि के हलके से हलके भेद भी व्यक्त किए जा सकते हैं। इन सब कारणों से सङ्गीत में हम आ को ही स्वरवर्णों का जनक कह सकते हैं। वस्तुतः हम इसी वर्ण को गाया करते हैं, अन्यान्य

स्वर-व्यञ्जन उसके सहायक-मात्र हैं। गायन में मुख की ठीक स्थिति का बोध आवश्यक है। ठीक माप तो प्रत्येक के लिये अलग-अलग होगा किंतु सामान्यतया हम कह सकते हैं कि 'आ के सहज उच्चारण के समय मुख अपने प्रकृत स्वरूप में ही खुलता है। इटली के सङ्गीताचार्यों ने ओठ, जीभ, दांत आदि की स्थिति के विषय में विस्तृत नियम बनाए थे जिनका पालन भी कठोरता से किया जाता था। यन्त्र के सभी अवयवों की पूरी जानकारी न रहने से गायक की दशा उस चालक के समान होती है जो केवल गेयर की मदद से मशीन को चला देता है और ज़रूरत पड़ने पर ब्रेक के द्वारा रोक देता है। श्वास का नियमन ठीक जानकारी का एक प्रधान अङ्ग है। श्वास दीपक के तेल के समान है जिसके चुक जाने से आवाज़ भी चुक जाती है। किंतु सङ्गीत में थोड़ी निश्वास से भी बहुत काम हो जाता है यदि गायक को उसे ख़र्च करने और सञ्चित रखने का कौशल आता हो। गहरे श्वास-प्रश्वास के अभ्यास से इस कौशल पर अधिकार होने लगता है। जहां तक बन सके नाक से ही सांस लेनी चाहिए। निश्वास को व्यर्थ नष्ट न करने से आवाज़ क्रमशः स्निग्ध, गोल और गूंजनेवाली हो जाती है। स्वच्छ हवा में बैठकर रियाज़ करना बहुत उपयोगी होगा।

इसी प्रसङ्ग में हम एक और भी महत्त्वपूर्ण विषय की ओर ध्यान खींचना चाहते हैं, वह है बच्चों के गले की साधना। हम उनके कण्ठ की अक्सर ही परवा नहीं करते। बेसुरे वातावरण से बचाने की चेष्टा तो करते नहीं, सुरीले वातावरण के संस्कार में रखना दूर की बात है। उनके बहुत-से बीनबाजे, बांसुरियां, सीटियां और बहुत-सी बेसुरी लोरियां उनके सहज सुरज्ञान को शुरू से ही ग़लत कर देती हैं। ताल और लय का बोध उन्हें बड़ी आसानी से—उनके अनजाने में ही—खेल के द्वारा कराया जा सकता है। सङ्गीत बच्चों के सर्वाङ्गीण विकास का कितना बड़ा साधन है इसे हम सभी जानते हैं, फिर भी शिक्षण-क्रम में उसे बहुत ही गौण स्थान दिया जाता है और उसके कंठ के विकास की तो परवा ही नहीं की जाती। इससे लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है।

ऊपर हमने कंठ-साधना के व्यावहारिक प्रकरण की संक्षेप में चर्चा की है। वास्तव में वह एक स्वतंत्र प्रसंग है जिसपर अलग से विस्तारपूर्वक लिखा जाना चाहिए। यहां हमने उदाहरण के तौर पर उसका उल्लेख किया है। विश्लेषण की ख़ातिर हमने अलग-अलग इन तत्त्वों की चर्चा की है किंतु वास्तव में ये सब सम्मिलित भाव से काम करते हैं। अभ्यास के लिये हम उनपर अलग-अलग अपना ध्यान और प्रयास केन्द्रित कर सकते हैं किंतु उसके स्वरूप की समग्रता को हमें नहीं भुलाना चाहिए।

चतुरङ्ग

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

बड़े चाचा

१

मैं देहात से कलकत्ते आकर कालेज में भर्ती हो गया। शचीश तब बी० ए० में था। हमारी उम्र प्रायः समान ही रही होगी।

शचीश को देखने से लगता मानो वह कोई ज्योतिष्क हो—उसकी आंखें सदा दमकती रहतीं; लंबी पतली अंगुलियां मानो आग की शिखा के समान थीं; देह का रंग जैसे रंग ही न हो, आभा हो। शचीश को देखते ही जैसे मैंने उसके अंतरात्मा के दर्शन किए हों, इसीसे पल भर में ही मैं उसे चाहने लगा।

किंतु आश्चर्य की बात यह थी कि जो लोग शचीश के साथ पढ़ते थे उनमें से बहुतोंके मन में उसके प्रति विषम विद्वेष का भाव था। असल बात यह है कि जो लोग आम दस जनों की तरह होते हैं उनका आम दस जनों से बिना कारण कोई विरोध नहीं घटता। किंतु जब मनुष्य के अंतर का दीप्यमान सत्यपुरुष स्थूलता को भेदकर बाहर प्रकाश पाता है तब कोई तो उसकी प्राणपण से पूजा करते हैं और कोई बिना कारण प्राणपण से उसका अपमान करते रहते हैं।

हमारे मैस के लड़कों ने जान लिया था कि मैं मन ही मन शचीश की भक्ति किया करता हूं। इस कारण हमेशा उनके आराम में बाधा-जैसी पड़ती थी। इसीलिये मुझे सुनाकर शचीश के संबंध में कटु बातें कहते वे कभी थकते नहीं। मैं जानता था कि आंख में किरकिरी जाने पर उसे मलने से ही कसक और बढ़ जाती है; बात जब कर्कश हो तब वहां जवाब न देना ही अच्छा है। लेकिन एक दिन शचीश के चरित्र को लक्ष्य करके ऐसी कलंकित कुत्सा उठी कि मैं चुप नहीं रह सका।

मुश्किल यह थी कि शचीश के साथ मेरी जान-पहचान नहीं थी। और अपर पक्ष में से कोई उसका पड़ौसी, तो कोई किसी सिलसिले से कुछ-और होता था। उन सबने खूब तेज के साथ ही प्रचारित किया कि वह बात एकदम खालिस सत्य है, और मैंने उससे भी अधिक तेज के साथ घोषित किया कि मैं उसमें धेला-भर भी विश्वास नहीं करता। तब समूचे मैस के लोग आस्तीन चढ़ाकर कह उठे—तुम तो बड़े अभद्र आदमी हो जी!

उस रात बिछौने पर लेटे लेटे मुझे रुलाई आ गई। दूसरे दिन क्लास के बीच के अवकाश में जिस समय शचीश गोल तालाब की छाया-तले घास पर लेटा हुआ-सा किताब पढ़ रहा था, तब मैं बिना परिचय उसके निकट बैठे बैठे जाने क्या क्या बेसिलसिले बक गया कुछ ठीक नहीं। शचीश किताब बंद करके कुछ देर मेरी तरफ़ एकटक ताक़ता रहा। जिन्होंने उसकी वे आंखें नहीं देखीं वे नहीं समझ सकेंगे कि उसकी यह दृष्टि ठीक क्या वस्तु थी।

शचीश बोला, जो लोग निन्दा करते हैं उन्हें निन्दा प्रिय होती है इसलिये करते हैं, सत्य प्रिय होता है इसलिये नहीं। अगर यही बात है तब किसी एक विशेष निन्दा को मिथ्या प्रमाणित करने के लिये छटपटाने से क्या लाभ होगा?

मैंने कहा, तब भी देखिए झूठ बोलनेवाले को—

शचीश ने बाधा देकर कहा, वे लोग तो झूठ बोलनेवाले नहीं हैं। हमारे मुहल्ले में एक तेली के लड़के को लकवा लग जाने से उसके हाथ-पैर कांपते रहते हैं। ठंड के दिनों में मैंने उसे एक क़ीमती कंबल दे दिया था। उस दिन मेरा नौकर शिबू गुस्से से फड़कता हुआ आकर कहने लगा, बाबू, उस छोकरे की कँपनी-अपनी सब बदमाशी है।—मुझमें कुछ भी भलाई का आभास है इस बात को जो लोग एकबारगी उड़ा देते हैं उनकी हालत ठीक शिबू-जैसी ही है; वे लोग जो कुछ कहते हैं उसमें सचमुच ही विश्वास करते हैं। मेरे भाग्य में एक क़ीमती कंबल अतिरिक्त आ जुटा था, इसलिये राज्य भर में शिबू के दल ने निःसंशय विश्वास किया कि उस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। इसे लेकर उन लोगों के साथ झगड़ा करते मुझे तो लज्जा होती है।

इसका कोई उत्तर दिए बिना ही मैं कह उठा, ये लोग जो कहते हैं आप नास्तिक हैं सो क्या सच है?

शचीश बोला, हां मैं नास्तिक हूं।

मेरा सिर नीचा हो गया। मैस भर के लोगों के साथ मैंने झगड़ा किया था कि शचीश कभी नास्तिक हो ही नहीं सकता।

शचीश के बारे में मुझे शुरू में ही दो आघात लगे थे। उसे देखते ही मैंने स्थिर कर लिया था कि वह ब्राह्मण की संतान है। मुख उसका देवमूर्त्ति की तरह मानो शुभ्र पाषाण पर खुदा हुआ था। सुना था उसकी उपाधि मल्लिक है; हमारे गांव में मल्लिक-उपाधिधारी कुलीन ब्राह्मणों का एक घर भी है। किंतु जाना गया कि शचीश बंगाल की गंधी जाति का है। हम लोगों का घराना निष्ठावान कायस्थों का घराना है; जाति की दृष्टि से मैं गंधियों को मन ही मन घृणा करता था। और नास्तिक को तो नरघातक—यहां तक कि गोघातक—से भी कहीं अधिक पापिष्ठ मानता था।

कुछ भी कहे बगैर मैं शचीश की तरफ़ ताकता रहा। देखा, उस मुख पर तब भी वही ज्योति है—जैसे अंतर में पूजा का प्रदीप जल रहा हो।

कोई कभी गुमान भी नहीं कर सकता था कि मैं किसी जन्म में भी एक गंधी के साथ एक-साथ खाऊंगा और नास्तिकता में मेरा कट्टरपन अपने गुरु से भी बाज़ी मार ले जायगा। धीरे धीरे भाग्य में वह भी घटित हुआ।

विलकिन्स हमारे कालेज में साहित्य के अध्यापक थे। जितना ही उनमें पाण्डित्य था, छात्रों की ओर उतनी ही अवज्ञा भी। इस देश के कालेज में बंगाली लड़कों को साहित्य पढ़ाना अध्यापन की कुली-मज़दूरी करना ही है—ऐसी ही उनकी धारणा थी। इसीलिये मिल्टन-शेक्सपियर की क्लास में भी वे अंगरेज़ी विडाल शब्द का प्रतिशब्द बतला दिया करते थे—मार्जारजातीय चतुष्पद, a quadruped of the feline species। किंतु नोट्स लेने के मामले में शचीश को रिहाई थी। वे कहा करते, शचीश, तुम्हें इसी क्लास में बैठना पड़ता है इस नुक़सान की पूर्ति मैं कर दूंगा, तुम मेरे घर जाकर अपने मुंह का ज़ायक़ा फिर वापस पा सकोगे।

लड़के क्रुद्ध होकर कहते, शचीश को साहब जो इतना पसन्द करता है सो उसका कारण है उसकी देह की सफ़ेदी। और साहब को भुला रखने के लिये ही वह नास्तिकता की डींग हांका करता है। उनमें से कोई-कोई बुद्धिमान आडंबर करके साहब से पाज़िटिविज्म के बारे में कोई पुस्तक मांगने भी पहुंच गए थे, किंतु साहब ने कह दिया, तुम नहीं समझोगे।—उन्हें नास्तिकता की चर्चा के भी लायक़ नहीं समझा गया इससे शचीश पर नास्तिकता का आरोप और उसके विरुद्ध उनका क्षोभ क्रमशः बढ़ता ही जा रहा था।

२

मत और आचरण के संबंध में शचीश के जीवन में जो कुछ निन्दा का कारण था वह सब मैं संग्रह करके लिख रहा हूं। इसका कुछ हिस्सा मेरे साथ परिचय से पहले का है, कुछ बाद का।

जगमोहन शचीश के पितृव्य थे। वे उस समय के विख्यात नास्तिक थे। ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे ऐसा कहना कम कहना होगा, वे अनीश्वर में विश्वास करते थे। युद्ध के जहाज़ के कप्तान का जिस तरह जहाज़ चलाने की अपेक्षा जहाज़ डुबाना ही प्रधान व्यवसाय होता है, उसी तरह सुयोग पाते ही आस्तिक्यधर्म को डुबाना ही जगमोहन का मुख्य धर्म था। ईश्वर-विश्वासी के साथ उनका तर्क इस पद्धति पर चला करता था :—

ईश्वर यदि हैं तो मेरी यह बुद्धि उन्हींकी दी हुई है ;

वही बुद्धि कहती है, ईश्वर नहीं हैं ;

तुम लोग तिसपर भी उनके मुंह पर ही जवाब देते हो, ईश्वर हैं। इसी पाप की सज़ा के रूप में तेतीस कोटि देवता तुम्हारे दोनों कान पकड़कर अपना जुर्माना वसूल करा रहे हैं।

जगमोहन का ब्याह बचपन में हुआ था। युवावस्था में जब उनकी पत्नी का देहांत हो गया, उसके पहले ही उन्होंने माल्थस पढ़ डाला था ; फिर विवाह नहीं किया।

उनके छोटे भाई हरिमोहन थे शचीश के पिता। उनकी प्रकृति बड़े भाई से इस क़दर विपरीत थी कि यह बात लिखने से लोगों को कहानी गढ़ने का सन्देह होने लगेगा। किंतु वस्तुतः कहानी ही लोगों का विश्वास अपहरण करने के लिये खूब सावधान होकर चलती है, सत्य को वह झंझट नहीं होती इसलिये अद्भुत होते उसे भय नहीं होता। इसी कारण सुबह और सांझ जिस तरह विपरीत हैं उसी तरह छोटे और बड़े भाइयों के परस्पर विपरीत होने की नज़ीर भी दुनिया में दुर्लभ नहीं है।

हरिमोहन बचपन में बीमार रहा करते थे। गंडे-तावीज़, शान्ति-स्वस्त्ययन, संन्यासी की जटा से निचोड़े हुए जल, विशेष-विशेष पीठस्थानों की धूल, नाना जाग्रत देवताओं के प्रसाद-चरणामृत और अनेक रुपयों द्वारा पाए हुए गुरु-पुरोहितों के आशीर्वाद की गढ़बन्दी के द्वारा मानो सब प्रकार के अकल्याण से उन्हें सुरक्षित रखा गया था।

बड़े होने पर रोग-दोष से छुटकारा मिल गया, किन्तु वे एक बहुत बड़े काहिल हैं, यह संस्कार दुनिया से नहीं मिटा। वे किसी प्रकार जीवित रहे आएं इससे ज्यादा उनपर कोई कुछ भी दावा नहीं करता था। उन्होंने भी इस तरफ़ से किसीको निराश नहीं किया, खासे जीवित रहे आए। किन्तु शरीर मानो अब चला कि तब—यही भाव दिखलाकर वे सदा सबको धमकाया करते। खासकर अपने पिता की कम उम्र में ही मृत्यु हो जाने का दृष्टान्त देकर मां और मौसी के संपूर्ण सेवा-जतन को वे अपनी ही ओर खींच रखते थे। सबसे पहले भोजन, सबसे स्वतंत्र भोजन की व्यवस्था, सबकी अपेक्षा कम काम और सबसे अधिक आराम का आयोजन उनका हुआ करता था। सिर्फ़ मां-मौसी ही क्यों, तीनों लोकों के सब देवी-देवताओं पर उनकी खास ज़िम्मेवारी है, इसे वे कभी नहीं भूलते थे। केवल ठाकुर-देवता ही नहीं, संसार में जहां जिसके निकट जिस परिमाण में सुविधा प्राप्त होती, उसे उसी परिमाण में मानकर वे चलते थे—थाने के दारोगा, धनी पड़ौसी, उच्चपदस्थ राजकर्मचारी, अखबार के सम्पादक, सबकी यथोचित भय-भक्ति करते हुए चलते थे, गो-ब्राह्मण की तो बात ही नहीं उठती।

जगमोहन का भय ठीक उल्टी तरफ़ था। किसीसे लेशमात्र सुविधा की भी प्रत्याशा वे करते हैं ऐसा किसीको पीछे सन्देह-मात्र भी न हो पड़े इसी आशंका से हैसियतवाले आदमियों को दूर रखकर ही वे चला करते। वे जो देवता को नहीं मानते थे उसमें भी यही ज़िद थी। लौकिक-अलौकिक किसी भी शक्ति के निकट हाथ जोड़ने को वे राज़ी नहीं थे।

यथासमय—अर्थात् यथासमय से काफ़ी पहले ही—हरिमोहन की शादी हो गई। तीन लड़कियों और तीन लड़कों के बाद शचीश का जन्म हुआ। सभीने कहा—अपने बड़े चाचा के साथ शचीश के मुख की आश्चर्यजनक समानता है।—जगमोहन भी उसपर ऐसा ही अधिकार कर बैठे जैसे वह उन्हींका लड़का हो।

इससे जो कुछ लाभ था उसकी खतौनी मिलाकर शुरू में हरिमोहन प्रसन्न ही हुए। कारण जगमोहन ने स्वयं ही शचीश की शिक्षा का भार ले लिया था। अंगरेज़ी भाषा के असाधारण उस्ताद के नाम से जगमोहन की ख्याति थी। कोई उन्हें बंगाल का मैकाले तो कोई जान्सन कहता था। घोंघे के आच्छादन की तरह वे मानो अंगरेज़ी किताबों से घिरे हुए थे। पहाड़ पर गोल घिसी हुई बटैयों की रेखा को देखकर जैसे अरण्य-निर्झर का पथ पहचाना जाता है, वैसे ही घर के किन किन भागों में उनका चलना-फिरना होता है सो फ़र्श से लेकर कड़ियों तक व्याप्त अंगरेज़ी किताबों का ढेर देखने से ही समझ में आ जाता था।

हरिमोहन ने अपने बड़े लड़के पुरन्दर को लाड़ के रस में एकबारगी गला ही रखा था। वह जो मांगता उसमें वे नाहीं नहीं कर पाते। उसके लिये उनकी आंखें जैसे सदा आंसुओं से छलछल करती रहतीं—उन्हें लगता मानो ज़रा-सी भी बाधा देने से लड़का बचेगा नहीं। पढ़ना-लिखना तो उसका कुछ हुआ ही नहीं, खूब जल्दी जल्दी ब्याह हो गया और विवाह की चौगिर्दी में भी उसे कोई बांधकर नहीं रख सका। हरिमोहन की पुत्रवधू इसपर खूब ज़ोर-शोर से एतराज़ करती और हरिमोहन बहू पर खूब क्रुद्ध होकर कहते कि घर पर उसके उत्पात की वजह से ही उनके लड़के को बाहर सान्त्वना खोजनी पड़ रही है।

यह सम्पूर्ण काण्ड देखकर, पितृस्नेह की विषम विपत्ति से बचा रखने के ख्याल से, जगमोहन शचीश को सदा अपने साथ रखते, उसे कभी रिहाई नहीं देते। शचीश देखते देखते खूब कम उम्र में ही अंगरेज़ी लिखने-पढ़ने में पक्का हो उठा। किंतु वहीं तक आकर तो रुका नहीं। दिमाग़ में मिल-बेन्थम का अग्निकाण्ड घट जाने से वह मानो नास्तिकता की मशाल की तरह जलने लगा।

जगमोहन शचीश के साथ इस ढंग से रहते जैसे वह उनका समवयस्क हो। गुरुजनों की भक्ति उनके मत में एक झूठमूठ का संस्कार था; वह मनुष्य के मन में गुलामी का भाव

पक्का कर देती है। घर के किसी नये जमाई ने उन्हें श्रीचरणेषु-पाठ के साथ चिट्ठी लिखी थी। उसे उन्होंने निम्नलिखित प्रणाली पर उपदेश दिया था : माई डियर नरेन, चरण को श्री कहने का क्या अर्थ होता है सो मैं भी नहीं जानता, तुम भी नहीं जानते, अतएव वह बात फ़िजूल है; इसके सिवा, मुझे एकबारगी भुलाकर तुमने मेरे चरणों में निवेदन किया है, तुम्हें मालूम होना चाहिए कि मेरे चरण मेरे ही एक अंश हैं, जब तक वे मुझसे जुड़े हुए हैं तब तक उन्हें अलग करके देखना उचित नहीं है; इसके अलावा, वह अंश हाथ भी नहीं है कान भी नहीं, वहां कुछ भी निवेदन करना पागलपन है; इसके सिवा, आखिरी बात यह है कि मेरे चरणों के संबंध में बहुवचन-प्रयोग करने से भक्ति-प्रकाशन हो सकता है, कारण कोई-कोई चतुष्पद तुम लोगों के भक्तिभाजन हैं भी, किंतु मेरे प्राणितत्त्व-घटित परिचय के संबंध में तुम्हारी अज्ञता का संशोधन कर देना मैं ज़रूरी समझता हूं।

३

शचीश के साथ जगमोहन ऐसे सभी विषयों की आलोचना किया करते जिन्हें लोग अक्सर ढक-मूंदकर रखते हैं। इसे लेकर किसीके आपत्ति करने पर वे कहते, बर्र का छत्ता तोड़ देने से ही बर्र को भगाया जा सकता है, इसी तरह इन मामलों में लज्जा को तोड़ देने से ही लज्जा के मूल कारण को खेदा जा सकता है; शचीश के मन से मैं लज्जा के छत्ते को ही तोड़ दे रहा हूं।

पढ़ाई-लिखाई समाप्त हुई। अब हरिमोहन शचीश को उसके बड़े चाचा के हाथ से उद्धार करने के लिये छटपटाने लगे। किंतु बंसी तब तक गले में अटक चुकी थी, छिद चुकी थी, इसलिये एक तरफ़ खींचा-तानी जितनी ही बढ़ने लगी, दूसरी तरफ़ बंधन भी उतना ही अंटने लगा। इस कारण हरिमोहन लड़के की अपेक्षा बड़े भाई पर ही अधिकाधिक क्रुद्ध होने लगे— उनके बारे में गाढ़ी-फीकी झूठ-सच कितनी ही निन्दा की बातों से मुहल्ले को पूरने लगे।

सिर्फ़ मत-विश्वास की ही बात होती तो हरिमोहन को आपत्ति नहीं होती; मुर्गी खाकर लोकसमाज में उसे पाठा कहकर परिचय देने पर भी वे इसे सह सकते थे; किन्तु ये लोग इतनी दूर चले गए थे कि मिथ्या की सहायता से भी इनका उद्धार करने की गुंजाइश नहीं रह गई थी। जो बात सबसे ज्यादा खटकी वही कहता हूं।

जगमोहन के नास्तिकधर्म का एक प्रधान अंग था लोगों की भलाई करना, इस भलाई करने में अन्य चाहे जो रस हो, एक प्रधान रस यह था कि नास्तिक के लिये लोगों की भलाई

करने में खालिस नुकसानी छोड़ और कुछ भी हाथ नहीं आता—न पुण्य, न पुरस्कार, न किसी देवता अथवा शास्त्र की बख्शीश का विज्ञापन और न उनकी क्रोध से रंगी आंखें। अगर कोई पूछता, 'प्रचुरतम लोगों के प्रभूततम सुखसाधन' में आपकी ग़रज़ कौनसी है, तो वे कहते, कोई ग़रज़ नहीं है, यही मेरी सबसे बड़ी ग़रज़ है।—शचीश से कहते, देख बेटा, हम लोग नास्तिक हैं इसी गौरव की खातिर हमें बिल्कुल निष्कलंक-निर्म्मल रहना होगा। हम कुछ भी नहीं मानते इसीसे अपनेको मानने पर हमारा इतना ज़ोर है।

'प्रचुरतम लोगों के प्रभूततम सुखसाधन' में उनका प्रधान चेला था शचीश। मुहल्ले में चमड़े की कुछ बड़ी बड़ी आढ़ती गोदामें थी। वहां के सब मुसलमान व्यापारियों और चमारों को लेकर चाचा-भतीजे इस प्रकार घोर हितानुष्ठान में जुट गए कि हरिमोहन के मस्तक का चंदन-तिलक अग्नि-शिखा की तरह उनके मग़ज़ में लंकाकांड घटित करने का उपक्रम करने लगा। दादा के निकट शास्त्र अथवा आचार की दुहाई देने से उल्टा असर होगा, इस कारण उन्होंने पैतृक सम्पत्ति की बेजा फिज़ूलखर्ची की शिकायत की। दादा ने कहा, तुमने मोटे-मुस्तण्डे पंडे-पुरोहितों के पीछे जितना रुपया बहाया है, मेरा खर्च पहले वहां तक पहुंच जाय, पीछे तुम्हारे साथ हिसाब-किताब हो जायगा।

घर के लोगों ने एक दिन देखा, जिस हिस्से में जगमोहन रहते हैं उसमें एक बृहत् भोज का आयोजन हो रहा है। पाचक और परिवेशक सब मुसलमान हैं। हरिमोहन क्रोध से तिल-मिलाते हुए शचीश को पुकारकर बोले,—तू क्या आज अपने सब सगे चमारों को बुलाकर यहां खिलाने वाला है?

शचीश बोला, मेरी क्या सामर्थ्य है? हैसियत होने से खिलाता, लेकिन मेरे पास तो पैसा है नहीं। बड़े चाचा ने ही उन लोगों को आमंत्रित किया है।

पुरन्दर क्रोध से छटपटाता हुआ घूम रहा था; कह रहा था, वे लोग कैसे इस घर में आकर खाते हैं सो मैं देख लूंगा।

हरिमोहन ने भाई के पास आपत्ति की। जगमोहन बोले, अपने ठाकुरजी को तुम रोज़ भोग चढ़ाते हो, मैं एक बात भी नहीं कहता; आज मैं अपने ठाकुर को भोग अर्पण करने जा रहा हूं, तुम इसमें विघ्न मत डालना।

तुम्हारे ठाकुर?

हां मेरे ठाकुर।

तुम क्या ब्राह्म हो गए हो?

ब्राह्म लोग निराकार को मानते हैं जिसे आंखों नहीं देखा जा सकता। तुम लोग साकार

को मानते हो जिसे कानों नहीं सुना जाता। हम लोग सजीव को मानते हैं जिसे आंखों देखा जा सकता है, कानों सुना जा सकता है,—जिसे विश्वास किए बिना रहा नहीं जाता।

यही चमार-मुसलमान तुम्हारे देवता हैं ?

हां, यही चमार-मुसलमान मेरे देवता हैं। उनकी एक आश्चर्यजनक सामर्थ्य तुम यहीं प्रत्यक्ष देख सकते हो कि सामने भोग-सामग्री अर्पण करने पर वे अनायास ही उसे हाथ से उठाकर खा लेते हैं। तुम्हारा कोई देवता यह नहीं कर पाता। मुझे यही अद्‌भुत-रहस्य देखते भला लगता है, इसीसे अपने ठाकुर को अपने घर बुलाया है। देवता को देखने की तुम्हारी आंखें अगर अंधी न होतीं तो तुम खुश होते।

पुरन्दर ने बड़े चाचा के पास जाकर खूब ऊंची आवाज़ में कड़ी कड़ी बातें सुनाईं और जताया कि आज वह एक घोर कांड कर डालने वाला है।

जगमोहन ने हंसकर कहा, अरे ओरे बांदर, मेरे देवता कितने बड़े जाग्रत देवता हैं सो उनकी देह में हाथ लगाते ही तू समझ जाएगा, मुझे कुछ भी नहीं करना पड़ेगा।

पुरन्दर चाहे जितना ही छाती फुलाकर क्यों न घूमे, है वह अपने बाप से भी ज्यादा डरपोक। जहां वह शान दिखा पाता है वहीं उसका ज़ोर होता है। मुसलमान पड़ौसियों को छेड़ने की उसे हिम्मत नहीं हुई। आकर शचीश को ही गाली देने लगा। शचीश अपनी दोनों अद्‌भुत आंखें उसके मुख पर स्थिर करके चुपचाप ताकता रहा—आधी बात भी नहीं बोला। उस दिन का भोज निर्विघ्न समाप्त हुआ।

४

इस बार हरिमोहन भाई के साथ कमर कसकर भिड़ पड़े। जिस संपत्ति को लेकर इनकी गिरिस्ती चल रही थी वह थी देवोत्तर संपत्ति। जगमोहन विधर्मी आचारभ्रष्ट हैं अतः सेवा के अयोग्य हैं—इस बात पर हरिमोहन ने ज़िला अदालत में नालिश रुजू कर दी। मातबर गवाहों की कमी नहीं थी, मुहल्ले-भर के लोग साक्ष्य देने के लिये तैयार थे।

अधिक कौशल की ज़रूरत ही नहीं पड़ी। जगमोहन ने अदालत में साफ़ साफ़ ही स्वीकार किया कि वे देवी-देवता नहीं मानते ; खाद्य-अखाद्य का विचार नहीं करते ; मुसलमान लोग ब्रह्म की किस जगह से पैदा हुए हैं उन्हें नहीं मालूम ; और उनके साथ खाने-पीने में उन्हें कोई रुकावट नहीं है।

मुंसिफ़ ने जगमोहन को सेवक-पद के अयोग्य क़रार दिया। जगमोहन के पक्ष के

क़ानूनदां लोगों ने आशा दिलाई कि यह फैसला हाईकोर्ट तक नहीं टिक सकता। किंतु जगमोहन ने अपील करना नामंजूर कर दिया। कहा, जिन ठाकुरजी को मैं नहीं मानता, उन्हें भी क़ानून की मदद से छलना मुझे पसन्द नहीं है। देवता को मानने की बुद्धि जिन्हें है, देवता को वंचित करने की धर्मबुद्धि भी उन्हीं लोगों की होगी।

मित्रों ने पूछा, खाओगे क्या?

उन्होंने कहा, अगर कुछ भी खाने न जुटे तो धूल फांकूंगा।

इस मामले की जीत को लेकर धूमधाम करने की इच्छा हरिमोहन की नहीं थी। वे डरते थे कि कहीं बड़े भैया के अभिशाप से कोई कुफल न घट जाए। किंतु पुरन्दर के मन में यह आग अब भी भड़क रही थी कि वह उस दिन घर से चमारों को भगा नहीं पाया। किसके देवता जाग्रत हैं सो इस बार तो प्रत्यक्ष मालूम हो गया? इसीलिये पुरन्दर ने डंका पिटवाकर मुहल्ले-भर को सिर पर उठा लिया। उस दिन जगमोहन के पास उनका कोई एक दोस्त आ रहा था जिसे कुछ भी पता न था; उसने पूछा, अजी मामला क्या है? जगमोहन बोले, आज हमारे ठाकुरजी का धूमधाम के साथ विसर्जन किया जा रहा है, उसीका बाजा-गाजा है यह!—पुरन्दर ने खुद ही उद्योग करके दो दिन ब्राह्मण-भोजन करा दिया। सभी पुलकित कंठ से घोषणा करने लगे कि पुरन्दर इस वंश का कुल-प्रदीप है।

दोनों भाई न्यारे हो गए, कलकत्ते के पुराने पैत्रिक घर में प्राचीर खड़ी हो गई।

धर्म के मामले में चाहे जो हो, रुपये-पैसे खाने-पहनने के बारे में मनुष्य में एक स्वाभाविक सद्बुद्धि और समझदारी होती है, इस विश्वास से हरिमोहन के मन में मानवजाति के प्रति एक प्रकार की आश्वस्त श्रद्धा थी। उन्हें सोलहों आने इतमीनान था कि इस बार उनका बेटा निःस्व जगमोहन को छोड़कर, कम से कम आहार की गंध से ही, उनके सोने के पिंजरे में पकड़ाई दे जायगा। किंतु बाप की धर्मबुद्धि और कर्मबुद्धि में से उसे एक भी नहीं मिली—इसका शचीश ने साक्षात् परिचय दिया; वह अपने बड़े चाचा के साथ ही बना रहा। जगमोहन चिरकाल से शचीश को इस तरह बिल्कुल अपना ही मानने के अभ्यासी हो गए थे कि आज इस बंटवारे के दिन भी शचीश जो उनके हिस्से में पड़ गया सो इससे उन्हें तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ। किंतु हरिमोहन अपने भैया को खूब अच्छी तरह ही पहचानते थे। उन्होंने लोगों के निकट यह फैलाना शुरू किया कि जगमोहन शचीश को अटकाकर अपने अन्नवस्त्र का सुभीता करने का कौशल खेल रहे हैं। उन्होंने अत्यंत साधु बनकर प्रायः डबडबाई आंखों से सबके निकट अर्ज की कि भैया को क्या मैं खाने-पहरने की तकलीफ़ दे सकता हूं? लेकिन वे मेरे लड़के को अपनी

मुट्ठी में रखकर यह जो शैतानी चाल खेल रहे हैं सो इसे मैं किसी भी तरह सह नहीं सकता। देखूं आखिर कितने बड़े चालाक हैं वे !

बात जब मित्रों की ज़बानी अंत में जगमोहन के कानों तक पहुंची तब वे एकबारगी चौंक उठे। ऐसी बात भी उठ सकती है जिसका कभी ख्याल भी नहीं किया था—यह सोचकर उन्होंने अपने को धिक्कार दिया। शचीश से बोले, गुडबाई शचीश !

शचीश समझ गया कि जिस व्यथा के कारण जगमोहन ने यह विदा की वाणी उच्चारित की है उसपर और कोई बात नहीं चल सकती। जन्म से लेकर आज अट्ठारह बरस तक के अटूट संस्रव से शचीश को विदा लेनी पड़ी। वह जब अपना संदूक-बिस्तरा गाड़ी पर लदवाकर उनके पास से चला गया, जगमोहन दरवाज़े बंद करके अपने कमरे में जाकर फ़र्श पर ही पड़ रहे। सांझ घनी हो आई, उनके पुराने नौकर ने घर में रोशनी रखने के लिये कपाट पर थपकी भी दी, किंतु उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया।

हाय रे प्रचुरतम मनुष्यों के प्रभूततम सुखसाधन ! मनुष्य के विषय में विज्ञान की यह पैमाइश घटती जो नहीं ! सिर की गिनती के समय जो मनुष्य केवल एक है वही हृदय के भीतर संपूर्ण गणना के परे है ! शचीश को क्या एक-दो-तीन के कठघरे में फेंका जा सकता है ? उसने तो जगमोहन की छाती विदीर्ण करके समस्त जगत को असीमता से जैसे छा लिया हो !

शचीश ने गाड़ी बुलवाकर उसपर अपनी चीज़-वस्तु क्यों लदवाई यह बात भी जगमोहन ने नहीं पूछी। घर के जिस हिस्से में उसके बाप रहते थे वह उस तरफ़ नहीं गया, जाकर ठहरा अपने एक मित्र के मैस में। अपना ही लड़का भला क्योंकर पराया हो जा सकता है, यही सोचकर हरिमोहन बार बार आंसू बरसाने लगे। उनका हृदय अत्यंत कोमल था। घर का बंटवारा होने के बाद पुरन्दर ने ज़िद करके अपने हिस्से में ठाकुरजी की प्रतिष्ठा कराई। सुबह-शाम शंख-घड़ियाल के तुमुल कोलाहल से जगमोहन के कान बहरे हुए जा रहे हैं यही सोचकर वह खुशी से उछलता फिरता।

शचीश ने एक प्राइवेट-ट्यूशन ले ली और जगमोहन ने किसी एन्ट्रेन्स स्कूल की हेडमास्टरी जुटा ली। हरिमोहन और पुरन्दर इन नास्तिक शिक्षकों के हाथों से भले आदमियों के घर के बच्चों की रक्षा के लिये भरपूर चेष्टा करने लगे।

५

कुछ दिन बाद शचीश एक रोज़ दुतल्ले पर जगमोहन के पढ़ने-लिखने के कमरे में आकर उपस्थित हुआ। इनमें प्रणाम करने की प्रथा नहीं थी। जगमोहन ने शचीश को आलिंगन करके चौकी पर बिठाया और पूछा, क्या खबर है ?

एक खास खबर थी।

ननीबाला अपनी विधवा मां के साथ अपने मामा के यहां आश्रय लिए हुए थी। जितने दिन मां ज़िन्दा रही, कोई विपद नहीं घटी। थोड़े दिन हुए मां मर गई है। ममेरे भाई दुश्चरित्र हैं। उन्हींका कोई दोस्त ननीबाला को उनके आश्रय से निकालकर ले गया था। कुछ दिन बाद उसे ननी पर शक होने लगा और उसी ईर्ष्या के कारण ननीके अपमान की उसने कोई सीमा नहीं रखी है। जिस घर में शचीश पढ़ाने जाता है उसके बाज़ू के घर में यह काण्ड हुआ है। शचीश उस हतभागिनी का उद्धार करना चाहता है। लेकिन उसके न तो पैसा-कौड़ी है न घर-द्वार, इसीसे वह बड़े चाचा के पास आया है। इधर लड़की के संतान-संभावना भी है।

जगमोहन तो एकबारगी आग हो उठे; उस आदमी को अगर पा जाएं तो उसकी खोपड़ी चूर चूर कर देंगे ऐसा ही उनका भाव था। ऐसे मामलों में सब तरफ़ से शांत होकर सोचने-विचारनेवाले आदमी वे नहीं हैं। एकदम ही कह उठे, अच्छी तो बात है, मेरा लायब्रेरीवाला कमरा खाली है, वहीं उसे रख देंगे।

शचीश चकित होकर बोला, लायब्रेरीवाला कमरा? लेकिन किताबें?

जितने दिन काम नहीं जुटा था, जगमोहन ने किताबें बेंच-बेंचकर दिन काटे थे। इस समय जो थोड़ी-बहुत किताबें बाक़ी थीं वे उनके सोने के कमरे में समा सकती थीं।

जगमोहन ने कहा, लड़की को अभी जाकर ले आओ।

शचीश ने कहा, लेता आया हूं, वह नीचे के कमरे में बैठी है।

जगमोहन तूफ़ान की तरह कमरे में प्रवेश करके अपने मेघगंभीर स्वर में बोले, आओ मां आओ! धूल में क्यों बैठी हो?

लड़की मुंह पर आंचल दबाकर सिसक-सिसककर रोने लगी।

जगमोहन की आंखों में सहज ही पानी नहीं आता—तब भी आज वे डबडबा आईं। शचीश से कहा, शचीश, यह बच्ची आज जो लज्जा वहन कर रही है, वह मेरी लज्जा है, तुम्हारी लज्जा है। आहा, उसपर इतना बड़ा बोझा किसने डाल दिया? मां, मेरे निकट तुम्हारी लज्जा नहीं चलेगी। मुझे मेरे स्कूल के लड़के 'पगला जगाई' कहा करते थे, आज भी मैं वही पागल हूं—यह कहते हुए जगमोहन ने निःसंकोच लड़की के दोनों हाथ पकड़कर उसे धरती से उठाकर खड़ा किया—माथे पर से उसका घूंघट खिसक पड़ा।

नितान्त कच्चा मुख, कच्ची उम्र है, कलंक का तो लेश चिह्न भी उस मुख पर नहीं दिखता। फूल पर धूल बैठ जाने से भी जैसे उसकी आंतरिक शुचिता दूर नहीं होती वैसे ही इस शिरीष-

कोमल लड़की की भीतरी पवित्रता का लावण्य तो मिटा ही नहीं है। उसकी दोनों काली आंखों में आहत हरिणी की भीत दृष्टि है, उसकी देहलता में लज्जा का सहज संकोच है किंतु इस समूची सकरुणता में कालिमा तो कहीं नहीं मिलती।

ननीबाला को जगमोहन अपने ऊपर के कमरे में ले जाकर बोले, मां, यह देखो मेरे घर की श्री! सात जन्म झाड़ू नहीं पड़ी, सब उलट-पलट पड़ा है; और मेरी अगर पूछो तो कब नहाता हूं कब खाता हूं, कुछ ठीक-ठिकाना नहीं। तुम आई हो तो मेरे घर की श्री लौट आएगी और पगला जगाई भी शायद आदमी-जैसा हो उठेगा।

मनुष्य कितनी दूर तक मनुष्य का अपना होता है सो आज तक कभी ननीबाला ने अनुभव नहीं किया था—यहां तक कि मां के रहते भी नहीं। कारण, मां तो उसे लड़की कहकर देखती नहीं थी, विधवा लड़की कहकर देखती थी। अतएव वह रिश्ता आशंका के छोटे-छोटे चुभीले कांटों से भरा हुआ था। किन्तु जगमोहन संपूर्ण अपरिचित होकर भी ननीबाला को उसके समूचे भले-बुरे का आवरण पार करके इस तरह सब प्रकार ग्रहण ही कैसे कर सके?

जगमोहन ने एक बूढ़ी दासी रख दी और ननीबाला को कहीं भी किसी तरह संकोच नहीं करने दिया। ननी को सबसे बड़ा भय यह था कि जगमोहन उसके हाथ का खाएंगे भी या नहीं—वह पतिता जो है। किंतु हुआ यह कि जगमोहन उसके हाथ का छोड़ और खाना ही नहीं चाहते—वह स्वयं बनाकर जब तक पास बैठकर न खिलाए तब तक वे खाएंगे ही नहीं, यही उनका प्रण था।

जगमोहन जानते थे, इस बार निन्दा की एक और भी विकट पाली आनेवाली है। ननी भी इसे समझ रही थी और इसीसे इस तरफ़ से उसके भय की कोई सीमा नहीं थी। दो-चार दिन के भीतर ही श्रीगणेश हो गया। दासी ने पहले ननी को जगमोहन की कन्या समझा था; वही पीछे एक दिन आकर ननी से जाने-सब क्या-क्या कह गई और जवाब देकर चली गई। जगमोहन की बात सोचकर ननी का मुंह सूख आया। जगमोहन बोले, मां, मेरे घर में पूर्णचन्द्र का उदय हुआ है इसलिये निन्दा का ज्वार उठने का वक्त भी आ गया है, किन्तु लहरें कितनी भी गंदली क्यों न हों, मेरी चांदनी पर तो दाग़ नहीं छोड़ सकतीं।

जगमोहन की एक बुआ हरिमोहन के घर तरफ़ से आकर बोलीं, छिः छिः जगाई, यह क्या काण्ड? पाप को विदा कर दे!

जगमोहन ने कहा, तुम लोग धार्मिक हो, ऐसी बात कह सकती हो, किंतु पाप को यदि विदा कर दूं तो इस पापिष्ठ की क्या गति होगी?

कोई एक रिश्ते की नानी आकर बोलीं, छोकरी को अस्पताल भेज दे, हरिमोहन सब खरचा सहने के लिये तैयार है।

जगमोहन बोले, मां जो है ; रुपये-पैसे की सुविधा की ग़रज़ से ख्वाहमख्वाह मां को अस्पताल भेज दूं—यह कैसी बात है हरिमोहन को ?

नानी गाल पर हाथ रखकर बोलीं, मां किसे कहता है रे ?

जगमोहन बोले, जीव को जो गर्भ में धारण करती हैं उन्हें। जो प्राण संशय में डालकर शिशु को जन्म देती हैं उन्हें। उस शिशु के पाखंडी बाप को तो मैं बाप नहीं कहता। वह बेटा तो सिर्फ विपद बुला देता है, उसे खुद तो कोई झंझट हो नहीं।

हरिमोहन की सारी देह घृणा से जैसे गंदली हो आई। गृहस्थ के घर की दीवार के उसी पार—बाप-दादों के पुश्तैनी महल में—एक भ्रष्टा छोकरी इस तरह निवास करेगी—इसे भला किस तरह सहा जा सकता है ? इस पाप में शचीश घनिष्ठ रूप से लिप्त है और उसके बड़े चाचा इसमें उसे प्रश्रय दे रहे हैं इस बात में विश्वास करते हरिमोहन को ज़रा भी विलंब या संकोच नहीं हुआ। खूब ज़ोर-शोर से ही उन्होंने सब तरफ़ इसका डंका पीटना शुरू किया। इस अन्याय या निन्दा को कम करने की जगमोहन ने कुछ भी चेष्टा नहीं की। उन्होंने कहा, हम नास्तिकों के धर्मशास्त्र में अच्छे काम के लिये निंदा के नरकभोग का विधान है।—जनश्रुति जितने ही नये नये रंगों में नये नये रूप धरने लगी, जगमोहन उतने ही उच्च हास्य के साथ शचीश के सहित उसका आनन्द उपभोग करने लगे। ऐसे कुत्सित व्यापार को लेकर भतीजे के साथ इस तरह का काण्ड किया जा सकता है, इसे हरिमोहन अथवा उन्हींके समान भद्रश्रेणी के किसी भी व्यक्ति ने कभी नहीं सुना था।

जगमोहन घर के जिस हिस्से में रहते हैं, बंटवारे के बाद से उस तरफ़ पुरन्दर की छाया भी नहीं फटकती थी। उसने प्रतिज्ञा की कि उस छोकरी को पहले मुहल्ले से बाहर खेदेगा, पीछे कोई और बात होगी।

जगमोहन जब स्कूल जाते तब घर में प्रवेश करने के सब रास्ते अच्छी तरह बंद कर जाते थे और जब भी ज़रा-सी फ़ुर्सत पाते तभी एक बार आकर देख-सुन जाते थे।

एक दिन दुपहरिया में पुरन्दर अपनी छत की सफ़ील की तरफ़ से नसैनी लगाकर जगमोहन के हिस्से की ओर कूद गया। तब ननीबाला खा पीकर अपने कमरे में सोई पड़ी थी ; द्वार खुला ही हुआ था।

पुरन्दर घर में घुसते ही निद्रिता ननी को देखकर विस्मय और क्रोध से गरज उठा—वही तो! तू यहां!

जागते ही पुरन्दर को देखकर ननी का मुंह एकबारगी फक् हो गया। वह भागे या

आधी बात भी कह सके इतनी शक्ति उसमें नहीं थी। पुरन्दर ने क्रोध से कांपते-कांपते पुकारा—ननी—ननी!

इसी बीच जगमोहन ने पीछे से कमरे में आकर चीखकर कहा—निकलो! निकलो मेरे घर से!

पुरन्दर क्रुद्ध बिलौटे की तरह गुस्से से फूलने लगा। जगमोहन ने कहा, अगर नहीं जाते तो मैं पुलिस को खबर करता हूं।

पुरन्दर एक बार ननी की तरफ़ अग्नि-कटाक्ष फेंककर चला गया। ननी मूर्छित हो पड़ी।

जगमोहन समझ गए कि मामला क्या है। शचीश को बुलाकर पूछने से मालूम हुआ कि शचीश जानता था, ननी को पुरन्दर ने ही नष्ट किया है ; कहीं वे पीछे क्रोध में आकर कोई गोलमाल न कर बैठें इसलिये उसने उनसे कुछ भी कहा नहीं था। शचीश मन ही मन जानता था कि कलकत्ता शहर में अन्यत्र कहीं पुरन्दर के उत्पात से ननी का छुटकारा नहीं है, केवल बड़े चाचा के घर में ही वह कभी यथासंभव पदार्पण नहीं करेगा।

ननी जैसे किसी भय की हवा से कुछ दिन बांस के पत्तों की तरह कांपती रही। पीछे उसने एक मरे हुए शिशु को जन्म दिया।

पुरन्दर ने एक दिन ननी को लात मारकर आधी रात के समय घर से बाहर कर दिया था। इसके बाद बहुत खोज करने पर भी उसे पा नहीं सका था। इसी समय बड़े चाचा के घर में ही उसे पाकर ईर्ष्या की आग में वह सिर से पैर तक जलने लगा। उसे लगा कि एक तो शचीश अपने ही भोग के लिये ननी को उसके हाथ से छुड़ा लाया है, दूसरे, पुरन्दर का ही विशेषरूप से अपमान करने के लिये उसके घर के बिल्कुल बाजू से ही उसे रख छोड़ा है। यह तो किसी भी तरह सहा नहीं जा सकता। बात हरिमोहन को भी मालूम हो गई। इसे हरिमोहन को जानने देने में पुरन्दर को कुछ भी शर्म नहीं लगी। पुरन्दर की इस सम्पूर्ण दुष्प्रकृति के प्रति उनका एक तरह से स्नेह ही था।

शचीश अपने ही बड़े भाई के हाथ से इस लड़की को छिना ले—यह बात उन्हें बहुत ही अशास्त्रीय तथा अस्वाभाविक लगी। पुरन्दर इस असह्य अपमान और अन्याय के हाथ से अपना प्राप्य वापस पा सके—यही उनके मन का एकांत संकल्प हो उठा। खुद ही बहुत रुपये खर्च करके कहीं से ननी की एक जाली मां जुटाकर उसे उन्होंने जगमोहन के पास रोने-मिनमिनाने के लिये भेज दिया। जगमोहन ने उस समय ऐसा रुद्र रूप धरकर उसे खेदा कि वह फिर कभी इस तरफ़ नहीं फटक सकी।

ननी दिन-दिन म्लान होकर जैसे छाया की तरह विलीन होने का उपक्रम कर रही थी।

उन दिनों क्रिस्मस की छुट्टियां थीं। जगमोहन पल-भर के लिये भी ननी को अकेली छोड़कर बाहर नहीं जाते थे। एक दिन संध्या समय वे उसे स्काट की कोई कहानी का बंगला में तर्जुमा करके सुना रहे थे कि तभी पुरन्दर एक और युवक को साथ लिए आंधी की तरह कमरे में घुस आया। उन्होंने जैसे ही पुलिस को खबर करने का ख्याल किया कि वह युवक बोला, मैं ननी का भाई हूं, उसे लिवाने आया हूं।

उसकी बात का कोई जवाब न देकर जगमोहन पुरन्दर को कंधे पर तौलते हुए ठेलकर जीने तक ले आए और वहां से एक ही धक्के में उसे नीचे की तरफ़ रवाना कर दिया। उस युवक से बोले, पाखंडी, शर्म नहीं आती? रक्षा करने के वक्त तुम ननी के कोई नहीं और सर्वनाश करने के लिये उसके भाई बन गए? उस आदमी ने वहां से अविलंब प्रस्थान करते देरी नहीं की लेकिन दूर से ही चीत्कार करके जताता गया कि पुलिस की मदद से अपनी बहन का उद्धार करके वह ले ही जायगा। वह आदमी सचमुच ही ननी का भाई था। पुरन्दर उसे यह साबित करने के लिये बुला लाया था कि शचीश ही ननी के पतन का कारण है।

ननी मन ही मन प्रार्थना करने लगी, धरती, दो टूक हो जा!

जगमोहन ने शचीश को बुलाकर कहा, मैं ननी को लेकर पच्छिम के किसी शहर में चला जाता हूं—वहां जैसे भी होगा कुछ जीविका जुटा लूंगा—जिस तरह उत्पात शुरू हुआ है उससे यहां रहते यह लड़की बचेगी नहीं।

शचीश बोला, बड़े भैया जब भिड़ ही पड़े हैं तब कहीं जाएं उत्पात साथ साथ जाएगा।

तब उपाय?

उपाय है। मैं ननी के साथ ब्याह कर लेता हूं।

ब्याह?

हां, सिविल-विवाह के क़ानून के अनुसार।

जगमोहन ने शचीश को छाती से लगाकर बलपूर्वक दबा लिया। उनकी आंखों से झर झर करके आंसू गिरने लगे। अपनी इतनी बड़ी उम्र में उन्होंने इस तरह कभी आंसू नहीं बहाए थे।

६

बंटवारे के बाद हरिमोहन एक दिन भी जगमोहन को देखने नहीं आए थे। उस दिन रूखे-सूखे उलझे-पुलझे आकर हाज़िर हुए। बोले, भैया, यह क्या सत्यानाशी बात सुन रहा हूं?

जगमोहन ने कहा, सत्यानाश ही होनेवाला था, अब तो उससे रक्षा का उपाय हो रहा है।

भैया, शचीश तुम्हारे लड़के के समान है—उसके साथ तुम उस पतिता की शादी कर दोगे ?

शचीश को मैंने अपने बच्चे-जैसा मानकर ही बड़ा किया है, आज वह सार्थक हुआ, उसने हमारा मुख उज्ज्वल कर दिया।

भैया, मैं तुमसे हार मानता हूं--अपनी आमदनी में से मैं आधी तुम्हारे नाम लिखे देता हूं—मेरे साथ ऐसा भयानक बदला मत चुकाना !

जगमोहन चौकी छोड़कर उठ खड़े हुए, बोले, सच तो कहते हो ! अपनी जूठी पत्तल का आधा मेरी तरफ़ फेंककर कुत्ते को बहलाने आए हो ! मैं तुम्हारी तरह धार्मिक नहीं हूं, नास्तिक हूं, इसे याद रखना। मैं गुस्से का प्रतिशोध भी नहीं लेता, दया की भीख भी नहीं।

हरिमोहन शचीश के मैस पहुंचे। उसे निराले में ले जाकर बोले, यह क्या सुनता हूं ? तुझे क्या मरने की जगह भी नहीं जुटी, इस तरह कुल में कलंक लगा बैठा ?

शचीश बोला, कुल का कलंक मिटाने के लिये ही तो यह प्रयत्न कर रहा हूं, नहीं तो ब्याह करने का शौक़ मुझे नहीं है।

हरिमोहन बोले, तुझे क्या तनिक-सा भी धर्मज्ञान नहीं है ? वह लड़की तेरे बड़े भाई की स्त्री के समान है, उसे तू—

शचीश बात काटकर बोल उठा, स्त्री के समान ? ऐसी बात ज़बान पर भी मत लाना !

इसके बाद हरिमोहन के जो मुंह में आया वही कहकर उसे गाली बकने लगे। शचीश ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इधर हरिमोहन की यह मुश्किल हो गई है कि पुरन्दर निर्लज्ज की तरह कहता फिर रहा है कि यदि शचीश ननी से शादी करेगा तो मैं आत्महत्या करके प्राण दे दूंगा। पुरन्दर की स्त्री कहती है, ऐसा होने से तो विपद कट जाएगी लेकिन वह तुम्हारे बूते का नहीं है !—हरिमोहन पुरन्दर की इस धमकी में एकबारगी विश्वास करते हों सो नहीं, तथापि उनका भय भी दूर नहीं होता।

शचीश इतने दिन ननी को बरकाकर ही चलता था—अकेले तो एक दिन भी मिलना नहीं हुआ, उसके साथ कभी दो बातें भी हुई होंगी इसमें संदेह है। ब्याह की बात जब ठीक पक्की हो गई तब जगमोहन ने शचीश से कहा, विवाह के पहले एक दिन निराले में ननी के साथ अच्छी तरह बातचीत कर लो, एक बार दोनों को एक दूसरे का मन जान-पहचान लेना ज़रूरी है।

शचीश राज़ी हो गया।

साथी] [शिल्पी—सुरेन्द्रनाथ कर

जगमोहन ने दिन ठीक कर दिया। ननी से बोले, मां, आज लेकिन तुम्हें मेरे मन-मुताबिक सजना होगा।

ननी ने लाज से मुंह नीचा कर लिया।

मा, मां, लाज करने से नहीं चलेगा, मेरे मन की बड़ी भारी साध है कि तुम्हें आज सँजी हुई देखूंगा ; इसे तुम्हें पूरा करना ही होगा।—यह कहकर सितारे-जड़ी बनारसी साड़ी कुर्ती ओढ़नी आदि जो कुछ अपनी पसंद से वे खरीद लाए थे, सब ननी के हाथों सौंप दिया।

ननी ने भूमिष्ठ होकर पावों की धूल लेकर उन्हें प्रणाम किया। व्यस्त होकर पांव हटाते हुए जगमोहन बोले—इतने दिनों में भी तुम्हारी भक्ति मिटा नहीं पाया! मैं न-हो उम्र में बड़ा ही पड़ गया, किंतु मां, तुम तो मां होकर मुझसे बड़ी हो—कहते हुए उसका माथा चूमकर बोले, भवतोष के घर मेरा निमन्त्रण है, लौटते कुछ रात हो जाएगी।

ननी ने उनका हाथ थामकर कहा, बाबा, तुम आज मुझे आशीर्वाद दो!

मां, मैं स्पष्ट देख रहा हूं, बुढ़ापे में तुम इस नास्तिक को भी आस्तिक बनाकर ही छोड़ोगी। मैं आशीर्वाद में अधेला-भर भी विश्वास नहीं करता किंतु तुम्हारा यह मुंह देखकर सचमुच ही आशीर्वाद देने की इच्छा होती है!—यह कहते हुए उसकी ठोढ़ी छूकर मुंह ऊपर उठाकर कुछ देर चुपचाप अपलक ताकते रहे—ननी की दोनों आंखों से अविरल आंसू झरने लगे।

संध्या-समय एक आदमी भवतोष के यहां से उन्हें बुलाने के लिये दौड़ा गया। उन्होंने आकर देखा, बिछौने पर ननी की देह पड़ी हुई है, जो कपड़े उन्होंने दिए थे वही पहने हुए हैं, हाथ में एक चिट्ठी है, सिरहाने के पास शचीश खड़ा हुआ है। चिट्ठी खोलकर जगमोहन ने पढ़ डाली :

बाबा, हो नहीं सका, मुझे माफ़ करना। तुम्हारी बात सोचकर इतने दिन मैंने प्राणपण से कोशिश की—लेकिन उन्हें आज भी भुला नहीं सकी। तुम्हारे श्रीचरण में शत-कोटि प्रणाम।—पापिष्ठा ननीबाला।

[क्रमशः]

[अनु०—मो० वाजपेयी

ज्योतिष और धर्मशास्त्र

हजारीप्रसाद द्विवेदी

[१]

मैंने 'विश्वभारती पत्रिका' के अप्रैल १९४२ के अंक में पंचांग-शोधन के संबंध में एक लेख लिखा था। उस लेख की तरफ़ कुछ विद्वानों का ध्यान गया है। उसे पढ़ने के बाद उन्होंने उसके संबंध में दो बातों की ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया है। (क) प्रथम यह कि मेरा सारा लेख गणित ज्योतिष की दृष्टि से लिखा गया है और यद्यपि शायद विशुद्ध ज्यौतिषिक दृष्टि से उसका प्रतिपाद्य शुद्ध है तथापि उसमें भारतीय पंचांगों के दो प्रधान उद्देश्यों की उपेक्षा की गई है। वे प्रधान उद्देश्य हैं (१) धर्मकृत्य और (२) फलादेश। इस देश में पञ्चांग इसलिये बनते हैं कि उनसे जन-साधारण विवाह श्राद्ध आदि धर्मकृत्य उचित समय पर कर सकें। इसलिये केवल गणित की दृष्टि से पंचांग-शोधन की समस्या पर विचार नहीं किया जा सकता। (ख) दूसरी बात मुझसे यह पूछी गई है कि आधुनिक विशुद्ध गणना से परिष्कृत पंचांग के साथ यदि धर्मशास्त्रीय व्यवस्थाओं का विरोध हो तो क्या करना उचित होगा। प्रथम आपत्ति में भारतीय पंचांगों के मूल उद्देश्य के विषय में जो कुछ कहा गया है उसे मैं स्वीकार करता हूं, इसलिये इन बातों पर अपनी नम्र सम्मति प्रकट करना ज़रूरी समझता हूं।

जिन सज्जनों ने धर्मशास्त्रीय व्यवस्थाओं के साथ पंचांग-संस्कार के विरोध की आशंका की है उन्होंने यह बताने की कृपा नहीं की है कि वे विरोध वस्तुतः क्या क्या हैं। परन्तु नाना मत के पंचांगों की भूमिकाओं से और इन्दौर से पं० दीनानाथ शास्त्री के संपादन में प्रकाशित 'इन्दौर-पंचांग-शोधन-कमेटी के रिपोर्ट' से धर्मशास्त्री पंडितों के किए गए आक्षेपों का अध्ययन करने पर मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि ये विरोध दो प्रकार से उत्थापित किए गए हैं। पंडिताऊ वाद-विवाद को यथासंभव कम करके औसत सुसंस्कृत व्यक्ति को उन विरोधों को समझाया जा सकता है और सहज बुद्धि के द्वारा उनका उत्तर भी खोजा सकता है। इन विरोधों को दो मोटे भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) प्रथम प्रकार का विरोध उन ग्रंथों के आधार पर किया गया है जो प्रधानतः धर्म-व्यवस्था के ग्रंथ हैं। निर्णयसिंधु, धर्मसिंधु आदि ग्रंथों के आधार पर उत्थापित शंकाओं

को मैं इस श्रेणी में रखना चाहता हूं और मेरा अपना विचार यह है कि ये ही वास्तविक धर्म-शास्त्रीय शंकाएं हैं।

(२) दूसरे प्रकार का विरोध उन ग्रंथों के आधार पर दिखाया गया है जो मूलतः ज्योतिष के ग्रंथ हैं और प्रसंग वश उनमें धर्मशास्त्रीय व्यवस्था की भी बात आ गई है। सूर्यसिद्धान्त का वासनाभाष्य, कमलाकर का सिद्धान्ततत्त्वविवेक आदि ग्रंथों के आधार पर जो शंकाएं उठाई गई हैं वे इसी श्रेणी की हैं। इनका धर्मशास्त्रीय महत्त्व इसलिये बढ़ गया है कि धर्मशास्त्रीय व्यवस्था देनेवाले ग्रंथों ने इन वचनों को उद्धृत किया है।

नीचे हम एक एक करके इन दोनों पर विचार कर रहे हैं। विचार करते समय धर्मशास्त्री पंडितों के वक्तव्यों को ज्यों-का त्यों मान लिया गया है, क्योंकि हमारा उद्देश्य धर्मशास्त्रीय शंकाओं का समझना ही है।

(१) निम्नलिखित शंका उत्थापित करते समय यह मान लिया गया है कि आधुनिक गणना से शुद्ध करके जो पंचांग बनते हैं उनमें तिथि की वृद्धि नौ घटी तक और क्षय दस घटी तक हो सकता है। अर्थात् तिथि का मान अधिक से अधिक ६९ घटी तक और कम से कम ५० घटी तक होता है (दिन और रात मिला के ६० घटियां होती हैं)। पुराने पंचांगों में अधिक से अधिक तिथि का मान ६५ घटी और कम से कम ५४ घटी तक दिया होता है अर्थात् तिथि में ५ दंड (घटी) तक वृद्धि हो सकती है और ६ दंड (=घटी) तक ह्रास। इसीको 'वाणवृद्धी रसक्षयः' सिद्धान्त कहते हैं। यदि तिथि का मान इस प्रकार की आधुनिक गणना से निर्धारित किया जाय तो बहुत-से धार्मिक कृत्यों के करने का समय मिलना ही असंभव हो जायगा। ऐसा आक्षेप करनेवालों के बताए हुए उदाहरणों में से एक सीधा उदाहरण लिया जाय। प्रदोष व्रत त्रयोदशी तिथि में होता है। इस व्रत का मुख्यकाल धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में सूर्यास्त के बाद ६ घटी तक बताया गया है और गौणकाल सूर्यास्त के पहले ३ घटी तक कहा गया है। मान लीजिए कि आधुनिक गणना से पंचांग बनाया गया जिस में तिथि में दस घटी तक ह्रास होने की संभावना है। किसी दिन इस गणना के अनुसार मान लीजिए कि द्वादशी तिथि ३६ घटी और ४० पल तक रही। इसके बाद त्रयोदशी शुरू हुई और दूसरे दिन २६ घटी और ५८ पल रही। इसका मतलब यह हुआ कि त्रयोदशी का कुल भोग सिर्फ ५० दंड और १८ पल रहा। यह आधुनिक गणना से ही संभव है, पुरानी गणना से कदापि नहीं। क्योंकि पुरानी गणना के हिसाब से तो कम से कम तिथिभोग ५४ दंड होगा, उसके नीचे जा ही नहीं सकता।' अब विचार कीजिए कि प्रदोष व्रत कब किया जायगा। इन विधानों में सूर्यास्त ३० दंड पर मान लिया जाता है। इस प्रकार प्रथम दिन

सूर्यास्त के ६ दंड ४० पल बाद तक तो द्वादशी ही रही इसलिये उस दिन मुख्यकाल में त्रयोदशी नहीं पाई गई। उस दिन व्रत नहीं हो सका। दूसरे दिन सूर्यास्त के ३ घटी पहले से ही गौणकाल शुरू होता है। सो गौणकाल आरंभ होने के पहले ही त्रयोदशी समाप्त हो गई। इस प्रकार दूसरे दिन भी व्रत का समय नहीं आ सका। इस प्रकार यदि आधुनिक वेध-सिद्ध गणना से पंचांग बनेंगे तो उनसे धर्मकृत्यों में भीषण बाधा उपस्थित होगी [देखिए, इंदौर पंचांग कमेटी के रिपोर्ट में (पृ० ४४-४७) पं० रामकृष्ण शास्त्री का पत्र]।

इसे धर्मशास्त्रीय विरोध का एक टिपिकल उदाहरण माना जा सकता है। अक्षयतृतीया और अष्टमी आदि तिथियों में निर्दिष्ट श्राद्ध को लेकर भी आक्षेप किए गए हैं, परन्तु उनमें धर्मशास्त्री पंडितों का मतभेद हो सकता है (दे० वहीं पं० दीनानाथ शास्त्री का पत्र) इसलिये हम उन्हें छोड़ दे सकते हैं। ऊपर जो आक्षेप बताया गया है वह सारवान् जान पड़ता है और यदि पंचांग-संस्कार से इस प्रकार के पत्रे बनने लगे जिससे साधारण जनता अपना धार्मिक कृत्य ही नहीं कर सके तो यह प्रयत्न न तो इस देश में चलेगा ही और न अनुमोदनीय ही माना जायगा।

वास्तव में यह समस्या इतनी गंभीर नहीं है जितनी ऊपर ऊपर से दिखाई देती है। धर्मशास्त्रीय व्यवस्था-ग्रंथों में ऐसे प्रसंग और भी बहुत-से आते हैं जो पुराने ढर्रे की गणना से भी उपस्थित हो जाते हैं और आचार्यों ने उनका समाधान बताया भी है। ऐसे बहुत-से अवसर आते हैं जब एक ही धर्मकृत्य के लिये उचित समय दो दिन प्राप्त होते हैं और ऐसे भी अवसर आते हैं जिनका उचित समय दोनों में से किसी दिन नहीं आता। धर्मशास्त्र की भाषा में पहलेको 'उभयत्र व्याप्ति' कहते हैं और दूसरेको 'उभयत्राव्याप्ति'। ऊपर प्रदोष व्रत का जो उदाहरण दिया गया है वह 'उभयत्र अव्याप्ति' का मामला है। यह कोई नई ज्योतिषिक समस्या नहीं है। पुराने ढर्रे के पंचांगों में भी ऐसे अवसरों के आ जाने की संभावना है जिसमें किसी विशेष अनुष्ठान के लिये न आज ही समय मिले और न कल ही। उदाहरण के लिये एकोद्दिष्ट प्रभृति श्राद्धों को लिया जाय। व्यवस्थानुसार उसके लिये दिन के दो मुहूर्त श्रेष्ठ हैं, कुतप और रौहिण। कुतप दिन के १४ दंड बीतने पर शुरू होता है और रौहिण १६ दंड बीतने पर। प्रत्येक मुहूर्त दो दण्ड का होता है। अर्थात् श्राद्ध का प्रशस्तकाल १५ वें के आरंभ से लेकर अट्ठारहवें दण्ड के अंत तक होता है। अब पुराने पंचांगों से तिथि कम से कम ५४ दंड (घटी) की तो होती ही है। कल्पना कीजिए अष्टमी तिथि में श्राद्ध करना है। प्रथम दिन सप्तमी १८॥ दंड समझिए और दूसरे दिन अष्टमी १४ दंड। इस प्रकार यद्यपि अष्टमी ५५॥ दंड तक रही पर पहले दिन श्राद्धकाल के बीतने पर आई और दूसरे दिन श्राद्धकाल के आने के पहले ही

समाप्त हो गई। ऐसी समस्या तो पुराने ढंग के पत्रों से भी उठ ही सकती है। शास्त्रकारों ने ऐसे अवसरों पर पूर्व दिन को क्रिया करने का विधान किया है। शतपथ ब्राह्मण की एक श्रुति का भाव यह है कि "हम असमर्थ मनुष्य हैं, कल हमारा क्या होगा, यह कौन बता सकता है?" इस श्रुति को प्रमाण रूप में उद्धृत करके आचार्य लोग कहते हैं कि यदि उभयत्र अप्राप्ति हो तो पहले ही दिन अनुष्ठान कर लेना चाहिए। किसी किसी आचार्य ने किसी किसी कृत्य के लिये पर दिन का भी विधान किया है। मतलब यह कि इन अनुष्ठानों के आदर्श पर त्रयोदशी के दिन वाले व्रत का समाधान भी शास्त्र से खोजा जा सकता है। उससे ज्योतिषिक संस्कार का कोई विरोध नहीं है। सच तो यह है कि पुराने धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में ही प्रदोष व्रत के इस प्रकार की समस्या का समाधान भी खोजा जा सकता है। निर्णयसिंधु के सुप्रसिद्ध टीकाकार कृष्णंभट्ट ने ऐसी तिथि की संभावना मानकर भी विचार किया है जिसमें प्रदोष व्रत-काल की व्याप्ति न पहले दिन हो और न दूसरे दिन। उन्होंने ऐसे पक्ष की कल्पना की है जिसमें त्रयोदशी के प्रदोष काल की अव्याप्ति दोनों दिनों में है।* यह अव्याप्ति पुराने पत्रों के आधार पर ही हुई है। फिर नये पत्रे से भी यदि अव्याप्ति हुई तो दोष क्या है?

(२) अब दूसरे मत पर विचार कर लिया जाय। यह मत मध्ययुग के पिछले खेवे के ज्योतिषाचार्यों का है। इस मत का सारमर्म यह है कि ग्रहण युति आदि दृश्य पदार्थों का साधन करते समय उनमें बीज-संस्कार से शोधित ग्रहों पर से गणना की जानी चाहिए किन्तु व्रत-उपवास श्राद्ध यज्ञ आदि के लिये जो तिथि नक्षत्र बनाये जाँय वे प्राचीन-सिद्धान्तों के अनुयायी हों। क्योंकि जिन ऋषियों ने व्रत-उपवास का विधान किया है उन्होंने तिथियों की गणना करने की रीति भी बना दी है। इसलिये धर्मकृत्य के लिये जो तिथिसाधन किए जाँय वे प्राचीन ऋषियों की गणना के आधार पर ही किए जाँय।

इस दूसरे प्रश्न पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि सूर्यसिद्धान्त जिस रूप में आज उपलब्ध है वह नया ग्रंथ है। पुराना सूर्यसिद्धान्त, जिसकी चर्चा वराह-मिहिराचार्य ने की है, अब उपलब्ध नहीं है। या तो वह लोप हो गया है या अत्यन्त परिवर्तित अवस्था में आधुनिक सूर्यसिद्धान्त में अन्तर्भुक्त है। इस देश में पुराने ढंग के पत्रे सूर्यसिद्धान्त,

---

* अत्र प्रदोषव्यापिनी (त्रयोदशी) ग्राह्या। तत्रैव पूजाविधानात्। प्रदोषस्त्रिमुहूर्तमित्यभिप्रायः। दिनद्वयेप्रदोषव्याप्तानव्याप्तौ या पूर्वा। 'त्रयोदशी तु कर्तव्या द्वादशी सहिता मुने।" इति सुमन्तूक्तेरिति मयूखकृतः। दिनद्वये प्रदोषव्याप्तौ तदव्याप्तौ साम्येन तदेकस्पर्शे वा उत्तरा। संकल्पकालेसत्त्वात्। वैषम्येणैकदेशस्पर्शे तदाधिक्यवती ग्राह्येति विवेचनानुसारिणः।
—सटीक निर्णयसिंधु, विद्याविलास-संस्करण १९३९, पृ० २४२

ग्रहलाघव या मकरन्द के मत से बनते हैं। सूर्यसिद्धान्त यदि आर्ष ग्रंथ हो भी तो ग्रहलाघव और मकरंद कदापि नहीं हैं। और सही बात तो यह है कि सूर्यसिद्धान्त की प्राचीन गणना भी एक भूली हुई कहानी है। इसलिये यह युक्ति ही बेकार है कि ऋषियों के बताए हुए व्रत-उपवास ऋषियों की निर्धारित प्रणाली पर हो रहे हैं। परन्तु पुराने पत्रों के आधार ग्रंथों को अगर 'आर्ष' मान भी लें तो ऊपर की युक्ति में कोई तत्त्व नहीं है। क्योंकि इस युक्ति में यह पहले ही मान लिया गया है कि ग्रहण आदि विषय आंखों से दिखाई देते हैं और प्रतिपद् आदि तिथियां आंखों से दिखाई नहीं देतीं। वस्तुतः यह धारणा ही ग़लत है। प्रत्येक राह-चलता आदमी प्रतिपद् आदि तिथियों को चाहे न देख सके परन्तु थोड़ा बुद्धिमान् व्यक्ति भी यदि चाहे तो यंत्र द्वारा मापकर प्रतिपदादि तिथियों का आरंभ और अवसान देख सकता है। क्योंकि तिथि कोई कल्पित मत या पारलौकिक धर्मशास्त्रीय विधान नहीं है। सूर्य और चंद्रमा का अन्तर जब १२ अंश होता है तो एक तिथि होती है। इस प्रकार कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन चंद्रमा सूर्य से ३००° से ३१२° के बीच रहेगा। यह अन्तर वेध से जाना जा सकता है। इसलिये यद्यपि ग्रहणादि की भांति तिथि चर्मचक्षु से ठीक ठीक नहीं देखी जाती पर गणित की योग-दृष्टि से वह प्रत्यक्ष है। उसे 'अप्रत्यक्ष' और 'अदृष्टार्थ फल-सिद्धिक' कहकर टाल नहीं दिया जा सकता। यदि ग्रहण में वीज-संस्कृत ग्रह स्वीकार कर लिये जांय तो तिथि-गणना में वीज-संस्कार की उपेक्षा कुछ समझ में आनेवाली बात नहीं है। और सही बात यह है कि ऐसे वचन मूल संहिताओं में नहीं हैं। फिर क्या ग्रहण-काल में स्नान-जप आदि का जो निर्देश शास्त्रों में दिया है वह अदृष्टफल नहीं है ?

इस प्रकार जहां तक मैं समझ पाता हूं धर्मशास्त्र और ज्योतिष-संस्कार में जो विरोध बताए जाते हैं वे बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। मैंने शुरू में ही कहा है कि इस विषय में धर्मशास्त्रीय विद्वानों की ओर से उत्थापित सभी युक्तियों को मैंने नहीं देखा है। मैं प्रयत्न कर रहा हूं कि इस विषय के विशेषज्ञ विद्वानों का मत प्रकाशित किया जाय। परन्तु अब तक इस विषय में धर्मशास्त्रीय विरोध कहकर जो कुछ कहा गया है वह विचार की कसौटी पर कसने से सारवान् नहीं साबित होता। इस लेख के दूसरे भाग पर मैंने यहां साधारण भाव से ही विचार किया है। वस्तुतः यह दूसरा हिस्सा ज्योतिषिक तर्कों से अधिक संबद्ध है और उसका विचार भी उसी दृष्टि से होना वाञ्छनीय है।

कृपण

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

(मूल से अनुवादित)

भीख मांगती फिरती थी मैं गांव-गांव पथ-पथ पर,
उसी समय तुम चले हुए थे अपने काञ्चन-रथ पर।
एक अपूर्व स्वप्न-सा लगता था वह दृश्य नयन में।
कैसी थी विचित्र तव शोभा कैसी भूषा तन में।
मैं सोचूं मन में कि आज ये
मिले कौन, राजाधिराज ये!

तुम्हें देखकर मैंने उस दिन अपना भाग सराहा,
दर-दर आज न फिरना होगा जो विधना ने चाहा।
घर से आज निकलते ही यह किसके दर्शन पाए!
जाएंगे रथ पर जाने-कितने धन-धान्य लुटाए!
मुट्ठी भर-भर लूं बटोर मैं,
मनि मानिक मुक्ता अथोर मैं।

जहां खड़ी मैं बाट जोहती वहीं अचानक आकर,
रथ रुक गया, निहार वदन मम, तुम उतरे मुसकाकर
जुड़ा गई छाती जब देखा उस मुख को मुसकाते।
क्या जानें क्यों, इसी समय तुम आए हाथ बढ़ाते—
और मिला तुमसे सुनने को—
'दे दो, अलि, कुछ मुझको दे दो!'

कहते हो राजाधिराज क्या, मैं तुमको कुछ दे दूं!
लाजों ही गड़ गई भला मैं क्या दूं और किसे दूं!
मांग रहे भिक्षुक से भिक्षा, क्या अभाव तुमको है?
केवल कौतुकवश प्रवञ्चना, यह तुमको ही सोहै!
छोटी कणिका एक निकाली,
फैले हाथों पर दे डाली!

घर आकर झोली उँडेलकर देख रही—यह क्या है!
एक स्वर्ण का कण नन्हा-सा उसमें पड़ा हुआ है।
राज भिखारी के हाथों में जो कुछ दिया सबेरे—
वह सोना होकर झोले में पड़ा हुआ है मेरे।
रोती जल भर नयन-बीच अब—
क्यों न दिया सरबस उलीच तब!
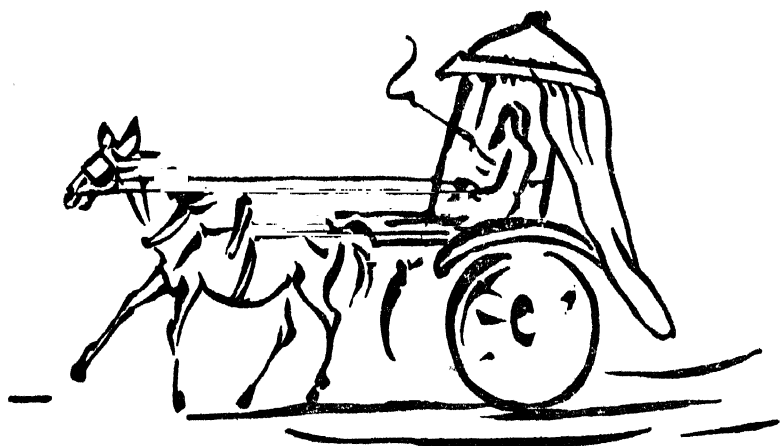
प्राण के उपासक नन्दलाल

गुरुदयाल मल्लिक

मानवीय इतिहास के धुंधले युग में जब एक दिन किसी अवश आनन्द की मौज में आकर आदिम मनुष्य ने अपने पावों के पास पड़ी हड्डी का एक टुकड़ा उठाकर उससे किसी सघन वनवासी चौपाए की टेढ़ी-बांकी आकृति गुहा की अंधेरी दीवार पर आंक दी, तब उसे गुमान भी नहीं हुआ कि अपने अनजाने ही उसने कितने बड़े एक सत्य को प्रकाश किया है। क्राइस्ट की भाषा में कहें तो उसने अनायास ही यह साबित कर दिया कि इन्सान अपने पेट को पकड़कर ही ज़िन्दा नहीं रहता। शिकारी ने अपने तीर का निशाना बनाकर जिस जंतु की जीवनलीला समाप्त की उसका मांस पेट में पहुंचते ही उसे अपने सबसे मूल—सबसे प्राथमिक—प्रश्न का जवाब मिल गया। किंतु तब भी उसके भीतर कुछ ऐसा था जिसे इस जवाब से सान्त्वना नहीं मिली। यह भीतर का असंतुष्ट प्राणी कुछ इतना जीवंत, इतना प्राणवान् था, उसकी अतृप्ति कुछ ऐसी अजब और अनोखी थी कि अपनी भौतिक आवश्यकताओं के समाधान को भी उसने मानो अधूरा कर छोड़ा ; आदमी को पेट भरकर भी मानो चैन नहीं मिली। वास्तव में उसकी आत्मा सिर्फ सुख के लिये नहीं बल्कि आनन्द के लिये भी क्षुधित थी, और केवल मामूली तौर पर ही नहीं बल्कि अत्यंत निविड़ भाव से थी। फिर बाइबिल की भाषा में कहें तो जिस पत्थर को निर्माताओं ने अवज्ञा के साथ दूर फेंक दिया था, वही उनके प्रासाद का आधार बना। हाड़ के जिस टुकड़े की कोई क़ीमत नहीं थी, पेट भर चुकनेवाले के लिये जिसका कोई प्रयोजन नहीं था, उसी निष्प्रयोजन उपेक्षित अस्थिखंड को उस मनुष्य के अंतर में निवास करनेवाले शिल्पी ने खुशी से उठा लिया और अपने हृदय के हर्ष से छूकर दुर्लभ कर दिया। शुष्क हड्डी भी सौन्दर्यलक्ष्मी की उपयुक्त सेविका बन गई।

भेद की बात यह है कि मनुष्य के दो रूप हैं : कर्मी और शिल्पी। प्रथम वह है जो पेट भरने, प्राण रखने की ज़रूरत को लेकर व्यस्त है और इसी व्यापार के सहज तथा जटिल विस्तार के भीतर अक्लांत कर्म में डूबा हुआ है। दूसरा रूप वह है जिसके पास अशेष अवकाश है, सृष्टि के भीतर प्रकट या लुप्त सौन्दर्य को देखने की दृष्टि है और जो अपनी इस दरदी दृष्टि को लेकर 'सुन्दर' को विचित्र रूपों में नवजन्म देता है। यह शिल्पीरूप ही उसका स्रष्टारूप है जो उसे विधाता का समकक्षी बनाता है। किन्तु यथार्थ शिल्पी मनुष्य का आत्मा ही होता है और

इसीलिये जाग्रदात्मा ही यथार्थ स्रष्टा भी होता है। आज की चमक-दमक की दुनिया में जो सब शिल्पी के नाम से चलते हैं वे वास्तव में खोटे सिक्के की तरह हैं ; हम उस अर्थ में शिल्पी शब्द का व्यवहार करके उसे खोटा और छोटा नहीं करना चाहते।

रूपदक्ष नन्दलाल वसु जाग्रदात्मा शिल्पी हैं। वे भारतीय शिल्प-क्षेत्र में नया जीवन फूंकनेवाले रूपदृष्टा अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के शिष्य हैं यह तो सभी जानते हैं, किंतु वे दक्षिणेश्वर के सत्यद्रष्टा-परमहंस के भी पुजारी हैं यह बात बहुत कम को ही ज्ञात है। इसीलिये जिसे मरमी सन्तों ने 'बेखुदी' कहा है वह अद्भुत आत्म-विस्मृति नन्दलाल में हमें सहज ही मिल जाती है और जिसे संतजन शराब की मस्ती कहते हैं उसकी अनोखी मादकता में हम नन्दलाल को डूबा हुआ पाते हैं। सर्वव्यापी के निकट भक्त को अपनी सीमित लघुता के बोध से इस आत्म-विस्मृति का अनुभव होता है और चिर अव्यक्त की अनूठी झांकी देखकर चित्र में नित्य नया विस्मय जागता है।

नन्दलाल ऐसे ही हैं। उनका जन्म दरभंगा राज्य के खड़गपुर स्थान में सन् १८८३ में हुआ था। उनके पिता राज्य के एक अत्यंत प्रतिष्ठित इन्जीनियर थे जो अपने खरेपन और ईमानदारी के लिये सारे राज्य में प्रसिद्ध थे। देहत्याग के समय उन्होंने अपने बच्चों से कहा था : 'अपने भीतर और बाहर को सदा निर्मल रखना।' नन्दलाल की मां एक अत्यंत करुणामयी, निरीह भक्त-महिला थीं। नन्दलाल ने इसीलिये उत्तराधिकार में अपने मातापिता से भीतर-बाहर की अकलुष स्वच्छता तथा शांत अंतर की गोपन भक्ति प्रचुर मात्रा में पाई थी। शिक्षा के क्षेत्र में नन्दलाल अंडरग्रैज्युएट से अधिक नहीं हुए ; उनके "जीवन-देवता" ने उन्हें पुस्तक त्यागकर तूली पकड़ने के लिये बाध्य किया। अपने जीवन देवता का प्रथम आदेश उन्हें प्रायः नौ वर्ष की उम्र में ही मिला था जब कि उन्होंने किसी अद्भुत प्रेरणा से शिव का एक चित्र आंका था। उसी रहस्यमयी प्रेरणा ने उन्हें अंत में अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के निकट लाकर खड़ा कर दिया। हैवेल और अवनीन्द्रनाथ ने भारतीय शिल्प-क्षेत्र में नये प्राण फूंकने का व्रत तब लिया ही था। गुरु-शिष्य का यह मिलन देश की शिल्प-संस्कृति के इतिहास की कितनी स्मरणीय घटना है सो विज्ञ पाठकों को मालूम ही है।

कलकत्ता आर्टस्कूल के दिनों में नन्दलाल एक ओर अवनीन्द्रनाथ के निकट सौन्दर्य की साधना कर रहे थे, दूसरी ओर दक्षिणेश्वर के वातावरण से अपने प्राणों की निविड़-गोपन खूराक संग्रह कर रहे थे। शिल्प और अध्यात्म जीवन के परस्पर पूरक अंग हैं इसे नन्दलाल को देखने से ही समझा जा सकता है। रवीन्द्रनाथ के प्राणमय संस्पर्श में, शांतिनिकेतन की धूपछाया से बुनी उदार-शांति में, शहर के कोलाहल से दूर शिल्पी नन्दलाल ने अपने अंतर के सत्य को

उपलब्ध और विकसित किया। कविगुरु के स्वप्न को उन्होंने साकार किया, विश्वभारती में सौन्दर्यलक्ष्मी की प्रतिष्ठा की। कवि के नाटकों की जिस अत्यंत सादी और अत्यंत सुंदर पटभूमिका ने बार बार दर्शक का चित्त हरण किया है उसे नन्दलाल ने ही जन्म दिया था। शिल्पी और शिल्पीगुरु की दृष्टि से उनकी साधना हम उन्हींके शब्दों में यहां प्रस्तुत कर सकते हैं :

"हम अज्ञात की तीर्थयात्रा के लिये बाहर हुए हैं क्योंकि हमारे लिये केवल वर्तमान ही सत्य है, अतीत और अनागत नहीं।

हम भारतीय हैं क्योंकि भारत की आत्मा को ही हमने धारण किया है। जो कुछ भी प्राणवान् है उसे हम शैली अथवा रीतिगत विशेषताओं को भुलाकर सहज ही आपनाते हैं। हमारे निकट आनेवाले हमें जो कुछ देते हैं उसे हम श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते हैं।

इसी कारण रीति को हम महत्त्व नहीं देते। हम प्राणों के पुजारी हैं—प्राण, जो जीवित की आत्मा हैं।

प्रकृति से अतीत से हम प्रेरणा पाते हैं। दुनिया के पुराने अनुभव हमें पथ दिखाते हैं।

अपने अंतर के आनन्द को ही हमने प्रकाश करने की चेष्टा की है क्योंकि शिल्प प्राणों के आनन्द को व्यक्त करने की ही साधना है।"

नन्दलाल के कथन में मानों उपनिषदों को वाणी प्रतिध्वनित हुई है। ईशोपनिषद् उन्हें बहुत प्रिय है। उसके अनवरत ध्यान और चिंतन से उन्होंने अपनी आत्मा को—अपने बाहर-भीतर के जीवन को—छंदोमय किया है। इसीसे वे सहज ही कह पाए हैं : 'हम प्राणों के पुजारी हैं।' यही नन्दलाल की शिल्प-साधना का रहस्य है। 'वास्तवता' के वे उसी तरह विरोधी हैं जिस तरह जीवन में आडंबर और कपट के। वास्तव के पीछे जो सत्य है वही उनका आराध्य है। बाह्य रूप तभी तक सार्थक है जब तक कि वह किसी आंतर सत्य को व्यक्त करता है। इसी कारण मामूली परिचित के भीतर भी नन्दलाल ने चिरविस्मय को बार बार प्रकाश किया है। नया छात्र आकर हैरानी के साथ पूछता है : 'क्या आंकूं?' 'चाहे जो'—नन्दलाल का उत्तर है, 'फूल पत्ता गदहा...' छात्र केवल चकित होकर देखता ही रह जाता है ; क्या इन सबको एक ही श्रेणी में फेंका जा सकता है? गुरु ने शिक्षक के संदेही मन को पहचान लिया। चट खीसे से एक कार्ड और पेंसिल बरामद होती है और सामने खड़े हुए अलस-दार्शनिक, तृणभोजी गर्दभ का रूप-रेखाओं के बंधन से क्रमशः प्रकाशित हो चलता है। पल भर बाद ही अरुक उच्छ्वास से छात्र पुकार उठता है : 'मास्टर महाशय, मुझे नहीं मालूम था गदहा इतना सुन्दर होता

है !'...नन्दलाल के इसी गुण को लक्ष्य करके ही रवीन्द्रनाथ ने लिखा था : हे चित्र आंकनेवाले—चिरकाल के पथिक, आसपास अपनी दृष्टि का जाल फेंकते हुए तुम चले जा रहे हो। राह चलते उन्हीं देखे हुओं को रेखाओं द्वारा आंककर देश-विदेश से तुमने भेज दिया है। यह-वह-जैसा-तैसा कितना-कुछ है इसमें !—तुम्हारी दृष्टि के निकट द्विज और चाण्डाल का भेद नहीं है :

"छवि आंकार मानुष ओगो पथिक चिरकेले !
चलछ तुमि आशे पाशे दृष्टिर जाल फेले।
पथ-चला सेइ देखागुलो लाइन दिये एँके
पाठिये दिले देश-विदेशेर थेके।
याहा-ताहा-येमन-तेमन आछे कतइ की ये
तोमार चोखे भेद घटे नाइ चण्डाले आर द्विजे।" ('छड़ार छवि')

नन्दलाल के पास तक पहुंचने की किसीको रोकटोक नहीं है फिर चाहे वह कोई भी क्यों न हो। और किसीको भी अपने दंभ के भीतर से मिलते देखकर वे सह नहीं सकते। फिर परिहास नन्दलाल को अत्यंत प्रिय है। गरमागरम बहस के बीच घुमड़ते हुए विरोध के बादलों को नन्दलाल की औचक-अनोखी उक्ति न जाने कैसे दूर उड़ा देती है। बच्चों-जैसी परिहासप्रियता—उन्हींकी-जैसी खुशी—नन्दलाल में सदा उमड़ती रहती है। किसीकी आटोग्राफ़बुक पर जब वे कुछ स्केच कर देते हैं तब जान पड़ता है कि उनके भीतर की शिशुता कितनी जीवंत है। वही क्रीड़ा—वही कुतूहल—वही ताज़गी। मामूली बातचीत में सूक्ष्म परिहास का बुनाव रहता ही है। और साथ ही उनमें एक अदम्य जिज्ञासा है जिसके कारण जो कुछ जब भी उनके निकट आता है—आंखों की खिड़की से हो, मन की चिंता से अथवा हृदय की पुलक से—उसे रूप का यह जादूगर तत्काल ही ग्रहण कर लेता है। वह आगत चाहे कोई वस्तु हो या दृश्य। ओस की लड़ी हो या गान की कड़ी। नन्दलाल ने कभी संगीत नहीं साधा यह सोचकर जाने-कैसा लगता है, कारण उनकी आत्मा इतनी छंदोमय है कि संगीत का अभाव ही आश्चर्य की वस्तु है। उनके चित्रों को देखने से आध्यात्मिक सत्य के दर्शन हो जाते हैं। रेखा-रंग और धरातल की सीमा से कहीं बाहर पहुंचा देती हैं उनकी रचनाएं—फिर वह बुद्ध का गृहत्याग, उमा का तप, शिव का विषपान, चैतन्य का कीर्त्तन हो अथवा संथाल लड़कियों की सघनवर्षा के भीतर से तालतरु की पंक्ति पार करते हुए घर की ओर वापसी ; कितना ही परंपरा-अंकित विषय क्यों न हो, नन्दलाल की दृष्टि, भाषा और भंगी सर्वथा नई होती है। वे प्राणों के पुजारी हैं और प्राण कभी पुराण नहीं होते। इसीसे प्रायः संदेह होता है : नन्दलाल शिल्पी हैं या योगी ? ['आर्यन पाथ' में प्रकाशित लेख का परिवर्धित रूप]

हिंदी में तिब्बती वाङ्मय के अध्ययन के उपकरण

अनागारिक शान्तिभिक्षु

भारत और तिब्बत का बहुत दिनों तक सम्बन्ध रहा है। यह सम्बन्ध स्वामी और सेवक का सम्बन्ध न था किन्तु गुरु और शिष्य का सम्बन्ध था। तिब्बत के कितने ही छात्रों ने भारत आकर यहाँ के धर्म, दर्शन, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, काव्य आदि विषयों का अध्ययन कर अपने देश में साहित्य एवं शिक्षण के सम्प्रदाय का सूत्रपात किया। भारत से अनेकों पण्डित तिब्बत गए और उनके सहयोग से भोटिया संस्कृतज्ञों ने भारत के एक विशाल वाङ्मय का तिब्बती भाषा में उल्था किया। ईसा की सातवीं शती से चौदहवीं शती के अन्ततक सात सौ वर्ष से ऊपर के लम्बे समय में चार हज़ार से ऊपर ग्रन्थों का अनुवाद हुआ है। यह सब अनुवाद तीन सौ वेष्टनों (बस्तों) में सुरक्षित और उपलब्ध हैं। पहले सौ वेष्टन (बस्ते) कंग्युर्* (= ब्कऽ - ऽग्युर् = ब्कऽ - शासन, मूल बुद्ध वचन + ऽग्युर् - उल्था, अनुवाद) तथा दूसरे दो सौ वेष्टन (बस्ते) तंग्युर (= ब्स्तन् - ऽग्युर् = ब्स्तन् - शास्त्र, भारतीय पण्डितों के लिखे ग्रन्थ जिनमें कंग्युर् की टीकाएं भी सम्मिलित हैं + ऽग्युर् - उल्था, अनुवाद) कहलाते हैं। तंग्युर में बौद्ध तर्क और दर्शन के तीन सौ से ऊपर संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद हैं जो अब मूल संस्कृत में नहीं मिल रहे हैं। अन्य कितने ही काव्य, वैद्यक, रसायन आदि के ग्रन्थ जो मूल संस्कृत में लुप्त या अर्धलुप्त हैं इन अनुवादों में मिल सकते हैं। फिर तिब्बती अनुवादों में छिपे संस्कृत के लुप्त ग्रन्थों तथा उन भारत के आदरणीय पण्डितों के—जो भारत के गौरव के बढ़ानेवाले तथा तिब्बत की धर्म-जागृति और साहित्यिक जीवन के गुरु एवं जन्मदाता हैं—चरित्रों के उद्धार के लिए तिब्बती भाषा का अध्ययन आवश्यक है।

ईसा की इसी सातवीं शती के प्रथम चरण में तिब्बती विद्वान् सम्भोट (= अच्छा तिब्बती, अच्छा भोटिया) भारत आया और यहाँ से लौटकर तिब्बत में उसने व्याकरण के दो ग्रन्थ लिखे पहला ग्रन्थ है 'लुङ्-स्तोन्-पा-र्च-ब-सुम्-चु-प' (= व्याकरणमूलत्रिंशद्)। इसमें केवल ३० ही श्लोक हैं। तिब्बती भाषा की विभक्तियों और निपातों की इसमें व्याख्या है। दूसरा ग्रन्थ 'लुङ्-स्तोन्-प-र्तग्स्-क्यि-ऽजुग्प' (= व्याकरणलिङ्गावतार) है। तिब्बती भाषा न जाननेवाले संस्कृतज्ञ इस नाम से कहीं पाणिनि के लिङ्गानुशासन जैसे शब्दों की लिङ्गव्यवस्था करनेवाला ग्रन्थ न समझ लें! यहाँ लिङ्ग शब्द केवल संकेत है। अक्षरों में किन्हींको व्याकरण की प्रक्रिया

* अक्षरानुसारी उच्चारण क-ग्युर् है पर सन्धि-नियम से कं-ग्युर् बोला जाता है।

समझाने के लिये पुल्लिंग, किन्हींको स्त्रीलिंग, किन्हींको नपुंसक लिंग, किन्हींको अतिस्त्री (केवल स्त्री, स्त्रीमात्र) लिंग तथा किन्हींको बन्ध्य लिङ्ग मानकर प्रक्रियाव्यसनी सम्भोट ने क्रियाओं के रूपों तथा शब्दों की ध्वनियों के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेदों का इस व्याकरण में वर्णन किया है। ये दोनों व्याकरण अध्ययन करके ही तिब्बती भाषा के मन्दिर में प्रवेश हो सकता है। इन दोनों ग्रन्थों के बारे में विश्वभारतीपत्रिका के परिचित लेखक श्रीप्रह्लाद प्रधान ने शायद बिना ठीक ठीक जानकारी रखे ही पत्रिका के प्रथम अंक में लिखा था—"(सम्भोट और उसके साथी) बहुत सी पोथियां ले गए जिनमें से व्याकरणमूलत्रिंशद् और व्याकरण-लिंगावतार—जैसे बौद्ध धर्म के बाहर के भी ग्रन्थ थे।" श्री प्रह्लादजी को यह पता नहीं था कि ये दोनों ग्रन्थ भारत से तिब्बत नहीं गए बल्कि सम्भोट के द्वारा ही भोट में लिखे गए। तिब्बती भाषा के व्याकरणों में यही दो ग्रन्थ सबसे अधिक पुराने और प्रामाणिक हैं। सम्भोट ही तिब्बती भाषा का आदि व्याकरणाचार्य है। यदि संस्कृत के पण्डित रुष्ट न हों तो मैं कहना चाहता हूँ कि सम्भोट का व्याकरण माहेश्वरसूत्रों की भाँति नमस्य है।

तिब्बती भाषा में साहित्य-निर्माण के कार्य का श्रीगणेश सम्भोट के द्वारा हो चुकने पर अनुवादों का सिलसिला बहुत दिनों तक—बारहवीं शती के अन्ततक—जारी रहा। १०२५ ई० में ज्योतिष के ग्रन्थ भी तिब्बत पहुँचे तभी से तिब्बती पंचाङ्ग बनने शुरू हुए। तिब्बती संवत् ६० वर्ष का एक चक्र है पर उसके नाम भारतीय पंचांगों में व्यवहृत ६० वर्षवाले बार्हस्पत्य संवत् से भिन्न हैं। वहां ब्रह्मविंशति, विष्णुविंशति, रुद्रविंशति का भी विभाग नहीं है। तरु (= शिङ्), अग्नि (= मे) पृथ्वी (स) लोह (= ल्चग्स्) जल (= छु) संकेतों में से प्रत्येक को दो दो बार बारह संख्या वाले वर्ष चक्र (= लो-ऽखोर्) के साथ जोड़ने से यह संवत् बनता है। वर्षचक्र की बारह राशियां—१-मूषक (= ब्यी) २-वृषम (= ग्लङ्), ३-व्याघ्र (= स्तग्) ४-शशक (= योस्) ५-वृत्र (= ऽब्रुग्), ६-सर्प (= स्प्रुल्), ७-अश्व (= र्त), ८-मेष (= लुग्) ९-कपि (= स्प्रेऽु) १०-कुक्कुट (= ब्य) ११-श्वान (= ख्यी) १२-शूकर (१ फग्) नाम से व्यवहृत होती हैं। उक्त पाँच महा वर्गों में से प्रत्येक दो दो बार बारह वर्षके चक्र से जुड़ता है सो पहला ५ वर्गों का चक्र दसवें वर्ष कुक्कुट पर समाप्त होता है। इस पूरे संवत्सर-चक्र में पाँचों महावर्ग के संकेतों की छः बार तथा वर्षचक्र की पाँच बार आवृत्ति होती है। तदनन्तर दूसरे ६० वर्ष का चक्र फिर पहले वर्ष श्वान से आरम्भ होता है। आज तक के ६० वर्ष वाले १५ चक्कर हो चुके हैं यह सोलहवां चल रहा है। सोलहवें का यह उन्तीसवां वर्ष है। आज से ९१७ वर्ष पहले भोट ने पञ्चाङ्ग बनाना और कालगणना का हिसाब रखना भारत से सीखा था।

कविता में अलंकार, दोष, गुण, आदि की विवेचना तो उसने बहुत देर में सीखी। यह तो सहज ही है कि पहले कविता होती है बाद में उसकी विवेचना का अवसर आता है। तभी तत्परक ग्रन्थ लिखे जाते हैं। भोट ने कितने संस्कृत काव्य-नाटकों का अपनी भाषा में अनुवाद किया। पर काव्य-साहित्य में अनुवादों के अतिरिक्त उसने बहुत कुछ उत्पन्न भी किया। ग्यारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में उसने मिलारेपा-जैसे योगी, भक्त, तान्त्रिक तथा महाकवि को जन्म दिया। मिलारेपा तिब्बती भाषा के तुलसीदास हैं। उन्होंने स्वयं ही अपनी जीवनी लिखी है जो हृदय पर बहुत ही असर डालनेवाली है। बचपन में अनाथ होना, फिर चाचा की कटुता का सहना ही नहीं प्रत्युत अपनी सम्पत्ति से भी हाथ धो बैठना, फिर मारे मारे फिरकर अध्ययन-मनन करके दिव्य तान्त्रिक शक्ति प्राप्त करना, अनन्तर अपने विपक्षियों का सत्यानाश करना, पर बाद में उनका सत्यानाश होने से अपने को पापकारी समझकर अनुतप्त होना और गुरु से धार्मिक दीक्षा लेकर विरक्त हो विचरना-आदि घटनाएं मिलारेपा के शब्दों में सुनने से हृदय द्रवित हुए बिना नहीं रहता। काव्यालंकार की चर्चा में मिलारेपा का ज़िक्र प्रसङ्गवश आ गया। तंग्युर में दण्डि-रचित काव्यादर्श का अनुवाद पाया जाता है। इसके अनुवादक का नाम भिक्षु शोङ्-तोन् है। यह उस समय में हुआ जब १२०३ में बख्तियार खिलजी ने मगध को तहस-नहस करके बंगाल को जीता। इस समय में विक्रमशिला बिहार के प्रमुख वृद्ध पण्डित शाक्य श्रीभद्र भागकर तिब्बत पहुंचे। इसी समय के आसपास आनन्दध्वज (=कुन्—द्गऽ—र्ग्यल्—म्छन्) नाम के भोट विद्वान् ने अमरकोष का भोट भाषा में अनुवाद किया। अवदानकल्पलता का भी इस समय में शोङ्-तोन भिक्षु ने अनुवाद किया। काव्यादर्श के आधार पर ही भोट भाषा का अलंकार शास्त्र बना है। काव्यादर्श का अनुवाद आज भी भोट की पठन-पाठन व्यवस्था में सम्मिलित है। उस पर अनेकों बृहदाकार टीकायें भी हुई हैं।

ईसा की सातवीं शती में भारतीय वर्णमाला तिब्बत गई और उसीमें कुछ अदल-बदल कर तीस अक्षर की तिब्बती वर्णमाला बनी। यह वर्णमाला साढ़े सात वर्गों में विभक्त है। पहले सात वर्गों में से प्रत्येक में चार अक्षर है। अन्तिम साढ़े सातवां वर्ग दो अक्षर का है। क ख ग ङ। च छ ज ञ। त थ द न। प फ ब म। च़ छ़ ज़ व। श़ स़ ऽ य। र ल श स। ह अ॥' इन तीस अक्षरों में च़, छ़, ज़, श़, स़, ऽ,* अक्षरों की ध्वनियां

---

* इन अक्षरों का उच्चारण अक्षरों द्वारा समझाना कठिन है। फिर भी आदि के पांच अक्षरों का उच्चारण त्स, त्श, दूज़, झ़श, ज़ (यथा ज़रूरत में 'ज' प्रयजन) के समान तथा ऽ का उच्चरण मृदुल ह के के समान सामान्यतया होता है।

संस्कृत में नहीं हैं सो यह छः अक्षर तिब्बती भाषा के अपने बनाये हुए संकेत हैं। मात्राएं केवल चार हैं। इ, उ, ए ओ के ि, ु, े, ो यह चारों चिह्न मात्राओं के हैं। एवं तिब्बती वर्णमाला यद्यपि पूरी की पूरी भारतीय है पर उसका उच्चारण पूरा भारतीय नहीं है। सभी अक्षर प्रायः विवृत ही उच्चरित होते हैं। संस्कृत की तरह का ह्रस्व तो तिब्बती में है ही नहीं। सभी अक्षर दीर्घवत् ही उच्चरित होते हैं। स्वर केवल एक 'अ' ही है वह भी अपनी ध्वनि मात्राओं के योग से बदलता है। अ, अि, अु, अे, ओ क्रमसे अ, इ, उ, ए, ओ की भांति बोले जाते हैं।

तिब्बती भाषा का एक अक्षर (Syllable) अधिक से अधिक चार वर्णों का होता है। तीस मूल वर्ण तथा नब्वे संयुक्तवर्ण कुल एक सौ बीस वर्ण* एक वर्णवाले अक्षर हैं। यद्यपि संयुक्तवर्णों को एक वर्ण नहीं कहना चाहिए तो भी व्याकरण की प्रक्रिया में इनको एकवर्ण मानकर ही सरलता से कार्य चलाया जा सकता है। दो वर्णवाली ध्वनि भी दो प्रकार की है। जब 'ग, ङ, द, न, ब, म, ऽ, र, ल, स' यह दसवर्ण उक्त १२० वर्णों के अनन्तर प्रयुक्त होते हैं तब उनका उच्चारण हल् के समान होता है तथा जब 'ग द ब म ऽ' यह पांचवर्ण उक्त वर्णों से पूर्व प्रयुक्त होते हैं तब उनका उच्चारण नहीं होता। यह दोनों प्रकार यदि युगपत् न हों तो दो वर्णों का अक्षर होता है। यदि युगपत् ही हों तो अक्षर तीन वर्णों का होता है। अन्त में प्रयुक्त होनेवाले वर्णों में से कभी कभी न, र, ल के अनन्तर द तथा ग, ङ, ब, म के अनन्तर स का प्रयोग होता है, पर इनका उच्चारण नहीं होता। इस प्रकार के अक्षर भी तीन वर्णोंवाले होते हैं। यदि इनके साथ पूर्व में जुड़नेवाले ग, द, ब, म, ऽ में से किसी का पूर्व योग हो तो वह अक्षर चार वर्ण का होता है। केवल इतने ही नियमों का ध्यान रखने पर तिब्बती शब्दों का उच्चारण ठीक ठीक किया जा सकता है।

---

* संयुक्तवर्णों तथा अन्य अनुषङ्गिक विषयों का मैंने सम्भोट के व्याकरणों के अनुवाद में विस्तार से विवेचन किया है। उसका संक्षेप यों है—वर्णों के ऊर्ध्वभाग में संयुक्त रेफ, ल् और स् तथा अधोभाग में संयुक्त व् का उच्चारण नहीं होता। र् जब अधोभाग में संयुक्त होता है तब ध्वनि में विकार होता है। क्र, त्र, प्र यह तीन ट की भाँति तथा ख्र, थ्र, फ्र यह तीन ठ की भांति, ग्र, द्र, ब्र यह तीन ड की भांति बोले जाते हैं। म्र को म के समान, श्र को स्र के समान, तथा स्र को स के समान भी बोलने की परिपाटी है पर सार्वत्रिक नहीं। अधोभाग में संयुक्त लकारवाले अक्षर क्ल, ग्ल, ब्ल, र्ल, स्ल यह पांच ल के समान बोले जाते हैं। ज़्ल का उच्चारण द के समान होता है। अधोभाग में यकार संयुक्त प्य, फ्य, ब्य, म्य क्रम से च, छ, ज, ञ के समान उच्चरित होते हैं।

† यह ग्रन्थ प्रत्येक शब्द के हिन्दी अनुवाद के साथ मैंने सम्पन्न किया है।—ले०

भाषा के अध्ययन में प्रथम और मुख्य सहायक व्याकरण और कोष ही हैं। व्याकरणों में सम्भोट का प्रथम स्थान है। अलंकारशास्त्र का अध्ययन भाषा की बारीकियों के समझने तथा कविता के गुण दोषों के विवेचन में सहायक है। इसके लिये काव्यादर्श का अनुवाद* पर्याप्त है तथा संस्कृतज्ञ के लिये सहज भी है। कोषों में आरंभ करने के लिये ङग्डोन* (=ङग्—स्रोन्) जो ङग्—वङ्—छोइ—की—ग्यम्छो (=ङग्—द्वङ्—छोस्—क्यि—र्ग्यमृछो = वागीश धर्मसागर) का बनाया हुआ है, बहुत सुन्दर है। इसमें कुल ३०० श्लोक हैं। शब्द संख्या पाँच हजार से ऊपर है। तिब्बती भाषा में किसी शब्द का उच्चारण मात्र सुनकर हिज्जे बताना कठिन है। अनेकों वर्णों के अनुच्चरित होने के कारण, तथा संयुक्तवर्णों के विकृत उच्चारणों के कारण हिज्जे बहुत ही पेचीदा हो गए हैं। यह कठिनता ङग्—डोन् से ही दूर हो सकती है। इसमें अत्यन्त प्रचलित प्रायः प्रमुख शब्दों और क्रियाओं को वर्णानुक्रम से ग्रथित किया है। मुख्य शब्दों के साथ कुछ सहकारी शब्द इस प्रकार सजाए हैं कि अर्थ-बोध सरलता से हो जाता है। उदाहरणार्थ—

"नगस्—**क्लुङ्**—छु—**क्लुङ्**—द्बऽ—**क्लोङ्**—**क्लु**"

उच्चारण—'नग्—लुङ्—छु - लुङ् - ब—लोङ्—लु" [श्लोक २]

यहाँ क अक्षर चल रहा है। चार मुख्य शब्द पढ़े गए हैं जो मोटे टाइप में छपे हैं। क्लुङ् के सथ नग्स्जुड़ा है अतः अर्थ वन है। दूसरे क्लुङ् के साथ छु जुड़ा है अतः अर्थ जलस्रोत है। क्लोङ् के साथ द्बऽ है—इसका अर्थ लहर है। क्लु के अर्थ में सन्देह का अवकाश नहीं है सो सहायक पद के बिना ही पढ़ा है। इसका अर्थ नाग है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में यही क्रम है। इस ग्रन्थ पर जिसका अधिकार है उससे तिब्बती के समझने में ही नहीं लिखने में भी शब्द के हिज्जे के बारे में भूल धोखे में ही हो सकती है। इस कोष के पठन-पाठन का भोट में प्रचार है। वे छात्र जो सचमुच भोट भाषा का लिखना, पढ़ना, समझना सीखना चाहते हैं इसे अवश्य पढ़ते हैं। पर भोट की भी दशा भारत के समान है। जनता का बहुत-सा भाग लामा (=पुरोहित गुरु) है, सो वे लोग बहुत करके भारतीय ग्रामीण पुरोहितों की तरह "ओं गणानांत्वा गणपतिं हवामहे" जैसा पढ़ना ही सीखते हैं। आज समय के कुप्रभाव से उनमें भी विद्वान् कम हैं। जो हैं उनमें भी अभिमान की मात्रा बहुत है।

---

* काव्यादर्श तथा उसके तिब्बती अनुवाद के तुलनात्मक अध्ययन के लिये मैंने संस्कृत श्लोक, उसका भोट अनुवाद, फिर अन्वय और भोट शब्दों से तुलना करके हिन्दी अनुवाद के सहित मूल ग्रन्थ का सम्पादन करना आरम्भ किया है।

इस कोष के अनन्तर जिग्तेन-दोर्जे का विद्वत्कर्णभूषण* (=मखस्—पडि—नें—ग्र्यन् =खे—पइ—न—ग्यन) बहुत सुन्दर कोष है। आनन्दध्वज का ऊपर उल्लेख हो चुका है। उनके अमरकोष के आधार पर संस्कृत वाङ्निधि (छिग्—ग्तेर्=छिग्—तेर्) नामक ग्रन्थ के आधार पर यह ग्रन्थ गूंथा गया है। इसमें १९९३ श्लोक है। यह पर्यावाची कोष है। इस कोष का अध्ययन भोट में विशेष विशेष छात्र ही करते हैं। साधरणतः ङ्ग्-डोन से ही अन्य शास्त्रों का अध्ययन करने लग जाते हैं। उक्त दोनों कोषों की महत्ता सर्वसम्मत है।

आधुनिक ढंग के कोष-निर्माताओं को भी उनकी सहायता लेनी पड़ती है। वंगदेशीय श्रीयुत शरच्चन्द्र दास का तिब्बती-अंग्रेज़ी कोष अब तक के आधुनिक कोषों में बड़ा भी है सुन्दर भी है। इस कोष में भी उक्त दोनों ग्रन्थों के उद्धरणों से बहुत सहायता ली गई है। किं बहुना, संस्कृत भाषा में जो स्थान अमरकोष का है वही भोट में इस कोष का।

इन व्याकरण और कोष के उपकरणों से उचित पाठावली का आधार लेकर संस्कृत के पण्डित एक डेढ़ बर्ष में काम लायक़ तिब्बती भाषा सीख सकते हैं। पाठावली के लिये काव्यादर्श, नागानन्द, बुद्धचरित, अवदानकल्पलता आदि काव्यालंकार नाटक ग्रन्थों के अंश तथा न्यायविन्दु, बोधिचर्यावतार जैसे तर्क और दर्शन के ग्रन्थों को आधार बनाना चाहिए। इन संस्कृत ग्रन्थों और उनके भोट अनुवादों का तुलनात्मक अध्ययन करके यह सीखा जा सकता है कि संस्कृत के शब्दों का किस प्रकार भोट अनुवाद किया गया है और अब हमें किस प्रकार भोट भाषा से संस्कृत में मूलोद्धार करना चाहिए।† अनुवाद की प्रथा का परिमार्जित ज्ञान कराने के लिये एक सुन्दर ग्रन्थ की आवश्यकता है। इस ग्रन्थ में संस्कृत धातु, उपसर्ग, प्रत्यय तथा निपातों के समकक्ष भोट भाषान्तर्गत धातु, उपसर्ग, प्रत्यय, निपातों का विवरण अपेक्षित है। संस्कृत के लकारों तद्धितों और समासों के अनुवाद की पद्धति बतलाना भी अभीष्ट है। इस प्रकार का एक सुन्दर ग्रन्थ पांच छःसौ पृष्ठों की एक ही जिल्द में सम्पन्न किया जा सकता है। धातुओं सम्बन्ध में कुछ कार्य मैंने किया है। तिब्बती भाषा की धातुओं की रूपमाला कठिन है। वर्तमान, भूत, भविष्यत् और विधि में कुछ ही धातुएँ है जिनमें विशेष परिवर्तन नहीं होता। अधिकांश धातुएँ गिरगिट के रंग की भांति कभी इतनी बदल जाती हैं कि पहचानने में सन्देह हुए बिना नहीं रहता। ५०० से ऊपर धातुएँ मैंने वर्तमान, भूत, भविष्यत् और विधि

---

* ल्हासा के लकड़ी के छापे से छपे ८० पत्र के ग्रन्थ का मैं ने संपादन किया है। साथ में पञ्जिका भी है।

† म० म० पं० विधुशेखर शास्त्री जी ने 'भोट प्रकाश' नाम से एक पाठावाली प्रस्तुत की है। आरम्भ करनेवालों के लिये वह बड़े काम की चीज़ है।

के रूपों के साथ सम्पादित की हैं। इसके लिये मुझे बोन धर्म के एक आचार्य द्वारा लिखे ग्रन्थ से सहायता मिली है। बोन ग्रन्थ बहुत कठिनता से ही देखने को मिलते हैं। उनकी दशा जैनियों के भण्डरों (ग्रन्थसंग्रहों) जैसी है। भिक्षुणी छुल्-ठिम्-डोल्मा जिन्हें मैं चन्द्रमणि कहा करता हूं उन्होंने कृपा करके वह ग्रन्थ कुछ दिनों के लिये मुझे दिया जिस केफलस्वरूप धातुओं का संकलन मैं सरलता से कर सका था।

भोट भाषा के आवरण में छिपे साहित्य के निकट पहुंचने के लिये भोट भाषा के स्वाध्यायी भोट में सबसे प्रथम पहुंचनेवाले, पालवंशज, नालन्दा के प्रधान आचार्य शान्तरक्षित (६५०-७८० ई०) का नाम स्मरण किये बिना हम नहीं रह सकते। मन्त्राचार्य पद्मसम्भव को भारतीयों ने भुला दिया तो भुला दिया पर/भोट के लिये वे अजर अमर देवता के ही तुल्य हैं। विक्रमशिला के आचार्य सिद्ध नाड़पाद (नरोपा) के शिष्य, पालवंशज दीपंकर श्रीज्ञान (अतिश) (९८२-१०५४ ई०) तो भोट हृदय के सचमुच स्वामी ही हैं। इनके अतिरिक्त उन पचासों विद्वानों को जिन के तपोबल से भोट साहित्य प्रस्तुत हुआ है भुलाया नहीं जा सकता। भारत और तिब्बत के सम्बन्ध-बिछोह के आसपास तिब्बत पहुंचनेवाले पं० वनरत्न (नग्स्-क्यीरिन्छेन् १३८४-१४६८ ई०) का नाम इस अवसर पर स्मरण हुए बिना नहीं रह सकता।

इस प्रसङ्ग पर उन आधुनिक विद्वानों को भी स्मरण करना होगा जिन्होंने भोट भाषा के अध्ययन का मार्ग सुझाया है। भोट भाषा के प्रारम्भकों को हंगरी के विद्वान् यात्री अलक्सान्दरसोमा (Alexanderbsoma) के बारे में ज़रूर जानकारी रखना चाहिए। बरसों तिब्बत में रहकर इन्होंने तिब्बती का अध्ययन किया। १८९४ ई० में इन्होंने भोटभाषा का सुन्दर व्याकरण बनाया। इसीके आधार पर फुको (Foucaux) ने फ्रेंच भाषा में एक भोटिया व्याकरण और कोष बनाया। (Jaschke) जेश्क फ्रेन्क (Francke) शिफ़नर (Schiefner) आदि विद्वानों ने भी तिब्बती अध्ययन-क्षेत्र में महनीय कार्य किया है। भारतीय विद्वानों में स्वर्गीय शरच्चन्द्र दास ने तिब्बती अंग्रेज़ी कोष को जो अब तक के कोषों में सबसे बड़ा, है लिखकर बहुत बड़ी सेवा की है। अवदानकल्पलता, भद्रकल्पद्रुम (दूपग्-बूसम्-ल्जोन्-बज़ङ्=भारत में बौद्ध धर्म के उदय, उत्थान और पतन का भोट भाषा में लिखा इतिहास) का सम्पादन भी इन्होंने सुन्दरता से किया है। हिन्दी भाषा में तिब्बत के सम्बन्ध में सबसे प्रथम जानकारी प्रसिद्ध विद्वान् राहुल सांकृत्यायन ने कराई है। प्रमाणवार्तिक जैसे ग्रन्थ का उद्धार करके इन्होंने संस्कृत साहित्य को अपूर्व सेवा है। राहुलजी का साहित्यिक कार्य तथा उनका व्यक्तित्व दोनों ही विदित ही नहीं विख्यात भी हैं। इन सभी विद्वानों के दिखाए प्रकाश के सहारे हम भोट भाषा के अध्ययन का मार्ग पा सकते हैं और अधिकाधिक प्रशस्त कर सकते हैं।

नन्दलाल वसु और परवर्ती शिल्पसंस्कृति

विनोदविहारी मुखर्जी

पिछली आलोचना में हमने यह दिखाने की चेष्टा की है कि भारतीय शिल्प की शिक्षा के लिये आए हुए छात्रों ने वस्तुतः सब दिशाओं से अवनीन्द्रनाथ का ही अनुकरण किया था। अवनीन्द्रनाथ भी अपनी व्यक्तिगत रुचि और आदर्श के अनुयायी छात्रों को साहित्य के भीतर से भारतीय भाव-धारा के साथ युक्त कर रहे थे। देश का शिल्पी बनने के लिये इसका एकांत प्रयोजन था। किंतु साहित्य की ओर अवनीन्द्रनाथ के आकर्षण का विशेष कारण उनके जीवन पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव था। साहित्य की आबहवा में ही उनका मन पला-बढ़ा था। यह निर्णय करना सचमुच ही कठिन है कि उनकी प्रतिभा का प्रकृत क्षेत्र साहित्य था या शिल्प? साहित्यिक की अनुभूति और चित्रकार की दृष्टि—कभी इनके मिश्रण तो कभी द्वन्द्व—के भीतर से उनकी प्रतिभा ने रूप पाया है। उनकी कवि-प्रकृति ने छात्रों के तरुण चित्त में कवि के भाव उद्‌बुद्ध किए और इसीसे गुरु के निकट उन्होंने जो कुछ पाया वह शिल्प का आदर्श होते हुए भी व्यक्तिगत वस्तु थी।

रस की दुनिया में भाव ही सब कुछ नहीं है, भाषा भी भाव को विशेष रूप देती है। एक ही भाव भाषा के प्रकृतिगत भेद से बदल उठता है। गद्य और पद्य का प्रकाश्य एक होने पर भी प्रकाशन और प्रकृति भिन्न हो जाती है। अवनीन्द्रनाथ की चित्र-भाषा वास्तविकता की तरफ़ रुजू थी और छात्रों ने इसे ही ग्रहण भी किया। किंतु साक्षात्‌रूप से अवनीन्द्रनाथ ने उन्हें रियलिस्टिक टेकनीक नहीं सिखलाया। उसके प्रति युग का मनोभाव प्रतिक्रियामूलक था। इस तरह सिद्धान्त की दृष्टि से अवनीन्द्र की शैली भारतीय थी किंतु टेकनीक की दृष्टि से उसमें रियलिस्टिक तत्त्व भी थे। छात्रों ने उनकी शैली का अनुसरण ही नहीं, अनुकरण किया था, इस कारण उनका मनोभाव तो उसके विरुद्ध रहा फिर भी रियलिज्म की विशेषताएं उसमें आ गईं।

भारतीय भाव-धारा के साथ साहित्य के भीतर से युक्त होने के फलस्वरूप इतिहास पुराण तथा काव्य के प्रसंग चित्रों के उपजीव्य होने लगे और वस्तुरूप प्रकृति के साथ चित्रकारों का सीधा संपर्क टूटने लगा। वास्तवता यूरोपियन नैचरलिज्म का ही धर्म है, कुछ इस धारणा के कारण भी वस्तुजगत्‌ से चित्रकारों का अंतरंग परिचय अर्थात्‌ वस्तु के गुण ('क्वालिटी') की

उपलब्धि घटित नहीं हुई। स्वयं अवनीन्द्रनाथ की रीति, शैली तथा वास्तविकता की ओर झुकी भाषा ने चित्र को नैचरलिज्म की तरफ़ झुकाया था, किंतु फिर भी नैचरलिज्म की मक्षिकास्थानेमक्षिका-वाली प्रवृत्ति उसमें नहीं थी। इसीसे तत्कालीन रचनाओं में वस्तु के गुण (क्वालिटी) की जगह केवल उसके रूप ने ही प्रकाश पाया। भारतीय प्रकाश-भंगी के साथ इस प्रकाश भंगी का मेल नहीं दीखता। भारतीय शिल्प ने अवनीन्द्रनाथ के भीतर से जो आधुनिक रूप पाया उसीसे देश की शिल्पसंस्कृति का पुनरुज्जीवन (एस्थेटिक रिवाइवल) संभव हो सका। इस युग की रचनाओं की रुचि अत्यंत मार्जित है। तब भी यदि समग्रभाव से देखें तो अवनीन्द्रनाथ का यह प्रभाव व्यक्तिगत ही था, इस कारण उस प्रारंभिक युग की रचनाओं द्वारा प्राचीन भारतीय शिल्प-संस्कृति के साथ हमारा योगस्थापन सम्भव नहीं हो सका।

अवनीन्द्रनाथ द्वारा शिल्पक्षेत्र में जिस नव-युग का प्रवर्तन हुआ उसके साथ जिस तरह नन्दलाल एकांत भाव से युक्त हैं, उसी तरह दूसरी ओर नन्दलाल के प्रभाव से इस आन्दोलन का रूप इस तरह परिवर्तित हुआ कि हमें एक सम्पूर्ण नवीन अध्याय की सूचना मिलती है। इस नवीन अध्याय का परिचय पाने से पहले अवनीन्द्रनाथ और नन्दलाल में भेद कहां है इसे समझ रखना ज़रूरी है। यह भेद केवल अंकन-रीति या चित्र के आंगिक में ही नहीं चुक जाता, यह प्रकृतिगत भेद है। अपनी-अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा की परिणति ने दोनों की दृष्टिभंगी में फ़र्क ला दिया है। अवनीन्द्रनाथ आधुनिक युग के मनुष्य हैं ; बंकिम, रवीन्द्र आदि के साहित्य की आबहवा में उनका चित्त विकसित हुआ है। सबके ऊपर प्रगतिशील, नई रोशनीवाले ठाकुर-परिवार का प्रभाव नहीं भुलाया जा सकता। दूसरी तरफ़ नन्दलाल के प्रारंभिक जीवन का पारिपार्श्विक बिल्कुल भिन्न था। समाज के जिस अंश ने अब भी नवीन भावधारा को ग्रहण नहीं किया था, जहां पुरानी संस्कृति और संस्कार अतीत के ध्वंसावशेष के रूप में नहीं बल्कि सब तरह प्राणवान् रूप में अब भी वर्त्तमान थे, उसी अच्छे-बुरे संस्कारों से विजड़ित समाज में नन्दलाल का प्रारंभिक जीवन बीता था। अवनीन्द्रनाथ प्राचीन भारतीय शिल्प अथवा इतिहास को देश की मूल्यवान् संपत्ति मानते आए हैं, किंतु इस तथाकथित प्राचीन भारतीय रूपसृष्टि के आदर्श ने कभी उनके चित्त को मुग्ध नहीं किया। किंतु नन्दलाल के निकट संस्कारगत मन के भीतर से प्राचीन अधिक निकट की वस्तु थी, उसे इतने नज़दीक से देख सकना उनके लिये अपेक्षाकृत अधिक सहज था। इसीलिये हम देखते हैं कि अवनीन्द्रनाथ के अनुगामी होने पर भी उन्होंने उनके व्यक्तिगत आदर्श को ग्रहण नहीं किया। अवनीन्द्रनाथ ने आधुनिक चित्त लेकर प्राचीन को दूर से देखने-समझने का प्रयत्न किया ; नन्दलाल ने प्राचीन मनोभाव लेकर अवनीन्द्रनाथ के सहारे आधुनिक काल में प्रवेश किया। एक की गति वर्तमान से अतीत की

ओर गई, दूसरा अतीत से वर्तमान की ओर उन्मुख हुआ। दोनोंके बीच मूल पार्थक्य यहीं है। नन्दलाल की इस गति ने अवनीन्द्रनाथ के आदर्श को किस रूप में परिवर्तित किया इसपर विचार करें।

सन् १९०५ में नन्दलाल अवनीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व और रूपसृष्टि से आकृष्ट होकर उनके निकट आए, उनके आदर्श को उन्होंने ग्रहण किया। किंतु प्रकृतिगत भेद के कारण अवनीन्द्रनाथ का प्रभाव उनपर स्थायी—अचल—नहीं हो पाया। उनका प्राचीन के प्रति आस्थावान् मन अपनी मूल प्रेरणा पुराणों से ही जुगा रहा था ; उसी पौराणिक प्रेरणा को उन्होंने अवनीन्द्रनाथ के शिल्पादर्श के भीतर से पाने और प्रकाश करने की चेष्टा की। भारतीय देवी-देवताओं की मूर्ति के भीतर से मनुष्य के व्यक्तिगत सुख-दुःख की अनुभूति ने भाषा पाई। उनके अंकित 'सती का देहत्याग', 'शिव और सती', 'ताण्डवनृत्य' आदि चित्र पौराणिक को आधुनिक रूप देने की चेष्टा हैं। पुराण की ओर उनके आकर्षण ने उन्हें प्राचीन मूर्तिशिल्प की ओर भी आकृष्ट किया और भारतीय मूर्तिशिल्प का यह प्रभाव नन्दलाल में सबसे अधिक स्थायी हुआ। अवनीन्द्रनाथ तब तक भारतीय मूर्तिकला की ओर आकर्षित नहीं हुए थे ; उन्हें मुग़ल-शैली मुग्ध किए हुए थी।

इसी सिलसिले में नन्दलाल की और भी एक दिशा का उल्लेख करना होगा—उनकी आलंकारिक प्रतिभा तथा रूप के प्रति आकर्षण। अवनीन्द्रनाथ के निकट जगत् वर्णमय था, वर्ण के सहारे वे अपने चित्रों में रूप को प्रकाशित करते थे। नन्दलाल के निकट जगत् विचित्र रूपों से निर्मित था, वर्ण उस रूप को वैचित्र्य-मात्र दान करता है। इसीलिये नन्दलाल का मन मूर्ति के प्रति खिचा और उसके आलंकारिक गुण ने उनको मुग्ध किया था। इस गुण को उन्होंने शुरू से ही उपलब्ध किया था, इसका पता हमें उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में मिलता है। इसी आलंकारिक बोध ने उन्हें रियलिस्टिक मुग़ल चित्र की अपेक्षा राजपूत चित्र के प्रति आकृष्ट किया। साथ ही रूप की स्वाभाविक प्रेरणा ने अजन्ता शिल्प का अनुकरण करने के लिये उत्साहित किया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अवनीन्द्रनाथ के प्रभाव से—उन्हींके आदर्श का अनुसरण करने जाकर नन्दलाल उनसे कितनी दूर चले आए हैं। यह भेद होते हुए भी अवनीन्द्रनाथ की विशिष्ट अङ्कन रीति—'वाश'-पद्धति ने नन्दलाल को अपने आदर्श के साथ युक्त रखा था।

नन्दलाल के द्वारा हमारे चित्र में कौन-सा नया परिवर्तन घटित हुआ ? अवनीन्द्रनाथ ने जो शिल्प-आन्दोलन प्रारम्भ किया, नन्दलाल के द्वारा उस के साथ भारतीय 'क्लासिक' रूपसृष्टि का आदर्श भी युक्त हो गया। अवनीन्द्रनाथ के वातावरण-प्रधान गुण

('एट्मास्फ़िरिक इफेक्ट') की जगह चित्र के आलंकारिक रूप ने ले ली ; अर्थात् देश ('स्पेस') की जगह धरातल ('सर्फेस') ने ले ली। अवनीन्द्रनाथ के द्वारा प्राचीन भारतीय रूपकला की दृष्टि-भङ्गी का आविर्भाव हुआ, नन्दलाल के द्वारा प्रकाश करने की क्लासिकल पद्धति का। समसामयिक भारतीय चित्र के यही दो अध्याय हैं। नन्दलाल में यह पार्थक्य अचानक नहीं आ गया ; अवनीन्द्रनाथ के आदर्श के साथ युक्त होते हुए, उनकी विशिष्ट पद्धति का सहारा लिए हुए जो उससे मुक्त रहने की चेष्टा नन्दलाल में बहुत दिनों से सहज ही पहचानी जा सकती है।

जिस कारण अवनीन्द्रनाथ के साथ नन्दलाल का पार्थक्य स्पष्ट था उसी कारण अपने अन्यान्य गुरुभाइयों के साथ भी उनका भेद स्पष्ट था। शिल्पी नन्दलाल का प्रभाव सर्वप्रथम 'ओरिएंटल सोसाइटी आफ़ इंडियन आर्ट' के प्रारंभिक छात्रों पर दिखाई देता है। पहले हम एक साथ अवनीन्द्रनाथ और नन्दलाल का प्रभाव लक्ष्य कर सकते हैं। इन छात्रों की शिक्षा का भार अवनीन्द्रनाथ पर था किंतु चित्र को आलंकारिक रूप देने की चेष्टा के मूल में नन्दलाल का प्रभाव पहचाना जा सकता है। इस चेष्टा के होते हुए भी अवनीन्द्रनाथ की 'वाश'-पद्धति ने इन चित्रकारों की आलंकारिक बन्दिश (अर्थात् 'सर्फेस') में शैथिल्य ला दिया था। जिस तरह अवनीन्द्रनाथ के छात्रों ने सर्वतोभाव से उनकी शैली का अनुकरण किया था उसी तरह नन्दलाल के प्रभाव से आलंकारिक गुण तथा पौराणिक विषयवस्तु के प्रति चित्रकारों की दृष्टि लौटी थी। पौराणिक विषयवस्तु के समान अजंता की चित्रसंस्कृति भी नन्दलाल के भीतर से ही लोकप्रिय हो उठी। अवनीन्द्रनाथ के परवर्ती काल में हम इसी तरह धीरे धीरे नन्दलाल के प्रभाव का परिचय पाते हैं। सन् १९११ में नन्दलाल, असितकुमार, समरेन्द्रनाथ और वेङ्कट अप्पा ने लेडी हेरिङ्हम की सहकारिता में अजंता के भित्ति-चित्रों की अनुलिपि की। अजंता से लौटने के बाद नन्दलाल के चित्रों में अजन्ता का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। बहुतों की यह भ्रांत धारणा है कि अजन्ता के साथ साक्षात् परिचय से पूर्व ही नन्दलाल ने 'भीष्म-प्रतिज्ञा' और 'स्वयंवरा दमयंती'—चित्र आंके थे। अवनीन्द्रनाथ की शैली पर जापानी-प्रभाव के समान नन्दलाल पर अजंता के प्रभाव की बात भी अत्यंत प्रचलित है ; उनके संबंध में अति साधारण आलोचनाओं में भी इस मत का उल्लेख प्रायः पाया जाता है।

यह सच है कि अजंता के क्लासिक रूप ने नन्दलाल को आकृष्ट किया था, किंतु इसीके साथ भारतीय भास्कर्य के रूप ने भी उन्हें कम मुग्ध नहीं किया था। वस्तुतः भारतीय चित्र-संस्कृति की पारंपरिक गठनभंगी-मात्र ने उन्हें आकृष्ट किया था। किंतु मुग़ल, जापानी अथवा अजंता की शैली के समान भारतीय भास्कर्य शैली आज भी शिक्षित समाज में लोकप्रिय नहीं हो पाई है, इसी कारण नन्दलाल के रूप (फ़ार्म) के प्रकाशमात्र को ही अजंता का प्रभाव मान लिया गया है।

के प्राथमिक छात्रों की पारिपार्श्विक अवस्था में बहुत प्रभेद था। नन्दलाल के व्यक्तित्व तथा पारिपार्श्विक वातावरण—दोनों के सम्मिलित प्रभाव से परवर्ती चित्रकारों की स्वकीयता संभव हो सकी।

प्रारंभ में नन्दलाल और असितकुमार ने शांतिनिकेतन के नवीन पारिपार्श्विक में अवनीन्द्रनाथ के आदर्श को लेकर ही कार्य आरंभ किया। आदर्श, शिक्षा, मत आदि सभी दिशाओं से यह अवनीन्द्रनाथ की ही देन थी। उस समय जो छात्र शांतिनिकेतन आए थे उनमें आगे की किसी शिक्षा की छाप नहीं थी। इस दृष्टि से हम अवनीन्द्रनाथ और नन्दलाल के प्रारंभिक छात्रों की अवस्था में एक अद्‌भुत साम्य भी पाते हैं। जिन कारणों से और जिस परिस्थिति में अवनीन्द्रनाथ के अनुवर्तियों ने उनके आदर्श को सब तरफ़ से ग्रहण किया था, ठीक उन्हीं कारणों से और वैसी ही परिस्थिति में नन्दलाल के छात्रों ने भी सब प्रकार नन्दलाल को ही आदर्श के रूप में ग्रहण किया। शांतिनिकेतन के नन्दलाल का कर्मक्षेत्र केवल शिक्षादान में ही नहीं चुक गया था, अपने व्यक्तित्व को सभी तरफ़ से प्रकाशित करने का अवकाश भी उन्हें मिला था। शिक्षा के क्षेत्र में नन्दलाल के द्वारा शिक्षार्थियों ने अवनीन्द्रनाथ के आदर्श, अंकनभंगी, शिक्षा पद्धति आदि को ही प्रंपराक्रम से नये रूप में पाया। इसके बाद थोड़े समय में अत्यंत आश्चर्यजनक रूप से अवनीन्द्रनाथ के परवर्ती चित्र-संस्कृति में क्रम-परिणति घटित हुई। अब उसी इतिहास का अनुसरण किया जाय।

नन्दलाल के नवीन छात्रों में सबसे पहला परिवर्तन हम लक्ष्य करते हैं चित्र की विषय-वस्तु की ओर से। अवनीन्द्रनाथ के परवर्ती चित्रकारों ने प्रधानतः साहित्य को ही उपजीव्य मानकर चित्र आंके थे। नवीन चित्रकारों के भीतर से हमारी चित्र संस्कृति साहित्य का बंधन काटकर पारिपार्श्विक जीवनयात्रा तथा वस्तुजगत् के क्षेत्र में उत्तीर्ण हुई। यह परिवर्तन किसी आन्दोलन अथवा बाहर की किसी चेष्टा के बिना ही हुआ और इसका कारण अत्यंत स्वाभाविक था। नन्दलाल का आदर्श उनके सामने था सही, किंतु प्रकृति के साथ घनिष्ठ परिचय का सुयोग, साधारण जीवन के साथ सहज संस्पर्श चिंता की अपेक्षा प्रत्यक्ष अनुभूति—यही इन शिक्षार्थियों की मूल प्रेरणा थी। प्रचुर अवकाश और स्वाधीनता के भीतर से उनमें नवीन विषय अवलंबन करने की सहज उत्सुकता जाग उठी थी। इस उत्सुकता में हम पूर्ववर्ती धारा के साथ नवीन धारा का प्रभेद निःसन्दिग्ध भाव से देख पाते हैं।

यहां तक यह प्रभेद मूलतः विषयवस्तु के क्षेत्र में ही सीमित था; अंकनभंगी में जो परिवर्तन हम लक्ष्य करते हैं वह संपूर्णतया नंदलाल का ही प्रभाव था। अवनीन्द्रनाथ की सृष्टि के वातावरण-गुण (= एट्‌मास्फ़ेरिक क्वालिटी) से धीरे धीरे आलंकारिक सज्जा की ओर

चित्रकारों का ध्यान आकर्षित हुआ ; नन्दलाल को मंडन (अलंकरण)-प्रधान दृष्टिभंगी ने उन्हें अपनी ओर खींचा। करण-कौशल का अभ्यास और देशी चित्रों की अनुलिपि इन छात्रों ने बाक़ायदा शुरू की। अवनीन्द्रनाथ के आदर्श की भूमिका में नन्दलाल का व्यक्तित्व और भी सुस्पष्ट रूप में दिखाई दिया। चित्रकारों में नवीन करण-कौशल और नवीन उपकरणों के उपयोग के प्रति आग्रह जान पड़ा। दूसरी तरफ़ छात्रों के विषय-निर्वाचन ने ही नन्दलाल को नवीन समस्या के मुक़ाबिले खड़ा किया। इसके पहले तक भारतीय चित्रकारों में दृश्यचित्र की ओर खास उत्साह नहीं था ; अवनीन्द्रनाथ अथवा नन्दलाल-द्वारा अंकित दृश्यचित्र अथवा दृश्यप्रधान चित्र के प्रति उस युग के रसिक-समाज का भी कुछ विशेष आग्रह लक्ष्य नहीं होता। नवीन चित्रकारों में ही क्रमशः विषय की तरफ़ से दृश्य और दृश्यप्रधान चित्र का प्रयास पहलेपहल देखने को मिलता है। किंतु नवीनता को छोड़कर प्रकाशभंगी की कोई अन्य विशेषता इसमें नहीं मिलती। नन्दलाल ने दृश्यचित्र के आदर्शस्वरूप चीनी जापानी राजपूत अथवा विलायती चित्रों को छात्रों के सामने रक्खा, अर्थात् देश-देशांतर की चित्रसंस्कृति से परिचित होने का सुयोग दिया।

क्लासिक वस्तु-रूप की भारतीय प्रकाशभंगी ने जिस तरह नन्दलाल के चित्र की प्रकृति में परिवर्तन लाया था उसी तरह राजपूत चित्र के मंडन-रूप ने भी उन्हें अपनी ओर खींचा था। अवनीन्द्रनाथ ने भी एक दिन इससे प्रेरणा पाई थी किंतु यह भंगी कुछ ऐसी भिन्न और विशिष्ट थी कि वे दीर्घकाल इस आदर्श का अनुसरण नहीं कर सके। इसीलिये देशी चित्र अवनीन्द्रनाथ के जीवन में सामयिक प्रभाव की तरह ही आया, टिक नहीं सका। नन्दलाल के भीतर से वह दुबारा अवनीन्द्रनाथ के आदर्श में दिखलाई दिया ; चित्र की आलंकारिक वर्णसंयोग-रीति प्रकाशित हुई ; रूप ('फ़ार्म') को प्रधानता मिली। नन्दलाल का आलंकारिक चित्त अवनीन्द्रनाथ की अंकनभंगी को सहज ही ग्रहण नहीं कर पाया, कारण मंडन-गुण को बदलने की चेष्टा से ही अवनीन्द्रनाथ की वह अंकन-भंगी उद्भूत हुई थी। मंडन को प्रकाश करते हुए उन्हें उस भंगी को अतिक्रम करना अनिवार्य हो गया। उसके स्थान में राजपूत, मुग़ल अथवा देशी करण-कौशल की 'टेम्परा'-पद्धति नये रूप में नन्दलाल के शिल्प के भीतर से व्यक्त हुई। परवर्ती चित्रकारों में उन्होंने भारतीय भाव की अपेक्षा भारतीय अंकन-वैशिष्ट्य और क्लासिक-रीति प्रवर्तित की, यह बात सहज ही देखी जा सकती है। यहां तक हमने नन्दलाल-द्वारा पुरातन रीति के प्रवर्तन की चर्चा की ; आगे उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास तथा प्रतिभा की परिणति के इतिहास की आलोचना करेंगे।

स्वदेशी आन्दोलन के तीव्र राष्ट्रीयताबोध ने किस प्रकार चित्र संस्कृति की नवीन भाव-धारा को लोकप्रिय किया यह हमें मालूम ही है। इस आन्दोलन का ज्वार थम जाने पर भी

आधुनिक चित्रादर्श जातीय शिल्पादर्श के रूप में लोकप्रिय बना रहा। अवनीन्द्रनाथ की छात्र-परंपरा ही विशेष सम्प्रदाय के रूप में परिणत हुई। एक समय इस सम्प्रदाय ने विरुद्धता का मुक़ाबला करते हुए भी शिल्प-जगत् में अपना स्थान बना लिया था। यह साम्प्रदायिक रोग अवनीन्द्रनाथ के नवीन आदर्श के अग्रसर होने में सबसे बड़ी बाधा बन गया था। ऐसे समय रवीन्द्रनाथ ने आधुनिक चित्र-संस्कृति को संकीर्णता से मुक्त होने का आह्वान किया।

रवीन्द्रनाथ के शांतिनिकेतन-स्थित कला-केन्द्र की कहानी सबकी जानी हुई है। सन् १९१८ में विश्वभारती की भित्ति-प्रतिष्ठा के साथ अत्यंत छोटे पैमाने पर कलाविभाग का प्रारंभ हुआ था। इसी समय नन्दलाल अपने दो छात्रों सहित कुछ दिनों के लिये शांतिनिकेतन आए और वापस भी हो गए। असितकुमार हाल्दार की अध्यक्षता में ही वास्तविक प्रारंभ हुआ। इस बीच कला-केन्द्र के साथ नन्दलाल का योग संपूर्णतया टूट नहीं गया था। सन् १९१९ से असितकुमार और नन्दलाल की सहयोगिता में 'कलाभवन' नाम से यह केन्द्र अपने पूर्ण विकसित रूप में नये पथ पर अग्रसर हुआ। अवनीन्द्रनाथ के प्राथमिक छात्रों तथा शांतिनिकेतन-कलाभवन के प्राथमिक छात्रों की पारिपार्श्विक अवस्था में बहुल प्रभेद था। असितकुमार तथा नन्दलाल ने इसी नवीन पारिपार्श्विक में कार्यारंभ किया। ऊपर हम यथास्थान इसकी चर्चा कर आए हैं।

शिक्षार्थी की हैसियत से अवनीन्द्रनाथ और नन्दलाल के छात्रों को जो आज़ादी मिली थी वह किसी भी कलाकेन्द्र के लिये कल्पनातीत वस्तु थी। इस ओर से अवनीन्द्रनाथ और नन्दलाल के छात्रों में कोई पार्थक्य नहीं है, केवल नन्दलाल के छात्रों को अधिक अनुकूल पारिपार्श्विक अवस्था प्राप्त हुई थी। रवीन्द्रनाथ की एकांत इच्छा थी कि चित्रकार की सृजनी-शक्ति को उपयुक्त क्षेत्र मिले। किसी विशेष पद्धति अथवा निर्दिष्ट संस्कार की अपेक्षा व्यापकतर रससृष्टि के आदर्श को वे प्रधान रूप से देखना चाहते थे। नन्दलाल की सहायता उन्होंने इसी दिशा में माँगी थी, सिर्फ कुछ लोगों को किसी निर्दिष्ट पथ पर चलने के योग्य तैयार कर देने के लिये नहीं। हैवेल जब अवनीन्द्रनाथ को आर्ट स्कूल में लाए थे तब उनका भी यही उद्देश्य था और अवनीन्द्रनाथ ने बहुत तरह से यही चेष्टा भी की थी। प्रसंगक्रम से हम उसकी आलोचना कर आए हैं। शांतिनिकेतन-कलाभवन में सांस्कृतिक आबहवा के संस्पर्श से नन्दलाल तथा उनके शिष्यवर्ग में यह उद्देश्य खूब सहज ही बढ़ सका। एक ओर प्रकृति के साथ सहज और अंतरंग परिचय तथा दूसरी ओर सांस्कृतिक वातावरण—इन्हीं दोनोंसे उस समय के छात्र खूब प्रभावान्वित हुए। इस प्रभाव को हम क्रमशः स्पष्टतर रूप में लक्ष्य कर पाते हैं। चित्र की विषयवस्तु का वैचित्र्य चाहे जैसा भी हो, इन नवीन छात्रों के भीतर ही सबसे पहले वस्तुरूप के अनुकरण की चेष्टा—रियलिस्टिक प्रवृत्ति—दिखाई दी। अवनीन्द्रनाथ के परवर्ती

चित्र में यह भाव एकदम ही नई चीज़ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि एक दिन इसी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया के रूप में अवनीन्द्रनाथ का आन्दोलन शुरू हुआ था। नन्दलाल के प्रभाव से यह मनोभाव किस तरह परिचालित हुआ इसकी आलोचना करने से हम नन्दलाल-परवर्ती चित्र का वैशिष्ट्य और नवीन परिवर्तन के नाना कारणों को समझ सकेंगे।

शुरू में ही हम देखते हैं, नन्दलाल के प्रभाव से छात्र भारतीय क्लासिक चित्र के गुण से परिचित हुए। इसी समय एक और भी नवीन आदर्श का प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है—जापानी और विशेषतया चीनी चित्र-संस्कृति का प्रभाव। यह प्रभाव केवलमात्र करण-कौशल के भीतर ही आबद्ध नहीं था, और भी व्यापक रूप से समस्त प्राच्य शिल्पसंस्कृति को समझने की जिज्ञासा और चेष्टा ने ही उसे जन्म दिया था। रवीन्द्रनाथ के इस सांस्कृतिक केन्द्र ने आरंभिक छात्रों की जीवन-यात्रा को किस तरह प्रभावित किया था उसका एक उदाहरण दिया जा सकता है। जिस तरह संस्कृति की नाना दिशाओं की तरफ़ उन्होंने हमें जाग्रत किया था उसी तरह अन्य संस्कृतियों के साथ संयोग-स्थापन का सुयोग देने की भी चेष्टा की थी। इन दिनों रवीन्द्रनाथ जापानी साहित्य का नियमित अध्ययन कर रहे थे। वहां की संस्कृति, शिल्पादर्श, सौन्दर्यशास्त्र आदि विषयों की प्रायः ही आलोचना हुआ करती थी। प्रकृति की ओर आकृष्ट छात्रों पर स्वभावतया जापानी आदर्श का विशेष प्रभाव पड़ा। खास कर दृश्यचित्र में यह प्रभाव एक समय खूब साफ़ दिखाई देता है। और भी ठीक ठीक कहना हो तो कहेंगे कि इन चित्रकारों में प्राच्य संस्कृति की विशिष्ट दृष्टिभंगी के प्रति वास्तविक आकर्षण जाग उठा।

यहां तक हमने नवीन छात्रों पर पारिपार्श्विक अवस्था का क्या प्रभाव पड़ा इसकी चर्चा की है। किंतु इस प्रभाव के केन्द्र थे नंदलाल। विभिन्न देशों के विभिन्न चित्रसंस्थान में हम सदा दो भिन्न प्रकार के मनोभाव पाते हैं। व्यावहारिक उपकरणों के मूल्यविचार से इन दोनों मनोभावों में पार्थक्य है। एक मनोभावापन्न शिल्पियों ने उपकरणों के सहारे अनुभूति को प्रकाश करना चाहा है। उनके निकट चित्र का प्रधान अवलंबन रहा है 'सतह' ('सर्फ़ेस')। इसीलिये कागज़ कपड़ा दीवार इत्यादि के सारे बंधनों को वे स्वीकार कर सके हैं। इसके विपरीत दूसरे दल के निकट उपकरण बाधास्वरूप रहे हैं। इस बाधा को अतिक्रम करने की चेष्टा जब साध्यातीत मालूम हुई तो 'पर्स्पेक्टिव' का प्रचलन हुआ। इसी मनोवृत्ति को हम वास्तववादी मनोवृत्ति कहते हैं। वास्तववादी का अर्थ 'नैचरलिस्टिक' न समझकर 'रियलिस्टिक' समझना चाहिए। फ़ोटोग्राफ़ के समान वस्तु की प्रतिकृति सामने रखना इसका उद्देश्य नहीं है। केवल दूरत्व का आभास देने के लिये सतह को जितना अधिक भग्न किया जा सकता है, किया जाता है। 'पर्स्पेक्टिव' को हम 'दृष्टिपरंपरा' भी कह सकते हैं। यहां हम वस्तु के तीनों परिमाण ('डायमेंशन्स')

पाते हैं, विस्तार के अतिरिक्त दूरत्व भी यहां मिलता है। सतह को लेकर कारबार करने वाले शिल्पियों की रचनाओं में यह दूरत्व नहीं मिलता। वे सतह को उसके अक्षुण्ण रूप में स्वीकार कर लेते हैं। अतएव वस्तु का रूप सतह के धर्म द्वारा भी बहुत-कुछ निर्धारित होता है।
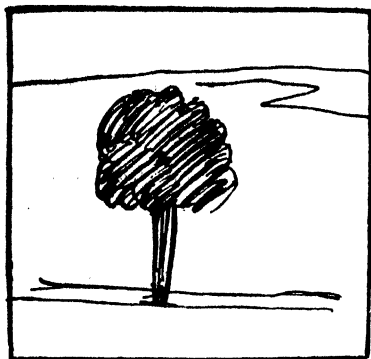
नं० १ ('सर्फेस')
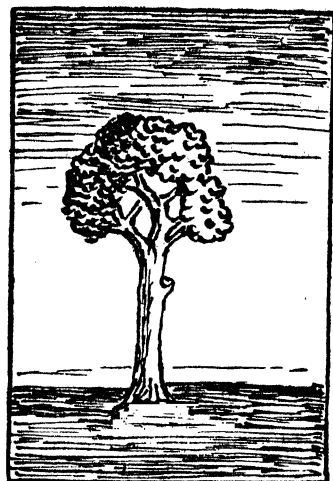
नं० २ ('स्पेस')

उदाहरण के लिये यहां दो स्कैच दिए जा रहे हैं। पहले में विस्तार है किन्तु दूरत्व ('पर्स्पेक्टिव') नहीं है। कागज़ इत्यादि की सतह तथा वस्तु दोनों का संयोग हुआ है। यह गुण प्राच्य चित्र में सर्वत्र मिलता है। नन्दलाल के चित्र इसी श्रेणी के हैं। दूसरे स्कैच में सतह ('सर्फेस') की बाधा तोड़कर दूरत्व दिखलाया गया है। यहां सतह की जगह 'देश' ('स्पेस') प्रधान है। पहले आदर्श में अनुभूति अपने वैचित्र्य के लिये उपकरणों के स्वभाव को स्वीकार कर लेती है ; यही मंडन-वृत्ति है। नन्दलाल का प्रभाव सबसे अधिक इसी तरफ़ से चित्रकारों पर पड़ा। उन्होंने उपकरणों की क़ीमत पहचानना सिखलाया। एक ओर उन्होंने रियलिस्टिक दृष्टिभंगी को पलटा, दूसरी ओर उसे मंडन गुण की ओर केन्द्रित किया। इसके सिवाय शैली में भी वैचित्र्य दिखलाई पड़ा। इन सभी वैचित्र्यों के बीच आलंकारिक आदर्श स्थायी रहा ; वस्तु के रूप ('एप्पियरेंस') की अपेक्षा उसका गुण प्रधान रहा। शिल्प-संस्कृति के साथ और भी व्यापक भाव से चित्रकारों का परिचय हुआ। स्टैला क्रैमरिश, जो आजकल कलकत्ता यूनिवर्सिटी में शिल्प की अध्यापिका हैं, के द्वारा आधुनिक यूरोपीय चित्र की नई धारा के साथ अत्यंत घनिष्ट परिचय का सुयोग मिला। यूरोपीय चित्र के विभिन्न परिवर्तनों का इतिहास, आधुनिक आदर्श और, सबसे अधिक, शिल्प में विश्लेषणात्मक अध्ययन का प्राधान्य—इन सबके

सहारे शिल्पालोचना के नवीन आदर्श का सूत्रपात हुआ। किंतु विस्तृत, व्यापक और विविध भावधारा तथा चिंतनप्रणाली के संस्पर्श में भी भारतीय चित्र ने अपनी निजस्व और मूल मंडन-परक विशेषता छोड़ी नहीं, यही इस नवीन केन्द्र की एक स्मरणीय घटना है। आलंकारिक आदर्श अब भी चित्रचर्चा का प्रधान अंग बना रहा। नाना दिशाओं से किस तरह अवनीन्द्रनाथ का प्रभाव क्षीण हो रहा था यह हम स्पष्ट देख पाते हैं। साथ ही मंडन-गुण के प्राधान्य का कारण भी हम समझ पाते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह कारण नन्दलाल का प्रभाव ही था।

इस मनोभाव ने नवीन छात्रों में किस तरह प्रसार पाया, इसपर भी विचार किया जा सकता है। इस समय तक शिल्पियों के पास अभिव्यंजना का एकमात्र साधन था चित्र। नन्दलाल ने विविध उपकरणों की सहायता ने नाना पथ प्रशस्त करने की उत्कंठा जगा दी। किंतु उसकी चर्चा करने के पूर्व नन्दलाल के प्रभाव तथा उसके परवर्ती स्वरूप के संबंध में कुछ और अग्रसर होकर आलोचना कर लेना उचित होगा। यद्यपि नन्दलाल की अपनी शैली में पारिपार्श्विक-द्वारा आदर्श का परिवर्तन घटित हुआ है, तब भी शिल्पी की स्वकीय दृष्टि-भंगी नहीं बदली। रवीन्द्रनाथ के शिक्षण-केन्द्र में नाना प्रयोजन सिद्ध करते हुए नन्दलाल को अपनी बहुमुखी प्रतिभा प्रकाशित करने का सुयोग मिला। शिल्प की दुनिया में नन्दलाल के प्रभाव की कहानी हमने बहुत-कुछ जान ली है। जातीय जीवन में उन्होंने कहां तक हमारी रुचि को मार्जित, परिणत और सुंदर किया है, राष्ट्र को किस विशाल परिमाण में ऐश्वर्यवान् बनाया है, यह देश के सांस्कृतिक इतिहास एवं जीवन से दिलचस्पी रखनेवालों को भली भांति मालूम है।' किसी समय हैवेल ने देशी दस्तकारी के प्रति देशवासियों का ध्यान आकर्षित करने का चेष्टा की थी किंतु रुचि और प्रयोजन के भेद से वह आन्दोलन तब अनेकशः व्यर्थ हो गया था। अवनीन्द्रनाथ का प्रयास भी उपयुक्त क्षेत्र और आबहवा के अभाव में सफल नहीं हो पाया, यद्यपि इस ओर दृष्टि आकर्षित करने में वे ही सर्वप्रथम थे। उनकी रचित आलिम्पन-संबंधी पुस्तक इसीका निदर्शन है। प्रत्यक्ष प्रयोजन के तक़ाजे पर दस्तकारी का जन्म होता है; हमारे चित्रकारों के सामने इसके पहले यह तक़ाज़ा उपस्थित ही नहीं हुआ था। रवीन्द्रनाथ के विद्याश्रम में नाना प्रयोजन, उत्सव, अभिनय, सज्जा आदि की आवश्यकता से कारुशिल्प का प्रारंभ हुआ। विचित्र आवश्यकताओं के भीतर से अलंकरण का एक नया आदर्श सामने आया। यह आदर्श प्रारंभिक छात्रों की अपेक्षा परवर्ती छात्रों के द्वारा ही सार्थक हुआ है। अवनीन्द्रनाथ के समान भारतीय शिल्प-रुचि में छात्र-परंपरा-द्वारा नन्दलाल के आदर्श ने भी बहुल परिणति लाभ की है। आलंकारिक शिल्प-क्षेत्र में उनकी छात्री और सहकारिणी स्वर्गीया सुकुमारी देवी का दान

सबसे मूल्यवान है। आलिम्पन के रूप में अलंकरण का जो रूपान्तर आज हम लक्ष्य करते हैं, वह सुकुमारी देवी की प्रतिभा द्वारा ही सम्भव हुआ है।

नन्दलाल के व्यक्तिगत जीवन में पारिपार्श्विक प्रभाव की चर्चा कर लेने से हमारी आलोचना संपूर्ण हो जाएगी। सन् १९०५ से १९१८ तक उनकी चित्ररचना एक विशेष आदर्श को लेकर चली थी। इस दीर्घकाल में अवनीन्द्रनाथ अथवा नन्दलाल के किसी शिल्पी-साथी में इतना विविध परिवर्तन नहीं हुआ। देशी पटों से शुरू करके अजंता, नेपाली, राजपूत और चीनी तूली की विभिन्न भंगी द्वारा उन्होंने अपनी प्रतिभा प्रकाशित की है। चीनी तूली की प्रेरणा उन्हें सुप्रसिद्ध चीनी शिल्पी कंपू आराई से मिली थी। दूसरी तरफ़ अवनीन्द्रनाथ की पद्धति का भी वे कितने दिनों तक अनुसरण किए रहे हैं, इसे दिखलाना सहज नहीं है; कारण, किसी विशेष काल में एकांत भाव से उस पद्धति का अनुसरण उन्होंने कभी नहीं किया। तब भी बीच बीच में उस पद्धति का सन्धान तो मिलता ही है। शैली के समान उनके विषयवस्तु में भी प्रचुर विविधता है। विचारों की व्यापकता के ख्याल से भी भंगी में यहां तक एक ध्रुव सूत्र हमें मिलता है जिसकी प्रमुख विशेषता यही है कि शैली, अलंकरण नाटकीय गुण आदि सभी दृष्टियों से वह मूर्तिधर्मी ('प्लास्टिक') है। नाटकीय रस प्रधान होते हुए भी, उनके चित्रों में केवल वही रस प्रकाशित हुआ हो सो बात नहीं। तब भी नन्दलाल की सर्वाधिक ख्याति और प्रतिष्ठा इसी ओर से हुई है।

शांतिनिकेतन आने के बाद से एक ही साथ नंदलाल की अंकनभंगी तथा विषयवस्तु दोनों में सुस्पष्ट परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। अपने छात्रों को निर्देश देते हुए साथ ही साथ नन्दलाल में भी प्रकृति के प्रति अभिनव अनुभूति का परिचय हम लक्ष्य कर पाते हैं। परिवर्तन का मूल सूत्र पकड़ते हुए यही प्रभेद सबसे पहले हमारे दृष्टिगोचर होता है। रवीन्द्रनाथ की लिरिक-काव्य-प्रतिभा ने शिल्पी की हैसियत से नन्दलाल को कभी प्रभावान्वित नहीं किया यह हम पहले ही कह आए हैं। परवर्ती जीवन में रवीन्द्रनाथ के कर्मक्षेत्र का प्रभाव नन्दलाल स्वीकार करते हैं, किंतु प्रकृति-विषयक तीव्र अनुभूति—अत्यंत निविड़ आंतरिकता-सहित उसकी उपलब्धि का आग्रह—उनमें रवीन्द्रनाथ के गीति-काव्य की अपेक्षा उनके गीतिनाट्यों के अभिनय देखने से जागा था। इसके सिवा चीन देशीय नन्दतत्त्व ('एस्थेटिक्स') ने भी नंदलाल और उनके छात्रवर्ग को गभीर भाव से आकृष्ट किया। मन का यह परिवर्तन सबसे पहले चित्र में अभिव्यक्त हुआ। धीरे धीरे विषय वस्तु की अपेक्षा वर्णों में भी रुचिपरिवर्तन दिखलाई पड़ा। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह हुई कि, शांतिनिकेतन आने के बाद के काल में उनके चित्र का चेहरा आलंकारिक होते हुए भी उसमें अलंकरण क्रमशः लोप होता दिखाई पड़ता है।

उनके रचित 'अग्नि' 'शारदश्री' जातीय चित्र शांतिनिकेतन आने के बाद कुछ काल बिल्कुल नहीं दिखाई पड़ते। सम्भवतः अलंकरण के लिये विस्तृत क्षेत्र होने के कारण उसका प्रभाव घटता आ रहा था। उनके मनोभाव का यह परिवर्तन 'संध्या' चित्र में सर्वाधिक सुस्पष्ट है। पहले के किसी चित्र में यह रूप अथवा रस प्रकाश करने की चेष्टा दिखाई नहीं देती। परिमोधिकं में प्रकृति का आकर्षण उनके आलंकारिक मनोभाव के परिवर्तन का—अर्थात् इस संधिकाल की प्रमुख विशेषता का—परिचय देता है।

नन्दलाल और उनके परवर्ती काल को निर्दिष्ट कठघरे में डाल सकना संभव नहीं है। इसीलिये हमने यहां केवल उसकी प्रगति का अनुसरण करने की चेष्टा की है, केवल प्रधान प्रभेदों को ही पकड़ना चाहा है। अब अवनीन्द्रनाथ तथा नन्दलाल के परवर्ती परिवर्तनों की धारा के नवीनतम स्वरूपों की कुछ आलोचना कर ली जाय। अवनीन्द्रनाथ के परवर्ती चित्र की अवस्था का हमने प्रबंध के आरंभ में ही उल्लेख किया है। नन्दलाल के परवर्ती काल में उनके अनुवर्ती छात्रों में आदर्शों का क्रमपरिवर्तन किस तरह हुआ इसीकी चर्चा बाकी है। सबसे पहले यह परिवर्तन विषयवस्तु के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। चित्र में प्रकृति का आस्वाद शुरू शुरू में सचमुच ही बहुत सरस हुआ था, किंतु इस शैशव काल में चित्र की गति को आबद्ध रख सकना संभव नहीं था। नन्दलाल का विशेष आदर्श यह था कि 'प्रकृति', 'परंपरा' और 'मौलिकता' इन तीनों के सम्यक् समन्वय से ही शिल्प-शिक्षा पूर्णाङ्ग होती है। केवल प्रकृति उपकरणमात्र है, संस्कृति के योग के बिना वह सार्थकता नहीं पाती। फिर संस्कृति यदि प्रकृति से विच्छिन्न हो पड़े तो प्राणहीन संस्कार से अधिक कुछ न रहेगी। और सबसे अधिक, मौलिक प्रतिभा के बिना दोनों ही अर्थहीन हो जाएंगे। यही नन्दलाल के आदर्श का बीज था और यह दृष्टि उन्होंने सुप्रसिद्ध जापानी आलोचक ओकाकुरा काकुज़ो के संस्पर्श में पाई थी। अवनीन्द्रनाथ के परवर्ती काल में जो शिल्प-संस्कृति गढ़ उठी थी उसमें और नन्दलाल के निकट पाए हुए आदर्श में इसीलिये मूलगत प्रभेद था, केवल शैलीगत अथवा रीतिगत नहीं। भारतीय आदर्श की यदि कोई अपनी विशेषता है तो वह आलंकारिक और वस्तुगत विशेषता है, जिसे हम रूप ('एप्पियरेन्स') की अपेक्षा प्रधानतया गुण का ('क्वालिटी') प्रकाशन-धर्म कह सकते हैं। किंतु इसीके साथ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इसी विशेष दृष्टिभंगी ने और भी व्यापक भाव से समग्र प्राच्य शिल्पसंस्कृति में सबसे प्रधान स्थान पाया है। इसी ओर से नन्दलाल के परवर्ती चित्रकारों ने प्राच्य चित्र का आदर्श पाया। मंडन-प्रधान भंगी और वस्तु-गुण की अभिज्ञता, इन दोनों के संयोग से ही उनकी रचनाओं में वैशिष्ट्य आया। नन्दलाल ने एक ओर समग्रभाव से आधुनिक भारतीय शिल्पियों को प्राच्य चित्र-संस्कृति के साथ युक्त किया, दूसरी ओर विभिन्न करण-कौशल का

विश्लेषण भी प्रस्तुत किया। प्रथम परिचय के दिनों में करण-कौशल का विचित्र समावेश साफ़ दिखाई पड़ता है, नन्दलाल और उनके छात्रवर्ग—दोनोंमें। छात्रों के संबंध में अलग अलग विस्तृत आलोचना यहां नहीं की जा रही, केवल उनके भीतर से सब मिलाकर परिणति की जो धारा बहती आई है उसे ही अनुसरण किया जा रहा है। इतनी बात निःसन्दिग्ध है कि इन सब चित्रकारों-द्वारा एक अभिनव प्रवृत्ति—एक नया झुकाव—दृष्टिगोचर होता है जिसका सूत्रपात नन्दलाल द्वारा ही हुआ है। चित्र भावलोक से वस्तुजगत् में अवतीर्ण हुआ है। वस्तुजगत् की अनुभूति ने प्रकाश से अधिक विषय में वैचित्र्य का संचार किया है। साधारण जीवन, साधारण घटनाओं ने चित्र में स्थान पाया है। रूप (एप्पियरेंस) की अपेक्षा गुण की ओर चित्रकारों का रुख फिरा है। इसी झुकाव से वस्तु के साथ साक्षात् दृष्टिगत परिचय को ही प्रकाश करने का उद्देश्य चित्रकारों में प्रधान हो जा सकता है, अर्थात् रूप एवं गुण दोनों की वास्तविक सत्ता का प्रभेद ठीक-ठीक न समझ पाने पर चित्रकारों का लक्ष्य सिर्फ़ अनुकरण की ओर जा सकता है। फिर विभिन्न शिल्प-संस्कृतियों के साथ परिचय और उनके ग्रहण के संबंध में आज़ादी के द्वारा एक तरफ़ हमारा करण-कौशल का ज्ञान निश्चय ही समृद्ध हुआ है, रूपसृष्टि वैचित्र्यमय हुई है, किंतु दूसरी तरफ़ ठीक इसी आज़ादी के कारण ही हमारे चित्रकारों में केवल करण-कौशल की नक़लबाज़ी भी चल निकल सकती है। इन्हीं कारणों से इसी बीच नन्दलाल के परवर्ती चित्रकारों में सही-ग़लत दोनों प्रकार के मनोभावों की नज़ीर पाना कठिन नहीं है।

नन्दलाल के परवर्ती शिल्पियों में अत्याधुनिक यूरोपीय चित्र की छाप का प्रवाद प्रायः सुनने मिलता है। किंतु अत्याधुनिक यूरोपीय चित्र के आदर्शों, जैसे 'एब्स्ट्रैक्ट आर्ट', 'सर-रियलिज्म' इत्यादि द्वारा हमारे शिल्पी प्रभावान्वित हुए हैं या नहीं, इसकी आलोचना करते हुए हमें एक मनोरंजक सत्य को स्मरण रखना चाहिए। इस नवीनतम यूरोपीय शिल्प की जो विशेषता हमें मिलती है, समस्त प्राच्य शिल्प-संस्कृति के साथ उसका अद्भुत मेल है। तथाकथित अत्याधुनिक यूरोपीय मतवाद में यह साम्य खूब ही स्पष्ट है। यूरोपीय चित्रकार क्रमशः मंडन-प्रधान रूप के प्रति आकृष्ट हो रहे हैं; वस्तु के रूप की अपेक्षा उसका गुण ही प्राधान्य पा रहा है। जिसे हम 'एब्स्ट्रैक्ट आर्ट' अथवा 'अरूप' शिल्प कहा करते हैं, उसका मूल तत्त्व है वस्तु के विशेष गुण का प्रकाशन। यूरोपीय चित्र-संस्कृति में यह परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप से प्राच्य संस्कृति के संस्पर्श में आने पर ही घटित हुआ है। अतएव उस राह भय का कोई कारण नहीं होना चाहिए। विभिन्न शिल्प-संस्कृतियों का समुचित ज्ञान न होने के कारण कभी कभी कुछ आलोचक इन चित्रों में यूरोपीय प्रभाव की बात सोचा करते हैं। वस्तुतः यह धारणा भ्रान्त है।

हिंदुत्व में विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय

भगवानदास

भारतवर्ष में पहले-पहल जिन दो बड़ी सभ्यताओं का समन्वय हुआ वे हैं आर्य और द्राविड़। यद्यपि पंडितों में इस बात में अब भी ऐकमत्य नहीं है कि आर्य लोग इस देश में बाहर से आए या यहीं के रहनेवाले थे, परन्तु आज तक इस विषय में जितनी महत्त्वपूर्ण सम्मतियां प्रकाशित हुई हैं उससे इतना तो स्पष्ट ही है कि आर्य लोग चाहे बाहर से आए हों या नहीं, कम से कम इस देश के मध्यभाग या दक्षिण या पूर्वभाग के निवासी नहीं थे। वे सप्तसिंधु प्रदेश की ओर से क्रमशः पूर्व और दक्षिण की ओर बढ़ते गए। इन आर्यों का लिखित साहित्य ही भारतवर्ष का पुराना साहित्य है। जिन पंडितों ने इस साहित्य का अध्ययन किया है उन्होंने यह स्वीकार किया है कि इस साहित्य के पढ़ने से इतना स्पष्ट है कि इन आर्यों से अन्यान्य आर्येतर जातियों का संघर्ष हुआ था। नाग और सुपर्ण जैसी जातियों के साथ संबंध और संघर्ष की परंपरा बहुत दीर्घ रही होगी। महाभारत से यह बात प्रतिपादित होती है। लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि वैदिक काल में ही आर्यों के साथ नाग आदि जातियों का संबंध घनिष्ठ हो चला था। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपने 'जातिभेद' नामक ग्रन्थ (पृ० ११६) में दिखाया है कि अनेक वैदिक सूक्तों के ऋषि नाग जाति के स्त्री-पुरुष हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि सभी आर्येतर जातियां किसी एक ही नृतत्त्व-शास्त्रीय श्रेणी की नहीं थीं ; उनका मानसिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक धरातल भी एक ही समान नहीं था, फिर भी आजकल एक सामान्य द्रविड़ शब्द से समस्त आर्येतर जातियों को सूचित करना रूढ़-सा हो चला है। हमने यहाँ 'द्रविड़' शब्द का प्रयोग इसी रूढ़ अर्थ में किया है। इसलिये जब हम आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों की बात करते हैं तो हमारा मतलब आर्य और आर्य-भिन्न संस्कृतियों से होता है। सो, इनके समन्वय से ही भारतीय या हिंदू-संस्कृति का प्रथम संस्करण हुआ। इसके पश्चात् जब कि समस्त भारतीय सभ्यता का एकीकरण हो चुका था और एक संस्कृति बन चुकी थी तब भारत में ही एक नये धर्म का उदय हुआ। गौतम बुद्ध ने जो धर्म चलाया, उन से सामाजिक जीवन-प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ जो समस्त देश में व्याप्त हो गया। इस तरह एक नई बौद्ध संस्कृति उदित हुई और लगभग सम्पूर्ण भारत उसमें ढल गया। बौद्ध संस्कृति की सबसे बड़ी देन अहिंसा थी। इस सिद्धान्त ने व्यापक रूप से हमारे समाज में अपना स्थान प्राप्त कर लिया।

परंतु यहां भी हमें इस बात को भूल नहीं जाना चाहिए कि बौद्ध धर्म का उदय कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। वस्तुतः उसके बीज भारतीय समाज में पहले से ही वर्तमान थे। बौद्धों की ही तरह अहिंसा को मुख्य सिद्धान्त माननेवाला एक और धर्ममत यहां वर्तमान था जो आज भी जीवित है। हमारा मतलब जैन-समाज से है। साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि महावीर स्वामी इस धर्ममत के आदि प्रवर्तक थे। परन्तु स्वयं जैन लोग इस मत को नहीं मानते। उनके मत से महावीर स्वामी तीर्थंकरों में अन्तिम थे और उनके पूर्व अहिंसाप्रधान धर्म की एक अति दीर्घ परंपरा थी। ऋग्वेद के सूक्तों में से इस प्रकार के प्रमाण ढूंढ़े गए हैं जिनमें कुछ ऐसे वैराग्य-प्रवण यतियों का उल्लेख मिलता है जो इन तैर्थिक संप्रदायों के पूर्वपुरुष रहे होंगे। ऐसा जान पड़ता है कि आर्येतर द्रविड़ जातियों में अज्ञातकाल से वैराग्य, अहिंसा, तप और अध्यात्मवाद का पूर्ण प्रचार था। आर्य जाति के धर्ममत के साथ उनका ज़रूर संघर्ष हुआ होगा। उन्हीं संघर्षों ने अहिंसाप्रधान धर्मों को नया रूप दिया। वैदिक यज्ञों में होनेवाली हिंसा की प्रतिक्रिया के रूप में ही इनके अभ्युदय की व्याख्या करना अनुचित जान पड़ता है। एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धर्ममत को इस प्रसंग में प्रायः भुला दिया जाता है। वह है प्राचीन भागवतधर्म। इस धर्म में भी अहिंसा को प्रमुख स्थान प्राप्त था। इन समस्त धर्ममतों और उनके आधारभूत तत्त्ववादों में बहुत दिनों तक संघर्ष होता रहा होगा। एक ज़माना ऐसा बीता है जब बौद्धधर्म अत्यन्त प्रबल था। नाना कारणों से, जिनकी चर्चा यहां अप्रासंगिक होगी, बौद्धधर्म का ह्रास हुआ और नवीन हिंदू संस्कृति का अभ्युदय हुआ। इस नवीन संस्कृति में अहिंसा की परमधर्मता ज्यों की त्यों बनी रही। मेरा अपना विचार तो यह है कि इस नवीन संस्कृति ने अहिंसाधर्म को न अपना लिया होता तो उसका अंकुर आज इस विशाल वटवृक्ष के रूप में लहलहाता हुआ नज़र न आता। परन्तु आर्यभिन्न संस्कृतियों के संघर्ष और समन्वय से ही भारतीय संस्कृति का बनना समाप्त नहीं होगया। जैसा कि मैंने शुरू में ही कहा है, यह इसका प्रथम संस्करण था।

इसके बाद भी इस देश पर अनेक आक्रमण होते रहे। यहां की शस्य-श्यामला भूमि कम परिश्रम में ही अधिक खाद्य-सामग्री प्रस्तुत करती थी, यह देखकर आक्रमणकारी यहीं बस जाते थे। धीरे धीरे वे इस नवीन संस्कृति को अपना लेते थे। पर साथ ही विजेता की हैसियत से अपनी सभ्यता का अंश भी किसी न किसी रूप में इस संस्कृति में मिला देते थे। वस्तुतः हिंदू सामाजिक जीवन-प्रणाली को अपनाने के बाद यह असंभव था कि वे विशुद्ध रूप से अपनी सभ्यता को आपनाए रहते। अतः जो कुछ भी उन्होंने अपनी संस्कृति से अपनाया उसका भारतीयकरण हो गया। इन जातियों का सबसे अधिक प्रभाव राजपूताना, सिंध और

पंजाब के प्रदेशों पर पड़ा। वे इन्हीं स्थानों में बस गए और राज-काज चलाने लगे। मेरे विचार से इन नाना जाति के विजेताओं या आक्रामकों के मिश्रण का ही प्रभाव है कि क्षत्रिय के बदले 'राजपुत्र' शब्द का प्रचलन हो गया। नाम परिवर्तन होने का कारण मैं तो यह समझता हूँ कि चूंकि क्षत्रियवर्ग ही शासकवर्ग था और जब ये विदेशी (शक-हूणादि) विजेता की हैसियत से शासक हो गए और इन्होंने हिंदूधर्म को अपना लिया, इसलिये इन्हें क्षत्रियजाति में मिला लिया गया। इनके मिल जाने से कालान्तर में विशुद्ध क्षत्रियों का ठीक ज्ञान न होने के कारण संपूर्ण क्षत्रियजाति राजपूत कहलाई जाने लगी, क्योंकि राजपूत का अर्थ है राजघराने का। इससे प्राचीन उच्चवंशीय क्षत्रिय एवं आधुनिक मिश्रित क्षत्रियों का भेदभाव ही मिट गया।

कुछ लोग 'राजपूत' शब्द से सिर्फ इन नई जातियों के क्षत्रिय-बने शासकों से ही तात्पर्य मानते हैं। वस्तुतः यह भ्रम इसलिये पैदा हो गया है कि यह माना जाने लगा है कि 'राजपूत' (=सं० 'राजपुत्र') शब्द नवीं शताब्दी के बाद चला है और पूर्ववर्ती साहित्य में इस शब्द से क्षत्रियों की सूचना नहीं होती थी। यह आश्चर्य की बात है कि भ्रम का खंडन नाना भाव से किया गया है फिर भी 'भ्रम' जहां का तहां है। "ता कहँ काह जगाइबो जागत ही रह सोइ!" बाणभट्ट ने क्षत्रिय अर्थ में 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु उनका समय बहुत अधिक प्राचीन नहीं है। किन्तु महाभारत में से पंडितों ने ऐसे बहुत-से श्लोक उद्धृत किए हैं जिनसे स्पष्ट ही सूचित होता है कि यह शब्द उस युग में 'क्षत्रिय' का वाचक था। इस विषय के छोटे मोटे तर्कों की जांच नये सिरे से कोई आवश्यक नहीं जान पड़ती परन्तु अपने पाठकों से हम इतना कह देना तो उचित ही समझते हैं कि प्राचीन शास्त्रों में (विशेषकर महाभारत में) 'राजपुत्र' शब्द निर्विवाद भाव से क्षत्रिय अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। फिर भी यह बात तो सत्य है ही कि नवीं शताब्दी के बाद इस शब्द का जैसा व्यापक प्रचलन हुआ वैसा पहले कभी नहीं हुआ। इसका कारण मैंने ऊपर बताया है। नये और पुराने क्षत्रियों का भेद मिटा देने के लिये ही इस शब्द का व्यापक प्रचार हुआ होगा। और कोई भी संगत कारण नहीं हो सकता; परन्तु यह कहना ठीक नहीं कि पुराने क्षत्रिय अब हैं ही नहीं!

एक ऐसा समय गया है जब समस्त भारतवर्ष इन्हीं 'राजपूत' राजाओं के अधीन था। इसलिये विदेशी संस्कृति का जो जो अंश उन्होंने अपनाया था वह समस्त भारत में फैला और हिंदू-संस्कृति का अंग बन गया। उदाहरण के रूप में बताया जाता है कि जौहर-प्रथा एक विदेशी रीति थी जो विदेशी विजेताओं के साथ आई थी और कालान्तर में हिंदू संस्कृति का अंग बन गई। सती होने की प्रथा भारतवर्ष में एकदम थी ही नहीं यह तो नहीं कहा जा सकता। श्रेडर, जाली, वेबर, राथ, विल्सन, त्सिमर प्रभृति जिन पाश्चात्य पंडितों ने वैदिक साहित्य का

अध्ययन किया है उन्होंने बताया है कि वेदों में इस प्रथा का कहीं आभास मिलता है। यह दावा किया गया है कि अथर्ववेद, १८, ३, १ में इस प्रथा का स्पष्ट रूप से उल्लेख है फिर भी यह तो सभी मानते हैं कि यह प्रथा भारतवर्ष में साधारण प्रथा के रूप में प्रचलित नहीं थी (मैकडानल और कीथ : वेदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० ४८८-८९)। और मध्य युग में इस प्रथा के अत्यधिक प्रचलित होने के कारण और विदेशों में इससे साम्य रखनेवाली प्रथा को देखकर बहुत-से पंडित अनुमान करते हैं कि यह बाहर से आकर ही इतना व्यापक आकार ग्रहण कर सकी। जो हो, मध्ययुग में ऐसी और भी अनेक प्रथाएं बाहर से इस देश में आईं और यहां आकर अविच्छेद्य रूप से भारतीय समाज-नियमों का अंग बन गईं। इस तरह हम देखते हैं कि सन् ईस्वी २०० वर्ष पूर्व से ७०० वर्ष बाद तक जो विदेशी आए वे या तो यहीं बस गए और हिन्दूधर्म को अपनाकर उन्होंने अपने आपको हिन्दू जाति का एक अंग बना लिया, या वे यहां से वापिस लौट गए और यहां की सभ्यता का एक बृहत् अंश अपने साथ ले गए। अलक्षेन्द्र के साथ आए हुए यूनानी इसका उदाहरण हैं।

सन् ईस्वी ७०० के लगभग एक ऐसी जाति का भारत पर हमला हुआ जो कालान्तर में ९०० वर्ष तक—भारत में शासन करती रही और यहीं बस गई। पर इसने यहाँ के धर्म एवं संस्कृति को नहीं अपनाया। ये लोग मुसलमानी धर्म को माननेवाले थे। अरब के जितने भी सामाजिक रीति-रवाज़ थे वे सब इस धर्म के अंग थे, या यों कहिए कि यह धर्म अरब की सभ्यता का प्रचारक था। जब तक मुसलमानों के मौके-बेमौके हमले होते रहे तब तक तो कोई उल्लेखयोग्य बात नहीं थी, पर जब ये विजेता की हैसियत से भारत को अपना घर बना, यहां शासन करने लगे तब भारत में दो संस्कृतियों की टक्कर हुई। मुस्लिम बादशाह यहां बसते हुए भी ईरान आदि मुस्लिम देश के बादशाहों को अपने से बड़ा मानते थे और उन्हीं देशों को अपना देश समझते थे। किसी भी नये बादशाह के सिंहासनारूढ़ होने पर "खलीफा" से "खिलअत" मिलना आवश्यक था। यह एक प्रकार की सनद थी और इससे सिंहासन का अधिकार दृढ़ माना जाता था। इसी तरह ये लोग शासन-कार्य भी मुल्लाओं (धार्मिक गुरुओं) की सलाह से किया करते थे। साहित्य, वास्तुविद्या आदि को भी इन्होंने अपने ढंग से ही अपनाया। गरज़ यह कि ये लोग अरब की सभ्यता को ही अपनाए हुए थे। सब से बड़ी बात तो यह है कि ये लोग मूर्तिभंजक थे। बुतपरस्ती को इनकी संस्कृति, सभ्यता और धर्म में कोई स्थान ही नहीं था और यहां मूर्तिपूजा हिन्दू संस्कृति की आवश्यक अंग थी। इस तरह भारत में पहले पहल ऐसी दो संस्कृतियों की टक्कर हुई जो एक दूसरे से दबी नहीं और दोनों में द्वन्द्व छिड़ गया।

मुसलमानों ने यहां के निवासियों में अपने धर्म का प्रचार आरंभ कर दिया। धीरे धीरे बहुत से हिन्दू इस धर्म में दीक्षित हो गए। कई तो पूरी जाति की जाति ही इस धर्म में सम्मिलित हो गईं। इससे एक विशेष बात यह हुई कि जो जाति पूरी की पूरी मुस्लिम धर्म को मानने लगी उसने केवल धर्म अर्थात् (कर्मकाण्ड और ईश्वरोपासना के ढंग) को ही अपनाया पर सामाजिक जीवनप्रणाली पूर्ववत् ही क़ायम रखी। मुस्लिम बादशाहों ने भी शासन की सुगमता के लिये यहां की बहुत सी बातों को अपनाया। फलस्वरूप मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता का भारतीयकरण हुआ और यद्यपि आज भी इसमें ऐसी बहुत सी बातें हैं जो यहां की पूर्व-प्रचलित सभ्यता से मेल नहीं खातीं फिर भी वह विशुद्ध मुस्लिम संस्कृति न रह सकी। आज भारत में मुसलमानों के सामाजिक रस्म-रिवाज़ दूसरे मुस्लिम देशों से लगभग भिन्न हैं।

जिस तरह हिन्दू सभ्यता का प्रभाव मुसलमानों पर पड़ा उसी तरह से मुस्लिम सभ्यता का असर हिन्दू संस्कृति के कुछ अंश पर पड़ा है। कम से कम साहित्य और कला (चित्रकला और वास्तुकला, दोनों ही) पर मुस्लिम सभ्यता ने अपना गहरा असर डाला है। मध्यकालीन भारत में छोटे बड़े मुस्लिम साम्राज्यों का दौरदौरा था और भारत की राजधानी दिल्ली भी उन्हींके कब्जे में थी। इसी दिल्ली से मुसलमान बादशाहों ने समय-समय पर समस्त भारत पर शासन किया है। मुसलमानी शासन के कारण हमारी कला में भी परिवर्तन हुआ। भारत में कला और साहित्य की उन्नति राज्याश्रित रहकर ही होती थी। इसीलिये हिन्दुओं ने मुस्लिम कला को जीविकोपार्जन का अच्छा साधन सोचकर अपनाया। और मुसलमानों ने भी हिन्दू कला से आकृष्ट हो उसे अपनाया। अब हिन्दू और मुस्लिम दोनों कलाओं का समन्वय हुआ तथा उससे एक नई भारतीय कला का जन्म हुआ जो हिन्दू और मुस्लिम दोनों संस्कृतियों का समान रूप से अंग है। इसी तरह साहित्य में भी मुसलमानों का असर पड़ा और खासकर इसीलिये कि कई मुसलमानों ने भारतीय भाषाओं में ही रचनाएं कीं। सूफीमत का भी हमारे धार्मिक विचारों पर गहरा असर रहा। इसीलिये साहित्य में एक नई पद्धति का जन्म हुआ। गत एक हज़ार वर्ष से साथ रहने के कारण अदृश्य रूप से हमारी सामाजिक जीवन-प्रणाली पर भी कुछ न कुछ मुस्लिम सभ्यता का असर अवश्य पड़ा है पर वह बहुत सूक्ष्म है। हिन्दू-संस्कृति के अंग-विशेष पर मुस्लिम सभ्यता का असर अवश्य पड़ा है पर फिर भी हिन्दू संस्कृति के जो व्यापक महान् सिद्धान्त हैं उनके कारण वह मुस्लिम संस्कृति से भिन्न ही बनी रही है।

जब कि हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का कई बातों में समन्वय हो रहा था, उसी समय भारत में एक और विदेशी जाति समुद्र-पार से व्यापार के हेतु आई। ये लोग फिरंगी कहलाते थे। इनलोगों ने धीरे धीरे कूटनीति द्वारा भारत पर अधिकार जमाना आरंभ किया

और अन्त में सन् १८५७ में ये पूर्ण रूप से भारत के शासक हो गए। मुसलमानों की तरह इन्होंने भारत को अपना देश नहीं बनाया वरन इनके राजा की ओर से कुछ प्रतिनिधि आकर शस्त्र-बल से यहां शासन करते हैं। ये लोग ईसाई धर्म को मानते हैं ; इस धर्म को साथ ही आवश्यक हो गया कि ये यहां के निवासियों को अपनी सभ्यता सिखाकर उनका सहयोग प्राप्त करें। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रख इन्होंने अपनी संस्कृति फैलाना आरंभ कर दिया और अगर हम यह कहें कि आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व यानी बीसवीं सदी के आरंभ में समस्त शिक्षित भारत इनकी संस्कृति के मोह में फँसकर अपनापन खो रहा था तो कोई अत्युक्ति न होगी। यह हमारा सौभाग्य है कि हमें महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द और रामकृष्ण परमहंस-जैसे महान् धर्मोपदेशक, राजा राममोहन राय और ईश्वरचंद्र विद्यासागर-सदृश महान् समाज-सुधारक, लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधीजो-जैसे धुरंधर राजनीतिज्ञ, महामना मालवीयजी-जैसे महान् विधायक कार्यकर्ता और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ-जैसे प्राचीन भारतीय शिक्षापद्धति एवं कला के पुनरुद्धारक मिले। इन सब विभूतियों ने अपने अपने क्षेत्र में अद्वितीय कार्य कर भारतीय संस्कृति की रक्षा की। फिर भी इस हाल ही में आई हुई विदेशी संस्कृति ने हमपर अपना प्रभाव डाला। अदृश्य रूप से हमारी विचार-धारा पर भी इसका प्रभाव पड़ा है।

इस तरह हम देखते हैं कि वर्तमान हिन्दू संकृति संसार की विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय से बनी है प्रर उसमें अपनी मौलिकता है। उसके महान् सनातन सिद्धान्त अन्य संस्कृतियों को अपनाने से पूर्व उन्हें अपने अनुरूप बना लेते हैं और वे मौलिक हो जाते हैं। जिस तरह गंगा में यमुना, सरयू आदि नदी और नाले मिलते हैं पर मिलने पर वे गंगा ही हो जाते हैं, उनके जल में वही जन्तुनाशक गुण आजाता है जो गंगा में रहता है, उसी तरह हिन्दू संस्कृति अपने भीतर अन्य संस्कृतियों को मिलाकर उन्हें विदेशी नहीं रहने देती, वरन् अपने गुणों से युक्त कर भारतीय बना लेती है। इसीलिये यह पहिचानना दुष्कर है कि हिन्दू संस्कृति के किस भाग पर विदेशी-छाया है। जिस तरह हिमालय से नदी नाले निकल कर अंत में गंगा में ही मिलते हैं और गंगा उन सबका प्रतिनिधित्व करती है उसी तरह मानव-संस्कृति से निकली हुई संस्कृतियां धीरे धीरे हिन्दू संस्कृति में मिलती गई हैं। इसीलिये हिन्दू संस्कृति महान् है तथा मानव-संस्कृति का प्रतीक है।

कैमेलिया

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

[गद्य-कविता का हिंदी रूपान्तर]

नाम था उसका कमला ।
मैंने उसकी कापी पर लिखा हुआ देखा है ।
ट्राम में जा रही थी कालेज के रास्ते,
साथ में ले लिया था छोटे भाई को ।
मैं था पीछेवाले बेञ्च पर ।
मुख के एक ओर की गोल रेखा दिख रही थी,
और गर्दन पर जूड़े के नीचे के कोमल केश ।
गोद में पड़ी हुई थीं कापी और किताबें ।
जहां मुझे उतरना था वहां उतरना न हो सका ।
अब समय का हिसाब करके निकला करता हूं,—
वह हिसाब मेरे काम के साथ ठीक मेल नहीं खाता,
लेकिन प्रायः ठीक मिल जाता है उनके जाने के समय के साथ ;
अक्सर मुलाक़ात हो जाती है ।
मन ही मन सोचता हूं,—
और कोई रिश्ता हो, न हो, मेरी सहयात्रिणी तो है ।
निर्मल बुद्धि का चेहरा जैसे जगर-मगर हो रहा हो ।
सुकुमार लिलार के ऊपर केश उठाए हुए होते हैं,
उज्ज्वल आंखों की दृष्टि में कोई संकोच नहीं है ।
मन ही मन सोचता हूं, कोई संकट क्यों नहीं दिखाई देता
ताकि इसे उद्धार करके जन्म सार्थक करूं,—
रास्ते में कोई एक उत्पात,
कोई एक गुण्डों का सर्दार !
ऐसा तो आजकल होता ही रहता है ।

लेकिन मेरा भाग्य गदले पानी की तलैया है,
उसमें कोई भारी-भरकम इतिहास अँटता ही नहीं,
निरीह दिन मेढकों की तरह उकता देनेवाले सुर में टर्राते रहते हैं,
न उसमें मगर-मच्छों का निमंत्रण है न राजहंसों का ।
एक दिन ठेलमठेल भीड़ थी
कमला के पास बैठा था एक अधगोरा ।
जी में आता था अकारण ही ऐसा हाथ बैठा दूं
कि सिर से उसकी टोपी उछल पड़े ;
गर्दनिया देकर उतार दूं माझ राह में ।
कोई बहाना नहीं मिलता था, हाथ खुजला रहा था ।
इसी समय उसने एक मोटा चुरुट जलाया,
लगा कश खींचने ।
मैं नज़दीक जाके बैठ गया, फेंको चुरुट ।
उसने मानों बात ही नहीं सुनी,
धुआं उड़ाता रहा, मौज के साथ ।
मुंह से चुरुट खींचकर फेंक दिया मैंने रास्ते पर ।
मुक्का बांध कर एक बार मेरी ओर कटमटा के देखा,
ज्यादा कुछ बोला नहीं, एक उछाल में उतर पड़ा ।
शायद मुझे पहचानता था ।
फुटबाल के खेल में मेरा नाम है, खासा अच्छा नाम ।
उस लड़की का मुंह लाल हो गया,
किताब खोलकर सिर झुकाकर पढ़ने का भान करने लगी,
हाथ उसके कांपते रहे
कटाक्ष से भी नहीं देखा वीर पुरुष की ओर ।
दफ्तर जानेवाले बाबुओं ने कहा, खूब किया आपने भाई साहब ।
ज़रा देर बाद ही वह लड़की उतर गई, बेमौके,
और चली गई एक टैक्सी लेकर ।
दूसरे दिन उसे नहीं देखा,
उसके बाद वाले दिन को भी नहीं ।

तीन दिन बाद क्या देखता हूं, कि
एक ठेले गाड़ी पर चली है कालेज की ओर।
मैं समझ गया, गँवार की तरह ग़लती कर चुका हूं,
वह लड़की अपनी फिकर आप ही कर सकती है,
उसे मेरी कोई ज़रूरत थी ही नहीं।
फिर मन ही मन कहा, मेरा भाग्य गँदले पानी की तलैया है,—
आज बार बार वीरत्व की स्मृति आवाज़ दे रही है
मज़ाक की तरह।

ते किया, ग़लती सुधारनी होगी।
खबर मिली है वे लोग गर्मी की छुट्टियों में दार्जिलिंग जा रहे हैं।
इस बार मुझे भी हवा-पानी बदलने की अनिवार्य आवश्यकता हुई।
उनका वासस्थान छोटा-सा था,
नाम दिया था मोतिया,—
रास्ते से ज़रा-सा उतर कर एक कोने में,
पेड़ों की आड़ में,
सामने था बर्फ का पहाड़।
सुना, इस बार वे लोग नहीं आएंगे।
सोच रहा था, लौट चलूं,
ऐसे ही समय अपने एक भक्त से मुलाक़ात हो गई,
मोहनलाल,—
दुबला-पतला लंबा आदमी है,
आंखों में चश्मा,
उसका कमज़ोर पाकयंत्र दार्जिलिंग आकर ज़रा उत्साह पाया करता है।
उसने कहा,—"तनुका मेरी बहन है,
तुम से भेंट करना चाहती है,
किसी प्रकार नहीं छोड़ेगी, चलना ही होगा।"
लड़की छाया के समान है,
शरीर उतना ही है जितने बिना काम ही नहीं चल सकता,

लिखने-पढ़ने में जितना लगाव है आहार में उतना नहीं है ।
इसीलिये फुटबाल के सर्दार पर ऐसी अद्‌भुत भक्ति है,—
वह समझती थी कि मैं जो उससे मुलाक़ात करने आया हूं
वह मेरी दुर्लभ दया है ।
हाय रे नसीब का खेल !
जिस दिन उतर आऊंगा उसके दो दिन आगे तनुका ने कहा—
"आपको एक चीज़ दूंगी, ताकि हमारी याद बनी रहे,
एक फूल का पौधा ।"
अच्छा झंझट हाथ लगा ! चुप हो रहा ।
तनुका बोली, "क़ीमती पौधा है,
इस देश की मिट्टी में मुश्किल से उगता है ।"
मैंने पूछा, "नाम क्या है ?"
बोली—"कैमेलिया ।"
चौंक पड़ा मैं—
और एक नाम मन के अंधकार में चमक उठा ,
हँसके बोला—"कमेलिया,
शायद आसानी से इसका मन नहीं मिलता ।"
पता नहीं, तनुका ने क्या समझा,
अचानक लजा गई,
खुश भी हुई ।
गमला-समेत फूल का पौधा लेकर चल पड़ा ।
देखा, पार्श्ववर्तिनी के तौर पर यह सहयात्रिणी सहज नहीं है ।
एक दो-कमरा गाड़ी में
नहाने के घर में गमले को छिपाया ।

जाने दो इस भ्रमण-वृत्तान्त को,
छोड़ दिया जाय, और कई महीनों की तुच्छता को ।
पूजा की छुट्टी में इस प्रहसन की यवनिका उठी संथाल-परगने में ।

जगह छोटी है। नाम नहीं बताना चाहता,—
वायु बदलनेवाले वायुविकार-ग्रस्त लोग
इस स्थान की खबर नहीं रखते,
कमला के मामा रेल के इञ्जिनियर थे।
उन्होंने यहीं डेरा डाला था,
शाल-वन की छाया में, गिलहरियों के मुहल्ले में।
दिगन्त तक नीला पहाड़ दिखाई देता है,
अदूर की जलधारा बालू के भीतर से चली है,—
पलाश-वन में रेशम के कोए लगे हुए हैं,
हर्र के वृक्षों-तले भैंसे चर रहे हैं,—
पीठ पर हैं नंगे संथाल-बालक।
मकान का कहीं पता नहीं,—
इसलिये नदी-किनारे तंबू तानना पड़ा।
साथी कोई नहीं था, थी केवल वह कैमेलिया।
मां को लेकर कमला आई है।
धूप उठने के पहले
शिशिर-स्निग्ध वायु में
शालवन के भीतर से घूमने जाती है,
हाथ में होता है छाता,
मैदान के फूल पैरों तले सिर रगड़ते हैं,—
पर वह क्या किसीकी ओर देखती है!
थोड़े पानीवाली नदी को पैदल ही पार करके उस पार निकल जाती है,
वहां शीशम वृक्ष के नीचे किताब पढ़ती है।
और मुझे जो उसने पहचान लिया है
यह बात मैं समझ गया, इस तरह कि वह मुझे लक्ष्य ही नहीं करती।
एक दिन देखता हूं नदी-किनारे बालू पर उनका पिकनिक चल रहा है।
जी में आया जाकर कहूं कि क्या मेरी ज़रूरत बिलकुल नहीं है।
मैं नदी से पानी ले आ सकता हूं—
जंगल से लकड़ी काट ले आ सकता हूं,

और फिर आस पास के जंगल में
क्या कोई भलामानस भालू भी नहीं मिलता !
देखा, दल में एक युवक भी है—
कमीज़ पहने है, बदन में विलायती रेशम का कोट है,
कमला को बग़ल में पैर फैला के बैठा हुआ है
और कमला अन्यमनस्क होकर श्वेत जवा फूल की पपड़ियां चिथड़ रही है ।
बग़ल में पड़ी हुई है विलायती मासिक पत्रिका ।
क्षण भर में ही समझ गया, इस संथालपरगने के निर्जन कोने में
मैं हूं असहनीय अतिरिक्त,—कहीं नहीं अँट सकूंगा ।
उसी समय लौट आता, पर एक काम बाकी रह गया था ।
और दो-एक दिनों में ही कैमेलिया खिलेगी,
उसे पठाकर तब छुट्टी लूंगा ।
सारा दिन कंधे पर बंदूक रखकर घूमा करता हूं
बन-बीहड़ में,
और शाम के पहले ही लौटकर गमले में पानी देता हूं ।
देखा करता हूं कली कहां तक आगे बढ़ी है ।
आज उसका समय हुआ है ।
जो मेरी रसोई के लिये लकड़ी ले आया करती है
उस संथाल-लड़की को बुलाया है ।
सोचा है, इसीके हाथों
शालपत्र के पात्र में रख कर भिजवा दूंगा ।
तंबू के भीतर बैठा बैठा एकजासूसी कहानी पढ़ रहा हूं ।
बाहर से मीठे सुर में आवाज़ आई, "काहे बुलाया है बाबू !"
निकलकर देखता हूं, कैमेलिया
संथाल-लड़की के कान में झूल रही है
और काले-काले गाल को आलोकित कर रही है ।
उसने फिर पूछा, "काहे बुलाया" ।
मैं बोला—"इसी वास्ते ।"
फिर कलकत्ते लौट आया ।

पुस्तक-परिचय

हिंदी-परिषद् के प्रकाशन—(१) तुलसीदास—ले० डा० माताप्रसाद गुप्त ; प्रकाशक, प्रयाग-विश्वविद्यालय-हिंदी-परिषद् ; मूल्य ६) ; छपाई और कागज़—अति उत्तम ।

प्रयाग-विश्वविद्यालय की हिंदी-परिषद् के स्थापित हुए मुश्किल से नौ महीने हुए होंगे, परन्तु इसी बीच इस संस्था ने तीन महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किए हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रधान आचार्य डा० धीरेन्द्र वर्मा इस प्रशंसनीय उद्योजना के लिये बधाई के पात्र हैं। परिषद् की योजना को सफल बनाने में प्रयाग-विश्वविद्यालय के कर्मठ और विद्या-व्यसनी वाइस-चांसलर पं० अमरनाथ झा का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस प्रकार उक्त विश्वविद्यालय का हिंदी विभाग एक ऐसे मौलिक और सुफलप्रसू कार्य का श्रीगणेश कर सका है जो आगे चलकर अन्य विश्वविद्यालयों के लिये अनुकरणीय होगा। जिन तीन पुस्तकों की चर्चा यहां हो रही है वे तीनों ही प्रयाग विश्वविद्यालय के स्नातकों-द्वारा 'डाक्टरेट' (आचार्यत्व) के लिये लिखे गए निबंध हैं। तीनों ही निबंध विश्वविद्यालय को सन्तुष्ट कर सके हैं और उनके लेखकों को यथाभिलषित पदवी दिलाने में सहायक हुए हैं।

आलोच्य पुस्तकों में सबसे प्रथम है डा० माताप्रसाद गुप्त की लिखित 'तुलसीदास'। मैंने अब तक तुलसीदास के विषय में जितनी पुस्तकें देखी हैं उनसे यह पुस्तक दो कारणों से विशेष है। प्रथम तो यह कि पुस्तक में शुरू से अन्त तक वैज्ञानिक दृष्टि प्रधान है। किसी प्रकार के भावावेश या पूर्वधारणा से परिचालित होकर लेखक लिख रहा हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। लेखक ने अब तक के उपलब्ध सभी प्रमाणों पर बड़े धैर्यपूर्वक ठंडे दिमाग से विचार किया है। अपने विरुद्ध जानेवाले प्रमाणों को भी उन्होंने उपेक्षा नहीं की। दूसरी बात जो इसमें विशेष है वह है लेखक की समग्र दृष्टि। उन्होंने अध्ययन आरंभ करने के पहले उसके आधारों की जांच कर ली है, जीवन-वृत्त की विस्तृत समीक्षा की है, कृतियों के पाठ और कालक्रम पर वैज्ञानिक भाव से विचार कर लिया है और तब जाकर तुलसीदास के शब्द-शिल्प और अर्थ-शिल्प की निपुणता पर विचार किया है। प्रस्तुत आलोचक की दृष्टि में तुलसीदास के अध्ययन का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू उनका आध्यात्मिक विचार है। यह सन्तोष की बात है कि इस पुस्तक के अन्तिम अध्याय में इस विषय पर भी विचार किया गया है। पुस्तक के अन्त में कई परिशिष्ट हैं जिनमें ज्योतिष-शास्त्र के नियमों से तुलसीदास की अपनी बताई हुई तिथियों की काल-गणना संगृहीत है। इस प्रकार यह सवा छः सौ पृष्ठों की पुस्तक समाप्त हुई है।

पुस्तक में इतनी अधिक बातों पर विचार किया गया है कि सबकी पृथक् पृथक् आलोचना दुःसंभव कार्य है। इतनी बड़ी पुस्तक में सर्वत्र लेखक के साथ एक-मत होना भी संभव नहीं है। कृतियों के पाठ और कालक्रमवाले अध्याय भविष्य में महत्त्वपूर्ण वाद के

विषय बन सकते हैं। लेखक स्वयं इस तथ्य से वाकिफ़ हैं। पर इस बात में कोई सन्देह नहीं कि अपना पक्षस्थापन करते समय वे काफ़ी सावधान और साफ़ हैं। तुलसीदास के जीवनवृत्त की आलोचना करते समय लेखक की यह प्रतिज्ञा जान पड़ती है कि अब तक छापे के अक्षरों में इस विषय पर जो कुछ भी छापा जा चुका है उन सबपर विचार किया ही जायगा। जहां यह बात लेखक के धैर्य अध्यवसाय और पक्षपात-राहित्य के कारण प्रशंसनीय हो गई है, वहां स्वयं बिचारे तुलसीदास के जीवन के लिये आशंका का कारण हो उठी है। यदि हर उचित-अनुचित दावों को इसी प्रकार वैज्ञानिक विवेचना का अधिकारी समझा जाता रहा तो भारतवर्ष के बहुतेरे गांव और वंश आगे चलकर तुलसीदास के जन्मदाता बनेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं। तुलसीदास को वंश-विशेष का रत्न मानने की प्रवृत्ति ने ऐसी बहुत सी ऊल-जलूल युक्तियों और तर्काभासों का जन्म दिया है जिनको शुरू में ही अस्वीकार कर देना चाहिए। यह नहीं समझना चाहिए कि 'तुलसीदास' के लेखक ने इन युक्तियों को मान लिया है। उन्होंने इनका प्रत्याख्यान ही किया है। हमारा वक्तव्य यहां यह है कि ये बातें उपेक्षा के योग्य ही हैं। इनका महत्त्व नहीं बढ़ाना चाहिए। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि तुलसीदास के जीवनवृत्त की जैसी समीक्षा डाक्टर माताप्रसाद ने की है वैसी शायद अब तक नहीं हुई।

तुलसीदास के हाथ की लिखी हुई कई प्रतियां यत्र-तत्र पाई गई हैं। इन प्रतियों के कारण पाठ-संग्रह में सहायता भी मिली है, झमेला भी बढ़ा है। डा० माताप्रसाद जी ने सात ऐसी पुस्तकों की लिपियों की महत्त्वपूर्ण आलोचना की है। इनकी आलोचना के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि सात प्रतियों में कोई दो ऐसी नहीं है जिनकी लिखावटें 'कसौटी पर ठीक ठीक एक-सी उतरती हो।' फिर भी, अधिक से अधिक दो ही प्रतियां ऐसी हैं जिनमें कुछ साम्य है और जो तुलसीदास के भिन्न भिन्न समय की लिखी हुई भी हो सकती हैं। ये दो प्रतियां हैं—राजापुरवाली और सरस्वती-भवन में रखी हुई बाल्मीकि-रामायणवाली। पुस्तक में कई चित्र देकर पाठकों को भी इस विषय में अपना मत स्थिर करने का मौक़ा दिया गया है।

पुस्तक में तुलसीदास की कला के संबंध में विस्तृत आलोचना है। हमें खेद है कि इस स्वल्पाकार आलोचना में हम उसकी चर्चा नहीं कर सकते। पर पुस्तक के अन्त में जो आध्यात्मिक विचार संकलित हैं उनके विषय में कहना आवश्यक है। भारतवर्ष के आध्यात्मिक और धार्मिक जीवन पर तुलसीदास का इतना अधिक प्रभाव है कि इस विषय पर बहुत पहले से बहुत-कुछ लिखे जाने की आवश्यकता थी। दो-एक ख्रीष्टीय धर्मयाजकों के सिवा इस विषय पर किसी ने विशेष कार्य नहीं किया, यह खेद का विषय है। इस पुस्तक के आध्यात्मिक विचारों-वाले अध्याय ने इस कमी की पूर्ति की है। परन्तु यह आरंभ ही है। लेखक ने जितना परिश्रम जीवनवृत्त आदि की आलोचना में किया है उतना इसमें नहीं किया। उन्होंने रामचरित-मानस और विनयपत्रिका में से कुछ आध्यात्मिक विचारों का संग्रह कर दिया है और इन दोनों से अधिगत सिद्धान्तों के साथ अध्यात्मरामायण के सिद्धान्तों की तुलना करने के बाद वे एक निष्कर्ष पर पहुंचने में कृतकार्य हुए हैं। उन्होंने शुरू में ही 'विश्वास' कर लिया है कि "जो कुछ उन्हें अध्यात्मरामायण में सिद्धान्त-रूप में मिला है उसीका उन्होंने (तुलसीदास ने) एक तर्कसंगत विकास किया है।" अध्यात्मिक आलोचना के अन्त में उन्होंने यह पाया है कि

दस सिद्धान्त ऐसे हैं जो अध्यात्मरामायण से विशेष हैं। तत्रापि पांच को किसी प्रकार अध्यात्म-रामायण के सिद्धान्तों का तर्कसंगत विकास माना जा सकता है, पर पांच तुलसीदास की अपनी विशेषता हैं—वे हैं (१) विष्णु का हीन ब्रह्मत्व, (२) लक्ष्मी का हीन शक्तित्व, (३) भक्ति का चरम-साध्यत्व, (४) ज्ञानादि की भवनाश के लिये असमर्थता और (५) हनुमद्भक्ति की आवश्यकता। वस्तुतः अगर शुरू में ही लेखक ने यह विश्वास नहीं बना लिया होता कि तुलसीदास के सभी आध्यात्मिक सिद्धान्त अध्यात्मरामायण के सिद्धान्तों के ही तर्कसंगत विकास हैं तो वे इस नतीजे पर न पहुंचते। उन्होंने इस प्रसंग में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की बात भुला दी है जो अनेक बातों में रामचरितमानस का उपजीव्य है। मेरा मतलब भागवत से है। अगर पांचवों को छोड़ दें तो चार बातें तो निःसन्दिग्ध रूप में भागवत में मिल जाएंगी और तुलसीदास के समसामयिक कृष्णभक्तिमूलक साहित्य में तो इनका भूरिशः उल्लेख मिलेगा। वस्तुतः तुलसीदास के राम भागवत के कृष्ण के ही प्रतिरूप हैं, अन्तर इतना ज़रूर है कि तुलसीदास में दास्य भक्ति का प्राधान्य है और भगवत में मधुर भक्ति का। आध्यात्मिक धारणाओं में दोनों समान हैं। वस्तुतः तुलसीदास के युग में भागवत का जितना प्रचार और मान था उतना किसी भी दूसरे धर्म-ग्रंथ का नहीं था अध्यात्म रामायण बहुत थोड़े दिन पहले उत्तर भारत में आया था। परम्परया प्रसिद्ध है कि स्वामी रामानंद उसे ले आए थे। निस्सन्देह तुलसीदास के आध्यात्मिक मतों पर इस ग्रंथ का बहुत प्रभाव है, पर भागवत के प्रभाव को भुलाया नहीं जा सकता। जहां तक हनुमद्भक्ति की बात है, वह निश्चय ही तुलसीदास को अपनी विशेषता है, परन्तु तुलसीदास उसके प्रतिष्ठाता नहीं हैं। इस प्रकार यद्यपि इस पुस्तक में आध्यात्मिक विचारों की आलोचना पूर्ण नहीं कही जा सकती परन्तु वह महत्त्वपूर्ण और नवीन तो है ही। इस आलोचना से आगे चलकर मार्ग-प्रदर्शन होगा।

हम इस गंभीर अध्ययन के लिये डाक्टर माताप्रसाद जी गुप्त को बधाई देते हैं और हिंदी-परिषद् को अभिनंदित करते हैं। [अपूर्ण]

ह० द्वि०

जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त—लेखक, श्रीलक्ष्मीनारायण सुधांशु, प्रकाशक—युगान्तर साहित्य मन्दिर भागलपुर सिटी, पृष्ठ-संख्या ३२७, मूल्य ३), कागज़ उत्तम, छपाई साफ़ और सुन्दर।

प्रस्तुत पुस्तक में सुधांशुजी ने काव्यानुबन्धी जीवन के मुख्य मुख्य तत्त्वों के विवेचन का प्रयत्न किया है। भाषा अपने विषय के अनुरूप सरल तथा वक्र होती गई है। वक्रता का एक और भी कारण है ग्रन्थ में विषम सामग्री का उपयोग। जहां एक ओर साहित्य शास्त्र के अनुसार जीवन का विश्लेषण हो रहा है तो दूसरी ओर वहीं आयुर्वेद शास्त्र का दृष्टिकोण दे दिया गया है फिर वहीं उपनिषदों और दर्शनों के मत का भी उल्लेख कर दिया है। इस प्रकार की विभिन्न सामग्री ने भाषा के रस को कुछ फीका तो कर दिया है पर जानकारी को बढ़ा दिया है।

समीक्षण में सर्वत्र गम्भीर भाषा का प्रयोग हुआ है। आलोच्य के प्रति लेखकके हृदय का सद्भाव पूर्णतया अनुस्यूत रहा है।

जीवन का प्रतिबिम्ब ही काव्य है पर "सरल जीवन में सरल भावों का समवाय दिखना काव्य का प्रधान उद्देश्य नहीं हो सकता। जिस काव्य में विपरीत भावों के वृत्ति-चक्र का वर्णन किया जाता है वही काव्य यथार्थ में सच्चा काव्य है। विपरीत भावों के वृत्तिचक्र का तात्पर्य भावों के उन मूलों से है जो एक दूसरे से केवल भिन्न ही नहीं, बल्कि ठीक अनुलोम-प्रतिलोम की तरह होते हैं। क्रोध के साथ शान्ति, घृणा के साथ श्रद्धा, ईर्ष्या के साथ भक्ति दिखलाना ही काव्य के विपरीत वृत्तिसमूह का समवाय है" (पृ० ७)। "जगत् में जो जीवन है काव्य में भी वही जीवन नहीं रहता, बल्कि उसका प्रभाव-मात्र रहता है। जिस जीवन में प्रभाव की जितनी क्षमता रहती है काव्य में उसे वैसा ही स्थान प्राप्त होता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति का 'फोटो' उसके आलोक और छाया के अतिरिक्त और कुछ नहीं, उसी प्रकार काव्य का जीवन भी उसकी सत्ता के प्रभाव के सिवा और कुछ नहीं" (पृ० २७)। मानवजीवन नये नये परिवर्तनों से बीतता हुआ भी पुराना ही रहता है। क्योंकि "मानव-हृदय वही चिरन्तन है। अनुभव ही नया भरा गया है।" (पृ० ४७) यहां वाक्य की भाषा कुछ असमर्थ होगई है। अनुभव के अतिरिक्त हृदय की स्वतन्त्र सत्ता है ही कहाँ ? नये अनुभव और चिरन्तन हृदय समन्वित नहीं हो सकते। अनुभव से हृदय तथा हृदय से अनुभव को जब तक अलग अलग नहीं मान लिया जाता तब तक नूतन और चिरन्तन की संगति नहीं बन सकती। लेखक का यह अभिप्राय नहीं है कि हृदय और अनुभव की एक दूसरे से भिन्न सत्ता है। इस वाक्य से लेखक का अभिप्रेत अर्थ यही है कि अनुभव के साधन नये नये होने पर भी हृदय का अनुभव वही रहता है। क्योंकि आगे चलकर उन्होंने कहा है—"अनुभव के क्षेत्र ही नये नये हैं हृदय हमारा वही है"। (पृ० ४७) उदाहरण से यह और भी स्पष्ट हो गया है—"भय हमारा वही है। अन्तर केवल इतना ही है कि चाहे पहाड़ की चोटी से गिरकर मरें या हवाई जहाज पर से।" (पृ० ४७) यह जीवन जब कवि के हृदयानुभव की वस्तु बनकर शब्दों में प्रकट होता तभी काव्य का उदय होता है। अतएव "कलाकार का आत्मभाव अपने काव्य में इतना संयुत है कि उसकी पृथक् सत्ता हो ही नहीं सकती" (पृ० ६२)। कवि अपने काव्य से इतना अविनाभूत होते हुए भी "कलाकार काव्यसृष्टि का केवल निमित्त कारण हुआ करता है, काव्य के मूल उपादान पर उसका कोई अधिकार नहीं।" कुम्भकार "घड़े के निर्माण का निमित्तकारणमात्र है। घड़े की मिट्टी, जो उसका मूल उपादान है, एक भिन्न सृष्टि की वस्तु है" (पृ० ४९)। लेखक का यह मत विचारणीय है, क्योंकि कविता में अनुस्यूत कवि के आत्मभाव का अस्तित्व घड़े के प्रति कुम्भकार के अस्तित्व के समान भिन्न नहीं है, प्रत्युत बीजाङ्कुरवत् या दुग्ध-दधिवत् अभिन्न है। जिस प्रकार अम्लादि-संयोग से दुग्ध को परिणति दधि है वैसे ही बाह्य घटना से उद्दीपित कवि का आत्मभाव ही कविता है। आदि कवि के 'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः' की कथा से ध्वनिकार ने इसी बात का समर्थन किया है। कवि के आत्मभाव को सत्ता कविता से पृथक् है, यह बात लेखक ने भी नहीं मानी है। कुम्भकार और घड़े के उदाहरण से अभिन्न सत्ता की संगति बिठाना सम्भव नहीं है।

साहित्य के प्राचीन आचार्यों के मत को भी लेखक ने कहीं कहीं छुआ है—"साहित्य शास्त्र के विधाताओं ने वाच्यार्थ से अधिक महत्त्व व्यङ्ग्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ को दिया है। पर यथार्थ रस तो वाच्यार्थ ही देता है" (पृ० ८२)। लेखक को भले ही वाच्यार्थ यथार्थ रस देता हो पर काव्य में जो रस कहलाता है वह वाच्य नहीं हुआ करता। दुःख की अभिव्यक्ति दुःख शब्द के वाच्यार्थ से नहीं होती, बल्कि कभी कभी तो दुःख की व्यंजना ऐसे पदों या वाक्यों से होती है जिनका वाच्यार्थ सुख या शान्ति हो। वस्तुतः अनुभावादि सामग्री के द्वारा भावों के प्रकट करने को ही व्यङ्ग्य कहा जाता है। फिर भी पता नहीं कि लेखक को व्यञ्जनावृत्ति से वाच्यवृत्ति कैसे अधिक रसव्यञ्जक जँच गई।

मनुष्य की रागात्मक वृत्ति से काव्य का विकास होता है। लेखक ने ग्राम्यगीत और कलागीत के अध्यायों में काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। रीतिकाल के कलागीत में परकीया के प्रति कवियों का झुकाव क्यों हुआ? "परकीया के प्रेम में कल्पनाओं को जो स्वच्छन्दता मिलती है वह स्वकीया में नहीं। 'जोगहू ते कठिन बियोग पर नारी को' [देव]। यही कारण हुआ कि बहुत लम्बे अर्से तक परकीया ही रसिक कवियों की दृष्टि में प्रधान लक्ष्य बिन्दु रही" (पृ० २१९)। "जिस वस्तु को प्राप्त करने में कुछ दिक्कतें उठानी पड़ती हैं उसका स्वाद कुछ अधिक प्रिय मालूम होता है। इसी प्रवृत्ति ने स्वकीया तथा गणिका, दोनों से अधिक परकीया की ओर ही कवियों का ध्यान आकृष्ट किया" (पृ० २२०)। परकीया की प्रतिष्ठा का यह विश्लेषण बहुत ही हृदयंगम हुआ है। हिन्दी-साहित्य में छायावाद और रहस्य-वाद के नाम से शब्दाडम्बरपूर्ण बढ़ते काव्य साहित्य को लक्ष्य कर लेखक ने बहुत सुन्दर लिखा है—"छायावाद या रहस्यवाद के नाम पर वाग्जाल फैलाकर पाठकों को व्यर्थ भ्रम में डालना, चाहे नैतिक दृष्टि से बुरा न भी समझा जाय, पर अपनी आत्मप्रवंचना के विचार से निःसन्देह पाप है।" "ऐसी कविताओं ने हृदय के ज्ञात पक्ष की तो उपेक्षा की ही, अज्ञेय के रहस्य में लिपटाकर बुद्धि को बड़ा परेशान किया" (पृ० २३९)। इन दोनों वादों की वस्तुसत्ता का लेखक विरोधी नहीं है, क्योंकि "उनसे काव्य का कल्याण ही सम्भव है, अहित नहीं" (पृ० २३८)। अन्तदर्शन के अध्याय में प्रमुख प्रवृत्तियों के कवियों को उसने अपने दृष्टि बिन्दु से समझाया है। तर्क से छानबीनकर अपने विचारों को प्रस्तुत करने में अलंकृत भाषा का भी उपयोग हुआ है। यद्यपि समीक्षात्मक ग्रन्थ की भाषा अधिक तर्कपूर्ण होनी चाहिए किन्तु फिर भी लेखक ने जो निष्कर्ष निकाला है उसे पाठक अवश्य ध्यान से देखेंगे। मैथिलीशरण "धर्मप्राण जातीय कवि हैं" (पृ० २५१)। "निराला की प्रतिभा बहुमुखी है (२८३ पृ०)। "पंत प्रकृति की रमणीयता पर मुग्ध होनेवाले सबसे अधिक भावुक कवि हैं" (२८४ पृ०)। "द्विज करुणा का वैभव बिखेरनेवाल मार्मिक कवि हैं" (२९१ पृ०)। "भारत की राष्ट्रात्मा के मर्म को स्पर्श करने की जैसी क्षमता दिन-कर में दिखाई पड़ रही हैं वैसी किसी दूसरे कवि में नहीं मालूम होती" (पृ० ३०८)। "महादेवी वर्मा में एक बहुत ही प्राञ्जल कवि-हृदय है" (३२० पृ०)। [उन्होंने] "वेदना को काव्य का मूलद्रव्य रक्खा है" (३१६ पृ०)। बच्चन में हालावाद की बीमारी भले हो पर उनकी रचना में "रमणीय अध्यात्मवाद झलकता है" (३२२ पृ०)। माखनलाल चतुर्वेदी में (पृ० २५९) "अनुभूति गहन" (२५९ पृ०) है पर "अभिव्यक्ति की कला नहीं" (पृ० २५९)।

"कविता में छन्द का बहुत बड़ा स्थान है। छन्द लय से अनुप्राणित रहता है। लय और छन्द के सारे तारतम्य पर विचार कर यदि उनका प्रयोग किया जाए तो उससे काव्य की आयु बढ़ती है (पृ० १७३)। हिन्दी काव्य में छन्द के उच्छेद की उन सभी पश्चिम से आई प्रवृत्तियों के तारतम्य पर लेखक ने अच्छा विवेचन किया है। लेखक का इस विषय में निष्कर्ष बहुत मँजा हुआ है। बिना अर्थ जाने भी राग से प्रसन्नता होती है। छन्द में राग का अनुबन्ध होता है। यदि यह अनुबन्ध मुक्तक छन्दों में हो तो "मुक्त छन्द से घबड़ाने की कोई बात नहीं, प्रत्युत् (?) हिन्दी कविता को एक नई और रमणीय भूमिका मिलेगी" (पृ० १६०)। जीवन के प्रवाह का मुख्य स्रोत क्या है? काव्यानुस्यूत जीवन का उसके साथ क्या सामञ्जस्य है? इन दोनों प्रश्नों को सरल करने का इस ग्रन्थ में सुन्दर प्रयास हुआ है। छः अध्यायों में अनेक प्रकरण और उपप्रकरणों के विभाजन-द्वारा इन दोनों प्रश्नों को सुलझाया गया है। शेष चार अध्यायों में छन्द और काव्य की प्रगतियों और प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में उठनेवाले प्रश्नों को नज़र-अन्दाज़ कर उनका विवेचन किया गया है। ग्रन्थ विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में पढ़ाए जाने की दृष्टि से लिखा गया है फिर भी सर्वसाधारण जो आधुनिक दृष्टि से काव्य-प्रवृत्तियों को परखना चाहते हैं, इससे बहुत-कुछ काम की सामग्री ले सकते हैं।

—शा० भि०

आकाशगंगा (बंगला), ले० श्रीनिर्मलचंद्र चट्टोपाध्याय ; प्रकाशक, भारतीभवन, ११, कालेज स्क्वेयर, कलकत्ता ; मूल्य १॥) और २) ; छपाई साफ़ और सुंदर।

'आकाशगंगा' कविता की पुस्तक है। इसके कवि श्रीनिर्मलचंद्र चट्टोपाध्याय स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ के शिष्यों में हैं। रवीन्द्रनाथ के साहित्य का अध्ययन और मनन करने का जैसा सुयोग और सौभाग्य निर्मलचंद्र को मिला है वैसा बहुत कम लोगों को मिला होगा। इसीलिये इन्हें रवीन्द्रनाथ की रसमयी प्रतिभा को समझने और स्वीकारने में अद्भुत सफलता मिली है, फिर भी निर्मलचंद्र वही नहीं हैं जो रवीन्द्रनाथ हैं। उनमें अपनी स्वतंत्र प्रतिभा है और आकाशगंगा में उस प्रतिभा का प्रथम उन्मेष हुआ है। भीड़भाड़ और रेलपेल के इस युग में जब कि कविता को भी दौड़ने की पोशाक पहननी पड़ी है, जब कि सुन्दर पदयोजना को दुर्बलता और कर्कश पद-संघट्टना को शक्तिशालिता माना जाता है, और जब कवि अपने ही बनाए हुए काव्य-मंदिर के सर्जन-भंजन में मौलिकता का आनंद पाया करता है, किसी ऐसी कविता का पढ़ना विस्मयकर घटना ही मालूम होती है जिसके विषय में रवीन्द्रनाथ-जैसे मनस्वी को यह कहना पड़ा हो कि "तुम्हारे काव्य-ग्रंथ को पढ़कर मैंने अप्रत्याशित आनन्द अनुभव किया। इसकी भाषा और इसके भाव मुझे अपने उस सत्ययुग की याद दिला देते हैं जिस में काव्य-भारती को व्यंग्य कर सकने की हिमाकत कहीं नहीं थी, और जिस युग में आनन्दभोग में कंकड़ मिला देने को वास्तवता का लक्षण नहीं माना जाता था।" सचमुच ही आज जब चारों ओर ऐसी कविताओं की भरमार है जिनमें मनोविज्ञान की शाखा-विशेष का या अर्थशास्त्रीय वाद-विशेष का लेबिल लगाकर कवि लोग आखाड़े में उतरा करते हैं, और जीवन को खंड-विच्छिन्न और नियति

का लाचार शिकार समझने और समझाने में रस लेते हैं, किसी कवि के मुख से यह सुनना अप्रत्याशित ही जान पड़ता है कि : "यह जीवन क्षुद्र हो सकता है तो भी अपने को तुच्छ कैसे कहूं और उसे ही मिथ्या कहकर कैसे उड़ा दूं ? इसीके नीचे तो फल्गु के समान प्राणों की धारा बहती है ; न-जाने कितनी अद्भुत वेदनाएं और विचित्र आनंद नाना छंदों में इसे ही घेरकर तो रहा करते हैं। मेरे जीवन के दिन काल की माला से खिसके हुए ताजे फूलों के समान एक एक करके झड़ जाते हैं ; पता नहीं वे कहां चले जाते हैं, तो भी मन में इस बात को सत्य मानता हूं कि जिसे प्राण के शोणित से और प्रेम से पूर्ण कर देता हूं, अपनी विपुल वेदना के रस से सींचकर जिसे स्वयं अर्पित कर देता हूं, उसके लिये चिर मृत्यु नहीं है ; वह दृष्टि के अतीत होकर महाकाल के वक्ष में नित्यभाव से विराज करता है। आज प्रातःकाल फागुन की फुलवारी में झड़ा हुआ जो फूल रास्ते की धूल के साथ मिल गया, वर्ष भर बाद उसीके रस से संजीवित होकर जीवन की वार्ता नया प्राण और नया अंकुर ले आती है। ऐसा न होता तो सुंदर की लीला व्यर्थ होती, धरित्री की अन्तःशीला रस-धारा सूख जाती और इस धरती को मरुभूमि हो जाना पड़ता।"

आकाशगंगा की सभी कविताओं में कवि का यह विश्वास प्रकट हुआ है। हास्य-रोदन का प्रत्येक चेष्टित, प्रेम और आनंद का प्रत्येक इंगित नित्य और सत्य है ; जीवन की भागदौड़ हो या शिथिल थकान, कर्म का कोलाहल हो या अवसाद की उदासी, सर्वत्र सबको 'प्राण की देवी अपनी आलोक-शिखा से' आलोकित कर रही है। 'शेषेर आरति', 'चैत्रश्री', 'भाषाहारा' आदि कविताओं में नाना विचित्र भंगी में कवि ने अपने इस विश्वास को भाषा दी है। छन्दोगठन और भाषा के प्रवाह ने रसानुभूति को गाढ़ बनाया है और ललित पदविन्यास ने सहज साध्य। इस संग्रह की 'भाड़ाटिया गाड़ि' या भाड़े की गाड़ी कविता एक उत्तम रचना है। कवि ने इसमें ऐसे विषय को लिया है जिसे 'आधुनिक' समझा जाता है, परन्तु न तो छन्द की उपेक्षा की गई है न भाषा को संवारने में कंजूसी दिखाई गई है। और 'घड़घड़ाती हुई गाड़ी को लेकर भागते हुए लंगड़े घोड़े की टग-बग तालवाली चाल में, झांय झांय करती हुई धूप में, लड़खड़ाती हड्डियों में ढाल दी हुई दिन की रुक्षता में, उसके क्षुधा-जर्जरित हिंस्र-चकित रूप में भी 'प्राणकणा का संधान' उसे मिलता है। कवि की वेदना यहां साकार हो उठी है। इस प्रकार कवि ने अति आधुनिक विषय को भी अपने रंग में रंगा है। कवि का यह प्रथम प्रयास है फिर भी इसकी भाषा, भाव, शैली और छन्दोयोजना मंजी हुई है और भविष्य में और भी श्रेष्ठ वस्तु के पाने की आशा दिलाती है।

—ह० द्वि०

मूर्खशास्त्र (संस्कृत और हिंदी) ; संपादक और प्रकाशक, पं० दुर्गादत्त जोशी ; १८६, चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता ; मूल्य ।⁄) ; इस शास्त्र का सर्वाधिकार संपादक ने सुरक्षित रखा है।

थोड़े ही पाठकों को ज्ञात होगा कि मूर्खशास्त्र नामक शास्त्र भी बन चुका है। संस्कृत में 'मूर्ख-शतक' नामक एक छोटी सी पुस्तक है, जोशीजी ने उसीको सरल और सरस हिंदी में भाषान्तरित किया है। संपादक को यह दुराशा तो नहीं है कि वे दुनिया में इस शास्त्र का

प्रचार करके मूर्खों की संख्या घटा देंगे, परन्तु मूर्खता की मात्रा घटाने में यह पुस्तक कुछ काम दे जायगी, ऐसी आशा उन्हें ज़रूर है। पुस्तक मनोरंजक है, प्रत्येक पाठक सौ प्रकार के मूर्खों में एक-न-एक के साथ एकात्मता का अनुभव करेगा ही, यदि अनेक के साथ करे तो भी अचरज की कोई बात नहीं होगी। जोशीजी ने इस शास्त्र को प्रकाशित करके बुद्धिमानों को यह अवसर दिया है कि वे अपनी मूर्खता से अनभिज्ञ न बने रहें, इसलिये बुद्धिमानों को ही उनका कृतज्ञ होना चाहिए, मूर्ख तो उनका उपकार मानने से रहे।

—व्यो० शा०

संत-समागम—प्रकाशक : रायबहादुर मदनमोहन वर्मा, एम० ए०, सेक्रेटरी, बोर्ड आफ़ हाईस्कूल एण्ड इन्टरमीडियेट एज्यूकेशन, अजमेर (राजपूताना) ; पृष्ठ-संख्या २५७, मूल्य १)

यह पुस्तक एक संत महात्मा के उपदेशों का संग्रह है। स्वामीजी से आग्रह करने पर भी उन्होंने शरीर-भाव से रचा हुआ नाम इत्यादि छापने की स्वीकृति नहीं दी थी। पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ने से सत्य की परिभाषा साफ़ यही मालूम होती है कि "सत्य अनन्त है, पुस्तक आदि में सीमित नहीं है। सत्य अपना परिचय देने में स्वयं स्वतंत्र है।" पुस्तक दो खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में स्वामीजी के लखनऊ में कहे हुए, और द्वितीय खंड में अजमेर में कहे गए उपदेशों का संग्रह है। इसके अतिरिक्त स्वामीजी के कुछ पत्रों का भी, जो उन्होंने अपने शिष्यों और भक्तों को लिखे थे, संग्रह है। प्रकाशक महोदय ने इस पुस्तक का प्रकाशन करके धार्मिक और दार्शनिक विषयों के जिज्ञासुओं के लिये अच्छी सामग्री प्रस्तुत की है। सुन्दर छपाई होते हुए भी, आजकल की महँगी के ज़माने में जब कि काग़ज का मूल्य बेहिसाब बढ़ गया है, पुस्तक का दाम केवल एक ही रुपया रक्खा गया है। इसके लिये प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं। जिज्ञासु पाठकों को इससे लाभ उठाना चाहिए।

भारतीय वैज्ञानिक—लेखक : श्रीश्यामनारायण कपूर, साहित्य-निकेतन, कानपुर। पृष्ठ-संख्या ३६४, मूल्य ३)

विज्ञान ने अधुनिक संसार को किस रूप में परिवर्तित कर दिया है, यह किसी से छिपा नहीं है। लेखक ने इस पुस्तक में यह दिखाया है कि यद्यपि भारत के हाथ-पैर परतंत्रता की बेड़ी में जकड़े हैं तो भी इसने ऐसे ऐसे वैज्ञानिकों को जन्म दिया है कि जिनकी वैज्ञानिक खोजों ने संसार को नया आलोक दिया है। पुस्तक में डा० महेन्द्रलाल सरकार, श्रीनिवास रामानुजन्, डा० गणेश प्रसाद, डा० सर जगदीशचन्द्र वसु प्रभृति बारह महान् भारतीय वैज्ञानिकों का जीवन-चरित्र और उनकी खोजों का उल्लेख है। पुस्तक के दो खंड हैं। प्रथम खंड में पांच स्वर्गीय वैज्ञानिकों के और द्वितीय में सात जीवित वैज्ञानिकों के जीवनचरित हैं। विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक बहुत उपादेय है। भारतभूमि में पैदा हुए और यहीं के जलवायु से वर्धित इन वैज्ञानिकों की जीवनी पढ़कर कोई भी व्यक्ति बिना प्रभावित हुए नहीं रहेगा।

—कुबेरनाथ द्विवेदी

एक उपयोगी पुस्तक*

मोहनलाल वाजपेयी

कहा जाता है, आधुनिक मनोविज्ञान ने अपनी उन्नति प्रायः रातोंरात की है। इस कथन में बहुत-कुछ सचाई होने पर भी हम यह भूल जाते हैं कि जो मतवाद आज पुराना पड़ गया है वह भी किसी समय एकबारगी ताज़ा—यहां तक कि क्रांतिकारी—था, और जिसके संबंध में बहुत ज़ोर-शोर से अभूतपूर्वता का दावा किया जा रहा है वह अपने मूल रूप में पुराने ज़माने में सर्वथा अनुपस्थित भी नहीं था। वास्तव में मनोविज्ञान की प्रगति का इतिहास अनुसरण करने के पूर्व इस शास्त्र के आधारभूत तथ्यों की एक सुव्यवस्थित जानकारी नितांत आवश्यक है, कारण, विकास की राह में सिद्धान्तों और मतवादों की ऐसी भीड़ लगी हुई है जिसके नीचे ये सामान्य मूलभूत तथ्य जाने कहां खो गए हैं। साधारण पाठक के लिये बुद्धिभेद का ही सरंजाम अधिक है, सफ़ाई का नहीं। विषय के पारिभाषिक जंजाल से मुक्त, साफ़, और सारगर्भित भाषा में लिखी हुई पुस्तकें मुश्किल से मिलती हैं। प्रस्तुत पुस्तक ऐसी ही दुर्लभ पुस्तकों की श्रेणी की है। इसकी आलोचनाएं सर्वथा निष्पक्ष और ताज़ी हैं तथा मनस्तत्व की विशेष-विशेष शाखाओं के भीतर गहराई से प्रवेश करने की प्रेरणा भी देती हैं और योग्यता भी। लेखक ने सिद्धान्तों के परिचय के साथ उनके विकास की कहानी भी बहुत मनोरंजक रूप में सामने रखी है जिससे शास्त्र की समसामयिक अवस्था का साधारण ज्ञान अनायास ही हो जाता है।

पिछले खेवे के मनोवैज्ञानिक चित्त के रहस्यमय व्यापारों का समुचित समाधान करने जाकर कितनी ही 'शक्तियों' की कल्पना किया करते थे जिनका स्थूल-जगत् के साथ कोई युक्ति-संगत संपर्क नहीं होता था। लगता था, संवेदन, कल्पना, स्मृति, चिंता, कामना, संकल्प आदि मानों भिन्न भिन्न प्रकार की मानसिक प्रक्रियाएं हैं जो भौतिक जगत् के व्यापारों से अछूती, किसी कल्पित जगत् की वस्तु हैं। मन की संश्लिष्ट सत्ता इससे आहत होती थी; वह टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाती थी जिससे जटिलता घटने के बजाय बढ़ती ही जाती थी। आधुनिक मनोविज्ञान ने इन 'शक्तियों' की संख्या खूब कम करके चित्त की समग्रता को सामने रखा। प्रस्तुत पुस्तक में विषय का निरूपण इसी नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार किया गया है। नई-पुरानी कोई जानकारी लेखक की नज़र से ओझल नहीं हुई है लेकिन विषय के क्रम में मौलिकता है और सूक्ष्म चिंता का एक सूत्र शुरू से आखिर तक अटूट चलता गया है।

वर्तमान समय में जिन दो शास्त्रों ने मनस्तत्व को सबसे अधिक प्रभावान्वित किया है वे हैं जीवविज्ञान और मनोरोग-चिकित्सा। जीवविज्ञान के अंतर्गत विकासवाद ने ऐसी

---

* ए० बी० सी० आफ़ सायकालजी (अंग्रेज़ी): लेखक—सी० के० आग्डन; प्रकाशक—केगन पाल एंड् कम्पनी लिमिटेड्, ब्राडवे हाउस, ६८।७४, कार्टर लेन, लन्दन, ई० सी०, सन् १९४१; पृ० सं० २७२; मूल्य—४ शि० ६ पे०।

अनोखी समस्याएं सामने रखीं जिनके बारे में इतःपूर्व मनोविदों ने कभी सोचा भी नहीं था। प्रधानतया विकास ('डिवेलपमेंट') और वैचित्र्य ('वैरियेशन') के विषय में नाना मनोरंजक प्रश्न उठ खड़े हुए। दूसरी तरफ़ मानसिक व्याधियों के चिकित्सक तरह-तरह की चित्तविकृति के दृष्टांत सामने रख रहे थे। इनमें कुछ तो मनोवैज्ञानिक थे, कुछ मस्तिष्क-वादी ('सोमैटिक')। इसके सिवा मनोविज्ञान अब भी दार्शनिकों के ही चिंताक्षेत्र में पड़ता था। उन्नीसवीं शताब्दी के मनोविद् मनोविज्ञान को कहते तो थे 'चैतन्य'-शास्त्र, किंतु व्यवहार में वे 'अनुभव' का ही अध्ययन कर रहे थे। सिद्धांत के ख्याल से वे विचारों की आनुषंगिकता के क़ायल थे किंतु फिर भी संपूर्णतया नहीं। उनका झुकाव 'शारीर-मनस्तत्त्व' की ओर था और नई खोजों तथा प्रयोगों को लेकर उनके गर्व की कोई सीमा नहीं थी। बीसवीं सदी के मनोवैज्ञानिकों ने इस अवस्था के प्रति विद्रोह किया। यह विद्रोह भी एक मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया ही समझी जानी चाहिए, कारण पिछले खेवे के मनस्तत्त्व में कुछ भी ऐसा नहीं था जिसका इस तरह लाठी तानकर पीछा किया जाता। किंतु आधुनिक मनोविद् प्रायः सभी नई रोशनी के तरुण थे और इसीलिये पुराने शास्त्र की छोटी-मोटी भ्रांति को भी वे बिना धूमधाम किए ग़लत नहीं सिद्ध कर पा रहे थे। सबसे पहले मनोविज्ञान की परिभाषा बदली गई ; व्यवहारवादी तथा चित्तविश्लेषक दोनों ने उसे 'चैतन्य'-शास्त्र के रूप में स्वीकार नहीं किया। एकने 'अंतर्दर्शन' की उपयोगिता में संदेह किया तो दूसरेने 'चेतन' को 'अवचेतन' बल्कि 'निश्चेतन' की छाया अथवा परिणाम-मात्र माना। समसामयिक मनोविज्ञान की यही दो धाराएं सबसे प्रमुख मानी जाती हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में ऊपर उल्लेख किए हुए विकास की चर्चा नहीं की गई है, किंतु पढ़ते-पढ़ते पाठक इसका परिचय पाता है। प्रत्यक्षतया लेखक का उद्देश्य केवल सिद्धान्तों का निरूपण करना ही है। इसीसे शुरू में ही उसने मन और मस्तिष्क का एक सामान्य परिचय देकर चित्त-देह संबंधी प्रचलित मतवादों का तुलनात्मक विवरण दिया है। पशुओं के साथ मनुष्य का सबसे नज़दीकी रिश्ता है और मनुष्य अपनी लंबी शैशवावस्था में विकास की सारी सीढ़ियां पार करते हुए पशु से आदमी बनता है, इसीसे चेतना के उदय का इतिहास वहीं से शुरू किया गया है। इस विकास में भाषा का कहां तक हाथ रहा है यह एक दिलचस्प प्रकरण है। इसके बाद व्यवहारवादी दृष्टिकोण का संक्षिप्त परिचय और 'प्रवृत्ति' के परिहार का मत सामने रखा गया है। 'अंतर्दर्शन' की अवैज्ञानिकता प्रमाणित करना इस संप्रदाय की विशेषता है। किंतु 'चैतन्य' को निरर्थक प्रमाणित करने का आग्रह स्वयं भी एक निरर्थक चेष्टा है ; बहुत खींचातानी करने पर अधिक से अधिक शब्दों की लड़ाई ही छिड़ जाती है, लेखक ने इसी मत को सप्रमाण प्रतिपादित किया है।

पुस्तक के अंतिम अध्यायों में चित्त-विकृति, चित्त-विश्लेषण तथा हमारे व्यक्तित्व के साथ उनके निगूढ़ संबंध की आलोचना की गई है। पाठक जानते ही होंगे कि इस शाखा के प्रवर्तक शास्त्रसम्मत मनोविज्ञान के साधक नहीं थे, चिकित्सक थे। मनुष्य के 'व्यवहार' को लेकर ही इनका कारबार था किंतु व्यवहारवादियों से इनका संपूर्ण विरोध है। निश्चेतन स्तर को ही प्रधान मानने के कारण इन्होंने आद्यंत एकेडेमिक मनोविज्ञान की उपेक्षा की है। लेखक ने विषय के प्रकृत स्वरूप को सामने रखा है। इस शास्त्र के कुछ पारिभाषिक शब्द हमारे बीच आज खूब

प्रचलित हैं; हम लोग प्रायः 'ग्रंथि', 'दमन', 'परिवर्तन' या 'उद्गति' आदि शब्दों के सहारे चिंता करने लगे हैं; यौन वृत्तियों को ही अपनी सत्ता का मूल मानने के कारण चित्तविश्लेषण के सिद्धांत साहित्य और शिल्प पर भी आक्रमण करने लगे हैं। इस शाखा ने हमें सबसे अधिक गहरा धक्का दिया है, इसीसे हमारी जिज्ञासा पर भी पूरा-पूरा क़ब्ज़ा कर लिया है। हम भूल ही गए हैं कि इस शास्त्र की धारणाएं विकृत चित्त पर भले ही घटित होती हों, सामान्य मनुष्य की सहज स्वाभाविक चित्तवृत्ति के विषय में सच्ची नहीं भी उतर सकतीं। फिर हम जिसे अवचेतन या निश्चेतन कहते हैं उसके और भी गहरे स्तर होने संभव हैं जिनका संबंध मनुष्य की यौनवृत्ति से न होकर चेतना को ऊर्ध्वतर वृत्तियों से भी हो सकता है। जो हमारे मन के निकट निश्चेतन है वह शायद अन्य सूक्ष्म बोधशक्तियों के जाग्रत होने पर चेतन-जैसा ही साबित हो, और फिर उसकी अपेक्षा कहीं और भी गहरी चेतना के स्रोत आविष्कार हो सकें। जिस समाधान का निरूपण फ्रायड, एडलर अथवा जुंग प्रस्तुत करते हैं वह जब तक संपूर्णभाव से मनुष्य के अंतर्जगत् की समूची सत्ता को उद्घाटित नहीं कर लेता, तब तक सुझाए हुए उपाय पैबंद लगाने के समान हैं। किंतु पैबंदों की भी एक उपयोगिता तो है ही, इसे कोई इंकार नहीं कर सकता।

लेखक ने सभी मतवादों का निरूपण उन-उन मतवादों की दृष्टि से ही किया है किंतु सब समय अपनी सूक्ष्म आलोचक की दृष्टि को भी अनाविल रक्खा है। इसीलिये सारी पुस्तक खूब आलोचनात्मक हुई है।

लेखक में सांप्रदायिक पक्षपात नहीं है। हमारे बहुतेरे झगड़े भाषागत होते हैं, लेखक इस मामले में खूब सतर्क और शब्दचेतन है। मनोविज्ञान में बुद्धिमापक 'टैस्ट' इत्यादि-जैसे बहुत-से फेटिश और फैशन चल निकले हैं; लेखक पुस्तक में इन तथाकथित वैज्ञानिक फैशनों से जगह-जगह सावधान करता गया है। अपना आशय भली भांति समझाए बिना उसने किसी परिभाषिक शब्द का प्रयोग नहीं किया। पुस्तक के अंत में पठनीय ग्रंथों की एक बहुत उपयोगी सूची दी गई है। किताब साधारण पाठक के लिये लिखी होने पर भी उसकी वैज्ञानिकता असंदिग्ध है। अतएव यदि विषय के जानकार भी इसे पढ़ें तो उनके पांडित्यजन्य एकांगी मतों में एक संतुलन आ जाएगा।

व्यवहारवाद और चित्तविश्लेषण के साथ साथ 'गैस्टाल्ट' और 'हार्मिक' मनोविज्ञान का उल्लेख भी यदि कुछ विस्तार से होता तो अच्छा होता। अनुसंधित्सु पाठक जानते होंगे कि भविष्य में इन दो अख्यात शाखाओं से शायद बहुत-सी उलझनों को सुलझाने का मसाला प्राप्त हो सकेगा। इसी तरह वर्तमान समय में साहित्य और शिल्प पर किस तरह अत्याधुनिक मनोविज्ञान का हमला हुआ है इस विषय में एक संक्षिप्त अध्याय जोड़ देने से पुस्तक का विवेचन मानों संपूर्ण हो जाता। फिर भी इतने थोड़े पृष्ठों की परिसीमा में इतने व्यापक विषय को बांध सकना ही अपने आप में एक कृतित्व है और इसके लिये लेखक पाठकों की बधाई का पात्र है।

अपनी बात

हमारी उलझनों में भी एक सत्य है

'विश्वभारती पत्रिका' का जन्म बड़े संकट-काल में हुआ था। पत्रिका का प्रथम अंक जिस महीने प्रेस में दिया गया उस महीने में संसार का जो हिस्सा तब तक युद्ध की दावाग्नि से बचा हुआ था वह भी धधक उठा। तब से पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सर्वत्र यह प्रलयंकर दावाग्नि बमकती ही गई। गत वर्ष हम केवल दर्शक ही नहीं रहे, भोक्ता भी हो गए। संसार घटनाओं का विक्षुब्ध समुद्र बन गया और उसकी अशान्त लहरें हमारे देश को बारंबार आघात करती रहीं। जो लोग क्रान्तदर्शी हैं उनकी बात तो हम नहीं कह सकते, पर औसत देशवासी की मनोवृत्ति पिछले वर्ष नाना भांति की आशाओं और आशंकाओं का शिकार बनी रही। कभी ऐसा लगता रहा कि व्यक्तियों की मर्जी पर करोड़ों के भाग्य का वारा-न्यारा होने जा रहा है, और कभी ऐसा भासता रहा कि घटनाएं किसी अदृश्य शक्ति का ज़बर्दस्त इंगित हैं, महान् से महान् व्यक्तित्व उस इंगित के सामने लाचार है। कहते हैं, जनता की स्मरण शक्ति बहुत कमज़ोर होती है, और इसीलिये जो लोग मानव जाति के इतिहास को बनाने-बिगाड़ने का खेल खेला करते हैं वे रंग बदलने में सफल होते रहते हैं। परन्तु हमारा अनुमान है कि जनता अगर सारी बातें याद रखती तो उसका व्यवहार चलाना ही मुश्किल हो जाता। पिछले वर्ष ने हमारे अनुमान की पुष्टि की है। यदि औसत आदमी यह याद रख सकता कि कितनी भविष्य-वाणियां ग़लत साबित हुई हैं, कितनी अप्रत्याशित बातें घटती गई हैं और कितनी दर्पोक्तियां विशुद्ध दम्भ साबित हुई हैं, तो उसकी उलझन बढ़ ही गई होती। आशा, आशंका, उद्वेग और विक्षोभों के उतार-चढ़ाव का वार्षिक हिसाब हमें हतबुद्धि बना देता है। उनके अनुभवों के बल पर हम अधिक चतुर हो गए हों ऐसा नहीं जान पड़ता क्योंकि भविष्य के विषय में हमारे मतभेद बढ़े ही हैं, घटे एकदम नहीं। किन्तु समस्त उलझनों विरोधों और विरोधाभासों को छापकर यह सत्य ही प्रकट हुआ जान पड़ता है कि इतिहास-विधाता कुछ बनाना चाहते हैं, व्यक्तियों, जातियों और राष्ट्रों के मत उस अज्ञात योजना के सामने अत्यन्त तुच्छ हैं।

हम निरुपाय नहीं हैं

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम नियति के लाचार शिकार हैं। विश्वभारती-पत्रिका के मंत्र-गुरु स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह विश्वास रहा है कि हमें कैसी भी विषम परिस्थिति के भीतर से चलना क्यों न पड़ रहा हो, इतिहास-विधाता की वह अज्ञात योजना मंगलमय अवश्य है। पत्रिका ने भी इस विश्वास को विरासत के तौर पर पाया है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि जब मनुष्य अपनी मंगल-विधायिनी शक्ति का ग़लत प्रयोग करने लगता है तभी वह मृत्यु का वरण करता है, क्योंकि वह इतिहास-विधाता की योजना के विरुद्ध जाता है। अत्यन्त हीन और

अधःपतित अवस्था में भी वह निरुपाय नहीं होता। हम भारतीय भी निरुपाय नहीं हैं। स्वर्गीय कवि की यह उक्ति स्मरणीय है :

"एक अवसाद ने हमारी शक्ति को भुला दिया है। एक ऐसा समय गया है जब हमने अनेक कर्म किए हैं, अनेक कीर्तियां स्थापित की हैं, यह बात इतिहास जानता है। इसके बाद न जाने कब भारतवासी के चित में अन्धकार घना हो आया और उसने देह और मन में एक अचेतनता ला दी, हम भूल गए कि हमारे अन्तर में जो मनुष्यत्व का गौरव निहित है, उसकी रक्षा के लिये हमें प्राणों की बाज़ी लगा देनी होगी। इसीको मोह कहते हैं। इसी मोह से हमने अपने मरने के रास्ते को बाधामुक्त किया है। इसके बाद हम उन्हींके हाथों मार खा रहे हैं जिनमें आत्मंभरिता की मात्रा प्रबल है। आज मैं यह कहने आया हूं कि अब अधिक देर तक अपने-आपको अवमानित करके रखने से काम नहीं चलेगा, अब अपना दायित्व स्वयं ग्रहण करना होगा। हमने एक दिन यह दायित्व लिया था, उस दिन हमारे जलाशयों में पानी था, खेतों में अन्न था, मन में पुरुषकार था। आज सब दूर हो गए हैं। एक बार फिर अपने को अपने देश में लौटा लाना होगा। यह झूठ है कि अब कोई उपाय नहीं है। ऐसी मिथ्या हम न बोलें। बाहर से देखने से तो यही दिखता है कि हम कुछ मात्रा में ज़रूर ज़िंदा हैं। थोड़ी भी आग अगर राख से ढंकी हुई बच रही हो तो उसे सुलगाया जा सकता है। इस बात को यदि हम सचेष्ट होकर स्वीकार न करें तो मैं कहूंगा, यही मोह है—मोह, अर्थात् जो नहीं है, उसे ही मान बैठना। मैंने एक घटना सुनी है—बहुत से मनुष्य मारे डर के घुटने भर पानी में ही डूब मरे थे। उन्होंने घबराकर यह मान लिया था कि पैरों के नीचे मिट्टी नहीं है। हम भी उसी तरह हो रहे हैं। झूठमूठ के डर को दूर करना होगा, चाहे जिस उपाय से हो हमें अपने मन में यह विश्वास दृढ़ करना होगा कि पैरों के नीचे ज़मीन है,—यही हमारा व्रत है।......जो प्राणों की धारा अपने पुराने खात को छोड़कर अलग हट गई है, उसकी सारी बाधाएं दूर करके उसे लौटा लाना होगा। हमें अक्लान्त भाव से इस प्रकार के प्रयत्न करते रहने होंगे जिनसे ऐक्य स्थापित हो। हमारे घर-घर में कितना विरोध है! इस विच्छिन्नता के प्रत्येक रंध्र से हमने अपने ऐश्वर्य को धूलि-स्खलित किया है, अपना सर्वस्व लगाकर भी इन सत्यानाशी छिद्रों को बंद करना होगा"।

ग़लती कहां है ?

दिसंबर की छुट्टियां हमारे देश में हमारी जागृति का साडंबर प्रदर्शन करती हैं। स्थान स्थान पर राजनीति, समाजनीति, विज्ञान, धर्म, साहित्य आदि विविध क्षेत्रों के कर्मकर्ता और कर्णधार एकत्र होते हैं और घटाटोप के साथ अपना 'वार्षिक उत्सव' सम्पन्न करते हैं। इन छुट्टियों के एकाध सप्ताह इधर उधर विश्वविद्यालयों में पदवीदान का समारोह होता है और समाज के विशिष्ट व्यक्ति शिक्षा और संस्कृति पर 'सारगर्भित' भाषण दे जाया करते हैं पर सब मिलाकर इन महोत्सवों का कोई भारी सुफल फलता नहीं दिखाई देता। हमारा साहित्य घोर घटाटोप और महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों के बावजूद भी जहां का तहां पड़ा रह जाता है। प्रदर्शन की तुलना

में प्रगमन कम होता है। कहीं न कहीं कोई बड़ी भारी गलती रह गई होगी जिसके कारण यह सब प्रयत्न इतने अल्प-फलप्रद दिखाई देते हैं। वस्तुतः इसका कारण हमारी शिक्षा का विदेशी माध्यम से प्रचारित होना ही है। गुरुदेव ने एक बार कहा था कि "हमारे देश में आधुनिक शिक्षाविधि नाम से जिस वस्तु का उदय हुआ है उसीके नाम पर स्कूल और कालेज कुकुरमुत्ते की तरह जहाँ-तहाँ सिर उठाए दिख रहे हैं। उसके चारों और विदेशी भाषा की मोटी मज़बूत चहारदीवारी है। हम मातृभाषा के द्वारा शिक्षा-प्रचार के विषय में जब विचार करते हैं तो उस विचार में साहस बहुत कम पाते हैं। अन्तःपुरिका वधू की भांति वह भयभीत मालूम होती है। आंगन तक ही उसकी गति है उसके बाहर जाते ही उसका घूंघट ठोड़ी तक सरक आता है, मातृभाषा का इलाका प्राथमिक शिक्षा के भीतर ही है, वह केवल बालकों की शिक्षा के योग्य है—अर्थात् उस विराट् जनसंघ को विद्या के अधिकार के विषय में बच्चों के साथ स्थान दे दिया गया है जिसे मातृभाषा के सिवा अन्य कोई भाषा सीखने की सुविधा है ही नहीं। वे किसी भी तरह पूर्ण मनुष्य नहीं बन सकते फिर भी हम आंख मींचकर स्वराज के संबंध में यह कल्पना करते हैं कि उन्हें पूर्ण मनुष्य का अधिकार मिलेगा। ज्ञान-लाभ के बंटवारे को लेकर देश के अधिकांश जनसमूह के लिये इतने बड़े उपास की व्यवस्था और किसी भी नव-जाग्रत देश में नहीं है। मातृभाषा मानों एक अपराध है—ईसाई धर्मशास्त्र में जिसे आदिम पाप कहाजाता है। देशवासियों के लिये मातृभाषा में दी हुई शिक्षा के भीतर से सर्वांग पूर्णता पा सकने को हमने कल्पना के बाहर रख छोड़ा है।" और इसीका परिणाम है यह देशव्यापी व्यर्थता कवि के शब्दों में कहें तो 'कहने का मतलब यह है कि देश के जिस अति क्षुद्र अंश में विद्याबुद्धि और धनमान केंद्रीभूत हैं उन फी-सदी पांच आदमियों के साथ पचानवे आदमियों का व्यवधान महासमुद्र से भी बढ़कर है। हम सब एक ही देश में रहते हैं, फिर भी हमारा देश एक नहीं है।'

परिणाम क्या है ?

"आज हमारे देश के डिग्रीधारी लोग जब देहातों के विषय में कुछ विचार भी करते हैं तो उसके लिये कोई बहुत हल्के वज़न की कोई चीज़ देना ही काफी देना मान लेते हैं। जब तक हमारा यह मनोभाव रहेगा तब तक गांव के लोग हमारे लिये विदेशी ही बने रहेंगे, यहां तक कि उनसे भी ज्यादा पराए हो जाएंगे। इसका कारण यह है कि हमें स्कूल कालेजों से जितनी विद्या मिलती है वह विद्या यूरोपीय है। उस विद्या की सहायता से यूरोपीयों को समझना और यूरोपीयों के सामने अपने को समझाना हमारे लिये सहज हो गया है। इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी की मनोवृत्ति हमारे लिये सहज और प्रकट-सी है, उनके काव्य नाटक उपन्यास जो कुछ हम पढ़ते हैं वे हमारे लिये पहेली-से नहीं मालूम पड़ते ; यहाँ तक कि जो कामना और तपस्या उनकी है लगभग वही कामना और तपस्या हमारी भी होती जा रही है। परन्तु जो लोग सीतला माई, हैजा माई, मनसादेवी, काली-भवानी, राहु-शनि, भूत-पिशाच, पोथी-पत्रा और पंडा-पुरोहितों की छाया में पले हैं उनसे हम बहुत ज्यादा ऊपर चढ़ गए हों सो बात नहीं है,

किन्तु उनसे दूर ज़रूर हट गए हैं—इतनी दूर कि एक दूसरे की आवाज़ नहीं सुन पाते। उनका ठीक ठीक परिचय पाने योग्य कौतूहल भी हम में नहीं है।"

देश में पैदा होने से ही देश अपना नहीं हो जाता

"हम असल में परदेशी हैं। देश में पैदा होने से ही देश अपना नहीं हो जाता। जब तक हम देश को नहीं जानते, जब तक उसे अपनी शक्ति से अपना नहीं बना लेते तब तक वह अपना नहीं होता। हमने इस देश को स्वयं नहीं अपनाया। देश में बहुत-से जड़ पदार्थ हैं, हम उन्हीं के पड़ोसी हैं। देश जिस प्रकार इन जड़ वस्तुओं का नहीं है, उसी प्रकार हमारा भी नहीं है। इसी जड़त्व को मोह कहते हैं। जो मोह से अभिभूत है वही तो चिरकाल का परदेशी है। वह नहीं जानता कि वह कहां है। वही नहीं समझता कि उसका सच्चा संबंध किसके साथ है। बाहर की सहायता से अपनी वस्तु कभी नहीं पाई जाती। कोई भी बाहर का आदमी हमें हमारे देश को नहीं दे सकता। जिस दिन हम अपने समस्त धन मन और प्राण से देश को अपना देश समझने लगेंगे तभी देश हमारा अपना स्वदेश होगा। हम स्वदेश में लौट आए हैं, इसका लक्षण यह होगा कि हम देश के प्राण को अपना ही प्राण समझने लगें। पास ही प्रत्यक्ष देखता हूं कि देश के लोग रोग और भूख से मर रहे हैं और फिर भी मैं सारा दोष दूसरों के सिर मढ़कर मंच पर खड़ा होकर देशात्मबोध की बड़ी बड़ी बातें बखानता फिरूं तो इससे बढ़कर कोई अवास्तव अपदार्थता हो ही नहीं सकती।"

अगवाह रास्ता कोई नहीं

जीवन के सत्य को पाने के लिये तपस्या और दुःखभोग की आवश्यकता है। जो लोग साहित्य क्षेत्र में काम करने जा रहे हैं उन्हें भी उसी प्रकार तपःसिद्ध होना होगा जिस प्रकार आध्यात्मिक या अधिभौतिक क्षेत्रों में कृतित्व-प्राप्ति के प्रयासी अन्यान्य साधकों को होना पड़ता है। सत्य एक और अखण्ड है। इस क्षेत्र में काम करने वालों का सत्य और है और उस क्षेत्र में काम करने वाले का और, यह धारणा ही भ्रान्त है। सत्य एक है, उसका मूल्य भी समान भाव से चुकाना पड़ता है। जब तक समान भाव से मूल्य नहीं चुकाया जाता तब तक समान आनंद पाने की आशा दुराशामात्र है। साहित्य कल्पलोक का रंगीन स्वप्न नहीं है, वह समूची मानवता को दुर्मति के पंक से उद्धार करने की कठोर तपस्या का अनुसंगी है। इस युग में उसकी साधना और भी कठिन है। सारा संसार जब मानसिक उन्माद का शिकार बन गया हो तब सुंदर और सुकुमार का आदर करना सिखाने का व्रत असाध्य-साधन के समान कठोर है। जब ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और अवमानना को अपने पक्ष-स्थापन का सब से बड़ा सहाय समझा जाता हो उस समय प्रेम, श्रद्धा और भक्ति का संदेश सुनाना अरण्यरोदन से भी नीचे की चीज़ हो जाती है। अरण्यरोदन में तो फिर भी कोई खतरा नहीं होता। इसीलिये साहित्य-साधना भी दुःख और ताप के भीतर से चल सकती है। आज जब दुःसमय आ पड़ा है, तो अपनेको उसके अनुकूल बनाकर ही साधना करनी पड़ेगी। भागकर निकाल जाना असंभव है, और कोई

अगवाह रास्ता नहीं है। सायंकाल का अंधेरा देखकर ज़ोर से दौड़ने से प्रभात नहीं आ जाता। जब संध्या हो गई है, अंधेरा घना हो आया है तो रात की अंधियारी को मान लेने में ही कल्याण है। शक्ति भर ज्योति को व्यवस्था हो जाय तो बहुत भली बात है, पर चाहे जितना भी ज़ोर क्यों न लगाया जाय रात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

हमारा नवीन वर्ष

'विश्वभारती पत्रिका' इस अंक से अपने दूसरे वर्ष में प्रवेश कर रही है। हमारे साधन स्वल्प हैं, हमारी सेवा का क्षेत्र भी संकीर्ण है, हमारी योग्यता तो और भी सीमित है, परन्तु जिस सत्य का संकल्प लेकर हम इस क्षेत्र में उतरे हैं वह निश्चय ही महान् है उसका क्षेत्र समस्त विश्व है और समस्त छोटी-बड़ी योग्यताओं को धन्य करके वह विराजमान है। हम जो कुछ दे रहे और देने जा रहे हैं वह श्रद्धा का दान है, शास्त्र ने कहा है 'श्रद्धया देयं'— क्योंकि श्रद्धा से दिया हुआ दान दाता और ग्रहीता दोनों को महान् बनाता है। इस दान का आयोजन करने में जिन मनीषियों और विद्वज्जनों का सहयोग हमें मिला है वे जिस किसी देश और काल के भूषण हैं। अपनी और से ओर अपने पाठकों की ओर से हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

भूल सुधार

(१) इस अंक के पृष्ठ ६४ पर बिल्कुल आरंभ में जो वाक्यांश है ('के प्राथमिक...... प्रभेद था') उसके आगे इस प्रकार जोड़कर पढ़ना चाहिए—'वस्तुतः यह धारणा ग़लत है क्योंकि दोनों के प्रेरक व्यक्तित्व भिन्न भिन्न थे और अजन्ता के शिल्पियों तथा नंदलाल और उन—'

(२) प्रथम खण्ड के चतुर्थ अंक में जो लेखकानुक्रमणिका दी गई है उसकी छपाई के समय कुछ यांत्रिक अनवधानता के कारण कई प्रतियों में कुछ लेखकों के नाम एक लाइन ऊपर उठ गए हैं। कृपया पाठक अपनी अपनी प्रतियों में देख लें। यदि लेखकानुक्रमणिका पृष्ठ [ङ] में 'राजेन्द्रप्रसाद' के सामने 'हे मेरे हतभाग्य देश' छपा मिले तो वहां से नीचे के प्रत्येक लेखक नाम को एक लाइन नीचे खिसकाकर सुधार लें।

विश्वभारती पत्रिका

वैशाख, २०००   खण्ड २, अंक २   अप्रैल, १६४३

आत्मत्राण

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

विपदे मोरे रक्षा करो, ए नहे मोर प्रार्थना,
विपदे आमि ना येन करि भय ।
दुःखतापे व्यथित चिते नाइ वा दिले सान्त्वना,
दुःख येन करिते पारि जय ।
सहाय मोर ना यदि जुटे   निजेर बल ना येन टुटे,
संसारेते घटिले क्षति लभिले शुधु वंचना
निजेर मने ना येन मानि क्षय ॥

आमारे तुमि करिबे त्राण ए नहे मोर प्रार्थना,
तरिते पारि शकति येन रय ।
आमार भार लाघव करि नाइ वा दिले सान्त्वना,
वहिते पारि एमनि येन हय ।
नम्र शिरे सुखेर दिने   तोमारि मुख लइब चिने,
दुखेर राते निखिल धरा ये-दिन करे वञ्चना
तोमारे येन ना करि संशय ॥

(भावार्थ)

विपदाओं से मुझे बचाओ, यह मेरी प्रार्थना नहीं
केवल इतना हो (करुणामय,)
कभी न विपदा में पाऊं भय।
दुःख-ताप से व्यथित चित्त को न दी सान्त्वना नहीं सही
पर इतना होवे (करुणामय,)
दुख को मैं कर सकूं सदा जय।

कोई कहीं सहायक न मिले
तो अपना बल पौरुष न हिले ;
हानि उठानी पड़ी जगत् में लाभ अगर वंचना रही
तो भी मन में ना मानूं क्षय॥

मेरा त्राण करो तुम अनुदिन यह मेरी प्रार्थना नहीं
बस इतना होवे (करुणामय,)
तरने की हो शक्ति अनामय।
मेरा भार अगर लघु करके न दी सान्त्वना नहीं सही।
केवल इतना रखना अनुनय—
वहन कर सकूं इसको निर्भय।

नतशिर होके सुख के दिन में
तव मुख पहचानूं छिन-छिन में
दुःख-रात्रि में करे वंचना मेरी जिस दिन निखिल मही
उस दिन ऐसा हो करुणामय,
तुमपर करूं नहीं कुछ संशय॥

अनु०—व्यो० शा०

धर्मकीर्ति का दर्शन*

राहुल सांकृत्यायन

१। धर्मकीर्ति (६०० ई०) के सात निबंध

धर्मकीर्ति ने सिर्फ प्रमाण (न्याय) शास्त्र पर ही अपने सातों ग्रंथ लिखे हैं। उन्हें दर्शन के बारे में भी जो कुछ कहना था, उसे इन्हीं प्रमाण-शास्त्रीय ग्रंथों में कह दिया है। इन सात ग्रंथों में (१) **प्रमाणवार्त्तिक** (१४५४ $\frac{१}{२}$ कारिकाएं), (२) **प्रमाणविनिश्चय** (१३४० "श्लोक"), (३) **हेतुविन्दु** (४४४ "श्लोक"), (४) **न्यायविन्दु** (१७७ "श्लोक") के प्रतिपाद्य विषय एक ही हैं, और इनमें सबसे बड़ा और संक्षेप में अधिक तत्त्वों पर प्रकाश डालनेवाला ग्रंथ प्रमाणवार्त्तिक है। (५) **वादन्याय** में आचार्य ने अक्षपाद के अठारह निग्रहस्थानों की भारी-भरकम सूची को फ़जूल बतलाकर उसे आधे श्लोक में कह दिया है—

"असाधनांग-वचनं अदोषोद्भावनं द्वयोः। निग्रहस्थानम्"†

निग्रह [=पराजय]-स्थान वह कथन है—[वादी के लिये] अ-साधन और [प्रतिवादी के] दोष का न पकड़ना।

(६) **संबंध-परीक्षा** की २९ कारिकाओं में धर्मकीर्ति ने, क्षणिकवाद के अनुसार कार्य-कारण-संबंध कैसे माना जा सकता है, इसे बतलाया है—यह विषय प्रमाणवार्त्तिक में भी आया है।

(७) **सन्तानान्तरसिद्धि** के ७२ सूत्रों में पहिले तो उन्होंने मन-सन्तान (मन एक वस्तु नहीं बल्कि प्रतिक्षण नष्ट और नई उत्पन्न होती सन्तान =घटना है) से परे भी दूसरी मन-सन्तानें (=सन्तानान्तर) हैं, इसे सिद्ध किया है ; और अन्त में बतलाया है कि ये सब मन (=विज्ञान)-सन्तानें किस प्रकार मिलकर दृश्यजगत् को (विज्ञानवाद के अनुसार) बाहर क्षेप करती हैं। विज्ञानवाद की चर्चा धर्मकीर्ति ने प्रमाण-वार्त्तिक में भी की है।

धर्मकीर्ति के सात "निबंधों" में तीन (१, ४, ५) मूल संस्कृत में छप चुके हैं ; हेतुविन्दु मिल चुका है, मगर प्रकाशित नहीं हुआ है। बाक़ी के लिये हमें तिब्बती अनुवाद पर ही सन्तोष करना होगा। धर्मकीर्ति के दर्शन को जानने के लिये प्रमाणवार्त्तिक पर्याप्त है।

---

* दर्शन-दिग्दर्शन ८।३।३ (प्रेस में)।

† वादन्याय (J. B. U. R. S.), पृष्ठ १।

२। तत्कालीन दार्शनिक परिस्थिति

दिग्नाग की भांति धर्मकीर्ति भी असंग के योगाचार (विज्ञानवाद) दार्शनिक संप्रदाय के माननेवाले थे। वसुबंधु (४०० ई०), दिग्नाग (४२५ ई०), धर्मकीर्ति-जैसे महान् तार्किकों का शून्यवाद छोड़कर विज्ञानवाद से संबंध होना यह भी बतलाता है कि हेगेल् की तरह इन्हें भी अपने तर्कसम्मत दार्शनिक विचारों के लिये विज्ञानवाद की बड़ी ज़रूरत थी। किन्तु धर्मकीर्ति शुद्ध योगाचार को नहीं, सौत्रान्तिक (या स्वातंत्रिक) योगाचार ('रियलिस्ट आइडियलिज्म') को मानते थे। सौत्रान्तिक केवल बाहरी जगत् की सत्ता को ही मूलतत्त्व (पदार्थ) मानते हैं और योगाचार सिर्फ विज्ञान (=चित्त, मन) को। सौत्रान्तिक (या स्वातंत्रिक) योगाचार का मतलब है, बाह्य जगत् की प्रवाहरूपी (क्षणिक) वास्तविकता को स्वीकार करते हुए विज्ञान को मूलतत्त्व मानना—ठीक हेगेल् की भांति, जिसका अर्थ आज की भाषा में होगा जड़ (=भौतिक)-तत्त्व विज्ञान (=चित्त) का ही गुणात्मक परिवर्तन है। पुराने योगाचार दर्शन में मूलतत्त्व विज्ञान का विश्लेषण करते हुए उसे दो भागों में बांटा गया था—आलय-विज्ञान और **प्रवृत्ति-**विज्ञान। प्रवृत्तिविज्ञान छः हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्श इन पांच ज्ञान-इन्द्रियों के पांच विज्ञान (=ज्ञान) जो कि विषय तथा इन्द्रिय के संपर्क होते वक्त रंग-आकार-आदि की कल्पना उठने से पहिले भान होते हैं, और छठा है मन का विज्ञान। आलय-विज्ञान इन छहों प्रवृत्ति-विज्ञानों के साथ जन्मता-मरता भी अपने प्रवाह (=सन्तान) में सारे प्रवृत्ति-विज्ञानों का **आलय** (=घर) है। इसीमें पहले के संस्कारों और आगे उत्पन्न होनेवाले विज्ञानों की **वासना** रहती है। यद्यपि क्षणिकता के सदा साथ रहने से आलय-विज्ञान में ब्रह्म या आत्मा का भ्रम नहीं हो सकता था, तो भी यह एक तरह का रहस्यपूर्ण तत्त्व बन जाता था—और शायद असंग ने जान-बूझकर अफ़लातूं के विज्ञान से इस भाव को लिया था। विमुक्तसेन, हरिभद्र, धर्मकीर्ति-जैसे कितने ही विचारक भी इसमें प्रच्छन्न आत्मतत्त्व की शंका करने लगे थे, और वे आलय-विज्ञान के इस सिद्धान्त को अंधेरे में तीर चलाने की तरह खतरनाक समझते थे।*

---

* तिब्बती नैयायिक जम्-यङ्-शद्-पा (मंजुघोषपाद, १६४८-१७२२ ई०) ने अपने ग्रंथ "सप्तनिबंधन्यायालंकारसिद्धि" (संक्षिप्त "अलंकारसिद्धि") में लिखा है : "जो लोग कहते हैं कि (धर्मकीर्ति के) सात निबंधों (=ग्रंथों) के मन्तव्यों में आलय-विज्ञान भी है, वह अंधे हैं, अपने ही अज्ञानांधकार में रहनेवाले हैं"—डाक्टर श्चेर्बात्स्कि की "Buddhist Logic", (Vol. II. p. 329 के फुटनोट) में उद्धृत।

धर्मकीर्ति ने **आलय** (-विज्ञान) शब्द का प्रयोग प्रमाणवार्तिक* में किया है, किन्तु वह है विज्ञान-साधारण के अर्थ में, विशेष (=प्रवृत्ति) विज्ञान के नहीं। उसके पीछे किसी अद्भुत रहस्यमय तत्त्व† का ख्याल नहीं है।

धर्मकीर्ति सन्तान-रूपेण (=क्षणिक या विच्छिन्न प्रवाहरूपेण) भौतिक जगत् की वास्तविकता को साफ़ तौर से इन्कार तो नहीं करना चाहते थे, जैसा कि आगे मालूम होगा, किन्तु बेचारों को था कुछ धर्म-संकट भी; यदि अपने तर्कों में जगह-जगह प्रयुक्त भौतिक तत्त्वों की वास्तविकता को साफ़ स्वीकार करते हैं तो धर्म का नक़ाब गिर जाता है और वह सीधे भौतिक-वादी बन जाते हैं; इसीलिये स्वातंत्रिक ही सही, किन्तु विज्ञानवादी रहना उनके लिये ज़रूरी था। यूरोप में भौतिकवाद को फूलने-फलने का मौक़ा तब मिला, जब कि सामन्तवाद के गर्भ से एक होनहार जमात—व्यापारी और पूंजीपति—बाहर निकलकर साहस के आविष्कारों की सहायता से अपना प्रभाव बढ़ा रही थी, और हर क्षेत्र में पुराने विचारों को दक़ियानूसी कह-कर भौतिक जगत् को वास्तविकता पर आधारित विचारों को प्रोत्साहन दे रही थी। छठो सदी ईसवी के भारत में अभी यह अवस्था आने में चौदह सदियों की ज़रूरत थी। किन्तु इसीको कम न समझिए कि भारतीय हेगेल् (=धर्मकीर्ति) जर्मनी के हेगेल् (१७७०-१८३१ ई०) से बारह सदियों पहिले हुआ था।

३। तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति

यहां ज़रा इस दर्शन के पीछे की सामाजिक भित्ति को देखना चाहिए, क्योंकि दर्शन चाहे कितना ही हाड़-मांस से नफ़रतकर अपने को उससे ऊपर समझे; किन्तु है वह भी हाड़-मांस की ही उपज। वसुबंधु से धर्मकीर्ति तक का समय (४००-६०० ई०) भारतीय दर्शन के (और काव्य, ज्योतिष, चित्र-मूर्ति-वास्तुकला के भी)‡ चरम विकास का समय है। इस दर्शन के पीछे आप गुप्तमौखरी—हर्षबर्धन के महान् तथा दृढ़-शासित साम्राज्य का हाथ भी कहना

---

* ३।५२२

† "आलय" शब्द पुराने पाली सुत्तों में भी मिलता है, किंतु वहां वह रुचि, अनुनय या अध्यवसान के अर्थ में आता है। देखिए "महा हत्थिपदोपम-सुत्त" (मज्झिम-निकाय १।३।८), बुद्धचर्या, पृष्ठ १७९।

‡ काव्य—कालिदास, दंडी, बाण; ज्योतिष—आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त; चित्रकला—अजन्ता और बाघ; मूर्तिकला—गुप्तकालीन पाषाण तथा प्रस्तर-मूर्तियां; वास्तुकला—अजन्ता एलोर की गुहाएं, देव, बर्नारक के मंदिर।

चाहेंगे। किन्तु महान् साम्राज्य कहकर हम मूल भित्ति को प्रकाश में नहीं लाते, बल्कि उसे अंधेरे में छिपा देते हैं। उस काल के वे महान् साम्राज्य क्या थे? कितने ही सामन्त परिवार एक बड़े सामन्त समुद्रगुप्त, हरिवर्मा या हर्षबर्धन को अपने ऊपर मानकर नये प्रदेशों, नये लोगों को अपने अधीन करने या अपने अधीन जनता को दूसरे के हाथ में न जाने देने के लिये सैनिक-शासन—युद्ध या युद्ध की तैयारी—करते थे ; और अपने शासन में पहले से मौजूद या नवागत जनता में "शान्ति और व्यवस्था" क़ायम रखने के लिये नागरिक-शासन करते थे। किन्तु यह दोनों प्रकार का शासन "पेट पर पत्थर बांधकर" सिर्फ परोपकार-बुद्धया नहीं होता था। साधारण जनता से आए सैनिक को—जिसकी संख्या लड़नेवालों में ही नहीं मरनेवालों में भी ज्यादा थी—ज़रूर बहुत हद तक "पेट पर पत्थर बांधना" पड़ता था ; किन्तु सेनानायक, सेनापति तो सामन्त खान्दानों से आने के कारण पहिले ही से बड़ी सम्पत्ति के मालिक थे, और अपने इस पद के कारण बड़े वेतन, लूट की अपार धन-राशि, जागीर तथा इनाम के पानेवाले होते थे—गोया समुद्र में मूसलाधार वर्षा हो रही थी। और नागरिक शासन के बड़े बड़े अधिकारी—उपरिक (भुक्ति का शासक, गवर्नर), कुमारामात्य (विषय का शासक या कमिश्नर) आनरेरी काम करनेवाले नहीं थे, वे प्रजा से भेंट (=रिश्वत), सम्राट् से वेतन, इनाम और जागीर पाते थे।

यह निश्चित है कि आदमी जितना अपने आहार-विहार, वस्त्र-आभूषण तथा दूसरे न-टिकाऊ कामों पर खर्च करता है, उससे बहुत कम उन वस्तुओं पर खर्च करता है जो कुछ सदियों तक क़ायम रह सकती हैं ; और इनमें भी अधिकांश सदियों से गुज़रते काल के ध्वंसक कृत्यों से ही नहीं, बर्बर मानव-सन्तानों के क्रूर हाथों से नष्ट हो जाती हैं। तो भी बोधगया, बैजनाथ के मन्दिर अथवा अजन्ता-एलौर के गुहाप्रासाद, जो अब भी बच रहे हैं, अथवा कालिदास के काव्यों में, बाण की कादम्बरी में जिन नगर-अट्टालिकाओं, राजप्रासादों का वर्णन मिलता है, उनके देखने से पता लगता है कि इनपर उस समय का सम्पत्तिशाली वर्ग कितना धन खर्च करता था, और सब मिलाकर अपने ऊपर उनका कितना खर्च था। आज भी शौक़ीनी-विलास की चीजें बहुत महंगी मिलती हैं, तो भी इस मशीन-युग में मशीन से बनने के कारण वे बहुत सस्ती हैं—अर्थात् उनपर आज जितने मानव-हाथों को काम करना पड़ता है, गुप्त काल में उससे कई गुने अधिक हाथों की ज़रूरत पड़ती रही होगी।

सारांश यह कि इस शासक, सामन्त वर्ग की शारीरिक आवश्यकताओं के लिये ही नहीं बल्कि उनकी विलास-सामग्री को पैदा करने के लिये भी जनता की एक भारी संख्या को अपना सारा श्रम देना पड़ता था। कितनी संख्या, इसका अन्दाज़ इसीसे लग सकता है कि आज से सौ वर्ष पहिले ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन में भारत जितना धन अपने अंग्रेज़ शासकों के

लिये उनके घर विलायत भेजता था, उसके उपार्जन के लिये छः करोड़ आदमियों—या तत्कालीन जन-संख्या के चौथाई से अधिक अंश—के श्रम की आवश्यकता होती थी। इसके अतिरिक्त वह खर्च अलग था जिसे अंग्रेज़ कर्मचारी भारत में रहते हुए करते थे।

यही नहीं कि जनता के आधे-तिहाई भाग को शासकों के लिये इस तरह की वस्तुएं अपने श्रम से जुटानी पड़ती थीं ; बल्कि उनकी काम-वासना की तृप्ति के लिये लाखों स्त्रियों को वैध या अवैध रूप से अपना शरीर बेंचना पड़ता था, उनकी एक बड़ी संख्या को दासी बनकर बिकना पड़ता था। मनुष्य का दास-दासी के रूप में सरे-बाज़ार बिकना उस वक्त का आम नज़ारा था।

अर्थात्, इस दर्शन-कला-साहित्य के महान् युग की सारी भव्यता मनुष्य की पशुवत् परतंत्रता और हृदयहीन गुलामी पर आधारित थी, यह हमें नहीं भूलना चाहिए। फिर दार्शनिक दृष्टि से क्रान्तिकारी-से-क्रान्तिकारी मनीषी को भी अपनी विचार-संबंधी क्रान्ति को उस सीमा के अन्दर रखना आवश्यक था, जिसके बाहर जाते ही शासक वर्ग के कोप का भाजन—चाहे सीधे राजा के दंड के रूप में, या उसकी कृपा से वंचित होने के रूप में, चाहे समाज-स्थापित धर्म-मठ-मंदिर में स्थान न पाने के रूप में—होना पड़ता। उस वक्त "शान्ति और व्यवस्था" की बांह आज से बहुत लम्बी थी, जिससे बचने में धार्मिक सहानुभूति ही थोड़ी-बहुत सहायक हो सकती थी ; जिसने उसको खोया, उसके जीवन का मूल्य एक घोषित डाकू के जीवन से अधिक नहीं था।

धर्मकीर्ति जिस नालंदा के रत्न थे, उसको गांवों और नक़द द्रव्य के रूप में बड़े बड़े दान देनेवाले यही सामन्त थे, जिनके ताम्रपत्र पर लिखे दानपत्र आज भी हमें काफ़ी मिले हैं। युनच्वेङ् के समय (६४० ई०) में वहां के दस हज़ार विद्यार्थियों और पंडितों पर जिस तरह खुले-हाथों धन खर्च किया जाता था, यह हो नहीं सकता था कि प्रमाणवार्त्तिक की पंक्तियां उन हाथों को भुलाकर उन्हें काटने पर तुल जातीं ; इसीलिये स्वातंत्रिक (वस्तुवादी) धर्मकीर्ति भी दुःख की व्याख्या आध्यात्मिक तल से ही करके छुट्टी ले लेते हैं। विश्व के कारण को ईश्वर आदि में छोड़कर विश्व में उसके क्षुद्रतम तथा महत्तम अवयवों की क्षणिक परिवर्तनशीलता तथा गुणात्मक परिवर्तन के रूप में ढूंढ़नेवाले धर्मकीर्ति दुःख के कारण को अलौकिक रूप में—पुनर्जन्म में—निहित बतलाकर, साकार और वास्तविक दुःख के लिये साकार और वास्तविक कारण का पता लगाने से मुंह मोड़ते हैं। यदि जनता के एक तिहाई उन दासों तथा संख्या में कम-से-कम उनके बराबर ही उन आदमियों को—जो कि सूद तथा व्यापारिक लाभ के रूप में अपने-आपको मुफ्त देते थे—दासता से मुक्तकर, उनके श्रम को सारी जनता—जिसमें वह खुद भी शामिल थे—के हितों में लगाया जाता, यदि सामन्त परिवारों और वणिक-श्रेष्ठी-परिवारों के निठल्लेपन और कामचोरी को हटाकर उन्हें

भी समाज के लिये लाभदायक काम करने लिये मजबूर किया जाता, तो निश्चय ही उस समय के साकार दुःख की मात्रा बहुत हद तक कम होती। हाँ, यह ठीक है कि कामचोरी हटाने का अभी समय नहीं आया था; वह स्वप्रचारिणी योजना उस वक्त बिल्कुल असफल ही होती, इसमें भारी संदेह नहीं। किन्तु यही बात तो उस वक्त की सारी दार्शनिक उड़ानों में, सभी धार्मिक मनोहर कल्पनाओं में थी। सफल न होने पर भी दार्शनिक का प्रयत्न एक अच्छी दिशा में होता; उसकी सहृदयता और निर्भीकता को दाद दी जाती; यदि उपेक्षा और शत्रु-प्रहार से उसकी कृतियां नष्ट हो जातीं, तो भी खंडन के लिये उद्धृत उसकी प्रतिभा के प्रखर तीर सदियों को चीरकर मानवता के पास पहुंचते और उसे नया संदेश देते।

४। धर्मकीर्त्ति का स्वकीय दर्शन

(१) विज्ञानवाद

सहृदय मस्तिष्क से वास्तविक दुनिया (भौतिकवाद) को भुलाने-भुलवाने के लिये दार्शनिक विज्ञानवाद वही काम देता है जो कि थकान से चूर मज़दूर के कष्टों के भुलवाने के लिये ताड़ी या शराब की बोतल। चाहे क्रूर दासता की सहायता से ही सही, मनुष्य का मतिष्क और हृदय तब तक बहुत अधिक विकसित हो चुका था; उसमें अपने साथी प्राणियों के लिये समवेदना आना स्वाभाविक-सी बात थी। आसपास के लोगों की दयनीय दशा को देखकर यह हो नहीं सकता था कि वह उसे महसूस न करता, विकल न होता। इस विकलता के दूर करने में दार्शनिक विज्ञानवाद कुछ भी सहायता नहीं करता था; अखिर अभी तक "दार्शनिकों का काम जगत् की (ग़लत-सही) व्याख्या करना ही था, उसे बदलना नहीं"।

धर्मकीर्ति बाह्य जगत्—भौतिक तत्त्वों—को अवास्तविक बतलाते हुए विज्ञान (=चित्त) को असली तत्त्व साबित करते हैं:

(क) **विज्ञान ही एक-मात्र तत्त्व**—हम किसी वस्तु (कपड़े) को देखते हैं, तो वहां हमें नीला-पीला रंग तथा लंबाई-चौड़ाई-मुटाई, भारीपन-चिकनापन आदि को छोड़ "केवल **रूप** (भौतिक तत्त्व) नहीं दिखाई पड़ता।"* दर्शन नील आदि के तौर पर होता है, उससे रहित (वस्तु) का (प्रत्यक्ष या अनुमान से) ग्रहण नहीं हो सकता, और नीलादि के ग्रहण पर

---

* प्रमाणवार्त्तिक, ३।२०२।

ही (उसका) ग्रहण होता है। इसलिये जो कुछ दर्शन है वह नीलादि के तौर पर है, केवल बाह्यार्थ (= भौतिक तत्त्व) नहीं है।१ जिसको हम भौतिक तत्त्व या बाह्यार्थ कहते हैं, वह क्या है यदि इसका विश्लेषण करें, तो वहां आंख से देखे रंग आकार, हाथ से छुए सख्त-नरम-चिकनापन आदि गुण ही मिलते हैं ; फिर ये इन्द्रियां इनके स्थूल रूप में अपने निजी ज्ञान (चक्षुविज्ञान, स्पर्शविज्ञान··) द्वारा मन को कल्पना करने के लिये नहीं प्रदान करतीं। मन का निर्णय इन्द्रियचर्वितज्ञान के पुनःचर्वण पर निर्भर है। इस तरह जहां से अंतिम निर्णय होता है उस मन में, तथा जिनकी दी हुई सामग्री के आधार पर मन निर्णय करता है, उन इन्द्रियों के विज्ञानों (=ज्ञानों) में भी बाह्य-अर्थ (=भौतिकतत्त्व) का पता नहीं ; निर्णायक स्थान पर हमें सिर्फ विज्ञान ही विज्ञान (=चैतन्य) मिलता है, इसलिये "वस्तुओं-द्वारा वही सिद्ध है जिसे कि विचारक कहते हैं : 'जैसे-जैसे अर्थों (=पदार्थों) पर चिन्तन किया जाता है वैसे ही वैसे वे छिन्नभिन्न होकर लुप्त हो जाते हैं' (=उनका भौतिक रूप सिद्ध नहीं होता)।"२

(ख) **चेतना और भौतिक तत्त्व विज्ञान के ही दो रूप**—विज्ञान का भीतरी आकार चित्त-सुख आदि का ग्राहक है, यह तो स्पष्ट है, किन्तु जो बाहरी पदार्थ (भौतिकतत्त्व, घड़ा कपड़ा आदि) है, वह भी विज्ञान से अलग नहीं, बल्कि विज्ञान का ही एक दूसरा भाग है, और बाहर अवस्थित ऐसा जान पड़ता है—इसे अभी बतला आए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि एक ही विज्ञान भीतर (चित्त के तौर पर) ग्राहक, और बाहर (विषय के तौर पर) ग्राह्य भी है। "विज्ञान जब अभिन्न है तो उसका (भीतर और बाहर के विज्ञान तथा भौतिकतत्त्व के रूप में) भिन्न प्रतिभासित होना सत्य नहीं (भ्रम) है"।३ "ग्राह्य (=बाह्य पदार्थ के रूप में मालूम पड़नेवाला विज्ञान) और ग्राहक (=भीतरी चित्त के रूप में विज्ञान) में से एकके भी अभाव में दोनों ही नहीं रहते (—ग्राहक नहीं रहेगा तो ग्राह्य है इसका पता कैसे लगेगा ? और फिर ग्राह्य के न रहने पर अपनी ग्राहकता को दिखलाकर ग्राहक चित्त अपनी सत्ता को कैसे सिद्ध करेगा ? इस तरह किसी एकके अभाव में दोनों नहीं रहते) ; अतः ज्ञान का भी तत्त्व (ग्राह्य-ग्राहक) दो होने का अभाव (=अभिन्नता) है।"४ जो आकार-प्रकार (बाहरी पदार्थों के मौजूद हैं, वे) ग्राह्य और ग्राहक के आकार को छोड़ (और किसी आकार में) नहीं मिलते,

---

१. प्र-वा. ३।३३५।
२. प्र-वा. ३।२०९।
३. प्र-वा. ३।२१२।
४ प्र-वा. ३।२१३।

(और ग्राह्य-ग्राहक एक ही विज्ञान के दो रूप हैं), इसलिये आकार-प्रकार से शून्य होने से (सारे पदार्थ) निराकार कहे गए हैं।"१

प्रश्न हो सकता है : यदि बाह्य पदार्थों की वस्तुसत्ता को अस्वीकार करते हैं, तो उनकी भिन्नता को भी अस्वीकार करना पड़ेगा, फिर बाहरी अर्थों (पदार्थों) के बिना "यह घड़ा है", "यह कपड़ा है" इस तरह ज्ञानों का भेद कैसे होगा ? उत्तर है—

"किसी (घड़े आदि आकारवाले ज्ञान) का कोई (एक ज्ञान) है, जो कि (चित्त के) भीतरवाली **वासना** (=पूर्वसंस्कार) को जगाता है ; उसी (वासना के जागने) से ज्ञानों (की भिन्नता) का नियम देखा जाता है, न कि बाहरी पदार्थ की अपेक्षा से।"२

"चूंकि बाहरी पदार्थ का अनुभव हमें नहीं होता, इसलिये एक ही (विज्ञान) दो (भीतरी ज्ञान, बाहरी विषय) रूपोंवाला (देखा जाता) है, और दोनों रूपों में स्मरण भी किया जाता है। इस (एक ही विज्ञान के बाह्य-अन्तर दोनों आकारों के होने) का परिणाम है—स्व-संवेदन (=अपने भीतर ज्ञान का साक्षात्कार)।"३

फिर प्रश्न होता है : (वह जो बाह्य पदार्थ के रूप में) अवभासित होनेवाला (ज्ञान है), उसका जैसे-कैसे भी जो (बाहरी) पदार्थवाला रूप (भासित हो रहा है) उसे छोड़ देने पर पदार्थ (=घड़े) का ग्रहण (=इन्द्रिय-प्रत्यक्ष आदि) कैसे होगा ? (आखिर अपने स्वरूप के ज्ञान के साक्षात्कार से ही तो पदार्थों का अपना अपना ग्रहण है ?)—"(प्रश्न) ठीक है, मैं भी नहीं जानता, कैसे यह होता है।...जैसे मंत्र (हिप्नाटिज्म) आदि से जिनकी (आंख आदि) इन्द्रियों को बांध दिया गया है, उन्हें मिट्टी के ठीकरे (रुपये आदि) दूसरे ही रूपों में दीखते हैं, यद्यपि वे (वस्तुतः) उस (रुपये आदि) के रूप से रहित हैं।"४

इस तरह यद्यपि अन्तर-बाहर सभी एक ही विज्ञानतत्त्व है, किंतु "तत्त्व-अर्थ की (=वास्तविकता) की ओर न ध्यान देकर, हाथी की तरह आंख मूदकर सिर्फ लोकव्यवहार का अनुसरण करते (तत्त्वज्ञानियों को कितनी ही बार) बाहरी (पदार्थों) का चिन्तन (=वर्णन) करना पड़ता हैं।"५

---

१. प्र-वा. ३।२१५।
२. प्र-वा. ३।३३६।
३. प्र-वा. ३।३३७।
४. प्र-वा. ३।३५३-५५।
५. प्र-वा. ३।२१९।

(२) क्षणिकवाद

बुद्ध के दर्शन में "सब अनित्य है" (= सब्बं अनिच्चं)—इस सिद्धान्त पर बहुत ज़ोर दिया गया है, यह हम बतला चुके हैं ; इसी अनित्यवाद को पीछे के बौद्ध दार्शनिकों ने क्षणिकवाद कहकर उसे अभावात्मक से भावात्मक रूप दिया। धर्मकीर्ति ने इस पर और ज़ोर देते हुए कहा—"सत्ता मात्र में नाश (धर्म) पाया जाता है।"१ इस भाव को पीछे ज्ञानश्री (८०० ई०) ने कहा : "जो (जो) सत् (= भावरूप) है, वह क्षणिक है"।२ "सभी संस्कार (= किए हुए पदार्थ) अनित्य हैं"—बुद्ध के इस वचन की ओर संकेत करते हुए धर्मकीर्ति ने कहा,३ "जो कुछ उत्पन्नस्वभाववाला है, वह नाशस्वभाववाला है।" अनित्य क्या है, इसे बतलाते हुए लिखा है, "पहले होकर जो भाव (= पदार्थ पीछे) नहीं रहता, वह **अनित्य** है"।४

इस प्रकार बिना किसी अपवाद के क्षणिकता का नियम सारे भाव (= सत्ता) रखनेवाले पदार्थों में है।

(३) परमार्थ सत् की व्याख्या

अफ़लातूं या उपनिषद के दार्शनिक क्षण-क्षण परिवर्तनशील जगत् और उसके पदार्थों के पीछे एक अपरिवर्तनशील तत्त्व को परमार्थ सत् मानते हैं ; किन्तु बौद्ध दर्शन को ऐसे इन्द्रिय तथा बुद्धि की गति से परे किसी तत्त्व को मानने की ज़रूरत न थी, इसलिये धर्मकीर्ति ने परमार्थ सत् की व्याख्या करते हुए कहा—

"अर्थवाली क्रिया में जो समर्थ है, वही यहां परमार्थ सत् है, इसके विरुद्ध जो (अर्थ-क्रिया में असमर्थ) है, वह संवृति (= फ़र्ज़ी) सत् है।"५ घड़ा, कपड़ा परमार्थ सत् हैं, क्योंकि वे अर्थक्रियासमर्थ हैं, उनसे जल लाना या सर्दी-गर्मी का निवारण हो सकता है ; किन्तु घड़ापन, कपड़ापन जो **सामान्य** (= जाति) माने जाते हैं, वे संवृति (= काल्पनिक या फ़र्ज़ी) सत् हैं, क्योंकि उनसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती। इस तरह व्यक्ति और उनका नानात्व ही परमार्थ सत् है। "(वस्तुतः सारे) भाव (= पदार्थ) स्वयं भेद (= भिन्नता) रखनेवाले हैं ; किन्तु उसी संवृति (= कल्पना) से जब उनके नानात्व (अलग अलग घड़ों) को ढंक दिया जाता है, तो वह किसी (घड़ापन) रूप से अभिन्न-से मालूम होने लगते हैं।"५

---

१. प्र-वा. १।२७२ "सत्तामात्रानुबन्धित्वात् नाशस्य"।
२. "यत् सत् तत् क्षणिकम्"—क्षणभंगाध्याय।
३. प्र-वा. २।२८४-५।
४. प्र-वा. ३।११०।
५. प्र-वा. १।७१।

(४) नाश अहेतुक होता है

क्षणिकता सारे भावों [= पदार्थों] में स्वभाव से ही है, इसलिये नाश भी स्वाभाविक है, फिर नाश के लिये किसी हेतु (या हेतुओं) की ज़रूरत नहीं—अर्थात् नाश अहेतुक होता है। वस्तु की उत्पत्ति के लिये एक हेतु या बहुत से हेतु (= हेतु-सामग्री) चाहिए, जिससे कि पहिले ना-मौजूद पदार्थ भाव (= अस्तित्व) में आवे। चूंकि एक मौजूद वस्तु का नाश और दूसरो ना-मौजूद वस्तु की उत्पत्ति पास-पास होती है, इसलिये हमारी भाषा में कहने की यह ग़लत परिपाटी पड़ गई है कि हम हेतु को उत्पन्न वस्तु से न जोड़कर नष्ट से जोड़ देते हैं। इसी तथ्य को साबित करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं—

(क) **अभावरूप नाश को हेतु की ज़रूरत नहीं**—"यदि कोई (करणीय पदार्थ) हो, तो उसके लिये किसी (कारण) की ज़रूरत हो सकती है ; (नाश) जो कि (अभावरूप होने से) कोई वस्तु नहीं है उसके लिये कारण की क्या ज़रूरत ?"१

"जो कार्य (कारण से उत्पन्न) है वह अनित्य है, जो अ-कार्य (कारण से नहीं उत्पन्न) है वह अ-विनाशी (= अनित्य) है। (वस्तु का विनाश नित्य अर्थात् हमेशा के लिये होता है, इसलिये वह अ-कार्य (= अ-हेतुक) है ; फिर (इस प्रकार) विनाश अहेतुक होने से वह स्वभावतः (वस्तुमात्र का) अनुसरण करता है"२ और इस प्रकार विनाश के लिये हेतु की ज़रूरत नहीं।

(ख) **नश्वर या अनश्वर दोनों अवस्थाओं में भाव के नाश के लिये हेतु नहीं चाहिए**—"यदि (हम उसे अनश्वर मानलें, तब) दूसरे किसी (हेतु) से भाव का नाश न मानेंगे ; तब फिर ऐसे (अनश्वर पदार्थ) की स्थिति के लिये हेतु की क्या ज़रूरत ? (—अर्थात् भाव का होना अहेतुक हो जाएगा)। (यदि हम भाव को नश्वर मान लें, तो) वह दूसरे (हेतुओं = कारणों) के बिना भी नष्ट न होगा, (फिर उसकी) स्थिति के लिये हेतु असमर्थ होंगे।"३

"जो स्वयं अनश्वर स्वभाववाला है, उसके लिये दूसरे स्थापक की ज़रूरत नहीं ; जो स्वयं नश्वर स्वभाववाला है, उसके लिये भी दूसरे स्थापक की ज़रूरत नहीं।"४ इस तरह

---

१. प्र-वा. १।२८२।
२. प्र-वा. १९५।
३. प्र-वा. २।७०।
४ प्र-वा. २।७२।

विनाश को चाहे नश्वर स्वभाववाला मानें या अनश्वर स्वभाववाला, दोनों हालतों में उसे स्थिर रखनेवाले हेतु की ज़रूरत नहीं।

अ. भाव के स्वरूप से नाश भिन्न हो या अभिन्न, दोनों अवस्थाओं में नाश अहेतुक—आग और लकड़ी एकत्रित होती हैं, फिर हम लकड़ी का नाश और कोयले-राख की उत्पत्ति देखते हैं। इसीको हम व्यवहार की भाषा में "आग ने लकड़ी को जला दिया—नष्ट कर दिया" कहते हैं, किन्तु वस्तुतः कहना चाहिए, "आग ने कोयले-राख को उत्पन्न किया।" चूंकि लकड़ी हमारी नज़र में कोयले-राख से अधिक उपयोगी (= मूल्यवान्) है, इसीलिये यहां भाषा द्वारा हम अपने लिये एक उपयोगी वस्तु के खोए जाने पर ज्यादा ज़ोर देते हैं ; यदि कोयला-राख लकड़ी से ज्यादा उपयोगी होते (जैसे सोने की भस्म) तो हम "आग ने लकड़ी को नष्ट कर दिया" ऐसा न कहकर "आग ने कोयले-राख को बनाया" ऐसा कहते। वस्तुतः जंगलों में जहां मजूर लकड़ी की जगह कोयला बनाकर बेंचने में ज्यादा लाभ देखते हैं, वहां "क्या काम करते हो ?"—पूछने पर यह नहीं कहते कि "हम लकड़ी का नाश करते हैं", बल्कि कहते हैं, "हम कोयला बनाते हैं।" ताता के कारखाने में (लौहवाले) पत्थर का नाश और लौह या फ़ौलाद का उत्पादन होता है ; किन्तु वहां नाश को स्वाभाविक (= अहेतुक) समझकर, उसकी बात न कहकर यही कहा जाता है कि ताता प्रतिवर्ष इतने करोड़ मन लोहा या इतने लाख मन फ़ौलाद बनाता है। इसी भाव को हमारे दार्शनिक ने समझाने की कोशिश की है।

प्रश्न है : आग (कारण, हेतु) क्या करती है—लकड़ी का विनाश या कोयले की उत्पत्ति ? आप कहते हैं, लकड़ी का विनाश करती है। तब सवाल होता है, विनाश लकड़ी से भिन्न वस्तु है या अभिन्न ? अभिन्न मानने पर आज जिस विनाश को उत्पन्न करती है, वह काष्ठ ही हुआ, और फिर "विनाश" होने का अर्थ काष्ठ का होना हुआ, यानी काष्ठ का विनाश नहीं ; हुआ तब तो फिर काष्ठ के "अ-विनाश से" काष्ठ का दर्शन होना चाहिए। "यदि (कहें,) वही (आग से उत्पन्न वस्तु काष्ठ का विनाश) है, (इसलिये काष्ठ का दर्शन नहीं होता ; तो फिर प्रश्न होगा—) कैसे (विनाशरूपी) एक पदार्थ (काष्ठरूपी) दूसरे (पदार्थ) का विनाश होगा ? (और यदि नाश एक भाव पदार्थ है तो) काष्ठ क्यों नहीं दिखाई देता ?"*

ब. विनाश एक भिन्न भावरूपी वस्तु है, यह मानने से भी काम नहीं चल सकता—यदि कहें, विनाश (सिर्फ काष्ठ का अभाव नहीं बल्कि) एक दूसरा ही भावरूपी पदार्थ है,—और) "उस (भावरूपी विनाश नामवाले दूसरे पदार्थ) के द्वारा ढंका होने से (काष्ठ

---

* प्र-वा. १।२७३।

हमें नहीं दिखलाई देता); (तो यह भी ठीक नहीं,) उस (एक दूसरे भाव=नाश) से (काष्ठ का) आवरण (=आच्छादन) नहीं हो सकता, क्योंकि (ऐसा मानने पर नाश को वस्तु आवरण मानना पड़ेगा ; फिर तो वह) विनाश नहीं रह जाएगा (विनष्ट हो जाएगा)"* और इस प्रकार आग काष्ठ के विनाश को उत्पन्न करती है, यह कर्म के अभाव में कहना भी ग़लत है।

और यदि आग द्वारा नाश की उत्पत्ति मानें तो उत्पन्न होने के कारण "उसे नाशवान् मानना पड़ेगा, क्योंकि जितने उत्पत्तिमान् भाव पदार्थ हैं, सभी नाशवान् होते हैं," और फिर (नाशवान् होने से जब वह नष्ट हो जाता है) तो (आवरणमुक्त होने से) काष्ठ का दर्शन होना चाहिए।"

यदि कहें—नाशरूपी भाव पदार्थ काष्ठ का हन्ता है : राम ने श्याम को मार डाला (नष्ट कर दिया), फिर न्यायाधीश राम को फांसी पर चढ़ा देता है ; किंतु राम को फांसी पर चढ़ा देने से—"हन्ता के नाश हो जाने पर जैसे मृत (नष्ट, श्याम) का फिर से अस्तित्व में आना नहीं होता, उसी तरह यहां भी" (नश्वर स्वभाववाले नाश पदार्थ के नष्ट हो जाने पर भी काष्ठ फिर अस्तित्व में नहीं आता)।

किन्तु यह दृष्टान्त ग़लत है। राम श्याम के नाश में "हन्ता (राम) ही (श्याम का) मरण नहीं है,"† बल्कि श्याम का मरण है अपने प्राण, इन्द्रिय आदि का नाश होना। यदि श्याम के प्राण-इन्द्रिय अदि का नाश होना हटा दिया जाए, तो श्याम ज़रूर अस्तित्व में आ जाएगा। किन्तु यहां आप नाश पदार्थ अर्थात् काष्ठ का मरण मानते हैं, इसलिये नाश पदार्थ के नष्ट हो जाने पर काष्ठ को फिर से अस्तित्व में आना चाहिए।

स. नाश को एक अभिन्न भावरूपी वस्तु मानने से भी काम नहीं चलेगा—"यदि (मानें कि) नाश (भावरूपी वस्तु काष्ठ से) अभिन्न है, तो नाश=काष्ठ है। तब वह (काष्ठ)=(नाश=) अ-सत् होगा, अतएव (नाशक आग) उसका हेतु नहीं हो सकती।"

"नाश को (काष्ठ से) भिन्न या अ-भिन्न छोड़ और नहीं माना जा सकता", और हमने ऊपर देख लिया कि दोनों अवस्थाओं में नाश के लिये हेतु (=कारण) की ज़रूरत नहीं, अतएव नाश अ-हेतुक होता है।

---

* प्र-वा. १।२७४।

† प्र-वा. १।२७४, २७५।

यदि कहो—"नाश को अहेतुक मानने पर (वह) नित्य होगा, फिर (काष्ठ का) भाव और नाश दोनोंको एक साथ रहनेवाला मानना पड़ेगा"—तो यह शंका ही ग़लत बुनियाद पर है, क्योंकि "(नाश तो) अ-सत् (=अ-भाव) है, उसकी नित्यता कैसे होगी ?"१ नित्य-अनित्य होने का सवाल भाव-पदार्थ के लिये होता है, गदहे के सींग—असत् पदार्थ—के लिये नहीं।

(५) कारण-समूहवाद

कार्य एकसे नहीं बल्कि अनेक कारणों के इकट्ठा होने—कारण-सामग्री—से उत्पन्न होता है; अर्थात् अनेक कारण मिलकर ही एक कार्य को उत्पन्न करते हैं। इस सिद्धान्त द्वारा बौद्ध दार्शनिक जहां जगत् में प्रयोगतः सिद्ध वस्तुस्थिति की व्याख्या करते हैं, वहां किसी एक ईश्वर के कर्त्तापन का भी खंडन करते हैं। साथ ही यह भी बतलाते हैं कि स्थिरवाद—चाहे वह परमाणुओं का हो या ईश्वर का—कारणों की सामग्री अर्थात् इकट्ठा होने को अस्तित्व में नहीं ला सकता; यह क्षणिकवाद ही है जो कि भावों की क्षणिकता—देश और काल में गति—की वजह से कारणों की सामग्री (=इकट्ठा होने) को सम्पन्न करा सकता है।

"कोई भी एक (वस्तु) एक (कारण) से नहीं उत्पन्न होती, बल्कि सामग्री (=बहुत से कारणों के इकट्ठा होने) से (एक या अनेक) सभी कार्यों की उत्पत्ति होती है।"२

"कार्यों के स्वभावों (=स्वरूपों) में जो भेद है, वह आकस्मिक नहीं, बल्कि कारणों (=कारण-सामग्री) से उत्पन्न होता है। उनके बिना (=कारणों के बिना, किसी दूसरे से) उत्पन्न होना (मानें, तो कार्य के) रूप (कोयले) को उस (आग) से उत्पन्न कैसे कहा जाएगा ?"३

"(चूंकि) सामग्री (=कारण-समुदाय) की शक्तियां भिन्न भिन्न होती हैं, (अतः) उन्हींकी वजह से वस्तुओं (=कार्यों) में भिन्नरूपता दिखलाई पड़ती हैं। यदि वह (=अनेक कारणों की सामग्री) भेद करनेवाली न होती, तो यह जगत् (विश्व-रूप नहीं) एक-रूप होता।"४

मिट्टी, चक्का, कुम्हार "अलग अलग (किसी घड़े-जैसे भिन्न रूपवाले) कार्य के करने में असमर्थ हैं; (किन्तु) उनके (एकत्र) होने पर कार्य होता है; (इससे मालूम होता है कि) संहति (=एकत्रित) होने पर उन (क्षणिक वस्तुओं) में हेतुत्व (=कारणत्व) है, ईश्वर आदि में नहीं, क्योंकि (ईश्वर आदि में क्षणिकता न होने से) अ-भेद (=एकरसता) है।"५

---

१. प्र-वा. १।२७५-७७।
२. प्र-वा. ३।५३६।
३. प्र-वा. ४।२४८।
४. प्र-वा. ४।२४९।
५ प्र-वा. २।२८।

(६) प्रमाण पर विचार

मानव का ज्ञान जितना ही बढ़ता गया, उतना ही उसने उसके महत्त्व को समझा और अपने जीवन के हरेक क्षेत्र में मस्तिष्क का अधिकाधिक इस्तेमाल किया। ज्ञान की यही महिमा आगे उपनिषत्काल में प्रयोग-सिद्ध नहीं, कल्पना-सिद्ध रूप में धर्म तथा धर्म-सहायक दर्शन में परिणत हुई, यह हम साधारणतः जानते हैं। उपनिषत् के दार्शनिकों का जितना ज़ोर ज्ञान पर था, बुद्ध का उसपर उससे भी कहीं अधिक ज़ोर था, क्योंकि अ-विद्या को वह सारी बुराइयों की जड़ मानते थे ; और उसको दूर करने के लिये आर्यसत्य या निर्दोष ज्ञान बहुत ज़रूरी था। आगे की शताब्दियों में जब भारतीयों को अरस्तू के तर्क-शास्त्र के संपर्क में आने का मौक़ा मिला, तो ज्ञान और उसकी प्राप्ति के साधनों की ओर उनका ध्यान अधिक गया, यह हम नागार्जुन, कणाद, अक्षपाद आदि के संबंध में जानते हैं। वसुबंधु, दिग्नाग, धर्मकीर्ति ने इसी बात को अपना मुख्य विषय बनाकर अपने प्रमाण-शास्त्र की रचना की। दिग्नाग ने अपने प्रधान ग्रंथ का नाम "प्रमाण-समुच्चय" क्यों रखा, धर्मकीर्ति ने भी उसी तरह अपने श्रेष्ठ ग्रंथ का नाम "प्रमाणवार्त्तिक" क्यों घोषित किया, इसे उपरोक्त बात पर ध्यान रखते हुए हम अच्छी तरह समझ सकते हैं।

प्रमाण—प्रमाण क्या है ? धर्मकीर्ति ने उत्तर दिया—"प्रमाण (दूसरे ज़रियों से) अज्ञात अर्थ के प्रकाशक, अ-विसंवादी (=वस्तुस्थिति के विरुद्ध न जानेवाले) ज्ञान को कहते हैं।"१ अविसंवाद क्या है ?—"(ज्ञान का कल्पना के ऊपर नहीं बल्कि) अर्थ-क्रिया के ऊपर स्थित होना।" इसलिये किसी ज्ञान की "प्रमाणता व्यवहार (=प्रयोग, अर्थक्रिया) से होती है।"२

प्रमाण-संख्या—अन्य भारतीय दार्शनिक शब्द, उपमान, अर्थापत्ति आदि कितने ही और प्रमाणों को मानते हैं। धर्मकीर्ति अर्थक्रिया या प्रयोग को परमार्थ सत् की कसौटी मानते थे, इसलिये वह ऐसे ही प्रमाणों को मान सकते थे जो कि अर्थ-क्रिया पर आधारित हों —

"(पदार्थ, अलग अलग लेने पर स्वलक्षण=शब्द आदि के प्रयोग के बिना केवल अपने रूप में मिलते हैं, अथवा अनेकों के बीच के सादृश्य को लेने पर सामान्य लक्षण—अनेकों में उनके आकार की समानता—में मिलते हैं ; (इस प्रकार) विषय के (सिर्फ) दो ही प्रकार होने से प्रमाण भी दो प्रकार का ही होता है। (इनमें पहला प्रत्यक्ष है और दूसरा अनुमान ;

---

१. प्र-वा. २।१।

२. प्र-वा. २।४।

प्रत्यक्ष का आधार वस्तु का स्वलक्षण—अपना निजी स्वरूप है, और यह स्वलक्षण) अर्थक्रिया में समर्थ होता है ; (अनुमान का आधार सामान्य लक्षण—अनेक वस्तुओं में समानरूपता—है, और यह सामान्य लक्षण अर्थक्रिया में) असमर्थ होता है ।"१

[क] **प्रत्यक्ष-प्रमाण**—ज्ञान के साधन दो ही हैं, प्रत्यक्ष या अनुमान। प्रत्यक्ष क्या है ?—"इन्द्रिय, मन और विषय के संयोग होने पर) कल्पना से बिल्कुल रहित (जो ज्ञान होता है), तथा जो (किसी दूसरे साधन द्वारा) अज्ञात अर्थ का प्रकाशक है, और जो (कल्पना नहीं,) सिर्फ प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होता है ।" इस तरह प्रत्यक्ष वह अ-विसंवादी (=अर्थक्रिया का अनुसरण करनेवाला) अज्ञात अर्थ का प्रकाशक ज्ञान है, जो कि विषय के संपर्क में उस पहिले क्षण में होता है, जब कि कल्पना ने वहां दखल नहीं दिया। धर्मकीर्ति ने दिग्नाग की तरह प्रत्यक्ष के चार भेद माने हैं—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष और योगी-प्रत्यक्ष ।

(अ) **इन्द्रिय-प्रत्यक्ष**—"चारों ओर से ध्यान (=चिन्तन) को हटाकर (कल्पना से मुक्त होने के कारण) निश्चल (=स्तिमित) चित्त के साथ स्थित, (पुरुष) रूप को देखता है, यही इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान है ।"२ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हो जाने के "पीछे (जब वह) कुछ कल्पना करता है, और जानता है—'मेरे (मन में) ऐसी कल्पना (—यह वस्तु एक खास आकार-प्रकार के होने से घड़ा है—) आई थी' ; किन्तु (यह बात) पूर्वोक्त इन्द्रिय से (उत्पन्न) ज्ञान के वक्त नहीं होती ।"३ "इसीलिये सारे (चक्षु आदि वाले) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान (व्यक्ति-) विशेष (मात्र) के बारे में होते हैं ; विशेष (वस्तुओं का स्वरूप सामान्य से मुक्त सिर्फ स्वलक्षण मात्र है, इसलिये उन) में शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता ।"४ "इस (घट वस्तु) का यह (वाचक घट शब्द) है, इस तरह (जो वाच्य-वाचक) संबंध (है, उस) में जो पदार्थ प्रतिभासित हो रहे हैं, उन्हीं (वाच्य-वाचक अर्थों) का (वह) संबंध है, (और जिस वक्त उस वाच्य-वाचक संबंध की ओर मन कल्पना दौड़ाता है) उस वक्त (वस्तु) इन्द्रिय के सामने से हट गई होती है (और मन अपने संस्कार के भीतर अवस्थित ताजे और पुराने दोनों कल्पना-चित्रों को मिलाकर नाम देने की कोशिश में रहता है) ।"५

"[शंकरस्वामी-जैसे कुछ बौद्ध प्रमाणशास्त्री प्रत्यक्ष ज्ञान को] इन्द्रियज होने से

---

१. प्र-वा. ३।१ ।
२. प्र-वा. ३।१२४ ।
३. प्र-वा. ३।१२४ ।
४. प्र-वा. ३।१२५, १२७ ।
५. प्र-वा. ३।१२९ ।

(शब्द के ज्ञान से वंचित) छोटे बच्चे के ज्ञान - की भांति कल्पनारहित (ज्ञान) बतलाते हैं, और बच्चे के (ज्ञान के इस तरह) कल्पना-रहित होने में (वाच्य-वाचक रूप से शब्द-अर्थ संबंध के) संकेत को कारण कहते हैं। ऐसों के (मत में) कल्पना के (सर्वथा) अभाव के कारण बच्चों का (सारा ज्ञान) सिर्फ प्रत्यक्ष ही होगा ; और (बच्चे को) संकेत (जानने) के लिये कोई उपाय न होने से पीछे (बड़े होने पर) भी वह (संकेत-ज्ञान) नहीं हो सकेगा।"१

(ब) मानस-प्रत्यक्ष—दिग्नाग ने "प्रमाण-समुच्चय"२ में मानस-प्रत्यक्ष की व्याख्या करते हुए कहा—"पदार्थ के प्रति राग आदि का जो (ज्ञान) है, वही (कल्पनारहित ज्ञान) मानस (-प्रत्यक्ष) है।" मानस-प्रत्यक्ष स्वतंत्र प्रत्यक्ष नहीं रहेगा, यदि वह "पहिले के इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान (अर्थ) को ही ग्रहण करे, क्योंकि ऐसी दशा में (पहिले से ज्ञात अर्थ का प्रकाशक होने से वह अज्ञात अर्थ का प्रकाशक नहीं, अतएव वह) प्रमाण नहीं होगा। यदि (इन्द्रिय ज्ञान द्वारा) अ-दृष्ट को (मानस-प्रत्यक्ष) माना जाए तो अंधे आदि को भी (रूप आदि) अर्थों का दर्शक मानना होगा।"३ इन सबका ख्याल कर धर्मकीर्ति **मानस-प्रत्यक्ष** की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—

"(चक्षु आदि) इन्द्रिय से जो (विषय का) विज्ञान (=ज्ञान) हुआ है, उसीको अनन्तरप्रत्यय (=तुरन्त पहिले गुज़रा कारण) बनाकर जो मन (=चैतन्य) उत्पन्न हुआ है, वही (मानस-प्रत्यक्ष है)। चूंकि (चक्षु आदि इन्द्रियों से ज्ञात रूप आदि ज्ञान से) भिन्न को (मन प्रत्यक्ष में) ग्रहण करता है, (इसलिये वह ज्ञात अर्थ का प्रकाशन नहीं। साथ ही मन द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाले रूप आदि विज्ञान की इन्द्रिय से ज्ञात उन रूप आदिकों से संबद्ध हैं, जिन्हें कि अन्धे······नहीं देख सकते, इसलिये) आंख के अंधों की (रूप...) देखने की बात नहीं उठती।"४

(स) स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष--दिग्नाग ने इसका लक्षण करते हुए कहा—"(चक्षु इन्द्रिय से गृहीत रूप का ज्ञान मन से गृहीत रूप-विज्ञान का ज्ञान होने के बाद रूप आदि) अर्थ के प्रति राग (द्वेष) आदि का अपने भीतर जो संवेदन (=अनुभव) होता है, (वही) कल्पनारहित (ज्ञान) स्वसंवेदन (-प्रत्यक्ष) है।"५ इसी अर्थ को अपने वार्त्तिक से स्पष्ट करते हुए धर्मकीर्ति ने कहा—

---

१. प्र-वा. ३।१४१-४२।
२. "मानसंचार्थ रागादि"।
३. प्र-वा. ३।२३९।
४. प्र-वा. ३।२४३।
५. "अर्थरागादि स्वसंवृत्तिरकल्पिका"—प्रमाणसमुच्चय।

"राग (सुख) आदि के जिन स्वरूपों का (हम अनुभव करते हैं वे) किसी दूसरी (इन्द्रियों आदि) से संबंध नहीं रखते, अतः उनके स्वरूप के प्रति (वाच्य-वाचक) संकेत का प्रयोग नहीं हो सकता ; और इसीलिये उनका जो अपने भीतर संवेदन होता है, वह (वाचक शब्द से) प्रकट होने लायक नहीं है" ।१ इस तरह अज्ञात अर्थ का प्रकाशक, कल्पना-रहित तथा अ-विसंवादी होने से राग-सुख आदि का जो अनुभव हमें होता है, वह स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष, इन्द्रिय- तथा मानस-प्रत्यक्ष से भिन्न एक प्रत्यक्ष है । इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में हम किसी इन्द्रिय के एक विषय (रूप, गंध···) का ज्ञान प्राप्त करते हैं ; मानस-प्रत्यक्ष हमें उससे आगे बढ़कर इन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान का अनुभव कराता है, और इस प्रकार अब भी उसका संबंध विषय से जुड़ा हुआ होता है । किन्तु, स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष में हम इन्द्रिय के (रूप –) ज्ञान और उसके इन्द्रिय-ज्ञान के अनुभव से आगे तथा बिल्कुल भिन्न राग-द्वेष, या सुख-दुःख का प्रत्यक्ष करते हैं ।

ङ. योगि-प्रत्यक्ष२—उपर्युक्त तीन प्रकार के प्रत्यक्षों के अतिरिक्त बौद्धों ने एक चौथा प्रत्यक्ष—योगि-प्रत्यक्ष—माना है । अज्ञात-प्रकाशक, अ-विसंवादी—प्रत्यक्ष के ये विशेषण यहां भी लिए गए हैं, साथ ही कहा गया है—"उन (योगियों) का ज्ञान **भावना** से उत्पन्न कल्पना के जाल से रहित स्पष्ट ही भासित होता है । (स्पष्ट इसलिये कि) काम, शोक, भय, उन्माद, चोर, स्वप्न आदि के कारण भ्रम में पड़े (व्यक्ति) अ-भूत (= अ-सत्) पदार्थों को भी सामने अवस्थित की भांति देखते हैं ; (लेकिन वे स्पष्ट नहीं होते) । जिस (ज्ञान) में विकल्प (= कल्पना) मिला रहता है, वह स्पष्ट पदार्थ के रूप में भासित नहीं होता । स्वप्न में (देखा हुआ पदार्थ) भी स्मृति में आता है ; किन्तु वह (जागने की अवस्था में) वैसे (विकल्प-रहित) पदार्थ के साथ स्मरण में नहीं आता ।"३

समाधि (= चित्त की एकाग्रता) आदि भावना से प्राप्त जितने ज्ञान हैं, सभी योगि-प्रत्यक्ष-प्रमाण में नहीं आते, "उनमें वही भावना से उत्पन्न (ज्ञान) प्रत्यक्ष प्रमाण माने जा सकते हैं जो कि पहले (अज्ञात-प्रकाशक आदि) की भांति संवादी (= अर्थक्रिया का अनुसरण करनेवाले) हों ; बाकी (दूसरी **भावना** से उत्पन्न ज्ञान) भ्रम हैं ।"४

प्रत्यक्ष ज्ञान होने के लिये उसे कल्पना-रहित होना चाहिए, इस पर बहुत ज़ोर दिया गया

१. प्र. वा. ३।२४९ ।
२. 'इन्ट्यूशन' ।
३. प्र. वा. ३।२८१-८३ ।
४. प्र. वा. ३।२८६ ।

है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तक कल्पना से रहित होना आसानी से समझा जा सकता है, क्योंकि वहां हम देखते हैं कि सामने घड़ा देखने पर नेत्र पर पड़े घड़े के प्रतिबिंब का जो पहला दबाव ज्ञान-तंतुओं द्वारा हमारे मस्तिष्क पर पड़ता है, वह कल्पना-रहित होता है। पहले दबाव के बाद एक प्रतिबिंब मस्तिष्क पर पड़ता है, फिर मस्तिष्क में संस्कार-रूप में पहले के देखे घड़ों के जो प्रतिबिंब (या प्रतिबिंब-सन्तान) मौजूद हैं, उनसे इस नये प्रतिबिंब (या लगातार पड़ रहे प्रतिबिंब-सन्तान) को मिलाया जाता है—अब यहां से कल्पना का आरंभ हो गया। फिर जिस प्रतिबिंब से यह नया प्रतिबिंब मिल जाता है, उसके वाचक नाम का स्मरण होता है, और इस तरह नये प्रतिबिंब-वाले पदार्थ का नामकरण किया जाता है। यहां कहां तक ज्ञान कल्पना-रहित रहा और कहां से कल्पना शुरू हुई, इसे उस प्रथम दबाव के द्वारा समझना आसान है; किन्तु जहां बाहरी वस्तु के दबाव की बात नहीं रहती, वहां कल्पना के आरंभ की सीमा निर्धारित करना—खास कर योगि-प्रत्यक्ष ('इन्ट्यूशन')-जैसे ज्ञान में—बहुत कठिन है। इसीलिये कल्पना की व्याख्या करते हुए धर्मकीर्ति ने लिखा—

"जिस (विषय, वस्तु) में जो (ज्ञान दूसरे से पृथक् करनेवाले) शब्द-अर्थ (के संबंध) को ग्रहण करनेवाला है, वह ज्ञान उस (विषय) में कल्पना है। (वस्तु का) अपना रूप शब्दार्थ (शब्द का विषय) नहीं होता, इसलिये वहां का सारा (ज्ञान) प्रत्यक्ष है।"[१]

इस तरह चाहे ज्ञान का विषय बाहरी वस्तु हो अथवा भीतरी **विज्ञान**, जब तक समानता-असमानता को लेकर प्रयुक्त होनेवाले शब्दार्थ को अवकाश नहीं मिल रहा है, तब तक वह प्रत्यक्ष की सीमा के भीतर ही रहता है।

(**प्रत्यक्षाभास**)—चार प्रकार के प्रत्यक्ष हम बतला चुके, किन्तु ऐसे भी ज्ञान हैं जो प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं, और देखने में प्रत्यक्ष-से लगते हैं। ऐसे प्रत्यक्षाभासों की संख्या चार है—"भ्रान्तिज्ञान, संवृतिमत्-(ज्ञान), अनुमानानुमानिक-स्मार्ताभिलापिक-(ज्ञान) और तैमिरज्ञान।"[२] (१) भ्रान्तिज्ञान—मरुभूमि की बालुका में जल का ज्ञान; (२) संवृतिवाला ज्ञान—फ़र्ज़ी द्रव्य-गुण आदि का ज्ञान—'यह अमुक द्रव्य है, अमुक गुण है'; (३) अनुमान—(= लिंग, धूम) आनुमानिक (लिंगी, आग) संकेतवाली स्मृति के अभिलाप (= वचन के विषय-) वाला ज्ञान ('यह घड़ा है'); (४) तैमिर-ज्ञान वह ज्ञान है जो कि इन्द्रिय में किसी विकार

---

१. प्र. वा. ३।२८७।

२. "भ्रान्तिसंवृतिमज् ज्ञानं, अनुमानानुमानिकम्। स्मार्ताभिलापिकं चेति प्रत्यक्षाभं सतैमिरम्।"—प्रमाणसमुच्चय।

के कारण होता है, जैसे पीलिया रोगवाले को सभी चीजें पीली मालूम होती हैं। इनमें पहिले "तीन प्रकार (के प्रत्यक्षाभास) कल्पनायुक्त ज्ञान हैं, (जो कल्पनायुक्त होने ही के कारण प्रत्यक्ष के भीतर नहीं गिने जा सकते) ; और एक (तैमिर) कल्पना-रहित है, किंतु आश्रय (=इन्द्रिय) में विकार होने के कारण उत्पन्न होता है, (इसलिये प्रत्यक्ष-ज्ञान में नहीं आ सकता)।" चार प्रकार के प्रत्यक्षाभास ये हैं१ :—

(अ) **अनुमान-प्रमाण**—आग का ज्ञान दो प्रकार से हो सकता है : एक, अपने स्वरूप से, जैसा कि **इन्द्रिय-प्रत्यक्ष** से देखने पर होता है ; दूसरा, दूसरे के रूप से, जैसे धुआं देखने पर एक दूसरे (रसोईघर की) आग का रूप याद आता है और इस प्रकार दूसरे के रूप से इस धुएं के लिंग-(= चिह्न) वाली आग का ज्ञान होता है—यह अनुमान है। चूंकि पदार्थ का "स्वरूप और पररूप दो ही तरह से ज्ञान होता है, अतः प्रमाण के विषय (= प्रमेय) दो ही प्रकार के होते हैं"२—प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय तथा अनुमान का विषय।

किंतु "(रूप से जो अनुमान-ज्ञान होता) है, वह जैसी (वस्तुस्थिति) है, उसके अनुसार नहीं लिया जाता, इसलिये (यह) दूसरे तरह का (ज्ञान) भ्रान्ति है। (फिर प्रश्न होता है) : यदि (वस्तु का अपने रूप से नहीं) पररूप से ज्ञान होता है, तो (वह भ्रान्ति है) और भ्रान्ति को प्रमाण नहीं कह सकते (क्योंकि वह अ-त्रिसंवादी नहीं होगा)।" (उत्तर है :) "भ्रान्ति को भी प्रमाण माना जा सकता, यदि (उस ज्ञान का) अभिप्राय (जिस अर्थ से है, उस अर्थ) में अ-विसंवाद न हो (= उसके विरुद्ध न जाए ; क्योंकि) दूसरे रूप से पाया ज्ञान भी (अभिप्रेत अर्थ का संवादी) देखा जाता है"।३ यहां पहाड़ में देखे धुएंवाली आग के ज्ञान को हम अपने रूप से नहीं पर रसोईघरवाली आग के रूप के द्वारा पाते हैं, परन्तु हमारे इस अनुमान-ज्ञान से जो अभिप्रेत अर्थ (पहाड़ी आग) है, उससे उसका विरोध नहीं है।

(आ) **अनुमान की आवश्यकता**—"वस्तु का जो अपना स्वरूप (= स्वलक्षण) है, उसमें कल्पना-रहित प्रत्यक्ष प्रमाण की ज़रूरत होती है (यह बतला चुके हैं) ; किन्तु (अनेक वस्तुओं के भीतर जो) **सामान्य** है, उसे कल्पना के बिना नहीं ग्रहण किया जा सकता, इसलिये इस (सामान्य के ज्ञान) में अनुमान की ज़रूरत पड़ती है।"४

---

१. प्र. वा. ३।२८८।
२. प्र. वा. ३।५४।
३. प्र. वा. २।५५,५६।
४. प्र. वा. ३।७५।

(इ) **अनुमान का लक्षण**—किसी "संबंधी (पदार्थ, धूम से संबंध रखनेवाली आग) के धर्म (= लिंग, धूम) से धर्मी (= धर्मवाली आग) के विषय में जो (परोक्ष) ज्ञान होता है, वह अनुमान है।"१

पहाड़ पर हम दूर से धुआं देखते हैं, हमें रसोईघर या दूसरी जगह देखी आग याद आती है, और यह भी कि 'जहां-जहां धुआं होता है, वहां-वहां आग होती है', फिर धुएं को हेतु बनाकर हम यह जान जाते हैं कि पर्वत में आग है। यहां आग परोक्ष है, इसलिये उसका ज्ञान उसके अपने स्वरूप से हमें नहीं हो रहा है जैसा कि प्रत्यक्ष आग में होता है ; दूसरी बात यह है कि हमें यह ज्ञान सद्यः नहीं होता, बल्कि उसमें स्मृति—शब्द-अर्थ-संबंध—अर्थात् कल्पना का आश्रय—लेना पड़ता है।

(**प्रमाण दो ही हैं :**)-प्रमाण द्वारा ज्ञेय (= प्रमेय) पदार्थ स्वरूप तथा पररूप (कल्पना-रहित तथा कल्पना-युक्त) दो ही प्रकार से जाने जाते हैं। इनमें पहला प्रत्यक्ष रहते जाना जाता है, दूसरा परोक्ष (= अप्रत्यक्ष) रहते। "प्रत्यक्ष और परोक्ष छोड़ कोई (तीसरा) प्रमेय संभव नहीं है, इसलिये प्रमेय के (सिर्फ) दो होने के कारण प्रमाण भी दो ही होते हैं। दो ही तरह के प्रमेयों के देखने से (प्रमाणों की) संख्या को (बढ़ाकर) तीन या (घटाकर) एक करना भी गलत है।"२

(ई) **अनुमान के भेद**—कणाद तथा अक्षपाद ने अनुमान को एक ही माना था, इसलिये अपने पूर्ववर्ती "ऋषियों" के पद पर चलते हुए, प्रशस्तपाद-जैसे थोड़े से अपवादों को छोड़, आज तक ब्राह्मण नैयायिक उसे एक ही मानते आ रहे हैं। अनुमान के स्वार्थ-अनुमान, परार्थ-अनुमान —ये दो भेद पहले-पहले आचार्य दिग्नाग ने किए।३ दो प्रकार के अनुमानों में स्वार्थानुमान वह अनुमान है जिसमें तीन प्रकार के **हेतुओं** (= लिंगों, चिह्नों, धर्मों…) से किसी प्रमेय का ज्ञान अपने लिये (= स्वार्थ) किया जाए।४ परार्थानुमान में उन्हीं तीन प्रकार के हेतुओं द्वारा दूसरे के लिये (= परार्थ) प्रमेय का ज्ञान कराया जाता है।

---

१. प्र. वा. ३।६२ "अटूट संबंधवाले (दो) पदार्थों (में से एक) का दर्शन उस संबंध के जानकार के लिये अनुमान होता है" (अनन्तरीयकार्थ-दर्शनं तद्विदोऽनुमानम्—वसुबंधु : 'वादविधि')।

२. प्र. वा. ३।६३-६४।

३. धर्मोत्तर : न्यायविन्दु, पृ० ४२।

४. न्यायविन्दु २।३।

(उ) **हेतु (= लिंग)-धर्म**—पदार्थ (= प्रमेय) के जिस धर्म को देखकर हम कल्पना द्वारा उसके अस्तित्व का अनुमान करते हैं, वह हेतु है ; अथवा "पक्ष (आग) का धर्म हेतु, जो कि पक्ष (आग) के अंश (धर्म, धूम) से व्याप्त है ।"१

"हेतु सिर्फ तीन तरह के होते हैं :"२ कार्यहेतु, स्वभावहेतु और अनुपलब्धिहेतु । हम किसी पदार्थ का अनुमान करते हैं उसके कार्य से—"पहाड़ में आग है—धुआं होने से", यहां धुआं आग का कार्य है । "धुआं होने से" **कार्य-हेतु है** ।

"यह सामने की वस्तु वृक्ष है, शीशम होने से", यहां 'शीशम होने से' हेतु दिया गया है । वृक्ष सारे शीशमों का स्व-भाव (= स्व-रूप) है, सामने की वस्तु को यदि हम शीशम समझते हैं, तो उसे इस **स्वभाव-हेतु** के कारण वृक्ष भी मानना पड़ेगा ।

"मेज़ पर गिलास नहीं है, उपलब्धि-योग्य स्वरूपवाली होने पर भी उसकी उपलब्धि न होने से" । यह **अनुपलब्धि-हेतु** का उदाहरण है । गिलास ऐसी चीज़ है जो कि वहां होने पर दिखाई देगी, उसके न दिखाई देने (उपलब्धि न होने का) मतलब है कि वह मेज़ पर नहीं है । गिलास की अनुपलब्धि यहां हेतु बनकर उसके न होने (=अभाव) को सिद्ध करती है ।

अनुमान से किसी बात को सिद्ध करने के लिये कर्म-स्वभाव-अनुपलब्धि के रूप में तीन प्रकार के हेतु इसीलिये होते हैं, क्योंकि हेतुवाले इन धर्मों के बिना धर्मी (=साध्य, आग) कभी नहीं होता—इस धर्म का धर्मी के साथ अ-विनाभाव (=उसके बिना न होना) संबंध है । हम जानते हैं ; "जहां जहां धुआं होता है, वहां वहां आग ज़रूर होती है" ; "जो जो शीशम है वह वृक्ष ज़रूर होता है" ; "आंख से दिखाई पड़नेवाला गिलास, होने पर ज़रूर दिखाई देता है, न दिखाई देने का मतलब है, नहीं होना ।"

(७) मन और शरीर—

(क) **एक-दूसरे पर आश्रित**—मन और शरीर अलग हैं या एक ही हैं, इसपर भी धर्मकीर्ति ने अपने विचार प्रकट किए हैं । बौद्ध दर्शन के बारे में लिखते वक्त हम बतला आए हैं, कि बौद्ध आत्मा को नहीं मानते, उसकी जगह वे चित्त, मन या **विज्ञान** को मानते हैं, जो तीनों पर्याय हैं । मन शरीर नहीं है किन्तु साथ ही "मन काया के आश्रित है ।"३ इन्द्रियां काया (=शरीर) में होती हैं, यह हम जानते हैं, और "यद्यपि इन्द्रियों के बिना बुद्धि (=मन

१. प्र-वा. १।३ ।
२. वही ।
३. प्र-वा. २।४३ ।

का ज्ञान) नहीं होता, तथापि साथ ही इन्द्रियां भी बुद्धि के बिना नहीं होतीं ; इस तरह दोनों (इन्द्रियां और बुद्धि) अन्योन्यहेतुक (=एक-दूसरे पर निर्भर) हैं, और इससे (मन और काया) का अन्योन्यहेतुक होना सिद्ध है।

(ख) **मन शरीर नहीं**—मन और शरीर का इस तरह एक-दूसरे पर आश्रित होना—दोनों में अविनाभाव संबंध होना—हमें इस परिणाम पर पहुंचाता है कि मन शरीर से सर्वथा भिन्न तत्त्व नहीं है, वह शरीर का ही एक अंग है ; अथवा मन और शरीर दोनों उन्हीं भौतिक तत्त्वों के विकास हैं, अतः तत्त्वतः उनमें कोई भेद नहीं है—भूत से ही चैतन्य है, जो चैतन्य है वही भूत है। धर्मकीर्ति अन्य बौद्ध दार्शनिकों की भांति भूत-चेतन्यवाद (=भौतिकवाद, जड़वाद) का खंडन करते हुए कहते हैं—"प्राण-अपान (श्वास-प्रश्वास), इन्द्रियां और बुद्धि (=मन) की उत्पत्ति अपनेसे समानता रखनेवाले (=सजाति) पूर्व-कारण के बिना नहीं होती। यदि इस तरह की उत्पत्ति (जन्मग्रहण) संभव होती, तो (प्राण-अपान-इन्द्रिय-बुद्धिवाले शरीर से उत्पन्न होने का) नियम न रहता (और जिस-किसो भूत से जीवन अर्थात् प्राण-अपान-इन्द्रिय-बुद्धिवाला शरीर उत्पन्न होता)।"[1]

जीवनवाले बीज से ही दूसरे जीवन की उत्पत्ति होती है, यह भी इस बात की दलील है कि मन (=चेतना) केवल भूतों की उपज नहीं है। कहीं कहीं जनक-बीज के बिना भी जीवन उत्पन्न होता दिखाई पड़ता है, जैसे कि वर्षा में क्षुद्र कीट, इसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं :—

"पृथिवी आदि ऐसा कोई अंश नहीं है, जहां स्वेदज आदि जन्तु न पैदा होते हों, इससे मालूम होता है सब (भूत से उत्पन्न होती दिखाई देनेवाली वस्तुएं) बीजात्मक हैं।"[2]

"यदि अपने सजातीय (जीवन-युक्त कारण) के बिना इन्द्रिय आदि की उत्पत्ति मानी जाए, तो जैसे एक (जगह के भूत जोवन के रूप में) परिणत हो जाते हैं, उसी तरह सभी (भूत परिणत हो जाने चाहिएं), क्योंकि (पहले जीवन-शून्य होने से सभी) एक-से हैं ; (लेकिन हर कंकड़ और हर ढेले को सजीव आदमी के रूप में परिणत होते नहीं देखा जाता)।"[3]

"बत्ती (तेल) आदि की भांति (कफ, पित्त आदि) दोषों द्वारा देह वि-गुण (=मृत) हो जाता है—यह कहना ठीक नहीं है, ऐसा होता तो मरने के बाद (कफ, पित्त आदि) दोषों

---

१. प्र-वा. २।३५।

२. प्र-वा. २।३७।

३. प्र-वा. २।३८।

का शमन हो जाता है, (फिर तो दोषों के शमन से विगुणता हट जाने के कारण मृतक को) फिर जी जाना चाहिए।

"यदि कहो, (जलकर) आग के निवृत्त (= शांत) हो जाने पर भी काष्ठ के विकार (कोयले या राख) की निवृत्ति (= पहले काष्ठ के रूप में परिणति) नहीं होती, उसी तरह (मृत शरीर की भी कफ आदिक शांत होने पर भी सजीव शरीर के रूप में) परिणति नहीं होती—तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि चिकित्सा के प्रयोग से (जब दोषों को हटा दिया जाता है, तो शरीर प्रकृतिस्थ हो जाता है, किन्तु यह शरीर के सजीव रहने पर ही)।

"(दोषों से होनेवाले विकारों की निवृत्ति या अ-निवृत्ति (सभी जगह एक-सी नहीं है), कोई वस्तु कहीं कहीं न लौटने देनेवाले (= अनिवर्त्य) विकार की जनक (= उत्पादक) होती है, जैसे काष्ठ के बारे में आग (अनिवर्त्य विकार की जनक) है; और कहीं उलटा (निवर्त्य विकार-जनक) है, जैसे (वही आग) सुवर्ण में। पहले (काष्ठ को आग) का थोड़ा भी विकार (काला आदि पड़ जाना) अनिवर्त्य (= न लौटाया जानेवाला) है। (किन्तु, दूसरी सोनेवाली आग में जो) लौटाया जा सकनेवाला (= प्रत्यानेय) विकार है, वह फिर (पूर्ववत् पिघले से) ठोस सोने की तरह हो सकता है।

"(जो कुछ) असाध्य कहा जाता है, (वह रोगों और मृत्यु के कारण कफ आदि दोषों की) निवारक (औषधों) के दुर्लभ होने से अथवा आयु की क्षय की वजह से (ऐसा कहा जाता है)। यदि (भौतिकवादियों के मतानुसार) केवल (भौतिक दोष ही मृत्यु के कारण हों,) तो (ऐसे दोषों का हटाना) असाध्य नहीं हो सकता।

"(माना जाता है कि सांप काटने पर जब तक जीवन रहता है, तब तक विष सारे शरीर में फैलता जाता है, किन्तु शरीर के निर्जीव हो जाने पर विष काटे स्थान पर जमा हो जाता है; इस तरह तो यदि भूत ही चेतना होते, तो शरीर के) मर जाने पर, विष आदि के (शरीर के अन्य स्थानों से हटकर एक स्थान पर) जमा होने से, (शरीर के बाक़ी स्थानों) अथवा कटे (स्थान) के काट डालने से (बाक़ी शरीर में निर्जीवता-रूपी) विकार के हेतु (विष) के हट जाने से वह (शरीर) क्यों नहीं सांस लेने लगता? (इससे पता लगता है कि चेतना भूत ही नहीं है, बल्कि उससे भिन्न वस्तु है, यद्यपि दोनों एक-दूसरेके आश्रित होने से अलग-अलग नहीं रह सकते)।

"(भूत से चेतना की उत्पत्ति मानने पर भूत उपादान और चेतना उपादेय हुई, फिर) उपादान (शरीर) के विकार के बिना उपादेय (चेतना) में विकार नहीं किया जा सकता, जैसे कि मिट्टी में विकार-बिना (मिट्टी के बने) कसोरे आदि में (विकार नहीं किया जा सकता)।

किसी वस्तु के विकार-युक्त हुए बिना जो पदार्थ विकारवान् होता है, वह वस्तु उस (पदार्थ) का उपादान नहीं (हो सकती); जैसे कि (एक के विकार के बिना दूसरी विकारयुक्त होनेवाली गाय और नील गाय (एक-दूसरेका उपादान नहीं हो सकतीं)। इसी तरह मन और शरीर की भी (बात है, दोनोंमें से एकके विकार-युक्त हुए बिना भी दूसरे में विकार देखा जाता है "—प्र. वा. २।५४-६२।

(ग) मन का स्वरूप—"स्वभाव से मन प्रभास्वर (=निर्विकार) है, (उसमें पाए जाने-वाले) मल आगन्तुक (आकाश में कुहरे आदि की भांति अपने से भिन्न) हैं।"—प्र. वा. २।२०८।

चतुरंग

[क्रमागत]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

शचीश

१

नास्तिक जगमोहन ने मृत्यु के पूर्व भतीजे शचीश से कहा, यदि श्राद्ध करने का शौक़ हो तो वक्त आने पर बाप का कर लेना, किंतु बड़े-चाचा का नहीं।

उनकी मृत्यु का विवरण इस प्रकार है :—

जिस वर्ष कलकत्ते में प्लेग के प्रथम दर्शन हुए उस समय प्लेग की अपेक्षा लोग तमग़ाधारी सरकारी चपरासियों से ही अधिक भीत और परेशान थे। हरिमोहन ने सोचा, उनके पड़ौसी चमारों आदि पर पहले प्लेग टूटेगी और फिर उन्हींके साथ-साथ पड़ौस के रिश्ते से अपना भी सहमरण निश्चित है। घर छोड़कर भागने के पहले एक बार भाई से जाकर कहा, भैया, कालना में गंगा-तीर एक घर मिल गया है, अगर—

जगमोहन बोले, खूब! इन लोगों को यहां डालकर भला जाऊंगा ही किस तरह?

किन लोगों को?

इन्हीं चमार-वगैरों को।

हरिमोहन मुंह बिचकाकर चले गए। शचीश से उसके मैस में जाकर बोले, चल!

शचीश ने कहा, मुझे काम है।

मुहल्ले के चमारों की मुर्दाफ़राशी का काम न?

जी हां, अगर ज़रूरत पड़े तो—

जी हां, क्यों नहीं! अगर ज़रूरत पड़े तो आप अपने चौदह पीढ़ी के पुरखों को नरक पठा सकते हैं। पाजी लंपट नास्तिक!

घोर कलियुग के दुर्लक्षण देखकर हरिमोहन हताश होकर घर लौट आए। उस दिन उन्होंने ग्लानिमोचनस्वरूप प्रायः दस्ताभर लंबे आकार के पीले काग़ज़ पर बारीक़ हरफ़ों में दुर्गा-नाम लिख डाला।

हरिमोहन चले गए। मुहल्ले में प्लेग के दर्शन हुए। पीछे कहीं पकड़कर अस्पताल

में न ले जा पटकें इस डर से लोग डाक्टर को बुलाना नहीं चाहते थे। जगमोहन स्वयं जाकर प्लेग-अस्पताल देख आकर बोले, बीमारी हुई है तो यह आदमी ने कोई अपराध तो किया नहीं जो ऐसी सज़ा दी जाए!

कोशिश करके उन्होंने अपने ही घर में एक प्राइवेट अस्पताल खुलवाया। शचीश के साथ हम लोग दो-एक जन सेवा-टहल का भार लिए हुए थे ; दल में एक डाक्टर भी थे।

हमारे अस्पताल में पहला रोगी जुटा एक जन मुसलमान, वह मर गया। द्वितीय रोगी स्वयं जगमोहन थे। शचीश से बोले, इतने दिन जिस धर्म को मानता आया हूं, आज उसका अंतिम पुरस्कार भी वसूल कर लिया, कोई खेद नहीं है।

शचीश ने जीवन-भर अपने बड़े चाचा को प्रणाम नहीं किया था, मृत्यु के बाद आज उसने आखिरी बार उनके पावों की धूल ली।

इसके बाद जब हरिमोहन की शचीश से भेंट हुई तो बोले, नास्तिक की मौत ऐसी ही होती है।

शचीश ने भी खूब गर्व के साथ कहा,—जी हां।

२

एक फूंक में बत्ती बुझा देने से उसका प्रकाश जिस तरह हठात् लोप हो जाता है, वैसे ही जगमोहन की मृत्यु के बाद शचीश कहां चला गया सो हम जान ही नहीं पाए। अपने बड़े चाचा को शचीश कितना चाहता था इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे शचीश के पिता थे, सखा थे, और कहा जा सकता है कि पुत्र भी थे। कारण, अपने बारे में वे इतने आत्मविस्मृत थे—दुनियादारी के मामले में इतने नादान—कि उन्हें सब तरह की मुश्किलों से बचाए चलना शचीश का एक प्रधान काम था। इसी तरह बड़े-चाचा के भीतर से शचीश ने अपना सब-कुछ पाया था और उन्हींके भीतर से अपना सब-कुछ दिया था। शुरू में उनके वियोग की शून्यता शचीश के निकट किस तरह लगी होगी इसे ठीक ठीक सोचा भी नहीं जा सकता। इस असह्य यंत्रणा की दुःसह पीड़ा में शचीश ने केवल यही समझने का चेष्टा की थी कि शून्य कभी इस क़दर शून्य नहीं हो सकता ; सत्य नहीं है—ऐसी भयानक रिक्तता और कुछ भी नहीं हो सकती ; एक तरफ़ से जो "ना" है वही यदि दूसरी तरफ़ से "हां" न हो, तब तो उसी एक छिद्र के भीतर से सारा जगत् गलकर जाने-कहां विलीन हो जायगा—

दो बरस तक शचीश देश-देश भटकता फिरता रहा, कोई खबर ही नहीं मिली उसकी।

अपने दल को लेकर हम लोगों ने और भी ज़ोरशोर से काम चलाना शुरू कर दिया। जो लोग-धर्म के नाम पर कुछ भी मानते थे, हम लोग ज़बर्दस्ती उनसे उलझकर, पीछे पड़कर, केवल उनकी हड्डी-हड्डी तक आग सुलगाने की चेष्टा करने लगे और खूब चुन-चुनकर उन सब भले कामों में जुट गए जिनसे देश के भले आदमियों के लड़के हमारे संबंध में एक भी भली बात न कह सकें। शचीश हमारा फूल था, वह जब खिसककर दूर जा पड़ा, तब सहज ही हमारे सब चुभीले कांटे एकबारगी उग्र और उलंग हो पड़े।

३

दो बरस तक शचीश का कोई पता नहीं मिला। शचीश की निंदा करने का मुझे कभी जी नहीं हुआ, किंतु मन ही मन यह ख्याल किए बिना भी मैं नहीं रह सका कि शचीश जिस सुर में बंधा हुआ था, धक्का खाकर वह सुर नीचे उतर गया है। एक बार किसी संन्यासी को देखकर बड़े चाचा ने कहा था, संसार मनुष्य को पोद्दार (खज़ाञ्ची) की तरह जांच लेता है—शोक की चोट, क्षति का आघात, मुक्ति के लोभ की ठोकर देकर। जिनकी आवज़ मन्दी पड़ती है उन्हें दूर फेंक देता है। ये बैरागी लोग वही फेंके हुए खोटे सिक्के हैं, जीवन के कारबार में एकबारगी अचल। और फिर भी ये लोग शेखी बघारते फिरते हैं कि उन्होंने खुद संसार त्याग किया है। जिसमें तनिक सी भी योग्यता है उसे दुनिया से ज़रा-सा भी टस-से-मस करने की गुंजाइश नहीं। सूखा पत्ता वृक्ष से गिर पड़ता है, वृक्ष उसे झरा देता है इसीलिये—वह आवर्जना जो है व्यर्थ की!

इतने लोगों के रहते क्या अंत में शचीश ही उस आवर्जना के दल में जा पड़ा? दुःख की कसौटी पर क्या यही लेख अंकित हो गया कि जीवन की हाट में शचीश की कोई क़ीमत नहीं?

ऐसे ही समय सुनने में आया कि चटगांव के निकट कौन-सी एक जगह में शचीश—हम लोगों का अपना शचीश—लीलानन्द स्वामी के साथ कीर्त्तन में मत्त होकर करताल चटकाते हुए मुहल्ले-भर को अस्थिर करके नाचता फिर रहा है।

एक दिन मैं किसी भी तरह सोच नहीं सका था कि शचीश-जैसा व्यक्ति क्योंकर नास्तिक हो सकता है; आज किसी भी तरह समझ में नहीं आया कि यह लीलानन्द स्वामी उसे किस तरह नचाता फिर रहा है।

इधर हम लोग भला मुंह कैसे दिखाएं?—दुश्मनों का दल हंसेगा जो। और कोई एक-आध जन तो दुश्मन है नहीं।

हमारे दल के लोग शचीश पर आगबबूला हो गए। बहुतों ने कहा, वे लोग शुरू से ही जानते थे कि शचीश के भीतर ठोस कुछ भी नहीं है, है केवल पोली भावुकता।

मैं शचीश को कितना अधिक प्यार करता था सो इस बार समझ में आया। हमारे दल पर उसने इस तरह मृत्युबाण हनन किया, तब भी किसी भी तरह उसपर क्रोध नहीं करते बना।

४

मैं लीलानन्द स्वामी की खोज में निकल पड़ा। कितनी नदियां पार की, खेत लांघे, रास्तों की खाक छानी, कितनी रातें मोदी की दूकान पर काटीं; आखिर एक गांव में पहुंचकर शचीश को पाया। तब वक्त दो बजे के आन्दाज़ होगा।

इच्छा थी शचीश को अकेले पाऊं। लेकिन चारा क्या था! जिस शिष्यगृह में स्वामीजी ने आश्रय लिया है उसका आंगन-बरामदा लोगों से भरपूर लोकारण्य बन गया है। समूचा सबेरा कीर्तन में बीता है। जो लोग दूर दूर से आए हैं उनके खाने-पीने की व्यवस्था की जा रही है।

देखते ही शचीश ने दौड़ते हुए आकर मुझे छाती से चिपटा लिया। मैं अवाक् हो गया। शचीश सदा संयत रहता आया है, उसकी स्तब्धता में ही उसके हृदय की गहराई का पता मिलता आया है। आज मुझे ऐसा लगा मानो शचीश ने नशा किया हो।

स्वामीजी कमरे में विश्राम कर रहे थे। दरवाजे का एक पल्ला ज़रा-सा खुला था, वहीं से मुझे देखा। गभीर कंठ से पुकार हुई, शचीश!

व्यस्त होकर शचीश कमरे में गया। स्वामीजी ने पूछा, वह कौन है?

शचीश बोला, श्रीविलास, मेरा सखा।

उन दिनों लोगों में मेरा नाम फैलना शुरू हो गया था। मेरी अंगरेज़ी वक्तृता सुनकर किन्हीं एक अंगरेज़ विद्वान् ने कहा था, वह आदमी इस तरह...खैर, जाने भी दीजिए, वे सब बातें लिखकर व्यर्थ अपने दुश्मनों की संख्या नहीं बढ़ाना चाहता।

मैं एक धुरन्धर नास्तिक हूं और घंटे में बीस-पचीस मील की रफ़्तार से बिल्कुल बाक़ायदा अंग्रेज़ी बोली की चार घोड़ोंवाली गाड़ी हांक सकता हूं, यह बात छात्रसमाज से शुरू करके छात्रों के पितृसमाज तक खासी फैल चुकी थी।

मेरा ख्याल है, मुझे आया जानकर स्वामीजी खुश हुए। उन्होंने मुझसे मिलना चाहा। कमरे में घुसकर मैंने एक नमस्कार निबटा दी—जिसमें मेरे दोनों हाथ खांड़े की तरह सीधे

कपाल तक उटे, लेकिन सिर नीचा नहीं हुआ। हम लोग बड़े-चाचा के चेले थे ; हमारा नमस्कार गुणहीन धनुष की तरह अपने नमो अंश को छोड़कर बुरी तरह सीधा हो गया था।

स्वामीजी ने इसे लक्ष्य किया और शचीश से कहा, तम्बाकू भर लाओ जी शचीश !

शचीश तम्बाकू भरने बैठ गया। जैसे जैसे चिलम पर कोयले की टिकियां जमाने लगा वैसे वैसे मेरे हाड़ जलने लगे। कहां बैठूं सो कुछ सोच नहीं सका। असबाब के नाम एक तख्तपोश था जिसपर स्वामीजी का बिस्तर लगा हुआ था। उसीके एक कोने पर बैठना मैं अनुचित नहीं समझता, लेकिन जाने-क्यों वैसा किया नहीं—दरवाजे के पास ही खड़ा रह गया। देखा, स्वामीजी को मालूम है कि मैं रायचंद-प्रेमचंद स्कालरशिप पानेवाला हूं। बोले, बेटा, पनडुब्बा मोती निकालने के लिये समुद्र के तले तक जा पहुंचता है किंतु अगर वहीं टिक जाए तब तो खैरियत नहीं—मुक्ति के लिये उसे ऊपर आकर दम लेनी होती है। बचना चाहते हो अगर बबुआ, तो अब विद्यासमुद्र की तलो से निकलकर धरती पर उठना पड़ेगा। प्रेमचंद-रायचंद वृत्ति तो पा चुके हो, अबकी प्रेमचंद-रायचंद निवृत्ति भी ज़रा एक दफ़ा आज़मा देखो।

शचीश तंबाकू भरकर उनके हाथों में देकर उनके पावों की तरफ़ धरती पर ही बैठ गया। स्वामीजी ने तत्काल दोनों पैर उसीकी तरफ़ फैला दिए। शचीश धीरे धीरे पावों पर हाथ फेरने लगा। यह देखकर मुझसे कमरे में नहीं ठहरा गया। समझ गया कि मुझे खास करके चोट पहुंचाने की ग़रज़ से ही शचीश के ज़रिए हुक्का भरवाया गया है, पांव दबवाए जा रहे हैं।

स्वामी आराम करने लगे—सभी अभ्यागतों ने खिचड़ी पाई। पांच बजे से कीर्तन शुरू होकर फिर रात दस बजे तक वही सिलसिला जारी रहा।

रात में शचीश को अकेला पाकर मैंने कहा, शचीश, जन्म से लेकर तुम मुक्ति के बीच बड़े हुए हो, आज यह किस बंधन में तुमने अपने को फंसा रखा है ? बड़े-चाचा की मृत्यु क्या इतनी सच्ची मृत्यु हो जायगी ?

मेरे श्रीविलास नाम के प्रथम दो अक्षरों को उलटकर शचीश कुछ तो स्नेह के कौतुक से और कुछ मेरे चेहरे के गुण के कारण मुझे विश्री—कुरूप—कहकर पुकारता था। बोला, विश्री, बड़े-चाचा जब जीवित थे तब उन्होंने मुझे जीवन के कर्मक्षेत्र में मुक्ति दी थी, छोटा बच्चा जैसे खेल के आंगन में मुक्ति पाता है ; मृत्यु के बाद उन्होंने मुझे मुक्ति दी है रस के सागर में, छोटा बच्चा जैसे मुक्ति पाए मां की गोद में। दिन के समय की वह मुक्ति भोग कर चुका हूं, अब रात के समय की यह मुक्ति ही क्यों कर छोड़ दूं ? ये दोनों व्यापार हमारे उन्हीं एक बड़े चाचा के ही घटाए हुए हैं, इसे तुम निश्चित समझना।

मैंने कहा, चाहे जो कहो, यह हुक्का भराना, पांव दबवाना—ये सब उपसर्ग तो बड़े-चाचा

में नहीं थे—मुक्ति का यह चेहरा नहीं होता।—शचीश बोला, वह धरती पर की मुक्ति थी, तब बड़े चाचा ने कर्मक्षेत्र में मेरे हाथ-पैरों को चलमान् कर दिया था। और यह रस का समुद्र है, यहां नाव का बंधन ही मुक्ति का रास्ता है। इसीसे तो गुरु मुझे इस तरह चारों ओर से सेवा में अटकाकर रखे हुए हैं—मैं पांव दबाकर पार हो रहा हूं।

मैं बोला, तुम्हारे मुंह से यह बात बुरी नहीं लगती, किंतु जो तुम्हारी तरफ़ इस तरह अपने पांव लंबे कर सकते हैं वे—

शचीश ने कहा, उन्हें सेवा की ज़रूरत नहीं होने से ही इस तरह पांव फैला देते हैं, अगर ज़रूरत होती तो लज्जा अनुभव करते, ग़रज़ तो मेरी ही है।

मैं समझ गया, शचीश किसी ऐसे जगत् में है जहां मैं एकबारगी नहीं हूं। मिलते ही उसने जो मुझे छाती से कसकर दबा लिया था, वह मैं श्रीविलास नहीं था, था "सर्वभूत"—एक आइडिया।

इस तरह की आइडिया-जातीय वस्तु शराब की तरह होती है—नशे की विह्वलता में मतवाला व्यक्ति जिस-तिसको छाती से चपेटकर आंसू बरसा सकता है, तब मैं हुआ तो क्या, और कोई अन्य हुआ तो क्या! किन्तु इस तरह छाती लगाने से मतवाले को चाहे जितना आनन्द होता हो, मुझे तो नहीं होता; मैं तो भेदज्ञान-विलुप्त एकाकारता की बाढ़ में केवल एक लहरमात्र नहीं बना रहना चाहता—मैं 'मैं' जो हूं।

समझ गया, तर्क की गुंजाइश यहां नहीं है। किंतु शचीश को छोड़कर चले जाना भी मेरे मान की बात नहीं थी। शचीश के खिंचाव से मैं भी इसी दल के स्रोत के साथ इस गांव से उस गांव उतराता फिरने लगा। धीरे धीरे नशा मेरे भी सिर चढ़ गया—मैंने भी सबको छाती से लगाया, आंसू बरसाए, गुरु के पांव दाबने लगा और एक दिन हठात् मालूम नहीं किस आवेश में शचीश का एक ऐसा अलौकिक रूप देख पाया जो किसी विशेष देवता में ही संभव हो सकता है।

५

हम लोगों के समान इतने बड़े दो-दो दुर्द्धर्ष अंग्रेज़ीदां नास्तिकों को अपने दल में मिला पाने से लीलानन्द स्वामी का नाम चारों ओर फैल गया। कलकत्ते के रहनेवाले उनके भक्तगण अबकी उन्हें शहर में आकर जमने के लिये बहुत अनुरोध करने लगे।

स्वामीजी कलकत्ता आए।

शिवतोष नामक उनका एक परम भक्त शिष्य था। कलकत्ते में होने पर स्वामीजी उसीके घर ठहरते थे—समस्त दलबल-समेत उनकी सेवा करना ही उसके जीवन का प्रधान आनन्द था।

मरते समय वह अपना कलकत्ते का मकान और सारी जायदाद गुरु के नाम करके अल्पवयस की अपनी निःसन्तान स्त्री को संपत्ति पर जीवन-स्वत्त्व दे गया ; उसकी इच्छा थी कि यही घर कालान्तर में उनके सम्प्रदाय का प्रधान तीर्थस्थल हो उठेगा। हम लोग इसी घर में टिक गए।

जब तक मैं मत्त होकर गांव-गांव घूमता फिर रहा था तब तक तो किसी तरह चलता गया, किन्तु कलकत्ते आने पर उस नशे को जमाए रखना मेरे लिये मुश्किल हो उठा। इतने दिन एक रस के राज्य में था। वहां विश्वव्यापिनी नारी के साथ चित्तव्यापी पुरुष की प्रेमलीला चल रही थी ; गांव के पशुओं के हार में, खेवाघाट की सघन वटछाया में, अवकाश के आवेश से भरे हुए मध्याह्न और झिल्लीरव से आकम्पित सांझ की निस्तब्धता में उसी लीला का सुर परिपूर्ण हो रहा था।—मानो स्वप्न में चलता चला जा रहा था, मुक्त आकाश-तले बाधा ही नहीं थी। कठिन कलकत्ते आते ही सिर टकरा गया, मनुष्यों की भीड़ का धक्का लगा, बहार टूट गई। किसी दिन इसी कलकत्ते के बोर्डिंग में रात-दिन एक करके पढ़ाई-लिखाई की साधना की थी ; गोलदीघी में बैठकर मित्रों के साथ देश की चिंता की थी ; राजनैतिक सम्मिलनी में वालंटियरी की थी ; पुलिस के अन्याय-अत्याचार का निवारण करने जाकर जेल जाने की तैयारी की थी ; यहीं बड़े चाचा के आह्वान पर व्रत लिया था कि समाज की डकैती का प्राणपण से मुक़ाबला करूंगा, सब तरह की गुलामी का जाल काटकर देश के लोगों का मन मुक्त करूंगा ; यहीं के मनुष्यों के भीतर से आत्मीय-अनात्मीय चीन्हे-अनचीन्हे सबोंकी गाली खा-खाकर, जिस तरह पालवाली नाव ज्वार के उल्टे स्रोत की परवाह किए बिना छाती फुलाए चली जाती है, उसी तरह यौवन के आरंभ से लेकर आज तक चला आया हूं ; भूख-प्यास सुख-दुःख भले-बुरे की विचित्र समस्याओं के भीतर भटकते हुए मनुष्यों की भीड़-भरे उसी कलकत्ते में अश्रुवाष्पाच्छन्न रस की विह्वलता को जाग्रत रखने के लिये प्राणपण से चेष्टा करने लगा।—पल-पल में यही ख्याल मन में उठने लगा : मैं दुर्बल हूं, अपराध कर रहा हूं, मेरी साधना में ज़ोर नहीं है। शचीश की तरफ़ ताकता हूं तो देखता हूं, कलकत्ता शहर दुनिया के भूगोल में कहीं है भी—ऐसा कोई भाव उसके मुख पर नहीं दिखाई पड़ता। उसके लिये यह सब छाया ही है।

६

शिवतोष के घर में गुरु के साथ ही हम दोनों बंधु एक-साथ रहने लगे। हमीं उनके प्रधान शिष्य थे, हमें वे अपनेसे दूर नहीं रखना चाहते थे।

गुरु और गुरुभाइयों को लेकर दिनरात रस और रसतत्त्व की आलोचना चल पड़ी। उन्हीं सब गभीर दुर्गम बातों के घटाटोप को भेदकर कभी कभी हठात् भीतर के भाग से किसी लड़की के गले की ऊंची हंसी यहां आ पहुंचती। किसी किसी समय ऊंची आवाज़ में किसीकी पुकार सुनाई पड़ जाती—"बामी!" हम लोगों ने भाव के जिस आकाश में मन को विभोर कर दिया था वहां यह सब अत्यंत तुच्छ वस्तु ही होनी चाहिए थी, किन्तु सहसा अनुभव होता जैसे अनावृष्टि की तप्त धू-धू के बीच झर-झर करके पानी का एक झला बरस पड़ा हो! हम लोगों की दीवार के बाजू के अदृश्यलोक से फूल की टूटी पंखुड़ियों की तरह जीवन का तनिक-तनिक-सा परिचय जब हमें हठात् छू जाता, तब मैं पल भर में ही देख पाता कि रस का लोक तो वहीं है जहां उस बामी के आंचल में घर-गिरिस्ती की चाबियों का गुच्छा झनक उठता है, जहां रसोईघर से भोजन की खुशबू उठा करती है, जहां घर बुहारने की आवाज़ सुनने मिलती है, जहां सब तुच्छ है तब भी सब सत्य है, सब मधुर-तीव्र स्थूल-सूक्ष्म जहां मिलकर एकाकार हो गए हैं—वहीं है रस का स्वर्ग।

विधवा का नाम था दामिनी। कभी कभी ओट में से पलभर के लिये उसकी झलक देखने मिल जाती। हम दोनों मित्र गुरु के साथ इस तरह एकात्म थे कि कुछ ही दिनों में हमारे निकट दामिनी की ओट टिकी नहीं।

दामिनी जैसे सघन श्रावणमेघों के भीतर की ही दामिनी थी। बाहर पुञ्ज-पुञ्ज यौवन से परिपूर्ण अंतर में जैसे चंचल अग्नि की दीप्ति जगमगा रही हो।

शचीश की डायरी में एक जगह लिखा है: ननीबाला में मैंने नारी का एक विश्वरूप देखा—अपवित्रता का कलंक जिस नारी ने खुद ही ग्रहण किया, पापिष्ठ के लिये जिसने अपना जीवन दे डाला, जिस नारी ने मरकर जीवन का सुधापात्र और भी परिपूर्ण कर दिया। दामिनी में नारी का एक अन्य विश्वरूप देखा; वह नारी मृत्यु की कोई नहीं है, जीवन-रस की रसिक है। वसन्त के पुष्पवन के समान वह लावण्य-गंध-हिल्लोल से केवल छलक-छलक उठती है; वह कुछ भी फेंकना नहीं चाहतीं, वह संन्यासी को घर में स्थान देते राज़ी नहीं है, वह उत्तर दिशा की ठंडी हवा को कौड़ी-भर भी लगान न देने का प्रण किए बैठी है।

दामिनी के संबंध में शुरू का इतिहास कह लूं। रेशम के व्यवसाय में जिन दिनों

उसके बाप अन्नदाप्रसाद की तहवील मुनाफे की अचानक बाढ़ से डूब रही थी, उन्हीं दिनों शिवतोष के साथ दामिनी का ब्याह हुआ। इतने दिन शिवतोष का केवल कुल ही श्रेष्ठ था, अब भाग्य भी श्रेष्ठ हो आया। अन्नदा ने जमाई के लिये कलकत्ते में एक घर और जिससे खाने-पहनने का कोई कष्ट न हो ऐसी व्यवस्था कर दी। इसके सिवा गहना-पत्ता भी कम नहीं दिया।

शिवतोष को उन्होंने अपने आफ़िस में काम सिखलाने की काफ़ी चेष्टा की किंतु उसका मन स्वभाव से ही संसार की तरफ़ था नहीं। किसी गणक ने कभी हिसाब लगाकर उससे कह दिया था कि कौन-से एक विशेष योग में बृहस्पति की कौन-सी एक विशेष दृष्टि पाकर वह जीवन्मुक्त हो उठेगा। उसी दिन से जीवन्मुक्ति की प्रत्याशा में वह कांचन और अन्यान्य रमणीय पदार्थों का लोभ त्याग कर बैठा। इसी बीच लीलानन्द स्वामी से उसने मंत्र लिया।

इधर व्यवसाय की उल्टी हवा का झपट्टा खाकर अन्नदा की भरे-पालवाली भाग्यतरी बिल्कुल औंधी हो गई। घरद्वार बिक जाने से अन्न जुटाना कठिन हो गया।

एक दिन शिवतोष संध्या समय अंतःपुर में आकर स्त्री से बोला, स्वामीजी आए हैं, तुम्हें बुला रहे हैं, कुछ उपदेश देंगे।—दामिनी बोली, ना, इस वक्त मैं नहीं जा सकूंगी, मुझे फ़ुर्सत नहीं है।

फ़ुर्सत नहीं है! शिवतोष ने निकट आकर देखा, दामिनी अंधियारे घर में बैठी संदूक़ खोलकर गहना-गुरिया बाहर कर रही है। पूछा, यह क्या कर रही हो?—दामिनी ने कहा, अपने गहने संभाल रही हूं।

इसीलिये वक्त नहीं है? सच तो है! दूसरे दिन दामिनी ने अपना लोहे का संदूक़ खोलकर देखा, गहने का बक्स ग़ायब है। पति से पूछा, मेरे गहने?—पति ने कहा, सो तो तुमने अपने गुरु को अर्पण कर दिए हैं। उसीके लिये तो उन्होंने ठीक उसी समय तुम्हें बुलवाया था, वे अन्तर्यामी जो हैं; उन्होंने तुम्हारा कांचन का लोभ हरण कर लिया।

दामिनी ने आग होकर कहा, दे दो मेरे गहने!

पति ने पूछा, क्यों, क्या करोगी?

दामिनी बोली, वह मेरे पिता का दान है, अपने पिता को दूंगी।

शिवतोष बोला, उससे कहीं अच्छी जगह जा पहुंचा है। विषयी का पेट न भरकर वह भक्तों की सेवा में निछावर हो गया है।

इसी तरह भक्ति की दस्युवृत्ति शुरू हो गई। दामिनी के चित्त से ज़बर्दस्ती सब तरह की कामना-वासना का भूत भगाने के लिये पग-पग पर ओझा का उत्पात चलने लगा। जिस समय दामिनी के बाप और उसके छोटे छोटे भाई उपास करके भूखों मर रहे थे, उसी समय घर

में प्रतिदिन साठ-सत्तर मूर्ति भक्तों की सेवा का अन्न उसे अपने ही हाथों तैयार करना पड़ता था। जान-बूझकर वह तरकारी में नमक नहीं देती, जान-बूझकर दूध जला देती, तब भी उसकी तपस्या इसी तरह चलती गई।

इसी समय उसका पति मरती-वेला स्त्री को उसकी भक्तिहीनता का अन्तिम दंड दे गया : सम्पूर्ण सम्पत्ति-सहित स्त्री को विशेष रूप से गुरु के हाथों सौंप गया।

७

घर में लगातार भक्ति की लहरें उमड़ रही हैं कितनी दूर-दूर से कितने ही लोग आ-आकर गुरु की शरण ले रहे हैं। और इधर दामिनी अनायास ही गुरु के निकट पहुंच सकी है, तथापि उसी दुर्लभ सौभाग्य को वह दिनरात अपमानित करके दूर खेदे रखती है।

गुरु जिस दिन विशेष रूप से उपदेश करने के लिये उसे बुलवाते, वह कहती, मेरा सिर दर्द कर रहा है। जिस दिन अपने सांझ के आयोजन में कोई विशेष त्रुटि लक्ष्य करके वे दामिनी से सवाल करते, वह कहती, मैं थियेटर देखने गई थी। यह उत्तर सच नहीं होता, किंतु कटु तो होता था। भक्त नारियों का झुण्ड आकर दामिनी का यह काण्ड देखकर गाल पर हाथ धरकर बैठ जाता। एक तो उसकी वेशभूषा विधवाओं-जैसी नहीं होती ; फिर गुरु के उपदेश-वाक्य को वह यथासंभव बचाकर चलती है ; तिसपर इतने बड़े महापुरुष के इतने निकट-संपर्क में देह-मन जो अपने-आप ही संयम-शुचिता द्वारा उज्ज्वल हो उठते हैं, सो उसका तो कोई चिह्न भी इसमें नहीं मिलता। सभी ने कहा, धन्य है! बहुत बहुत देखी हैं, लेकिन ऐसी स्त्री तो नहीं देखी।

स्वामीजी हंस देते। कहते, जिसमें ताक़त है, भगवान् को उसीके साथ लड़ाई करना भाता है ; एक दिन जब यह हार मानेगी तब उस दिन इसके मुंह से आधी बात नहीं निकलेगी।

वे उसे और भी अधिक क्षमा करते चलने लगे। और इस प्रकार की क्षमा दामिनी को और भी अधिक असह्य होने लगी ; ऐसी क्षमा शासन का ही दूसरा नाम है। गुरु दामिनी के साथ अपने व्यवहार में अतिरिक्त भाव से जो माधुर्य प्रकाश करते थे, एक दिन सहसा सुनने मिला कि दामिनी अपनी किसी सखी से उसीकी नक़ल करके हंस रही है!

तब भी वे बोले, जो अघटन है सो घटेगा ही और यही दिखला देने के लिये दामिनी विधाता का उपलक्ष्य बनकर आई है, उस बेचारी का अपना तो कोई दोष नहीं।

हम लोगों ने आकर शुरू-शुरू में दामिनी की यही अवस्था देखी थी ; इसके बाद अघटन घटना शुरू हुआ !—

और लिखने की इच्छा नहीं होती, लिखना भी कठिन है। जीवन के पर्दे की ओट अदृश्य हाथों द्वारा जो जाल बुना जाता है उसका नक़शा किसी शास्त्र का नहीं होता, फ़रमाइशी भी नहीं। इसीलिये तो भीतर-बाहर अशोभन होकर इतनी चोटें सहनी पड़ती हैं, इतनी रुलाई फट पड़ती है।

विद्रोह का कर्कश आवरण जाने-किस भोर के उजाले में चुपचाप एकबारगी तार-तार होकर फट गया, आत्मोत्सर्ग के फूल ने ऊपर की तरफ़ अपना ओस-भीना मुख उठाया। दामिनी की सेवा अब इस तरह सहज ही ऐसी सुन्दर हो उठी कि उसके माधुर्य से मानों भक्तों की साधना पर भक्तवत्सल का कोई विशेष वरदान आ पहुंचा हो।

इसी प्रकार दामिनी जिस समय स्थिर सौदामिनी हो उठी, शचीश उसकी शोभा देखने लगा। किन्तु मैं कहूं कि शचीश ने केवल शोभा ही देखी, दामिनी को नहीं देखा।

शचीश के सोने के कमरे में चीनीमिट्टी के पाट पर लीलानन्द स्वामी की ध्यानमूर्ति का एक फ़ोटोग्राफ़ था। एक दिन शचीश ने देखा वह टूटकर चूर-चूर होकर धरती पर पड़ा हुआ है। उसने समझा, उसकी पोसी हुई बिल्ली ने ही यह काण्ड किया है। बीच बीच में और भी ऐसे ही उत्पात दिखाई देने लगे जो पालतू बिल्ली तो क्या, जंगली बिल्ली के लिये भी असाध्य थे।

चारों तरफ़ आकाश में एक चंचल हवा बहने लगी। एक अदृश्य विद्युत् भीतर ही भीतर खेलने लगी। दूसरों की बात तो नहीं जानता, किंतु व्यथा से मेरा मन टीसा करता था! कभी कभी सोचता, रातदिन की यह रस की तरंग मुझे अनुकूल नहीं पड़ती—इसमें से एकबारगी बेतहाशा दौड़ लगा दूं—चमारों के लड़कों को लेकर सब तरह की रसवर्जित बंगला वर्णमाला के युक्ताक्षरों की जो आलोचना चला करती थी, वही मेरे लिये बहुत अच्छी थी।

एक दिन शीतकाल की दुपहरिया में गुरु जब विश्राम कर रहे थे और भक्त लोग थके पड़े थे, शचीश जाने-किस कारण असमय में अपने सोने के कमरे में घुसने जाकर हठात् चौखट के पास चौंककर खड़ा हो गया। देखा, दामिनी अपने केश फैलाकर धरती पर लोटती हुई सिर पटक रही है और कह रही है, पत्थर, ओ पत्थर, ओ पत्थर! दया करो, दया करो, मुझे मार डालो!

भय से शचीश की सारी देह कांप उठी, वह उलटे पांव भाग गया।

८

गुरुजी साल में एक बार किसी दुर्गम स्थान में निर्जन भ्रमण के लिये जाया करते थे। माघ महीने में उनका वही समय आ पहुंचा है। शचीश बोला, मैं साथ जाऊंगा।

मैंने कहा, मैं भी जाऊंगा।—रस की उत्तेजना में मैं मज्जा-मज्जा तक जीर्ण हो गया था। कुछ दिन भ्रमण के क्लेश और निर्जन वास की मुझे सख्त ज़रूरत थी।

स्वामीजी ने दामिनी को बुलाकर कहा, मां, मैं भ्रमण के लिये निकलूंगा। पहले जैसे तुम इस समय अपनी मौसी के यहां जाकर रहा करती थीं, इस बार भी वैसा ही बन्दोबस्त तुम्हारे लिये कर जाऊं।

दामिनी बोली, मैं तुम्हारे साथ जाऊंगी।

स्वामीजी ने कहा, चल कैसे सकोगी, रास्ता बड़ा मुश्किल जो है ?

दामिनी बोली, चल सकूंगी। मेरे लिये कोई फिक्र नहीं करनी होगी।

स्वामी दामिनी की यह निष्ठा देखकर प्रसन्न हुए। पिछले बरसों में यही वक्त दामिनी की छुट्टी का वक्त होता था, साल-भर उसका मन इन्हीं दिनों की बाट जोहा करता था। स्वामी ने सोचा, यह कैसा अलौकिक काण्ड है! भगवान् के रस के रसायन से पत्थर भी किस तरह माखन हो जाया करता है ?

किसी भी तरह नहीं मानी, दामिनी साथ गई।

९

उस दिन प्रायः छः घंटे धूप में पैदल चलकर हम लोग जिस जगह आ पड़े थे, वह था समुद्र के भीतर एक अंतरीप। नितान्त निर्जन निस्तब्ध ;—नारिकेलवन के पल्लववीजन के साथ शांतप्राय समुद्र का अलस कल्लोल मिला जा रहा था। ठीक ऐसा लगा जैसे घोर नींद में पृथिवी का एक थका हुआ हाथ समुद्र की छाती पर अलस भाव से जा पड़ा है। उसी हाथ की गदेली पर एक सब्ज़ रंग की नीलाभ छोटी पहाड़ी है। पहाड़ी की देह पर बहुत दिनों की खोदी हुई एक पुरानी गुहा है। वह बौद्ध है या हिंदू, उसके शरीर पर जो मूर्तियां हैं वे बुद्ध की हैं अथवा वासुदेव की, उसकी शिल्पकला पर यूनान का प्रभाव है या नहीं, इसे लेकर पंडित-मंडली में गभीर अशांति का कारण घट चुका है।

बात यह ठहरी थी कि गुहा देखकर हम लोग लोकालय की तरफ़ लौट आएंगे। किन्तु उसकी संभावना नहीं दिखती। दिन तब चुकने आया था, तिथि थी कृष्ण पक्ष की द्वादशी। गुरुजी बोले, आज की रात इसी गुहा में काटनी होगी।

हम लोग सागर-तीर वन के तले तीनों ही बालू पर बैठ गए। समुद्र के पश्चिम प्रान्त में आसन्न अंधकार के सम्मुख दिवस के शेष-प्रणाम की तरह सूर्यास्त नत हो आया। गुरुजी ने गान साधा—आधुनिक कवि का गान उनके निकट चलता है।

पथे येते तोमार साथे
मिलन होलो दिनेर शेषे।
देखते गिये, सांझेर आलो
मिलिये गेल एक निमेषे।

[तुम्हारे साथ पथ पर चलते चलते, दिन का अंत होने पर मिलन हुआ। जब तक तुम्हें देखने जाऊं, सांझ का प्रकाश मुहूर्त में ही मिट गया।]

गान उस दिन बहुत जमा। दामिनी की आंखों से आंसू झरने लगे। स्वामीजी ने अंतरा संभाला—

देखा तोमाय होक् वा ना होक्
ताहार लागि करब ना शोक,
क्षणेक तुमि दांड़ाओ, तोमार
चरण ढाकि एलोकेशे!

[तुम्हें देख पाऊं चाहे नहीं, उसके लिये शोक नहीं करूंगी; तुम टुक रुक जाओ—पल भर के लिये, इन फैले हुए केशों से तुम्हारे चरण ढक दूं!]

स्वामीजी जब रुक गए, तब आकाश और समुद्र में छाई हुई संध्या की स्तब्धता नीरव सुर के रस से किसी सुनहले रंग के पके हुए फल की तरह भरपूर हो उठी। दामिनी ने मस्तक नवाकर प्रणाम किया—बहुत देर तक सिर नहीं उठाया, उसके केश बिखरकर धरती पर लोटने लगे।

१०

शचीश की डायरी में लिखा है:—

"गुहा के भीतर बहुत-से कमरे थे। मैं उन्हींमें से एकमें कंबल बिछाकर सो गया। गुहा का अन्धकार मानो किसी काले जंतु की तरह था—उसकी गीली सांस जैसे मेरे

बदन को छू रही थी। मुझे ऐसा लगा जैसे वह किसी आदिमकाल की प्रथम सृष्टि का प्रथम जन्तु हो ; उसके आंखें नहीं, कान नहीं, केवल एक भयंकर क्षुधा है ; वह अनंत काल से इसी गुहा में बंदी है ; उसके मन नहीं है—वह कुछ भी नहीं जानता—यदि है तो केवल व्यथा है—वह निःशब्द रोया करता है ।

थकान ने किसी भारी बोझ की तरह मेरे सारे शरीर को दबा रखा था, किंतु किसी भी सूरत से नींद नहीं आई। जाने कौन-सा एक पंछी—शायद चिमगादड़ हो—भीतर से बाहर की ओर अथवा बाहर से भीतर की ओर डैने फट-फट करता हुआ अंधियारे से अंधियारे की तरफ़ चला गया। उसकी हवा लगते ही जैसे कांटे उठ आए।

सोचा, बाहर जाकर सोऊं। गुहा का दरवाज़ा किस तरफ़ है सो ख्याल नहीं आया। खूब सिकुड़कर एक ओर चलने की कोशिश करते ही सिर टकरा गया—दूसरी तरफ़ फिर टकराया ;—फिर एक और किसी छोटे गड्ढे में जा फंसा जहां गुहा की दरारों से टपका हुआ पानी इकट्ठा हो गया था।

अंत में लौटकर फिर कंबल पर लेट गया। जान पड़ा मानो उस आदिम जंतु ने मुझे अपने लार-भीगे मुख के भीतर भलीभांति पकड़ रखा है, किसी तरफ़ बाहर होने की राह नहीं। यह केवल एक काली भूख है जो मुझे थोड़ा-थोड़ा करके चाटती रहेगी और धीरे-धीरे खत्म कर डालेगी। इसका रस जारक रस है, वह चुपचाप जीर्ण कर देता है!

नींद आ जाए तो जान बचे ; मेरा जाग्रत चैतन्य इतने बड़े सत्यानाशी अंधकार का निविड़ आलिंगन नहीं सह सकता, मृत्यु ही उसे सह सकती है।

मालूम नहीं कितनी देर बाद—मेरे ख्याल में वह ठीक नींद नहीं थी—बेहोशी की एक पतली-सी चादर ने मेरी चेतना को ढक दिया। एक दफ़ा उसी तंद्रावेश की निविड़ता में ही पांवों के पास पहली बार एक घन निश्वास अनुभव की। भय से मेरा शरीर बर्फ हो गया......वही आदिम जन्तु!

उसके बाद जाने-किसने मेरे पांव कसकर पकड़ लिए। पहले सोचा, कोई जंगली जानवर है। किंतु उनकी देह में तो लोम होते हैं—इसके रोएं नहीं। मेरा सारा शरीर जैसे कुंचित हो उठा। जान पड़ा मानो सांप-जैसा कोई जंतु है जिसे मैं पहचानता नहीं। उसका सिर कैसा है, धड़ कैसा है, पूंछ कैसी है—कुछ भी नहीं मालूम—उसकी लील जाने की प्रणाली कैसी होगी—कुछ भी सोच नहीं पाया। वह इस तरह चिकना-चिकना होने से ही ऐसा वीभत्स है—वही क्षुधा का पुंज।

भय से—घृणा से—मेरा गला रुंध गया। मैं दोनों पावों से उसे ठेलने लगा। जान

पड़ा, उसने मेरे पावों पर मुंह रखा है—बार-बार सांस का स्पर्श मिल रहा है—वह कैसा मुंह होगा, नहीं जानता। मैं पैर फटकारकर लातें मारने लगा।

अंत में तंद्रा टूट गई। पहले ख्याल हुआ था, उसकी देह पर रोएं नहीं हैं, किंतु सहसा अनुभव हुआ, जैसे पावों पर बहुत-सारी केशर झर पड़ी है। छटपटाकर मैं उठ बैठा।

जाने-कौन उसी समय अंधकार में चला गया। मालूम नहीं कैसी एक आवाज़ सुनाई पड़ी वह क्या दबी हुई रुलाई है?" [क्रमशः]

अनु०—मो० वाजपेयी

जब मैं मर्त्य-काया में न रहूं

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

जब मैं इस मर्त्यकाया में न रहूं, इस क्षणभंगुर देह को छोड़ जाऊं, उस समय मुझे याद करने की यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम इस निभृत शान्त छाया में आ जाना, जहां यह चैत्र का शाल-वन खिला हुआ है।

यहां इसकी शाखा शाखा पर जो मंजरी हिल रही है, पूंछ नचा-नचाकर जो पक्षी कलगान कर रहे हैं, वे मेरा नाम लेकर कभी भी पुकारा नहीं करते, और एकान्त में बैठकर मुझे याद भी नहीं करते। इस छाया-तले कितना आना और कितना जाना चलता रहता है, वे सहज ही अनासक्त भाव से उसे ग्रहण करते हैं। कितनी बातें जो पलक मारते मारते विलुप्त हो जाती हैं, उसका कुछ हिसाब नहीं है।

उन्हें उस काल ने आदि-पवन के द्वारा बुलाया है जिसका इतिहास में कोई उल्लेख नहीं है ; काल—जिसने किसी ज़माने में मुझे भी क्षण-क्षण पर पुकारा था, और जो मेरे रक्त में अपना ही ताल बजाता रहा। उस दिन उसकी पुकार पर मैं कीर्ति और ख्याति भूल गया था, मेरा भोला मन बिना-रास्ते ही चल निकला था, चारों ओर उन क्षणिक वस्तुओं की ज्ञाति ने अपने आपको निवेदन कर दिया था—जिनका कोई गांव-नांव नहीं है, ठौर-ठिकाना नहीं है। उस दिन मेरी भावना मेघ के समान थी, कुछ भी पकड़कर सुरक्षित करने की कोई धुन नहीं थी, उस दिन आकाश में रूप का स्वप्न-जाल बिखरा पड़ा था, उड़ते चित्र आंकने का उसका रंग था। उस दिन के किसी दान में, किसी छोटे-बड़े काम में हस्ताक्षर करके मैंने अपने अधिकार का दावा नहीं किया, उस दिन मैंने जो कुछ लिखा था और जो-कुछ मिटाया था सब शून्य में मिल गया है, मैंने उसका कोई हिसाब नहीं रखा।

उस दिन का वह मेरा 'मैं' खो गया है। उस 'मैं' को, तुम्हें ऐसे रास्ते खोजना होगा जिसका कोई चिह्न नहीं रह गया है, वह वहां चला गया था जहां खोते-खोते दिन चुक जाता है, और भरते-भरते डलिया समाप्त हो जाती है। उस 'मैं' ने बीच बीच में वहां की पुकार सुनी थी जहां काल की सीमा-रेखा नहीं है,—जहां खेलने का साथी खेल खत्म करके चला जाता है, जहां वह किसी प्रकार की जवाबदेही में बंधा नहीं होता।

मैंने कुछ दिया नहीं, मांगा नहीं, भले बुरे का कोई जंजाल भी नहीं रखा, मेरे उस क्षण-काल ने चले जानेवाले फागुन की फूल-झरी धरती पर अपना आसन जमाया था। वहीं पर जो लोग बीच बीच में पास आ गए थे, उन्होंने अपनी कहानी जाने-कहां फेंक रखी है। संसार उनको अनायास ही भूल जाता है, सभा-गृह में उनको स्थान नहीं है। वह खोया हुआ 'मैं'—जिसका डेरा जनता के उस पार था, उन लोगों से मिलता-जुलता था जिनकी भाषा रुद्ध है, ज़बान बंद है—जिसने किसीको भी ऋणी नहीं बनाना चाहा और जो स्वयं भी ऋण का बोझ छोड़ नहीं गया, उस 'मैं' को—तुममें ऐसा कौन है—जो इस नाशमान शरीर के भीतर पहचानता है ? तुम्हें यदि कभी स्मरण करने की इच्छा हो तो देखो, सभा न बुलाना, हुजूम न करना ! आ जाना इस छाया में जहां यह चैत्र का शालवन खिला हुआ है ! (ह० द्वि०)

सन्त-साधना का प्रवेश-पथ

क्षितिमोहन सेन

आकाश-मंडल की विशालता और उसमें चक्कर मारते हुए अगणित ग्रह-तारकाओं की स्थिति और गति-संस्थान का वर्णन करते हुए मत्स्य पुराण (१२८-२४) में बताया गया है कि मांस-चक्षुओं से मनुष्य इसे नहीं समझ सकता—

वैश्वरूप्यं प्रधानस्य परिणाहोऽस्य यः स्मृतः ।

तेषां शक्यं न संख्यातुं याथातथ्येन केनचित् ।

गतागतं मनुष्येण ज्योतिषां मांस-चक्षुषा ॥

इसीलिये बाह्य मांस-चक्षु या चर्म-चक्षु के अतिरिक्त मनुष्य के पास एक और भी मर्म-चक्षु है जिससे वह गभीरतर और विशालतर तत्त्वों का साक्षात्कार किया करता है। मर्म की गंभीर बातें मर्म-चक्षु से ही दिखती हैं, यही स्वाभाविक है। चर्म-चक्षु तो बाह्य वस्तुओं को भी उनकी विशालता के रूप में उपलब्ध नहीं कर सकते।

सन्त-कवियों की मर्म-कथाओं को समझने के लिये भी ऐसी ही मर्म-दृष्टि आवश्यक है। मर्म की बात मर्म से उपलब्ध करने के कारण ही ये साधक 'मरमी' कहे जाते हैं।

देवीभागवत में कहा गया है कि शिवमय हुए बिना शिव की पूजा नहीं हो सकती—नारुद्रो रुद्रमर्चते (६-१०-२३)। लिंगपुराण (उत्तर : २१-८२) में भी यही बात दुहराई गई है। साधक मात्र ही जानते हैं कि 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्', अर्थात् शिव होकर ही शिव की पूजा हो सकती है। वैष्णव भक्तों में भी यह तत्त्व स्वीकार किया गया है। चैतन्य-चरितामृत में कृष्णदास कविराज ने बताया है कि भगवान् चाहते हैं कि उनका भक्त अपनेको हीन न समझे, वह अपनेको उसी आसन का अधिकारी माने जिसपर भगवान् स्वयं आसीन हैं। उनकी वाणी का हिंदी रूपान्तर इस प्रकार किया जा सकता है—

मुझे ईश्वर मानता जो और निजको हीन,

मैं न उसके प्रेम से होता कभी आधीन।

इसीलिये भक्त साधकों के उपलब्ध सत्य में प्रवेश करने के लिये अपनेमें भागवत स्वरूप की उपलब्धि करनी चाहिए। अपने आपको भगवान् के साथ एक करके देखने की हिम्मत जिसमें नहीं है उसका इस राज्य में "प्रवेशोनिषिद्धः" है।

श्रीकृष्ण के भागवती तनु या ईश्वरीय शरीर था, इसीलिये उस शरीर में अर्जुन विश्व का दर्शन पाकर स्तंभित हो गए थे। भक्त मात्र की ही ऐसी दशा आती है जब उसका शरीर "भागवती तनुः" हो जाता है, उस समय उसमें भी समस्त विश्व दिखने लगता है। इसीलिये काया में ही सात समुद्र, अष्ट कुलाचल और नव लख तारे दिखने लगते हैं। इसीलिये कबीर ने कहा था—

या घट भीतर सप्त समुंदर
या घट नौ-लख तारा।

दादू का कायावेली ग्रन्थ शुरू से आखिर तक इस कथा से ही परिपूर्ण है—

काया माहैं है आकास, काया माहैं धरती वास।
काया माहैं सब ब्रह्मण्ड, काया माहैं है सब खण्ड ॥ २१।

इसीलिये सारी दुनिया में व्यर्थ ही खोज-खोजकर सिर खपाने की कोई ज़रूरत नहीं, क्योंकि काया में ही साधक को अपार वस्तु-भाण्डार सुलभ है—

काया मांहै भरे भँडार। काया माहैं वस्तु अपार ॥४१॥

कायावेली ग्रन्थ के मत से काया में ही निर्वाण (५४) है, उसी में विचार और अनुभव हैं (६०), उसीमें ज्ञान और ध्यान हैं (६१), और विश्व के समस्त पदार्थ उसीमें सुलभ हैं (५५)। कबीर ने कहा है—

घर ही मांहि चबूतरा, घर ही मांहि दिवान।

इसीलिये सन्त-साहित्य में प्रवेश करने के मार्ग का आरंभ ही इस इस बात से होता है कि काया में ही सब कुछ है, पिण्ड ही ब्रह्माण्ड है। दूसरी बाहरी वस्तुओं को खोजने में सिर खपाना बेकार है। यही कारण है कि सन्तों के मत से बाहर के सभी शास्त्र व्यर्थ हैं। शास्त्र के सन्धान में खोज-पूछ करते रहना बेकार है। सन्त लोग इसीलिये पाण्डित्य की और शास्त्र की ज़रा भी परवाह नहीं करते। उनमें से अनेक हीन कुल में उत्पन्न थे, शास्त्र में उनका अधिकार भी नहीं था, वे शास्त्र की परवा भी नहीं करते थे। कबीर ने कहा है कि पंडित और मशालची दोनों ही दूसरों को प्रकाश दिखाते हैं पर दोनों ही स्वयं अंधकार में रहते हैं—

पंडित और मशालची, दूनौं सूझे नाहिं।
औरन को करैं चांदना, आप अंधेरे मांहि ॥

इसी बात को कुछ और ढंग से इतिहासोपनिषद् (अध्यार-प्रकाशन) ने कहा है। जो ऋचाओं को जानता है वह देवता को जानता है, जो यजुष् को जानता है वह यज्ञ को जानता है, जो साम को

जानता है वह सबको जानता है, परन्तु जो मानस को जानता है—अर्थात् अपने आपको जानता है—वही ब्रह्म को जानता है—

ऋचो ह यो वेद स वेद देवान्
यजूंषि यो वेद स वेद यज्ञम् ।
सामानि यो वेद स वेद सर्वं
यो मानसं वेद स वेद ब्रह्म ॥

जिस प्रकार बाह्य होने के कारण शास्त्र व्यर्थ हैं उसी प्रकार लोकाचार भी बाह्य और व्यर्थ हैं। यद्यपि बाद में चलकर सन्तों के नाम पर ही अलग अलग संप्रदाय खड़े हो गए हैं, तथापि यह निश्चित है कि उन सन्तों ने भेष और संप्रदाय की कड़ी निन्दा की है। कबीर ने भेष बनाकर अलख बिसार देनेवालों की खबर इस प्रकार ली है—

अलख बिसार्यो भेष में, बूड़ि काल की धार (भेष अंग, ३९)

और

साधु भया तो क्या हुआ, माला पहिरी चार ।
बाहर भेष बनाइया, भीतर भरी इंगार ॥

इस प्रकार सन्त लोग शास्त्र, लोकाचार और भेष की व्यर्थता बताते हैं परन्तु गुरु की आवश्यकता पर वे बहुत अधिक ज़ोर देते हैं, क्योंकि जैसा कि दादू ने कहा है : देह में ही प्रेम-रस है पर वह मिलता गुरु की कृपा से ही है—'काया माहैं प्रेमरस दादू गुरुमुख येह'—और कबीर की भी साखी है कि 'तीन लोक की सम्पदा सो गुरु दीन्ही दान'। इसीलिये इन सन्तों ने बार-बार घोषित किया है कि गुरु-बिना उपासना नहीं हो सकती, रहस्य को उपलब्धि नहीं हो सकती, संशय नहीं मिट सकता और गोविन्द का साक्षात्कार भी नहीं हो सकता। जिस प्रकार पतितपावनी गंगा गोमुखी के रास्ते पृथ्वी पर अवतीर्ण हुई हैं उसी प्रकार समस्त ज्ञान और विद्या की धारा गुरुरूपी गोमुखी के द्वार से प्राप्त होती हैं।

कबीरदास ने कहा है कि वे व्यर्थ ही लोक और शास्त्र के पीछे-पीछे दौड़े दौड़े फिर रहे थे। इसी बीच रास्ते में उन्हें सद्गुरु मिल गए। उन्होंने ज्ञान का दीपक हाथ में दे दिया—

पाछे नाना जाय था, लोक वेद के साथ ।
पैंड़े में सद्गुरु मिल्या, दीपक दीन्हा हाथ ॥

गुरु का एक और भी प्रयोजन है। इस सब सन्तों की एक पुरानी धारा बहुत पहले से चली आ रही थी। बंगाल के 'बाउल' सन्तों का कहना है कि जैन और बौद्ध मत के भी पूर्व से यह सब 'मरमी' मत चला आ रहा है। बात एकदम उड़ा देने लायक नहीं है। बौद्ध

और जैन संप्रदाय के ग्रन्थों में और, वेदों में भी काया-योग और मरमी साधना की बातें पाई जाती हैं। बौद्ध गान और दोहों में तथा प्रायः हज़ार वर्ष पहले लिखे हुए मुनि रामसिंह-रचित पाहुड़-दोहों में तो कबीर आदि साधकों के बताए हुए प्रायः सभी सत्यों का उल्लेख मिलता है। नाथ- और निरंजन-पंथ की भी यही बात है। ये लोग भी किसीको हीनकुलोत्पन्न समझकर धर्म का अनधिकारी नहीं समझते। फिर भी उन्हें भय था कि उच्चतर साधना की धर्म-कथा जनसाधारण के हाथों पड़कर कहीं भ्रष्ट न हो जाय। इसीसे जो लोग उस भाषा के जानकार नहीं, उनके निकट उसे गुप्त रखने की चेष्टा की गई है। यह बहुत-कुछ वैसा ही है जैसा कि साधारण लोग बहुमूल्य रत्न रखने के लिये लोहे के संदूकों का व्यवहार करते हैं। इन संदूकों की चाबी को बीजक कहा गया है। कबीरदास का भी एक बीजक है।

इन पहेलियों में प्रायः बातें उलटकर कही गई हैं। गोरखनाथ के मत में ऐसी बहुत-सी पहेलियां थीं। साधुओं में ये सब गोरखधंधे खूब परिचित हैं। नित्यकाल, खण्डकाल से आवृत है; अखण्ड विश्व, क्षुद्र सीमा से समाच्छन्न है; आत्मा को ढके हुए है मन; परब्रह्म, माया से आच्छादित है; अमूर्त तत्त्व मूर्त के द्वारा प्रच्छन्न है; सीमा में असीम है और असीम में सीमा; यही सब इन पहेलियों की मूल बातें हैं। यह क्या कम अचरज की बात है कि असीम सीमा में डूबे हुए हैं? सिंधु में बिन्दु मिल जाता है यह तो जानी हुई बात है किन्तु बिन्दु में भी सिंधु है यह क्या एक आश्चर्य नहीं है? प्रेम की दुनिया में अपने को खोकर ही अपने को पाया जा सकता है। विना पैर के ही इस अद्भुत दुनिया में प्रवेश किया जा सकता है। कायतत्त्व के मत से सहस्रार में उल्टा कुआं है। ऐसे 'विपर्यय अंग' का तत्त्व गुरु ही ठीक ठीक समझा सकते हैं। यही कारण है कि सन्त-साधना में गुरु का स्थान इतना ऊंचा है।

गुरु के बाद ही स्थान है साधु का। साधुका संग भक्त-जीवन का आवश्यक अंग है। कबीर ने कहा है कि साधु के दर्शन से भगवान् की याद आती है—'कबीर दरसन साध के साहिब आवै याद'। क्योंकि साधु का शरीर ही अलख पुरुष की मूर्ति है, साधु ही अलख पुरुष को देखने के आरसी हैं—

अलख पुरुष की आरसी साधू ही की देह।

साधु कौन हैं? जिनके लिये अपना-पराया कोई नहीं, सब समान हैं; जो जाति वर्ण के ऊपर हैं, जो सबमें रम सकते हैं; जो सर्वत्र आनंद पाते हैं। कबीरदास ने बताया है कि ये साधु प्रवहमान प्रेम नदी हैं, इस नदी में स्नान करके शीतल और निर्मल बनो—

साधु नदी जल प्रेम रस, तहां प्रछालो अंग।

पूर्णांग साधना में ज्ञान, कर्म और प्रेम सब हैं। किन्तु प्रेम ही सारवस्तु है। कर्म,

और ज्ञान को प्रेम का अविरोधी होना चाहिए। यह प्रेम बाहर के छापा-तिलक आदि आडंबरों से नहीं सूचित होता। इस प्रेम के निकट अपने आपको बेंच देने से ही मानव जीवन धन्य हो जाता है। वैराग्य की अग्नि की कृच्छ्रता में अपने आपको न जलाकर प्रेम में आत्मसमर्पण करने को ही सन्तों ने जीवन की चरम साधना माना है। इस आत्मत्याग में वीरत्व चाहिए। वीर युद्धक्षेत्र में तीर-तुपक का शिकार हो जाता है, परन्तु वह वास्तविक शूर नहीं है—'तीर तुपक सों जो लड़ै सो तो सूरा नांहि' (—कबीर); वास्तविक शूर वह है जो प्रेम में आत्मत्याग करता है। तिल तिल करके प्रतिक्षण अपने आपको समर्पित करता रहता है। यह जीवन-व्यापी साधना सती की क्षण भर में जल जानेवाली साधना से अधिक कठोर है। योग की साधना की तुलना में जौहर का क्षणिक त्याग तो बहुत सहज है—'जोग सूं तो जौहर भला, घड़ी एक का काम।'—(कबीर)।

प्रेम और भक्ति एक आकस्मिक उच्छ्वास नहीं है। जो भक्ति स्थिरधार होती है वही साधना के क्षेत्र में निर्भर-योग्य होती है। वही नदी नदी है जो जेठ के महीने में भी बहती रहे—'सरिता सोइ सराहिये, जेठ मास ठहराय।' (कबीर)। यह वह आग नहीं है जिसकी चिनगारियों से आतिशबाज़ी का तमाशा दिखाया जा सके, जो जलते ही बुझ जाय। स्थायी प्रेम ही भक्त का आराध्य है।

यह भक्ति एक युग में इस उत्तर भारत में दुर्लभ हो गई थी, इसीलिये कहा जाता है :

भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानंद।
परगट करी कबीर ने, सप्तद्वीप नव खंड।

पद्मपुराण, उत्तरखंड (१३९-५१) में भक्ति के द्वारा कहलवाया गया है कि मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्णाट देश में वृद्धिप्राप्त हुई, महाराष्ट्र में कुछ काल रही और अन्त में गुर्जर देश में जीर्ण हो गई—

उत्पन्ना द्राविडे चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतांगता।

भक्ति के प्रधान बाधक हैं काम और लोभ। यही कारण है कि कबीर दादू आदि सन्तों की वाणियों में इनसे बचन के लिये लंबे लंबे प्रकरण पाए जाते हैं। संस्कृत के ग्रंथों में भी इन सावधान करनेवाले वचनों का विशाल वन लगा हुआ है। कामिनी-काञ्चन त्याग का इस देश में बड़ा माहात्म्य है। उसका अन्तर्निहित अर्थ है विषयों से वैराग्य। जो एक बार इस त्रिगुण-मय विषय-जाल से अपने को मुक्त कर सका, उसके लिये विधि-निषेध का कोई मूल्य नहीं—

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।

ऐसे विषय-विरागी निस्त्रैगुण्य-मार्ग के यात्री साधक के लिये न तो संध्या-वंदन का विधान है (मैत्रेयोपनिषत् २. ४), और न किसी प्रकार के बाह्य पूजोपचार का (मैत्रेय० २. १७)। ऐसे योगी समाज के विधि-निषेधों से ऊपर उठ जाते हैं, सामाजिक चिन्ह और सामाजिक आचार उनके मार्ग में बाधक नहीं होते, वे "अव्यक्तलिंगा अव्यक्ताचाराः" हो जाते हैं (जाबालोपनिषत् ६)। इस वीतराग-यति की केवल एक ही वस्तु काम्य होती है—भगवान् का ध्यान। एक बार यदि यह महारत्न मिल गया तो सब कुछ मिल गया, यदि न मिला तो वेद पढ़ना व्यर्थ है, शास्त्र-ज्ञान बेकार है, पुराण का पाण्डित्य भार मात्र है—

वेदस्याध्ययनं कृतं परिचितं शास्त्रं पुराणं स्मृतम्
सर्वं व्यर्थमिदं पदं न कमलाकान्तस्य चेत् कीर्तितम्।

सच पूछा जाय तो मध्ययुग के सन्तगण इन शास्त्रीय बातों को ही अपनी बोली में स्वतंत्र भाव से लिखते रहे। उन्होंने समस्त वाह्याचार और बाह्योपासना की कड़ा निंदा की है। ऊपर से उनकी तिलमिला देनेवाली व्यंग्यवाणी ने इन सबको अत्यन्त ज़ोरदार बना दिया है। वे व्रतोपवास की असारता दिखाते समय कहते हैं : पाप करता है मन और दण्ड पाता है शरीर, इससे बड़ी मूर्खता क्या हो सकती है?···इत्यादि। इन साधकों ने ज़ोरदार शब्दों में उस तत्त्व को लोक-गोचर किया है जिसे गीता के षष्ठ अध्याय में इतना महत्त्व दिया गया है—अर्थात् साधना का शत्रु भीतर ही है। मन ही स्वयं ससीम होते हुए भी असीमत्व का भान करके ऐसे नानाविध रूपधारण करता है जो साधक को साधना-भ्रष्ट बना देते हैं। शाट्यायनीय उपनिषद् में यही तत्त्व समझाने के लिये कहा गया है कि मन ही मनुष्यों के मोक्ष और बंध का कारण है—मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।

धर्मसाधना की मूल बात है मैत्री और दया। इनको सन्तों ने अपने साहित्य में बहुत महत्त्व दिया है। केवल जीवहिंसा को ही गर्हणीय नहीं बताया गया परनिंदा को भी उसी हिंसा के अन्तर्गत माना गया है क्योंकि परनिंदा में एक प्रच्छन्न हिंसा का भाव है। चूंकि ये साधक अन्तर की साधना पर ही जोर देते रहे इसीलिये विवेक, विचार, धीरज, क्षमा, शील, सन्तोष और दया के संबंध में इन साधकों के ग्रंथ भरे पड़े हैं। इनपर अलग अलग "अंग" लिखे गए हैं। इन अंगों में चित्तशुद्धि के उपाय बताए गए हैं। चित्त शुद्ध होने पर ही नित्यानित्य भेद को भली भांति समझा जा सकता है। माया अंग, विपर्यय अंग आदि में यही बातें समझाई जाती हैं।

विचार के द्वारा समस्त पक्षपात अर्थात् extremism या कोटिग्रहण का परित्याग करके मध्यपंथा अवलंबन सुलभ होता है। बुद्ध जैसे महान् पुरुष इसी मध्यपथ का उपदेश दे

गए हैं। आज तक वही प्राचीन मध्य मार्ग सन्तों की साधना में अविच्छिन्न बहा चला आ रहा है। किसी एक ही ओर झुक पड़ने से साधक सत्यभ्रष्ट हो सकता है। 'साँच' के अंग में यही बात बताई गई है।

सत्य को जीवन में पाने के लिये ध्यान या 'लौ' की आवश्यकता है और ध्यान के लिये भगवान् पर विश्वास की ज़रूरत है। यही कारण है कि सन्त लोग सांच के बाद ही 'लौ' और विश्वास का अंग देते हैं—और इसके ठीक बाद 'समर्थ' के अंग में बताते हैं कि भगवान् ही एकमात्र निर्भरयोग्य हैं।

मन की तरह एक और भी बाधा इस मार्ग में बाधक है—अहंभाव। जहां राम रहते हैं वहां 'मैं' अर्थात् अहंभाव को जगह नहीं रहती और जहां 'मैं' है वहा राम को जगह मिलना दुष्कर है। जगह कम है, दो एक साथ वहां कैसे रह सकते हैं?

जहां राम तहँ मैं नहीं, मैं तहँ नाहीं राम।
'दादू' महल बारीक है, द्वै कूं नाहीं ठाम॥

व्यर्थ की वकबास साधना का परिपंथी है। इसीलिये सन्त लोग कथनी और करनी के अंगो में कथनी की निंदा और करनी की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं।

परन्तु भगवान् को ध्यान द्वारा सब समय पा सकना कठिन भी हो सकता है इसीलिये सन्त लोग 'सुमिरन' या जप की बात नहीं भूलते। परन्तु वे इस बात में पूरे सावधान हैं कि जप को कोई बाह्य आचार न समझ बैठे इसीलिये वे लोग आन्तरिक जप को ही प्रधानता देते हैं—

प्राण कमल मुखि राम कहिं, मन पवना मुखि राम।
दादू सुरति मुखि राम कहि, ब्रह्म सुंनि निज ठाम॥

इसपर भी जो कुछ बाकी रह जाय तो बिनती या प्रार्थना करनी चाहिए। निश्चय ही यह प्रार्थना भी बाह्य न होकर आन्तर होगी। विनती अंग में ये ही बातें समझाई गई हैं। फिर इन उपायों से साधक उस अवस्था को प्राप्त होता है जब वह अपने साथ भगवान् की एकता उपलब्धि करता है। एकता और व्यापक अंगों में बताया गया है कि भक्त भगवान् में एकमेक होकर कैसा आनंद पाता है।

प्रश्न हो सकता है कि इतने यत्न और तपस्या से जो साधना की गई उसका फल क्या है? भक्त इसके जवाब में कहेंगे, प्रेम का दूसरा उद्देश्य हो ही क्या सकता है। प्रेम का फल प्रेम ही है, स्वर्ग भी नहीं नरक भी नहीं—अनजाने को स्वर्ग है हरि जाने को नाहिं! और फिर भक्ति कोई व्यवसाय नहीं है कि इस हाथ से दे उस हाथ से ले! जो धर्म साधना स्वर्ग-अपवर्ग के लोभ से की जाती है वह एक दूकानदारी है। दूकानदार की दूकान पर भगवान् को मोल-तोल

के लिये घसीटने से बढ़कर पाप भला क्या हो सकता है। असल में ऐसी धर्मसाधना ही नरक का कारण है। कबीर ने ठीक ही कहा है—पापी को दोजख नहीं, धर्मी दोजख जाय !

वस्तुतः स्वर्ग या अपवर्ग भगवत्प्रेम के सामने अत्यन्त तुच्छ है। भक्त उनकी ओर ताकता भी नहीं। वह खूब जानता है कि

मुक्ता पैंड़ा जब भया, प्रान मुक्ति निरबान।
रूप मुक्ति तब जानिये, देखे दृष्टि पिछान॥
मुक्ती बांये दाहिने, मुक्ता आगे पीठि।
मुक्ती धरनी आकाश मैं, मुक्ती मेरी दीठि॥

इस सर्वमूलाधार प्रियतम को पा सकना असंभव नहीं है। असाध्य होता तो साधना की बात ही नहीं उठती। किन्तु इस साधना के लिये ज़रूरी है कि साधक अपने को प्रेमसाधना की धारा में उत्सर्ग कर दे। जो व्यक्ति साहस पूर्वक अपने को उत्सर्ग नहीं कर सका वह संसार में आकर व्यर्थ ही चला गया "जो उस धारा में कूद गया है, गोता लगाकर खोजता रहा है वह कभी विफल-मनोरथ नहीं हुआ। गहरे पानी में डूब कर ही उसने उस धन को पाया है, एक अभागा मैं हूं जो जो डूबने से डरता रहा और किनारे ही बैठ रहा ! सारा जीवन ही बेकार गया"—

जिन ढूंढ़ा तिन पाइया गहिरे पानी पैठि।
मैं बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठि॥

युद्धारम्भ के बाद चीनी काव्य की प्रवृत्ति

दिवाकर उपाध्याय (उ-शिऔ-लिङ्)

[यह लेख चीन-भवन, शान्तिनिकेतन के अध्यापक श्रीउ-शिऔ-लिङ् ने विशेष रूप से विश्वभारती-पत्रिका के लिये लिखा है। 'दिवाकर उपाध्याय' आपका ही भारतीय नाम है। चीन-भवन के अनागारिक शान्तिभिक्षुजी ने मूल-लेखक और उनकी पत्नी श्रीमती उ की सहायता से मूल चीनी से इसका हिन्दी में उल्था किया है।—सम्पादक]

चीन देश के प्राचीन-काव्य का इतिहास तीन हज़ार वर्ष से कहीं अधिक पुराना है जब कि नवीन काव्य आयु में अपने जन्म से आज तक गिनती में सत्ताईस वर्ष से अधिक का नहीं है। यदि दोनों की परस्पर तुलना करें तो प्राचीनकाव्य पत्र-शाखा-जटाजटिल सुन्दर अश्वत्थवृक्ष है और नवीन धरातल से फूटा हुआ बट-बीज का नवजात अंकुर है। एक 'क़लम के उस्ताद' से लिखा अजन्ता का परिलेख है और दूसरा कलाभवन के छोटे शिशु का प्रथम दिन का प्रयास है। काल की दृष्टि से प्राचीन और नवीन काव्य की परस्पर तुलना हो ही नहीं सकती, सचमुच दोनों एक दूसरे बहुत दूर हैं। पर इस भेद के होते हुए भी यदि हम नवीन काव्य के प्रति तुच्छ दृष्टि रक्खें तो ठीक न होगा। वस्तुतः प्राचीन काव्य मिस्र देश के 'ममी' (mummy) के तुल्य है जब कि नवीन काव्य नवजात स्वस्थ शिशु के समान है। हो सकता है कि ममी एक राजा हो जो वीरता और पवित्रता की साक्षात् प्रतिमा हो, हो सकता है कि ममी वायु और मेघों की प्रतिस्पर्धा करनेवाला एक वीर नायक हो, हो सकता है ममी सुन्दरता और भावभंगी से त्रैलोक्य को मोहित करनेवाला मोहनी रूप हो। अपने जीवन-काल में ममी भले ही अनुपम एवं अतुलनीय यश के भाजन रहे हों, किन्तु आज वे अस्थिपंजरावशेष ही हैं। उनके लिये दूसरे शोक कर सकते हैं। जनता के शोक को उभाड़ने में उनकी पुरानी याद आलम्बन और उद्दीपन हो सकती है। कल्पना कीजिए, यदि वे शिवजी के वरदान से फिर जी उठें! पर शायद ही वे इसे अच्छा समझें। ये दिन हैं उनके आराम से चुपचाप धरती में पड़े रहने के। वे थे बीते समय की जनता के लिये, न कि बड़ी तेज़ी से बदलनेवाले आज के विश्व के लिये। नवीन काव्य जो अभी सद्योजात शिशु के समान है, माता की कोख में एक हज़ार वर्ष रहा। जननी के उदर से 'कहां-कहां' करके धरती पर गिरने तक उसे पचास वर्ष लग गए हैं। चीन के इतिहास और चीन-निवासियों के पौराणिक विश्वास के अनुसार निश्चय ही जो शिशु माता की कोख में दस

महीने से अधिक रहता और परिपुष्ट होता है वह महापुरुष होता है। जन्म से पूर्व माता के गर्भ में जो प्रौढ़ शिक्षा मिलती है वह बड़े महत्व की होती है। जन्म लेने के बाद उसे माता-पिता का विशेष तौर पर लाड़-प्यार तथा परिवार, सगे-सम्बन्धियों एवं मित्रों का बहुत बहुत प्रेम मिला है। उसके पालन-पोषण और शिक्षण में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी गई है। धात्री-कर्म में अत्यन्त चतुर और अनुभवी दाइयों ने तत्परता से उसे अच्छी तरह पाला है। सबकी सब बलदायक रसायन-वस्तुएं उसे खाने के लिये मिली हैं और मिली है उसे अनुकूल परिस्थिति अपने जन्म के बाद। इसी कारण सत्ताईस वर्ष का समय भले ही कितना ही छोटा क्यों न हो, नवीन काव्य की बहुरंगी सुन्दर आभा खिल उठी है। उसके भविष्य के बारे में सबके हृदयों में अपार एवं अनन्त आशा है।

नवीन-काव्य के बारे में कुछ कहने से पूर्व, प्राचीन-काव्य का संक्षेप में ब्यौरा देना ज़रूरी है ताकि पाठक चीन के प्राचीन-काव्य से एक स्पष्ट प्रभाव ले सकें और फिर नवीन-काव्य से तुलना करके दोनों के आकार-प्रकार एवं विषय के भेद को परख सकें। इसके बाद वे जान सकेंगे कि नवीन-काव्य प्राचीन से उत्कृष्ट ही नहीं, मनोरम भी है।

चीन के प्राचीन-काव्य को मोटे तौर पर दो भागों में बांट सकते हैं। आरम्भिक पुराने ढर्रे का काव्य 'कु-थि-ष' कहलाता है। सुधरे पुराने ढर्रे का काव्य 'चिन्-थि-ष' कहलाता है। कु-थि-ष का इतिहास यदि गीति-काव्य (= ष-चिङ्; समय ११२३-२५६ ई० पू०) से आज तक गिनें तो प्रायः तीन हज़ार वर्ष का है। चीन के प्राचीन-ग्रन्थों में =ष-चिङ् (गीति-काव्यों) से भी प्राचीन-काव्य हम खोज सकते हैं। जैसे ह्वाङ्-ती सम्राट् के समकालीन (२६९८-२५९८ ई० पू०) तान्-को (= गुल्ला-गीत), इऔ महाराज के समकालीन (२३५७-२२५६ ई० पू०) चि-रान्-को (= पुतली-गीत), शुन् महाराज के समकालीन (२२५६-२२०६ ई० पू०) छिङ्-युन्-को (= मेघ-गीत) पर विश्वास करना कठिन है। सचमुच वे बहुत पीछे के हैं। आज के चीनी-विद्वानों ने आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से काम लेकर जो ऐतिहासिक शोध किए हैं उनके हिसाब से उपरोक्त सम्राट् पौराणिक हैं। उनका अस्तित्व सन्दिग्ध है। ष-चिङ् को चीन के पश्चिमी चौ-राजवंश (११२३-७७१ ई० पू०) से पूर्वी चौ-राजवंश (७७१-२५६ ई० पू०) तक के दो वंशों की कविताओं का एक पूर्ण संकलन कहना चाहिए जिसमें सब मिलाकर तीन-सौ-पांच कविताएं हैं। उसमें 'लिएन्-को' हैं, जो साधारण ग्रामीण जनता के कुलपुत्र और कुलपुत्रियों के 'प्रेम-गीत' है। उसमें 'इएन्-स्याङ्-को' भी हैं जो उच्चवर्ण के लोगों की मद्यगोष्ठी एवं सहभोजों के 'भोज-गीत' हैं। उसमें 'च्यौ-म्यौ-को' भी हैं जो राजाओं के महोत्सव अर्थात् पर्वत्यौहार तथा युद्ध-विजय के अवसर पर देव-पूजा एवं पूर्वजों

की गाथा के गीत हैं। ष-चिङ् में जो कविताएं हैं वे गाई भी जा सकती हैं और उनका अभिनय भी हो सकता है। केवल पाठ के योग्य कविताएं भी इसमें हैं। ये कविताएं जिन कवियों ने लिखी हैं उनके नाम प्रायः अज्ञात ही हैं। पश्चिमी चौ-राज्यवंश से पूर्वी चौ-राज्यवंश तक के ८०० वर्ष के समय में सिर्फ ३०५ ही कविताएं नहीं बनी होंगी। हां, जो बच रही हैं वे इतनी ही हैं। इस संकलन में अपने समय की सभी कविताओं का संकलन नहीं हुआ है। यह बात इसके नाम ष-चिङ् से प्रकट होती है। चिङ् का अर्थ है धर्मग्रन्थ। ष का अर्थ है कविता। सो यह धार्मिक कविताओं का ग्रन्थ है जो चीन के धर्म-गुरु कन्फ्यूशस् (५५१-४७९ ई० पू०) के समय में हज़ारों कविताओं में से सावधानी के साथ चुनकर बनाया गया है। इसमें परवर्ती जनता के आत्मनिर्माण के उपयुक्त सद्गुणसम्पन्न, हितकारी कविताओं का समावेश है। चीन का हर-एक साक्षर उसे पढ़ता है। भारत में जो पद गीता और रामायण का है वही चीन में ष-चिङ् का है।

'कु-थि-ष' को संक्षेप में 'कु-ष' और केवल 'कु' भी कहा जाता है। छिन् (२५६-२०७ ई० पू०) और हान् (२०१ ई० पू०—२२७ ई०) वंशों से कवियों ने ष-चिङ् के नियमों के अनुसरण एवं उसकी पद्धति के अनुकरण पर जो कविताएं बनाईं वे 'कु-ष' कहलाती हैं। उनके ढांचे के बारे में निम्नलिखित बातें ज्ञातव्य हैं: पहली यह कि उनके छन्दों में चरणों का कोई नियन्त्रण नहीं है। हां, चरण सम अवश्य होने चाहिएं। कम से कम चार चरणों की कविता हो सकती है। छः, दस, चौदह एवं सौ तक भी चरण हों तो कोई हर्ज की बात नहीं। दूसरे, छन्द के चरणों में अक्षरों का कोई निश्चित नियम नहीं है। चार अक्षरों का भी एक चरण हो तो ठीक है। पांच, छः, सात, आठ, नौ अक्षरों तक के भी (नौ से अधिक नहीं) चरण हो सकते हैं। कवि किसी छन्द के प्रत्येक चरण में बराबर अक्षर भी रख सकता है और यदि चाहे तो अक्षरों की संख्या को भिन्न भिन्न रखकर भी किसी कविता को गूंथ सकता है। तीसरी बात यह है कि तुक के नियमों में भी पर्याप्त स्वच्छन्दता है। कवि एक समूची कविता में चाहे तो एक प्रकार का तुक रख सकता है और चाहे तो भिन्न प्रकार के तुकों का प्रयोग कर सकता है। उपरोक्त तीनों प्रकार के दृष्टिविन्दुओं से यह स्पष्ट है कि 'कु-ष' की रचना में बहुत कुछ स्वच्छन्दता है। पर जो कुछ कविता की सामग्री बच रही है उसके देखने से पता चलता है कि ष-चिङ् की अधिकांश कविताएं चार अक्षरवाले छन्द में हैं तथा छिन्-हान् वंश से आरम्भ होने वाली 'कु-ष' की कविताएं दो प्रकार की—या तो समूची पांच अक्षरवाले या सात अक्षरवाले छन्द में—हैं। ष-चिङ् के कितने ही अंग्रेज़ी अनुवाद हो चुके हैं। मैं यहां ष-चिङ् की कविताओं में से आगे तीन उदाहरण उद्धृत कर रहा हूं:

कु-चुङ्—जल-देवता की पूजा

ढोल और घण्टों का ढम् ढम् (तुम्हारे निवास की सरिता) ह्वै-श्वे के हर् हर् (शब्द) के (समान) है। हम दीन हीन कुल-पुत्री और कुल-पुत्र श्रद्धा से (तुम्हारा) स्मरण कर रहे हैं। हम तुम्हें नहीं भूल सकते।

महाराज उ (११३४-१११६ ई० पू०) के प्रति श्रद्धाञ्जलि

च्यो राजवंश—जिसकी परम्परा में (अनेकों) नृपसत्तम हुए हैं—के महाराज उ त्रिदेवों के स्वर्ग में, स्वर्ग की राजधानी में (देवताओं के साथ) 'परस्परं भावयन्तः' विराज रहे हैं, ताकि (अपनी सन्तान की) परम्परा के लिये सद्गुण पा सकें। वे वहां शतं-जीवी हों, सहस्रं-जीवी हों। स्वर्ग-लाभ से, स्वर्गाधिगम से चारों दिशाएं प्रसन्न हों। वे शतं-जीवी हों, सहस्रंजीवी हों। वे हितकारी हों (हमारे लिये, और स्वर्ग में होते हुए भी हों हमसे) अदूर।

तुम्हारा अंचल [नायक के प्रति नायिका]

तुम्हारा नीला नीला अंचल मेरे हृदय को स्पन्दित कर रहा है। यद्यपि मेरी पहुंच तुम तक नहीं है, पर तुम किसलिये पत्र नहीं भेजते?

कटिबन्ध में लगी हुई तुम्हारी नीली नीली झालर मेरी स्मृति को कंपा रही है। यद्यपि मेरी पहुंच तुम तक नहीं है, पर तुम क्यों नहीं चले आते?

नगर की प्राचीर के निकट (कहां कल की) सुन्दर क्रीड़ा! (कहां आज) विरह का दिन जो लगता है जैसे तीन मास!

थाङ् राजवंश के समय के प्रसिद्ध कवि ली-पो की 'कु-ष' कविताओं में से पंचाक्षरी छंद एवं सप्ताक्षरी छन्द के एक-एक उदाहरण यहां दिए जा रहे हैं।

चांदनी में मधुपान

फूलों के बीच एक मधुपात्र है। मैं अकेले ढाल रहा हूं। कोई दिली दोस्त नहीं है। तीन जने (पीनेवाले हैं)। प्याला उठाकर चमकते चांद को निमन्त्रित किया है। साथ में प्रतिबिंब को ले लिया है, (और मैं हूं ही), पर चांद को पीना नहीं आता। प्रतिबिंब केवल मेरे

शरीर का अनुकरण करता है। चांद अस्थायी साथी है और प्रतिबिंब को साथ ले रखा है, क्योंकि ठीक अवसर पर आनन्द-विनोद होना ही चाहिए। मैं गाता हूं, चांद झूमता है। मैं नाचता हूं, छाया नक़ल करती है। अमादकता के समय एक-दूसरेसे विनोद करते थे पर मद-मत्त होने पर एक-दूसरेसे अलग हैं। सर्वदा के लिये मैंने की है संज्ञाहीन मित्रता। मिलने का अवसर दूर है दूर—(मैं यहां भूमि पर हूं और चांद है) आकाशगंगा में।

दूर की याद

दिवस की आभा विदा ले रही है, फूल धुंध में छिप गए हैं। चांद की पिंगल प्रभा फैल रही है। मैं उदास हूं, नींद नहीं आती। वीणा की मयूराकार खूंटियों का (कसना) बंद करने जा रहा हूं और सितार के तार के चक्रवाकों से खेलने जा रहा हूं। इस गीत का अर्थ वह है जिसे कोई व्यक्ति नहीं जानता। मैं वासन्तिक समीर द्वारा अपना सन्देश इएन्-रान् पर्वत पर भेजना चाहता हूं। तुम्हें याद करता हूं (पर तुम) दूर-दूर हो जैसे नील गगन। बीते दिनों के वे गीले नेत्र आज आंसुओं के स्रोत बन बह रहे हैं। मेरा हृदय फटा जा रहा है, तुम्हें विश्वास न हो तो आकर देखो—चमकदार आरसी के सामने।

चिन्-थि-ष के भी दो भेद हैं। एक 'च्वे-च्यू' (= स्वल्पपंक्तिक) कहलाता है और दूसरा 'ल्यू-ष' (= नियम-काव्य)। 'च्वे-च्यू' की रचना में 'कु-ष' से बहुत कुछ समानता है पर दो भेद हैं : एक तो प्रत्येक कविता पूरे चार (न अधिक न न्यून) चरणों की होती है। दूसरे समूची कविता में एक प्रकार का तुकान्त रहता है। मेरे ख्याल से 'च्वे-च्यू' कदाचिद् 'कु-ष' का विकसित रूप है। उसमें छः अक्षर या चार अक्षर के छन्द का उपयोग हो सकता है पर साधारणतया पांच या सात अक्षर के छन्द का ही उपयोग हुआ है। मैं तो कहूंगा कि चीन के प्राचीन-काव्य में प्रायः पांच और सात अक्षरों के छन्द में गूंथी कविताएं ही उत्तम कविता की प्रतिनिधिभूत रत्न-माला हैं। इनमें कवि को बीस या अट्ठाईस अक्षरों के भीतर ही अनेकों भावों को व्यक्त करना पड़ता है। ये कविताएं केवल पाठकों को तन्मय ही नहीं करतीं प्रत्युत उनके हृदय पर उस प्रकार प्रभाव छोड़ जाती हैं जैसे आंवले खाने के बाद उनसे उत्पन्न हुआ मधुर स्वाद बाद में भी बना रहता है। न टिकनेवाले अक्षरों में टिकाऊ भाव का भरना इसे ही कहते हैं। मैं यहां एक पंचाक्षरी तथा एक सप्ताक्षरी छन्द की कविता का उदाहरण दे रहा हूं :—

व्याध से—(थाङ्-शन्-स्युन्)

दक्षिण से आ रहे इन हंसों को न मारो, इन्हें उतर जाने दो। यदि मारना ही है तो जोड़े को मारो और उन्हें ले लो। उन्हें एक-दूसरेसे जुदा न होने दो।*

अबाबील की ओर—(छ्न्-सन्)

छिन् पर्वत (अत्यन्त दूर होने से) भौंहों के चिह्न के समान दिखाई पड़ते हैं और उए नदी श्वेत कौशेय मेखला की पंक्ति के समान जान पड़ती है। राजधानी के पुराने मित्रों का मिल सकना असम्भव है। मैं दोनों आंखें उड़ते अबाबीलों की ओर लगाए देखता हूं—सन्देश भेजने के लिये।†

ल्यू-ष में भी मुख्यतः पंचाक्षरी तथा सप्ताक्षरी छन्द का ही प्रयोग होता है जिन्हें हम उ-ल्यू और छिल्यू कहते हैं। च्वे-च्यू से इसका भेद यों है : प्रथम तो चरणों की संख्या का नियम इसमें ठीक च्वे-च्यू से दूना है अर्थात् प्रत्येक कविता में आठ चरण होते हैं। इसकी रचना कठोर नियमों से बंधी होती है। समूची कविता में एक तुकान्त ही रखना हो सो बात नहीं, प्रत्युत तीसरे चरण से छठे चरण तक के चार चरणों में कम से कम प्रत्येक दो चरणों में (अर्थात् तीसरे, चौथे, पांचवें, तथा छठे चरणों में) परस्पर यमक (= तौइ) का नियम है। (यह यमक शब्दावृत्तिरूप यमकालङ्कार नहीं है)। व्याकरणानुसार शब्द की व्युत्पत्ति अथवा विश्लेषण से जिनमें सधर्मता हो उनका जोड़ा यमक है। (जोड़ा सरूपता में भी होता है, जैसे फूलों का जोड़ा, विरूपता में भी होता है, जैसे नर-मादे का जोड़ा। इन दोनों प्रकार के अर्थों में यहां पहले प्रकार का अर्थ अभिप्रेत है)। उदाहरण के लिये यदि तीसरे चरण के पहले दो अक्षर संज्ञा हों तो चौथे चरण के भी पहले दो अक्षर संज्ञा होने चाहिएं। (अभिप्राय यह है कि पूर्व के चरण में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया एवं क्रियाविशेषण आदि के क्रमानुक्रम से ही पहले चरण में संज्ञा सर्वनाम आदि होने चाहिएं)। अलंकारशास्त्र (=स्यू-छ् = 'रेटरिक') के अनुसार यमक का अर्थ है विरूप अथवा विभिन्न युग्म का होना। (इस यमक को अनवीकृत

---

* कविता वाल्मीकि के "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौंच-मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।" श्लोक की याद दिलाती है।

† कालिदास के विरही यक्ष से तुलनीय।

दोष का अभाव रूप समझना चाहिए, अथवा शब्दार्थ-पुनरुक्ति से बचकर प्रक्रान्त अर्थ का निर्वाह करने को यमक समझना चाहिए।) उदाहरण के लिये, यदि चौथे चरण में लाल फूल के विषय में कहा गया है तो छठे चरण में तदानुगुण्य से हरी पत्तियों का उल्लेख होना चाहिए। दूसरा है स्वरों के सामञ्जस्य का नियम। चीनी भाषा एकाक्षरी ('मोनोसिलेबिक') है। हर एक अक्षर ('सिलेबिल्') के चार या पांच विभिन्न स्वर होते हैं। पहले और दूसरे स्वर को "फिङ्" (=एकश्रुति) कहते हैं। [संस्कृत में दीर्घस्वर का जैसा उच्चारण होता है वैसा ही 'फिङ्' का होता है पर 'फिङ्' की पहली ध्वनि ही दीर्घवत् होती है। दूसरी ध्वनि दीर्घ से कुछ ऊंची प्लुत के समकक्ष होती है।] तीसरे स्वर को 'शाङ्' (=ऊंचा, उदात्त), चौथे स्वर को "छ्यू" (=अनुदात्त), पांचवें स्वर को 'रु' (=त्वरित=शीघ्रतया बोला जानेवाला) कहते हैं। इन तीनों—तीसरे, चौथे और पांचवे स्वरों—को "च्" (=अनेकश्रुति, असमश्रुति) कहते हैं। ल्यू-ष के आठ चरण चार युग्मों में विभक्त होते हैं। प्रत्येक युग्म के अक्षर में स्वरों का यमक होना चाहिए। उदाहरण के लिये, 'उ-ल्यू' के पहले चरण में यदि स्वरों का क्रम 'फिङ्-फिङ्-च्-च्-फिङ्' हो तो दूसरे चरण में स्वरों का क्रम 'च्-च्-फिङ्-फिङ्-च्' होना चाहिए। 'ल्यू-ष' की रचना करते समय कवि को इन नियमों का पालन करना अपेक्षित है। 'ल्यू' का अर्थ ही है नियम। सो ल्यू-ष की रचना में यदि कवि नियम का पालन नहीं करता तो सुकवि नहीं हो सकता। मैं थाङ् राजवंश के समकालीन ली-पो कवि के समान ही लब्धप्रतिष्ठ महाकवि तु-फु (७७२-८४६ ई०) की पंचाक्षरी तथा सप्ताक्षरी कविताओं का एक-एक नमूना नीचे दे रहा हूं—

वसन्त-दर्शन

देश और जाति के टुकड़े टुकड़े हो गए यद्यपि नदियां और पहाड़ वैसे के वैसे ठहरे हैं। नगर में वसन्त का आगमन हो चुका है। तृण और तरु [=नवीन फूलपत्तों के आ जाने से] सघन हो रहे हैं। शोक के [इस] समय में फूल [ओस के व्याज से] आंसू गिरा रहे हैं। अरुन्तुद वियोग! पक्षियों के हृदय फटे जा रहे हैं। तीन मास तक अनवरत युद्ध की आग!!! परिवार का पत्र, दस सहस्र स्वर्णमुद्रा मूल्य! [चिन्ता और शोक से] मेरे बाल सफेद हो गए। और नोचते-नोचते इतने छोटे हो गए कि उनमें पिन भी नहीं लग पाता।

अतिथि-आगमन

झोपड़े के उत्तर और दक्षिण दोनों ओर वासन्तिक जल-प्रवाह में प्रतिदिन आते दिखाई पड़ते थे केवल जल-विहंग। मार्ग था [तरुओं से गिरते] फूलों से आच्छादित, वह अतिथि के

लिये साफ़ भी नहीं किया गया था। पर आज पहले-पहल कुंज का द्वार तुम्हारे लिये खोला गया है। बाज़ार दूर है [सो चीज़ों के न मिलने से] थालियों के भोजन में दो प्रकार का [भी] स्वाद नहीं है। परिवार है ग़रीब। मधुपात्र में है गांव की बनी मदिरा। बूढ़े—मेरे निकट पड़ोसी—के साथ पीने में संकोच न हो तो बाड़े के पार जाकर बुला लाएं और प्याले ले पात्र की बची मदिरा पी डालें।

उपरोक्त प्रकरणकों में चीन के प्राचीन-काव्य का थोड़ा-सा स्पष्ट परिचय हो जाता है। पाठक कदाचित् पूछना चाहेंगे कि प्राचीन काव्य को कु-थि-ष तथा चिन्-थि-ष के दो वर्गों में विभक्त किया है, वह क्यों? [कु-थि-ष=पुरातन-शैली-काव्य, चिन्-थि-ष=अद्यतन-शैली-काव्य—इन दोनों शब्दों के अर्थ के अनुसार यह आशंका उठ खड़ी होती है कि प्राचीन-काव्य तो प्राचीन है ही, उसके भीतर फिर पुरातन और अद्यतन का विभाग क्यों?] इसपर मुझे यह कहना है कि कु-थि-ष का समय ष-चिङ् (११२३-२५६ ई० पू०) से गिना जाता है। पर बाद में थाङ्-राजवंश (६१८-९०७ ई०) के समय के कवियों ने च्वे-च्यू और ल्यू-ष की रचनाएं आरम्भ की। उनका [प्राचीन काव्य से] भेद प्रदर्शन के लिये इन कवियों की नूतन-शैली की च्वे-च्यू और ल्यू-ष कविताएं चिन्-थि-ष कहलाती हैं और इससे पूर्व की पुरानी-शैली की उपलब्ध कविताएं कु-थि-ष कहलाती हैं। आज हम कु-थि-ष तथा चिन्-थि-ष दोनों को प्राचीन काव्य कहते हैं। वह इसलिये कि आज हमने उन दोनोंसे भी नये प्रकार का काव्य लिखना आरम्भ कर दिया है। वस्तुतः प्राचीन और अर्वाचीन का अन्तर केवल काव्य के शैलीगत संतुलन में है जो स्पष्टीकरण में सरलता-मात्र के लिये है। यद्यपि आज आधुनिक कविता-जगत् ही चीनीकाव्य का काव्यक्षेत्र है, पर कितने ही व्यक्ति प्राचीन काव्य लिखते हैं। उदाहरण के लिये कवीन्द्र रवीन्द्र की ८०वीं वर्षगांठ के अभिनन्दन-ग्रन्थ ('विश्वभारती क्वार्टरली' खण्ड ७, अंक १–२, १९४१ ई०) में चीन देश के सभापति लिन-सन् महानुभाव ने जो अभिनन्दन कविता उपहृत की है वह सप्ताक्षरी ल्यू-ष है। युवान्-परीक्षा-समितिके सभापति ताइ-ची-थौ महानुभाव की कविता बारह अन्त्यानुप्रासों से युक्त चौबीस चरणों में पञ्चाक्षरी कु-थि-ष है। यह ठीक ऐसा ही है जैसा भारत के कितने पण्डित संस्कृत में कविता लिखते हैं। इस प्रकार के लोग जिन्होंने चीनी-साहित्य की छान-बीन की है, प्राचीन काव्य लिखने में समर्थ हो सकते हैं, पर हम आधुनिक प्रवाह से अलग नहीं रह सकते, जनसमूह की अभिरुचि के अनुकूल हमें वह चीज़ देना है जिसे वह समझ सके और आदर कर सके। अतः हमने प्राचीन कविता की लेखनी को मुहर लगाकर बन्द कर दिया है।

प्राचीन काव्य के उपरोक्त परिचय से पाठक सहज ही इस बात को ठीक ठीक नज़र-अन्दाज़

करेंगे कि कु-थि-ष के कठोर नियमों से बंधे चिन्-थि-ष के ल्यू-ष में परिवर्तन हुआ है। यह ऐसा ही है जैसा आकाश का स्वच्छन्दचारी पखेरू अचानक किसी शरारती छोटे लड़के द्वारा पकड़कर पिंजड़े में बन्द कर दिया गया हो या कोई वयस्क एवं बलवान् वीर युद्धक्षेत्र में बुरी तरह घायल कर मरने के लिये जंगल में छोड़ दिया गया हो। फलतः कविता के नियम अधिकाधिक कठोर होने से कवि इने ही गिने रह गए। चौ और छिन् राजवंश के समय में जहां शहतूत की पत्तियां इकट्ठी करनेवाली लड़कियां तथा भेड़ चरानेवाले लड़के कविताएं गूंथ सकते थे, वहां थाङ् वंश के समय के अनन्तर केवल ज्ञान-तुन्दिल पण्डित ही काव्य रचना कर पाते थे। सो चीन में प्राचीन कविताएं तो बहुत हुई हैं पर सुन्दर कविताएं इनोगिनी या विरली ही हैं; कवि बहुत हुए हैं पर प्रतिभावान् सुकवि विरले ही। और यही कारण है कि चीन का प्राचीन काव्य यद्यपि तीन हज़ार वर्ष के इतिहास से गुज़रा, तब भी अन्त में निर्वाण को प्राप्त हो ही गया।

निदान, आधुनिक काव्य का उदय हुआ और उसने चीन की काव्य-वेदी पर क़दम बढ़ाए और उसके सिंहासन पर प्रतिष्ठित हो गया।

आधुनिक काव्य का उदय मुमूर्षु प्राचीन-काव्य के लिये न तो सञ्जीवनी है और न उसके जीर्ण-शीर्ण, दुर्बल शरीर में प्रचुर मात्रा में रुधिर पहुंचाना है, प्रत्युत यह है उसका काया-कल्प, उसका भवचक्र में पुनर्जन्म। अथवा सीधे तौर पर कहें तो आधुनिक काव्य एक और ही नवजात शिशु है जिसका प्राचीन-काव्य से रत्तीभर भी संबंध नहीं है।

चीन के आधुनिक काव्य का पहला पृष्ठ वहां की राष्ट्रीय-सरकार की स्थापना के छठे वर्ष १९१७ ई० से खुलता है। मेरे गुरु डा० हू-षि ने इस पहले पृष्ठ पर रचना की और प्राचीन-काव्य से आधुनिक काव्य की सीमान्त रेखा अंकित कर दी। वे पहले और अकेले व्यक्ति थे। आधुनिक काव्य के लिये तीन वर्ष तक भटकते रहे, जैसे कोई मरुभूमि में भटक रहा हो, जिसका न सहयोगी हो, न जिसे हो अन्नजल की पहुंच, जो आंधी-बयार एवं प्रचण्ड सूर्य के आतप को सहन कर रहा हो—उस समय वयोवृद्धों ने उन्हें चिढ़ाया, नवयुवकों ने नाहिम्मती से साथ न दिया। अन्ततोगत्वा चीन की राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के आठवें बरस चौथी मई १९१९ ई० को उसे बहुत दिव्य मीठे पानी का जलस्रोत मिला। बूंद बूंद टपकता हुआ वही गीले पानी का जलस्रोत बाद में चीन के नूतन-साहित्य की नदी बन गया। और ये उस वीर-सन्देश के देनेवाले अग्रदूत बने तथा चीनी-साहित्य के पुनःसञ्जीवन के पिता हुए। इनकी पहली काव्य पुस्तक चीन की आधुनिक कविता की प्रथम पुस्तक है जो प्रयोग-पुस्तक (छाङ्-ष-चि) कहलाती है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया है कि पुराने समय से प्रयोगों पर ही सफलता निर्भर रही है, जब कि चीन की पुरानी कहावत ठीक उलटे है—"प्रयोगों पर सफलता निर्भर नहीं होती।"

राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के छठे वर्ष से आठवें वर्ष तक का समय (१९१७-१९१९ई०) एक महान् समय है। राष्ट्रीय सरकार की छठी वर्ष-गांठ में प्रवेश करते ही—केवल पांच वर्ष के समय में चीनी-जनता मंचूरिया की छिङ् सरकार के पाशविक बन्धन से मुक्त हो गई। पांच हज़ार वर्ष के राजतन्त्र से निकलकर उसने पहले-पहल स्वच्छ एवं नये वातावरण में आज़ादी से सांस ली। फलतः देश में ताज़गी और खुशी छा गई, एक लम्बी अंधेरी रात के बाद ऊषा का प्रकाश फैल गया। राष्ट्रीय सरकार के छठे वर्ष के प्रवेश में ही चीन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की और एक लाख चीनी-मज़दूर पश्चिमी मोर्चे पर काम के लिये भेजे। राष्ट्रीय-सरकार के सातवें बरस १९१८ ई० में जर्मनी के बादशाह विलियम ने हथियार डाल दिए और संसार के इस पहले महायुद्ध की समाप्ति घोषित कर दी गई। इस प्रकार भाग्यवश चीन विजयी राष्ट्र बना और उसने अपना प्रतिनिधि राष्ट्रीय सरकार के आठवें बरस जनवरी १९१९ ई० में, परिस में होनेवाले राष्ट्र-संघ में चीनी-समस्या पर बातें करने के लिये भेजा। उसमें शान्-तुङ् का प्रदेश जो पूर्णतया जर्मनी के अधिकार में था, जापान को दे देने की बात तै हुई। इससे चीनी जनता अत्यधिक असन्तुष्ट हुई। शान्-तुङ् चीन का भूमि-भाग है, उसे दूसरे राष्ट्र अलग अलग कर नहीं बांट सकते। इसके लिये एक बहुत बड़ा सक्रिय जन-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जो 'उ-स' (= चतुष्पञ्च) आन्दोलन कहलाता है क्योंकि यह १९१९ ई० में पांचवें महीने की चौथी तारीख से शुरू हुआ था। इसका आरम्भ मेरे शिक्षण की मातृ-भूमि पे-किं के राष्ट्रीय विद्यालय से हुआ। विश्व-विद्यालय के सभी छात्रों ने पे-किं में नेतृत्व का भार संभाला एवं जुलूस निकालकर प्रदर्शन किए। यातायात-सचिव छाउ-रु-लिन् के घर में आग लगा दी और जापान में रहनेवाले चीनी-राजदूत चाङ्-चुङ्-स्याङ् को पीटा। तब सरकार ने सेना और पुलिस भेजी जिसने तीन हज़ार छात्रों को बन्दी किया। पे-किं के राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय का तीसरा आश्रम जिसे जेल का रूप देकर छात्र बन्दी किए गए, ऐतिहासिक प्रसिद्धि रखता है। सरकार की इस प्रतिक्रिया से देश की समूची जनता बिगड़ उठी। हर जगह छात्रों ने हड़तालें कीं। दूकानदारों ने दूकानें बन्द कर दीं। मज़दूरों ने फैक्टरियों में काम करना छोड़ दिया। सरकार से कुछ करते-धरते न बना। उसने विवश होकर मि० छाउ और चाङ् को उन राजकीय पदों से बरखास्त कर दिया और विदेशी मामलों में फिर न झुकी। तब शान्-तुङ् प्रदेश का अधिकार वैध रूप से जर्मनी से लेकर चीन को दे दिया गया। विदेशी मामलों में जनता की दस्तंदाज़ी के इस आन्दोलन को हम "को मिङ्-वाय्-च्यौ" कहते हैं। इससे मुख्यतः जनसाधारण के विचारों ने पलटा खाया। चीनी उस समय से पहचानने लगे कि यदि उन्हें अपनी कमज़ोरी दूर कर मज़बूत बनना है तो उस कमज़ोरी के कारण को समझकर उसका इलाज करना चाहिए। पूरे समाज की उन्नति न कर

सकना ही एक ऐसी समस्या है जो चीन की कमज़ोरी का मूल कारण है। समाज की उन्नति के लिये डा० हु-षि ने बताया कि हमें पश्चिमी विज्ञान तथा जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली का आह्वान करना चाहिए। चीन के राजनीतिक क्षेत्र में शुद्ध जन-तन्त्र को तथा समाज में अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, एवं शिक्षा में वैज्ञानिक शोधों तथा वैज्ञानिक प्रणाली को, स्थान देना चाहिए। पर विज्ञान और जनतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली को किस रूप में आह्वान करना है? और चीनी जनता कैसे उनसे परिचित हो सकती है? इसका उत्तर बहुत सीधा है: हमें शिक्षा द्वारा इन दोनोंका आह्वान करना चाहिए। पर शिक्षा का प्रश्न बहुत गम्भीर है। शिक्षा का अभिप्राय सामूहिक शिक्षा से है। परम्परया चीन देश में शिक्षा कुछ ही लोगों तक परिनियत है। चीन में शिक्षा के कुछ ही लोगों तक विशेष रूप से परिनियत होने का कारण है शिक्षा के माध्यम में पुरानी भाषा का प्रयोग, और पुरानी भाषा है अत्यधिक कठिन।

कठिन परिश्रम से पुरानी भाषा सीखने में एक चीनी को बीस वर्ष लग जाते हैं। फिर भी उसपर आधिपत्य नहीं हो पाता, प्राचीन ग्रन्थों के पढ़ने का सामर्थ्य नहीं हो पाता। एक चीनी की आधी आयु लिखित भाषा (= ग्रन्थभाषा, शास्त्रभाषा) पर अधिकार करने में बीत जाती है। निश्चय ही इस महा-व्यय का मूल्य नहीं के बराबर है। चीनी बोल-चाल की भाषा "पइ-ह्वा", प्राचीन-भाषा से पूर्णतया भिन्न है। एक पुरानी-भाषा का शिक्षित सचमुच विदेशी भाषा के शिक्षित के बराबर है क्योंकि वह जिस पुरानी भाषा को बोलता या लिखता है उसे दूसरे नहीं समझ सकते। अतएव यदि विज्ञान और जनतन्त्रात्मक शासनप्रणाली को बुलाना है और उनको शिक्षा में स्थान देना है तो अपनी भाषा को बदलना होगा। डा० हु-षि ने साहित्य और भाषा में क्रान्ति लाने को कहा और भाषा तथा साहित्य के "इन्क़लाब ज़िन्दाबाद" (= वन्-श्वे-को-मिङ्) का नारा बलन्द किया। पुरानी भाषा के बदले में बोल चाल की भाषा के व्यवहार का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा: प्राचीन भाषा प्रेतों—मरे हुओं—की भाषा है। बोलचाल की भाषा मनुष्य की भाषा है। पुरानी-भाषा मृत भाषा है, बोल-चाल की भाषा जीवित, हम जीवित व्यक्ति हैं, निश्चय ही मृत प्रेतभाषा का व्यवहार नहीं कर सकते। वे प्रत्येक साहित्यिक कार्य के लिखने में बोल-चाल की भाषा के पक्षपाती हैं। उनका कहना है—

१—जैसा बोलो वैसा लिखो।

२—जो बोलो वह लिखो।

उन्होंने बोल-चाल की भाषा में कविताएं, नाटक, कहानी, उपन्यास और निबन्ध लिखने आरम्भ कर दिए। इस बात का बहुत-से शिक्षितों पर भी प्रभाव पड़ा और उन्होंने उनका अनुगमन किया। अन्त में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के नवें बरस १९२० ई० में शिक्षा-

सचिव ने सारे देश के स्कूलों को प्राचीन भाषा के स्थान में नई भाषा के प्रयोग करने का आदेश दे दिया। बीस वर्ष से कुछ ही ऊपर की आयु के नवयुवक ने जो अभिनव-साहित्यिक क्रान्ति के आन्दोलन का सिंहनाद किया और उसमें पूरी तौर पर सफलाता पाई, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है।

अब हमें विशेषतया आधुनिक कविता के बारे में कहना है।

आधुनिक कविताओं में बोल-चाल की भाषा का प्रयोग होता है जिसने प्राचीन कविता में एक क्रान्ति पैदा कर दी। उसकी रचना में प्रथम तो च्वे-च्यू, और ल्यू-ष के कठिन नियम तोड़ दिए गए; चरणों की निश्चित संख्या का नियम न रहा; कवि इच्छानुसार चाहे जितने चरणों में कविता लिख सकता है। अक्षरों की संख्या का नियम भी न रहा। कवि चाहे तो किसी चरण को लम्बा और किसी को छोटा रख सकता है। तुक का नियम भी टूट गया। कवि चाहे तो समूची कविता में एक तुक, चाहे तो अनेक भिन्न भिन्न तुक रख सकता है, और चाहे तो सर्वथा बिना तुक के भी कविता लिख सकता है। नई कविताओं में जो दूसरी बात है वह है उनके विषय की व्यापकता, जब कि कु-ष, च्वे-च्यू और ल्यू-ष की सीमा बहुत तंग थी। उसमें नये-पुराने, सुन्दर-असुन्दर, दकियानुसी-आधुनिक, पूरबी (चीनी)-पश्चिमी, उच्चवर्ग एवं जनसाधारण सभी के सभी प्रकार के विषय लिखे जा सकते हैं। प्राचीन काव्य की भांति उस-पर साक्षरों, रसिकों एवं रसिकाओं का एकाधिपत्य नहीं है। ऊपर की दोनों बातों को पढ़कर पाठक यह ग़लत धारणा न बना लें कि चीन का आधुनिक काव्य तुक एवं चरण-नियम से रहित होने के कारण काव्य नहीं है। वस्तुतः यह वास्तविक काव्य है। कविता का लक्षण है उसका स्वाभाविक होना, न कि कृत्रिम होना, वास्तविक होना न कि काल्पनिक होना, स्वतन्त्र होना न कि परतन्त्र होना। चीनी-साहित्य के एक आलोचक ने कहा है, "जो कविता नियमों से बंधी है वह मृत है।" यह वाक्य बहुत मूल्यवान् एवं चिर-विचारणीय है।

चीन के आधुनिक काव्य का इतिहास बहुत संक्षिप्त—केवल २७ वर्ष की आयु का है, जैसा कि इस निबंध के आरम्भ में कहा जा चुका है। इन २७ वर्षों को तीन विभागों में बांटा जा सकता है—

(१) राष्ट्रीय सरकार के छठे वर्ष से पंद्रहवें तक (१९१७-२६ ई०),

(२) राष्ट्रीय सरकार के सोलहवें वर्ष से पचीसवें तक (१९२६-३६ ई०),

(३) राष्ट्रीय सरकार के सत्ताईसवें वर्ष से अब तक (१९३७ ई० —)।

राष्ट्रीय सरकार के छठे बरस से पूर्व योरोपीय महायुद्ध की उत्तेजना से व्यक्तिगत रूप में डा० हु-षि ने आधुनिक कविताएं लिखनी आरम्भ कीं; तब से जेनरलिस्मो च्याङ् के उत्तर से

युद्ध की समाप्ति –जो राष्ट्रीय सरकार के पंद्रहवें बरस में होती है—तक के पहले दस बरसों के भीतर राष्ट्रीय सरकार के आठवें बरस "उ-स" आन्दोलन के प्रभाववश आधुनिक काव्य ने विधिवत् प्राचीन काव्य की गद्दी ले ली। दस वर्षों का यह युग आधुनिक चीनीकाव्य का सृष्टि-युग है। इसमें एक ओर प्राचीन काव्य के बचे प्रभाव को भंग किया जा रहा था, दूसरी ओर आधुनिक काव्य की नींव डाली जा रही थी। यह कार्य जहां बहुत ज़रूरी था वहां बहुत कठिन भी था। इस समय के कवियों ने एक बड़ी मात्रा में विदेशी काव्यों का सर्जन किया, ताकि आधुनिक चीनी काव्य के आकार-प्रकार एवं शैली में विकास हो सके। कवीन्द्र रवीन्द्र का आधुनिक काव्य पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उनकी कविताओं से पहले-पहल स्यू-च्च-मो (=सुषिमा) ने परिचय कराया। अधिकांश में उनके साहित्य का अनुवाद मेरे गुरु प्रो० चङ्-चन्-तो ने किया। कवयित्री सिए-पिङ्-सिन् पर तो उनका बहुत प्रभाव पड़ा, उसकी पुस्तक 'वासन्तिक जलस्रोत' (=छुन-बोइ-चि) हूबहू "बलाका" का पूर्णतया अनुकरण है। डा० हु-षि और सुषिमा ने बंकेन्दु-परिषद् (= सिन्-हुए-ष—इस नाम पर कवीन्द्र की संकलित कविताओं के अंग्रेज़ी अनुवाद 'क्रेसेन्ट मून' की छाप है) नाम से जिस साहित्यिक गोष्ठी का संगठन किया, वह आधुनिक चीनी साहित्य के आन्दोलन के श्रीगणेश में प्रमुख संस्था रही है। आधुनिक चीनी काव्य पर कवीन्द्र रवीन्द्र का प्रभाव क्यों पड़ा? मेरी समझ में इसके दो कारण हैं। प्रथम, उन्होंने अपनी कविता में बोलचाल की भाषा से काम लिया; दूसरे, वे थे पूर्व के और वस्तुतः पूर्व का होना ही उनके प्रभाव का मुख्य कारण है।

दूसरे दस वर्षों का युग (१९२७-१९३६ ई०) उस समय से आरम्भ होता है जब जेनरलिस्मो च्याङ् को उत्तर के साथ युद्ध में सफलता मिल गई एवं देश की अन्यान्य सामरिक शक्तियों के अन्त होने से समूचा देश संगठित हो गया। तब से चीन-जापान युद्ध के फूटने से एक वर्ष पहले यह युग समाप्त होता है। दस वर्षों का यह समय आधुनिक कविता की उन्नति का समय है। इसके पूर्वार्द्ध में कवि बहुत-से सम्प्रदायों में बंट गए। किसीने फ्रेंच-कविताओं का अनुकरण किया, किसीने अंग्रेज़ी का, किसीने भारत का अनुकरण किया तो किसीने रूस का। कुछ रवीन्द्र से प्रभावित हुए, कुछ दान्ते से, कुछ शेली से, और कुछ शेक्सपियर से। कुछ संकेतवाद के पक्ष में हुए, कुछ यथार्थवाद के पक्ष में। कुछ परिवर्तवाद ('रोमेण्टिसिज्म') के पक्षपाती हुए और कुछ रूढ़िवाद 'क्लासिसिज्म' के। उनमें बहुत-से विवाद हैं। एक-दूसरे में कड़ी-कड़वी आलोचनाएं हुई हैं। यह बात वस्तुतः गड़बड़ में डालनेवाली जान पड़ती है पर है यह एक सुघटना। कवियों के मत उनके अपने निजके लिये नहीं हैं, वे सब-के-सब आधुनिक-चीनी-काव्य के लिये ठीक ठीक नया मार्ग खोज निकालना चाहते हैं। इस युग के

उत्तरार्ध में जापान द्वारा चीन के तीन पूर्वी प्रान्तों के अधिकृत होने के बाद १९३१ ई० में कवियों ने दो बातों को पहचानना शुरू किया : पहली बात यह कि पश्चिम की अच्छी बातों को चीनी रूप देकर अपनाना चाहिए ताकि वे चीनी जनता की वस्तु बन सकें। दूसरे, कविता के वर्णित विषयों में देश-भक्ति का पुट होना चाहिए जो जनता को जाग्रत कर सके। राष्ट्रीय सरकार के छब्बीसवें वर्ष (१९३७ ई०) तक—जब कि जापानियों के गोले मार्कोपोलो के पुल पर दगने लगे—कविता इसी परिस्थिति में चलती रही।

आधुनिक चीन-काव्य का तीसरा युग अब तक सिर्फ सात वर्षों का है। इन सात वर्षों के बीच पिछले बीस वर्षों से अधिक काम हुआ है। आधुनिक चीनी-काव्य का वस्तुतः यह एक बहुत प्रभावान् प्रतिभामय युग है। कहा जा सकता है कि यह युग चीनी आधुनिक काव्य का परिपाक-युग है। हम इसका अधोलिखित दृष्टि-विन्दुओं से विवेचन करेंगे :

१-कवि

पिछले दोनों युगों में कवि साक्षर जनता तक सीमित थे। दूसरे शब्दों में कहें तो बोल-चाल की भाषा में कविता लिखी तो गई, पर उसपर पढ़े-लिखे लोगों का ही एकाधिपत्य था। इन लोगों ने बोल-चाल की भाषा में कविताएं लिखीं—पढ़े लिखे लोगों के लिये, सर्वसाधारण उसे पहले की तरह न समझ सकते थे न दिल से अपना ही सकते थे। न पाठक ही प्रचुर थे न कवि ही। कवियों को कविता का फल न मिल पाया क्योंकि वे थे शिक्षित व्यक्ति और उनका जीवन सीमित था सिर्फ पोथियों तक ; वे अनुभव के धनी न थे अतः उनकी कविताएं माथा-पच्ची करनेवाली और यथार्थता से परे थीं। उदाहरण के लिये कवि कृषि-जीवन का चित्रण करने बैठता है, पर उसकी कविता में जिस खेत का वर्णन है उसका चीन के खेत से मेल नहीं है। शायद वह रूस का खेत है या कवि की कल्पना का खेत है। साहित्य-समीक्षकों के द्वारा गंभीरता से परखी हों, इस प्रकार की कविताओं का मूल्य बहुत कम है।

पर युद्ध छिड़ गया, उसने बाढ़ का काम किया और पिछली सब बातों को धो डाला। युद्ध का प्रभाव हर-एक चीनी पर पड़ा और उसके जीवन ने पलटा खाया। कवि और शिक्षित भी इसके अपवाद न थे। पहले वे सिर्फ अपने वाचनालयों में बन्द ऊंघ रहे थे, पर युद्ध के बाद डर से दौड़ने और मारे मारे फिरने पर विवश हुए। रूखे सूखे भोजन पर टिकना पड़ा, तब उन्होंने निहारा आकाश और सूर्य की ओर जिसपर पहले कभी निगाह तक नहीं दौड़ाई थी। उन्हें उस जीवन का अनुभव हुआ जिसे पहले उन्होंने कभी नहीं जाना था। उन्होंने खुले तौर पर पहचाना चीन के पर्वत, नदी, एवं जंगलों तथा लोगों को जिन्हें कभी नहीं पहचाना था। उनकी आंखें खुलीं, उनके दिल पर पड़ा परदा हट गया, उन्हें वास्तविक चेतना मिली। अतएव उनकी काव्य-

रचना का विषय-वर्णन स्वभावतः समृद्ध हो गया, कविता के भाव में अचूक गहरापन आ गया और उनका आकार-प्रकार केवल बदल ही नहीं गया, ललित भी हो गया।

इसके अतिरिक्त कवियों और शिक्षितों को देश-सेवा का कार्य करने के लिये जगह जगह जाना पड़ा। सैनिक-टोलियों, फैक्टरियों, गावों, क़स्बों, पर्वतों, नदियों, जंगलों से युद्ध-क्षेत्र की गहरी खाइयों तक में कार्य करना पड़ा। जहां जहां समय समय पर जनता उनके सम्पर्क में आई, उसके ज्ञान का धरातल बहुत कुछ ऊंचा उठ गया। उन लोगों में भी कुछ में कविता का उदय हुआ। अतएव नये कवि केवल शिक्षित ही नहीं हैं प्रत्युत बहुत से किसान, मज़दूर, और सैनिक भी हैं तथा जनता के वे लोग हैं जो पहले कभी नहीं जानते थे कि कविता क्या वस्तु है। एक आधुनिक कवयित्री ह्वाङ्_ दीदी की बहुत-सी सुन्दर कविताएं राष्ट्रीय-ख्याति-प्राप्त 'वन्-ई-चन्-ती' (= साहित्य समराङ्गण) पत्रिका में प्रकाशित हुई हैं। युद्ध से पहले ये एक फैक्टरी में काम करती थीं। युद्ध के अनन्तर शंघाई के "च-इए-छिङ्_-निएन्-फु-तुइ" (= नवयुवक-सेवा-समिति) में शामिल हुईं। तीन वर्ष के भीतर क्याङ्_-सी, आन्-ह्वेइ और च-क्याङ्_ इन तीन प्रदेशों के गारिल्ला क्षेत्र में लड़ाई का कार्य किया। उन्होंने पहले काव्य-रचना के बारे में कभी सोचा भी नहीं था पर गोलों की आग ने उन्हें प्रेरित किया। नीचे उनकी एक कविता है—

रजनी में नदी-तट

कार्य फैला सामने,
व्यस्त दिन
व्यस्त सायंकाल
रोम कूपों पर हैं कलित स्वेद पुष्प-जाल।

* * *

चन्द्र है चमकता नदी के जब सेतु पर
निर्मल प्रवाह में हमारा तब स्नान,
नदी नीर, पंकिल, सुरभि
करता प्रदान,
एक (और ही) प्रकार का ललित शीत,
दूर कर जो रहा
दिवस भर की थकान।

एक और सैनिक की नई-कविता है—सान्-पर्वत की एक स्त्री-गोरिल्ला के प्रति—

पत्र के बदले

भूल जाने दो मुझे ।
तुम, चरणों में सान्-फु-अचल के,
हान्-सरिता के तीर की (ओ ! मम) सुन्दरी !

* * *

लालन तुम्हारे नव-यौवन का मैंने किया,
तुमने अलंकृत अरङ्क मम निद्रा की ।
तुम और मैं हम दोनों दम्पतियुगल
देख हैं चुके अनेकों सुन्दर वसन्त ।

* * *

गोट पर कंटकावनद्ध वन-पुष्प किया दूर मैंने,
पोंछ डाले दक्षिण कपोल पर से लाल होंठों के निशान,
कही है किसीने यह वीर की कहानी एक,
जिसका है दूर स्थान ।
कहा तुमने था "ग्राम-घाट के सिरे पर—
जाओ बने जैसे भी ।"

* * *

भूल जाओ छोड़ो मुझे, करो जीवन से प्रेम और अपनी दुनाली से
तुम, चरणों में सान्-फु अचल के,
हान् सरिता के तीर की (ओ ! मम) सुन्दरी !
मेरे समान
वास है वहां, जहां न ठीक ललना का स्थान ।

इस प्रकार की सहज भाषा में सहज वर्णनवाली जनसाधारण की रची आधुनिक कविताएं इतनी अधिक हैं कि उनकी ओर संकेत करके नहीं बताया जा सकता ।

२. विषय

युद्ध के बाद आधुनिक कविता का वस्तु-विन्यास बहुत-कुछ बदल गया, पहले से बहुत-कुछ विभिन्न हो गया । प्रथम तो कवि अपनी अपनी ढफली पर अपना अपना राग अलापना भूल

गए। व्यक्तिगत संकुचित विनोद एवं अपनी मौज या भावुकता के लिये गीता गाना बन्द कर जनता की भावना के गीत गाने लगे। जैसे—

विजय-गीत (थिएन्-तिङ्)

क्लेश पीड़ा की महा धरित्री में,
शोकप्रतिशोधपूर्ण कानन में,
एक घनवृष्टि-सा, वज्र की कड़क-सा संगीत-स्वर।
एक टोली मृत्यु और नाश पर पांव धर,
किया ऊंचे कण्ठ से,
युद्ध घटना की महिमाओं का विजय-गान।

* * *

हम,
युद्ध-कान्तार से हो गए हैं पार,
युद्ध के क्षेत्र से हो गए हैं पार,
युद्ध के नद से हो गए हैं पार।

* * *

हम,
मिटा चुके अंधकार,
मिटा चुके मृत्यु और संहार,
सामने है ऊषाकाल,
सामने स्वतन्त्रता है,
सामने विजय की है महाभूमि,
वीरता का, दृढ़ता का उन्नत संगीत-स्वर।

दूसरी बात यह हुई की कविता में पूर्वकालीन दुःखवाद न रहा, पर एक प्रकार की व्यापक महान् क्षमा, उदारता, मैत्री एवं दूसरों के प्रति सहृदयता एवं सहानुभूति गूढ़ पीड़ा को छिपाए कविता में आ गई। नीचे कवि 'तु-चा' की एक कविता है जो छु-च्याङ् नगरी पर जापानियों के बम्ब—जिनकी आग चार दिन तक नहीं बुझी थी—के अवसर पर लिखी गई थी :—

मिट्टी के क़िले में शाम

चुपचाप जाओ सो, ओ चीन के मैदान !
मौन हो, शान्त हो,
बिना तड़पे, बिना आह या कराह के,
महान् मन में लुकाए सौ-सौ मन पीड़ा-भार

* * *

अन्तिम निशा,
पार था हुआ मैं दुःख-तट से,
अनल-पिशाच ने तपाया तुम्हें,
मेरा भी बदन झुलसाके किया लाल ;
आज,
मैं परन्तु रक्षा करता हूं शाम से मिट्टी के क़िले के पास,
जैसे करती हो रक्षा सन्तान रुग्णा स्नेहमयी माता की,
थकी आंखें हूं लगाए,
क्षितिज की ओर उत्सुकता से आशा में ऊषा की ।

इस कविता में जापानियों के विमानों या उनकी मनुष्यता के प्रति रत्ती-भर भी उलाहना नहीं है। सिर्फ अपने आपके लिये आश्वासन है ; अपने आपको धीरज बंधाया गया है। एक और 'लिङ्-हु-लिङ्-त' की कविता है जिसमें जापानी स्त्रियों के प्रति अपील है :

सहस्र-गूंथ

[जापान में युद्ध-समय की एक प्रथा है : युद्ध में जानेवाले वीर के घर की स्त्रियां पथ पर एक रूमाल बिछा देती हैं। उसके पास से गुज़रनेवाली ललनाएं अपनी सुई से उसमें गूंथ लगाती है। गूंथ लगाते-लगाते जब हज़ार स्त्रियों की सुइयों के गूंथ उसमें लग जाते हैं तब उस रूमाल को सिपाही अपने मस्तक पर बांधकर लड़ने जाता है। जापानियों के पौराणिक विश्वास के अनुसार यह सहस्रगूंथोंवाला रूमाल (= धिएन्-न्यू-फ़ङ्) एक कवच है जो युद्ध में मृत्यु से रक्षा करता है। इसीको लक्ष्यकर चीनी कवि की कविता है ।]

तुम गूंथती हो एक गूंथ आशा का,
तुम गूंथती हो एक गूंथ श्रद्धा का,

कौन फेंकता है शोकाकुल दृष्टि ?
स्वस्तिवाचन में किसका प्रकम्पित है होता स्वर ?
आशा परिणत होगी [मुट्ठीभर] राख में,
स्वस्तिवाचन भी होगा म्लान होठों पर आक्रोश,
एक करुणा से—मूढ़ता से—पूरित विचार वस्त्रखण्ड पर,
एक दुःखान्त कथा का घृणा से पान मानस में,
ओ ! सहस्रगूंथ गूंथने में लगी ललनाओ !
गूंथो अपने न गिर रहे अश्रुमुक्ताफल,
गूंथने की सुई का प्रयोग करो ठीक ठीक,
छेद डालो झूठे अवगुण्ठन को,
भेद डालो मत्त हृदयों को,
तथा न खुलनेवाली [मोह-] निद्रा को।

कृपालु पाठक यह न सन्देह कर बैठें कि इस प्रकार की कविता प्रचार है। यदि आप चीनियों के चरित्र को पहचानें और युद्धकालीन उनके मस्तिष्क को समझें तो आप जान सकेंगे कि चीनियों के मन की गम्भीरता नारा लगाकर कविता में फूट पड़ी है। चीनी जापानियों से घृणा बिल्कुल नहीं करते। वे जापानी जनता से प्रेम करते हैं। उनकी जापानी जनता के साथ दुःख में सहानुभूति है क्योंकि वे और हम सब मनुष्य हैं। चीन पर जापान के आक्रमण में वहां की जनता की इच्छा नहीं है किन्तु कुछ सैनिकवाद के अनुयायियों का यह कार्य है। पर है यह बहुत विचित्र बात कि चीनी कवि जापानी सैनिकों से घृणा नहीं करते, प्रत्युत धन्यवाद देते हैं। 'लिङ्-हु-लिङ्-त' की एक दूसरी कविता पढ़िए—

उनके प्रति—

प्रिया से भी अधिक हमारा तुमसे है प्रेम।

*   *   *

प्रेयसी के अधरों-सा रुधिर तुम्हारा लाल,
प्रेयसी के स्तनों-सी तुम्हारी अस्थियां हैं श्वेत,
तथा है तुम्हारी क्रूर विषमय मुस्कान
करती हमारे प्रेम को गभीर अविकार,
सखे ! तुमको हैं बहुतेरे मेरे धन्यवाद।

दर्पण-से उज्ज्वल तुम, जांचने को आत्म-दोष,
भट्टी के सदृश तुम, जुड़े हम भिन्न भिन्न,
शिर पर गुरु-यष्टि सी तुम्हारी रक्तरंजित कृपाण,
साठ वर्ष का है पातक तुम्हारे अग्निकाण्ड में प्रकाशमान,
ओ, हमारे मान्य प्रिय प्रेमी मित्र,
तुम्हें धन्यवाद, स्नेहभाजन अमित्र,
आए रोग पर सुई-सी चुभाई तुमने यतः
सर्वदा के लिये हमारे जीवन को पुष्ट किया।

वस्तुतः यह परम्परागत चीन का दार्शनिक विचार है जो युद्ध के अनन्तर अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट हुआ है।

तीसरी बात यह है कि पिछले दो युगों की भांति युद्ध के बाद के आधुनिक काव्य में शिशुता नहीं रही है प्रत्युत उसमें क्रमशः गम्भीरता, प्रौढ़ता और स्थिरता आ गई है। यहां मैं खुन्-मिङ् पर बम बरसने के बाद रची गई "मा-चुन्" की एक प्रतिनिधिभूत कविता का निर्देश करना चाहता हूं :

मौन

धीरे धीरे बह रही भूतल से दूर दूर दिनकर-छाया,
सन्ध्या का प्रकाश जैसे छोटा-सा जलप्रपात,
नातिशीत सन्ध्या-समीर बहती उठाती हुई शोक।
गली पथ गृह हर्म्य पूर्णतया ध्वस्त हो गए हैं बम बर्षा से,
बचीं कुछ भग्न भीतें, भरा मैदान है ईंटों-खपरैलों से।
धीरे……
कहां जन जाएं? नभतल में—
तारे दीख पड़ते हैं एक, दो…
धीरे……
हलकी कराह भी निकाली सबने नहीं
मूक जनता-समूह हुआ धीरे धीरे मौन।

एक और लिन् लिन् की अशीर्षक कविता यहां उदाहार्य है—

कभी कभी मैं विनोदी व्यक्ति के समान,

चुपचाप मौन खोजता हूं [निज] आंखों से,
चाहता हूं देखना उन्हें जो [अति] मूढ़ हैं,
कैसे ! मसि को उंड़ेल,
करते हैं बरबाद गन्दा यह इतिहास-चित्र ।

यह एक प्रतिनिधिभूत कविता है। इसका विषय-वर्णन बहुत-कुछ गहराई लिए हुए है।

चौथे, पिछले दो युगों की भांति तीसरे युग के आधुनिक काव्य में बनावटीपन नहीं रहा है प्रत्युत उसमें क्रमशः यथार्थता, स्वाभाविकता और एकरूपता आगई है। उदाहरणार्थ अधोलिखित 'छन्-मङ्-चिआ' की एक कविता, जिसका आत्मरक्षात्मक वर्तमान चीन-जापान युद्ध से सम्बन्ध नहीं है, कवि के वास्तविक प्रकृति-निरीक्षण से प्रभाव ग्रहण करती है :—

क्या देखा ?

ललनाएं यौवन की वयस में,
खूब सीधी धान के नरवा-सी खेत-बीच,
प्रायः पकने के काल धान की फ़सल के,
मंजरी सुवर्णवर्णा धान की चमकती है सूर्य जब डूबता,
कटनी के दिन जब आते हैं,
मंजरियां पिट-पिट होतीं, धान-बंधते पयाल के हैं बोझ,
वृद्धा धान पीटतीं, सिर पर धान की पड़ती हैं पत्तियां
मानो सिर पर फूल बीते दिनों में, जब वे नवयौवना थीं ।

एक और कविता पढ़िए जो एक सैनिक ने अपनी माता के प्रति लिखी है—

मेरी मां को

तीन वर्ष, दौड़ता रहा मैं दक्षिणी किनारे पर च्याङ् [सरिता] के मार्ग में,
समर ने दिया है कुचल नव यौवन-काल को ।
गत दिवसों में था ! मुझे ले गई थी खींच क्षुधा
तुमसे विद्रोह हुए बीते दस वर्ष हैं सहज ही ।

* * *

क्लेशोदय का हमारे कारण क्या ? कौन कह सकता है खोल ?
महा शत्रु तीन वर्ष से है खड़ा अड़कर ।

युवक न चाहते हैं व्याध-मुख में प्रवेश,
हम ले चुके शपथ मत्त रिपु के दलन की ।
भूल सकता क्या स-छ्वान् के दक्षिण पहाड़ी जो नगर है ?
नगर पहाड़ी वह मेरा है पुराना निज गेह,
तंग गली-पथ में, बीते दिनों के वे द्वार और वातायन
दस वर्ष पूर्व मेरे न नियुक्त होनेवाले मित्र ।

*　　*　　*

शत्रु को हटा के पीछे छोड़ेंगे शपथ जब
पा न सकेंगे उस गली-पथ में
स्वजन सुहृत् कोई,
स्वच्छन्दता से देख आते मुझे वे समझेंगे परदेसी-सा ।
मेरे पिछले दिनों के द्वार और वातायनों के बदल गए होंगे अधिपति,
मेरे आने का अर्थ हँस पूछेंगे कदाचित् वे,
मेरी मां ! उत्तर क्या दूंगा उनको मैं ?
मैं कहूंगा, मित्रो ! म-म-मैं हूं एक यात्री । (२. ४. १९४०)

इस प्रकार की कविताओं में एक सच्ची चेतनता है, कृत्रिमता का नाम भी नहीं है, प्रत्युत है वास्तविक अनुभव ।

३. शैली :

विषय पर बहुत कुछ कह चुकने के बाद अब मुझे शैली पर कुछ कहना है । युद्ध के अनन्तर आधुनिक चीनी काव्य में दो बड़े परिवर्तन हुए हैं । प्रथम तो उसकी रचना में पहले जो विलायतीपन था वह दूर होकर उसमें चीनीपन आ गया है, जिससे जनता उसे पढ़ एवं समझ सकती है और उसे अंधेरे में टटोलना नहीं पड़ता । निश्चय ही यह सब चलतू भाषा, मुहावरे, बोली और बोलचाल के शब्दों का प्रयोग करने का फल है । जैसे :—

पुनर्मिलन

(सिऔ-आम्)

अपरिचित नहीं है मुख सर्वथा,
बहुत परिचित बोली-आवाज़ ।

क्यों ? एक चिर से, याद नहीं आ रहा,
आपस में थे हम कहां पर मिले ?
"महाभाग !—मैं हूं......"
"ओः तुम हो युवान्-लाइ,
यहां तुम कैसे ?"
एक पुष्ट स्त्री-सैनिक सामने,
मस्तिष्क में एक और ही है घूम रही आकृति,
तीन वर्ष पूर्व तन्वी, सुन्दरी, रक्षा करने में असमर्थ गन्धवाह से,
बन्दूकों की आग ने तुम्हारी की सहायता ।

हम इस प्रकार की कविता को "लाङ्-सुङ्-ष" ('डिक्लेमेटरी पोएट्री') कहते हैं क्योंकि ये जनता के सम्मुख पढ़ी जा सकती हैं । ये "चिए-थौ-ष" (=पथ-काव्य) और "चिआङ्-थौ-ष" (भित्तिकाव्य) भी कहलाती हैं क्योंकि ये गलियों में गाई जा सकती हैं और लिखकर दीवारों पर चिपकाई जा सकती हैं । जनता इनको सुनते सुनते समझ भी सकती है ।

आधुनिक काव्य की शैली में जो दूसरा परिवर्तन हुआ है वह है नये विचारों और नये विषयों का परम्परागत ग्राम्य-गीत की शैली में गूंथा जाना । जनता ग्राम्य-गीतों से सर्वथा बहुत परिचित होती है । सभी उन्हें अच्छी तरह गाते भी हैं और बिना ननु-नच इस प्रकार की कविता पसन्द भी करते हैं । इस पद्धति को हम पुरानी बोतल में नई शराब का भरना कहते हैं । सात वर्ष के बीच कवियों ने बड़ा कठिन कार्य किया है । उन्होंने समूचे देश के प्रदेश-प्रदेश में प्रसिद्ध, सब-की-सब ग्राम्यगीतों की शैली में कविताएं लिखी हैं । जैसे "ख्वे-ल्वे" (कठपुतली-गीत), "इङ्-ष" (छायागीत), "इआङ्-को" (पनीरी-गीत), "ता-को" (दुन्दुभिगीत) "मु-को" (मेष-गीत), "शाङ्-को" (पर्वत-गीत)......इत्यादि । उदाहरण के लिये एक ग्राम्य-गीत का निर्देश करना चाहता हूं :

ओ मैया, ओ तात !
न पूछो मुझसे हेतु, क्यों—
प्रेम उनसे करती हूं ।

* * *

प्रेम करती हूं उसकी,—
खाकी वरदी से ;
प्रेम करती हूं कन्धे की उस बन्दूक से ;

अधिक प्रेम करती हूं उसके,

उस एक वाक्य से :

"देश के लिये प्रथम भूल जाओ परिवार।"

*   *   *

यद्यपि वह लड़ते मर जाएगा,

फिर भी मैं चाहती हूं प्रेम करना उसे।

इसके अतिरिक्त पुनरपि पाठकों को एक बात की सूचना देना चाहता हूं। चीनी कविता के इतिहास में रामायाण-महाभारत-जैसे महाकाव्य बिल्कुल ही नहीं हैं। पर अब हमें एक महान् लेखक "लौ-ष" प्राप्त हुआ है। वे एक नाटक लिख चुके हैं जिसका नायक चीनी युद्धक्षेत्र में कार्य करनेवाला एक भारतीय डाक्टर है। उन्होंने दस हज़ार पंक्तियों में एक काव्य लिखा है जो चीन का पहला महाकाव्य है। यह काव्य लिखने के लिये उन्होंने समूचे चीन के स्थान-स्थान की यात्रा की है।

आधुनिक चीनी काव्य की प्रवृत्तियों का संक्षेप में दिगदर्शन कराकर मैं चीनी सन्त मंशस् के इस वचन द्वारा उपसंहार करता चाहता हूं : "दैव जिसे महान् कार्य सौंपता है, पहले उसके हृदय को ठेस पहुंचाता है, उसकी हड्डियों और पुट्ठों से कठिन परिश्रम करावता है, उसके पेट को भूखा रखता है, उसके शरीर को ग़रीब और नंगा बनाए रखता है, और फिर अधिकाधिक बाधाएं डालता है उसके कार्य में, ताकि उसके मन में जोश बना रहे, उसका चरित्र बलवान् रहे, जिससे वह सभी अक्षमताओं पर क़ाबू कर सके।" निश्चय ही चीनी कवियों को इस पुराने सन्त के परामर्श से शिक्षा लेनी चाहिए और कविताओं में रखना चाहिए जनता का अनुबंध, कविताएं लिखनी चाहिएं जनता के पढ़ने के लिये, और चाहिए जनता के जीवन—जनता के सुख-दुःख—की अनुभूतियों को कविताओं में पिरोना।

नारी का मनुष्यत्व

(एक पत्र)

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कल्याणीया.........

लड़कियों के विषय में तुमने जो लेख लिखा है, वह मेरे हाथों पड़ा है। इस विषय में आज कल अपने देश की बहुत-सी महिलाएं लेख लिखने लगी हैं। इन लेखों में मुद्रादोष अत्यन्त अधिक होता है। उनका लिखना अशान्त होता है, उसमें उद्दीपना कम और उत्तेजना अधिक होती है। प्रकाश की अपेक्षा दाह बढ़ जाता है। परन्तु तुम्हारे लेख में आत्म-श्रद्ध गांभीर्य की शक्ति है, इसमें कलह का चटखारा नहीं मिला।

जिस विषय को लेकर तुमने आलोचना की है उस संबंध में कुछ कहना चाहता हूं। यह जानी हुई बात है कि वैषम्य शक्ति को जागृत कहता है और साम्य उसमें निष्क्रियता ले आता है। शास्त्र कहता है कि सत्त्व रज और तम का भेद मिटने पर प्रलय उपस्थित होता है। जीवलोक में प्रकृति ने स्त्री पुरुष का भेद बनाकर प्राणशक्ति के वेग को प्रबल किया है, यदि युगान्तकाल में एकाकारता उपस्थित हो जाय तो प्राण का तेज म्लान हो जायगा।

किन्तु याद रखना चाहिए, स्त्री पुरुष के अपने अपने हिस्से में जो एकता है और जो अनेकता है वे दोनों ही तत्त्व समान भाव से गौरवशाली हैं। फिर भी अनैक्य या विषमता के ऊपर ही पंद्रह आना जोर दिया गया है। इसका एक कारण है मिलन के आकर्षण और भोग को निविड़ करना और और एक कारण है परस्पर की आचरण नीति को पक्के नियमों से बांधकर सहज कर लेना।

स्त्री-पुरुष के पारस्परिक भेद-बोध को प्रकृति ने अपनी प्रयोजन की सीमा में ही सीमित कर रखा है किन्तु मनुष्य ने अपनी कल्पना और संस्कार के द्वारा इसे बहुत अधिक बढ़ा दिया है। प्रकृति के अधिकार में जो आयोजन है उसमें फिजूलखर्ची नहीं है, लेकिन परोसते समय मात्रा को अत्यन्त अधिक बढ़ा देने के लिये मनुष्य ने भूख को खींच-खांचकर जगा रखा है। भेदबोध के भीतर वही भूख है और उसी भूख को चिर-अतृप्त बनाए रखने के लिये इतने अधिक कौशल रचे गए हैं। सुना है, एक अंग्रेज़ कवि शराब के तीखेपन को बढ़ाने के लिये जीभ पर काली मिर्च का चूर्ण लगा लेते थे। आकांक्षा की चौहद्दी विस्तीर्ण करने के लिये स्त्रियों को

अत्यधिक संगठित रूप में स्त्री बनाने की कोशिश की गई है। यह बहुत कुछ वैसा ही है जैसा दूध को बहुत अधिक औंटकर खोआ बना लिया जाता है, इस प्रक्रिया में पाकयंत्र के तकाजे का बिचार न रखकर रसना के तकाजे को ही अग्रगण्य समझा गया है।

नाना कारणों से स्त्रियों को स्वभावतः ही कुछ भय है, कुछ संकोच है, उनकी यह अपूर्णता पुरुष की आत्मश्लाघा में उत्तेजना का संचार करती है, इसीलिये उसे बहुत दिनों से बहुत जतन करके बढ़ाया गया है। अंग्रेजी साहित्य पढ़ने से मालूम होता है कि इंग्लैण्ड में कुछ दिनों पहले तक काकूक्ति, मूर्च्छा, लज्जा, रक्तिमता आदि के द्वारा दुर्बलता को बहुत अधिक बढ़ा कर दिखाने को ही स्त्रियां स्त्री-स्वभाव का अलंकार समझती थीं। समय के परिवर्तन होने से आज देखा जा रहा है कि उसका बारह आना ही दिखावा था। पुरुष ने स्त्रियों से जितना दावा किया है उतना उनके खजाने में नहीं था इसीलिये स्त्रियों ने जालसाजी करके बहुत-कुछ उन्हें दिया है। हम पुरुषों ने यह सब देखकर कहा है कि स्त्रियां मायाविनी होती हैं। हमने चाहा था कि वे मायाविनी होवें; पर जब हमें असुविधा होती है तो गाली देते हैं और जब भोगवृत्ति तृप्त होती है तो स्तुति करते हैं। पुरुष जिसे 'औरताना' कहता है वह स्वाभाविक औरताना से बहुत अधिक हुआ करता है, इसीलिये उसे खींच-खांच कर बढ़ाती रहनेवाली स्त्रियों का स्वभाव एक-झोंका हो गया है। सुपरिचित मनुष्य का सामंजस्य नष्ट करके उन्होंने अपरिमित नारी की रचना कर ली है। इससे नुक्सान हुए बिना रह नहीं सकता। सुना जाता है कि इंग्लैण्ड के लाट लोगों ने बड़े बड़े भूखण्डों को शिकारगाह और विहार-बन के तौर पर घेर रखा है। इसका एक बहुत बड़ा हिस्सा साधारण जनता की खेतीबारी के काम में लगाना उचित था। स्त्रियों को उसी प्रकार संकीर्ण और विशेष व्यवहार की चहारदीवारी से घेर रखने से मनुष्य की समग्रता को क्षति पहुंची है, इसमें रंचमात्र संदेह नहीं है। विलायत के लाट-लोगों से यदि कहा जाता है कि तुमने अन्याय किया है तो वे खफ़ा हो जाते हैं, क्योंकि जिन्हें विशेष अधिकार प्राप्त है उनके पास यदि कल्याण की दुहाई दी जाय तो वे आग-बबूला हो जाते हैं। यही कारण है कि हमारे देश में स्त्रियों के लिये लेशमात्र भी स्वाधीनता की बात उठते ही पुरुष-मंडली में तुमुल उत्तेजना का संचार होता है। इस देश के रहनेवालों के न्यायोचित अधिकारों की स्वाधीनता संसार में कहीं नहीं है। राष्ट्र के मामले में हम पराधीन हैं, समाज में पद-पद पर बाधाओं से ग्रस्त हैं। हमारा एकमात्र बाधाहीन अधिकार अपनी स्त्री पर है। वहां हमें अपनी योग्यता का कोई सबूत नहीं पेश करना होता। वहां हम देवता हैं। स्त्री हमारी वह स्वर्गभूमि है जिसका कर हमें नहीं देना पड़ता, कंटीले तारों से घिरी हुई इसकी चौहद्दी में सूच्यग्र मात्र भी यदि संशय उपस्थित हुआ तो हमारा सस्ता देवत्व व्याकुल हो जाता है। स्त्री को

हमने देवोत्तर संपत्ति बनाई है, उसके देवता हमीं हैं, हमने ही अपनी मूर्ति बनाकर स्थापित की है, हमीं मंत्र पढ़ते हैं। शास्त्र ने हमारी सनद पक्की कर दी है, इस सनद के बल पर देवता भी हमीं हैं और देवोत्तर संपत्ति के अधिकारी भी हमीं हैं। जो दुःसाहसी इस सनद के एक अक्षर को भी गैर-कानूनी कहना चाहता है उसका सिर तोड़ देने की इच्छा होती है। तो भी आज यह कहने का समय आ गया है कि समग्र मनुष्य में से स्त्री को चुनकर बाहर निकाल के विशेष अधिकारी के जिम्मे ताला बंदकर रख देने से समस्त मानव-जगत् को वंचित किया जाता है। यह धोखा-धड़ी जिस समाज में जितना हो अधिक है उस समाज के पुरुष उतने ही ज्यादा कमज़ोर है। उस समाज में स्त्रियां एक विषम बोझ हैं। उनके लिये दुश्चिन्ता की सीमा नहीं है। उनका जनमना परिवार के लिये संकट है। उसके लिये हम बराबर कहते आए हैं, 'पथि नारी विवर्जिता' !

किन्तु हमारा कहना यहीं नहीं रुक जाता। ज्यों ही आज हमारी आर्थिक अवस्था में उतार आया और जीवन-यात्रा की समस्त वस्तुओं का दर बढ़ गया त्यों ही हमारे पुरुषों ने कहना शुरू किया कि सिर्फ पथ में ही नहीं, गृह में भी नारी विवर्जिता है। हमने विवाह के नाम पर जो गर्दन टेढ़ी कर ली है, उसे सीधी करने के लिये मोटा दहेज देना पड़ता है। जहां औरताना भाव के सिवा स्त्रियों के पास और कुछ है ही नहीं वहां वे पुरुषों के लिये सिर्फ आनुषंगिक हैं। इसीलिये पुरुष के लिये वे बोझ हैं। आज पृथ्वी में सर्वत्र पुरुष व्याह करते समय शंका और संकोच अनुभव करता है, क्योंकि विवाह का अर्थ ही है वैषम्य को ढोना। जहां एक पक्ष लंगड़ा है वहां दूसरे पक्ष की चलने की शक्ति के लिये वह एक विषम अत्याचार नहीं तो क्या है।

केवल संसार में ही नहीं, आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में भी हमने बात बात पर कहा हैं कि नारी वर्जनीय है। सोने के साथ स्त्री को (कामिनी-कांचन कहकर) हमने एक खाने में रखा है मानो थैली की कसी हुई गांठ खोलकर उँड़ेल देने से ही काम चल जायगा। यह कहने में हमें संकोच इसलिये नहीं होता कि नारी वस्तुतः ही अपनी शक्ति पर स्थित नहीं है। पुरुष का सहारा लेकर ही वह खड़ी है। पुरुष ने उसका जो मूल्य दिया है वही उसका मूल्य है। अब उसे सहज ही नहीं छुड़ाया जा सकता, 'कमली नहीं छोड़ती।' साधक ने कहा है, यह भी तो विषम आपद है।

दीर्घकाल की चर्चा के कौशल से मनुष्य ने किसी किसी फल की गुठली लोप कर दी है। यह बात पेड़ के लिये अच्छी नहीं है लेकिन भोगी के लिये अच्छी है। समाज की बहुत युगों की चर्चा से स्त्रियों में जो शक्ति नामक वस्तु थी उसे घिस घिस कर नष्ट कर दिया गया है। वह वस्तु अगर होती तो उनकी प्रतिष्ठा अपने ऊपर दृढ़ होती और दूसरे के प्रति अत्यधिक

परिमाण में जो संसक्ति है उसमें उसे न तो आनन्द ही आता और न ज़रूरत ही होती। भोगी पुरुष के हाथों गढ़ी हुई स्त्री से आज साधक कहता है कि तुम यदि इतना अधिक जकड़ोगी तो मेरी मुक्ति नहीं हो सकती। संसार-यात्रा में स्त्री को स्वभावतः ही पुरुष के अनुकूल होना उचित था, सो तो वह हुई नहीं, हो पड़ी भार। कवि ने कहा—कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्! साधना के क्षेत्र में भी स्त्री और पुरुष की सहयोगिता ही स्वाभाविक होती, वह तो नहीं हुई उलटे स्त्री बाधा हो गई। इसका प्रधान कारण यह है कि स्त्री स्वाभाविक मनुष्य नहीं हैं वह बना-संवारकर तैयार की हुई नारी है। इसीलिये वह बंधन है,—संसार के मार्ग में भी और साधना के मार्ग में भी। जिसे हमने बंदिनी बनाया है उसने अपने उसी बंधन-शृंखल को हमारे मन को बांधने के लिये सुंदर बना लिया है। जिसे अक्षम बनाया है उसने हमारी क्षमता को विपन्न किया है।

मैं शायद अपनी स्वजाति के प्रति अविचार कर रहा हूं और मेरी क़लम अत्युक्ति की ओर झुक रही है। यदि इसमें प्रकृति की अनुकूलता या इशारा न होता ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पृथ्वी के आधे मनुष्यों को बाकी आधे मनुष्य अपनी इच्छा या प्रयोजन के अनुगत बनाकर कृत्रिम उपायों से जबर्दस्ती एक खास क़िस्म का बना डालें।

यह बात भुलाई नहीं जानी चाहिए कि शुरू से ही नारी की यह आवश्यकता थी कि वह पुरुष को बंदी बनाए। पुरुष को प्रकृति ने बहुत कुछ मुक्ति दी है इसीलिये वह विरागी है—इसीलिये वह सदा दुःसाहसिक अध्यवसाय के रास्ते धावमान है। उसका मन नाना दिशाओं में छितरा पड़ता है। किसी जैवतात्त्विक विशेष प्रयोजन के रास्ते में उसके स्वभाव को किसी एकाग्र प्रवर्तना की ओर नियोजित नहीं किया गया। मानव-शिशु के पालन-पोषण की जिम्मेवारी दीर्घकाल तक रहती है, इस उत्तरदायित्व के कारण स्त्रियों को घर-गिरस्ती खड़ी करने की ज़रूरत है। इस घर-गिरस्ती के कार्य में पुरुषों को भी जड़ित करना उनके लिये आवश्यक है। इधर पुरुषों में सन्तान-स्नेह की प्रवृत्ति प्रबल नहीं है।

इसीलिये संसारत्यागी पुरुष को भुलाकर बांधने की ज़रूरत पड़ी है। नारी के प्रति जो पुरुष का आकर्षण है वह प्रकृति की अपने हाथ की व्यवस्था है, इसीलिये उसके ज़ोर को बढ़ाकर स्त्रियों ने घर के प्रति आकर्षण की सृष्टि स्वयं की है। यह जो घर-गिरस्ती का बांधना है यह सभ्यता की प्रथम बड़ी भूमिका है, यही समाज की नींव डालने के मूल में है। स्त्रियों ने घर के केन्द्र को अधिकार करके पुरुष को उसी घर में बांधा है। बहुत दिनों में नाना उपायों और उपादानों से बंधन पक्का हुआ है और काफ़ी घटाटोप के साथ ही लोभ की सृष्टि हुई है। दोनों ही ओर से बंधन की बिनावट विचित्र हो उठी है। ऐसे ही समय में नया युग आया; आज

बात चल रही है कि बंधन का ऐंठन बहुत ज्यादा हो गया है, और दोनों ओर से चलने फिरने में बाधा पाने की शिकायत सुनाई दे रही है। स्त्री कहती है—इतने दिन हम केवल बांधती रही हैं और बंधती रही हैं, इस कार्य ने हमारे विकास को खर्व किया है ; पुरुष कह रहा है, कामना की आग में हमारी आहुति ही दी जाती रही है, इससे हमारी साधना में विघ्न पड़ा है। अवस्था आज ऐसी हो उठी है कि स्त्री और पुरुष परस्पर के जीवन में परस्पर के सर्वोच्च लक्ष्यों में बाधा हो उठे हैं। इसमें निश्चय ही कहीं न कहीं ग़लती हैं। ऐसी एक गांठ पड़ गई है कि जिससे के कारण स्त्री भी कहती है कि पुरुष ने मुझे बांधा है और पुरुष भी यही बात कहता है।

समाज के चक्के तो बांध दिए गए। यह चक्र स्त्री पुरुष दोनों को लेकर है। यहां सबसे बड़ी समस्या है—एक दूसरे के प्रति पारस्परिक आचरण को लेकर। इस आचरण विधि को सहज बनाने के लिये परस्पर को मोटी तौर पर बांट लेना ज़रूरी है। एकान्त भाव से श्रेणी बांधने की इच्छा हमारी कर्मबुद्धि और कर्तव्य-बुद्धि के आलस्य का फल है। जिसे हम श्रेणी में नहीं बांध सकते उसके विषय में विशेष भाव से सोचना पड़ता है। जहां अनेक मनुष्यों का कारबार है वहां हमें इस थोक-व्यवस्था से इस विशेष चिन्ता के दायित्व को यथा संभव बचाना चाहिए। इससे बहुसंख्यक व्यक्तियों को अधिक मात्रा में पीड़ा हो सकती है, किन्तु कृपण मन व्यय-संकोच का पक्षपाती होता है। वर्णभेद को पक्का बनाने के मूल में यही इच्छा है ; इससे और कुछ बचे न बचे, व्यक्तिमूलक आचरण को श्रेणीमूलक कर देने से मिहनत से जान बच गई। भेद के फ्रेम में सभी व्यक्तियों को ठीक ठीक अंटाया नहीं जा सकता ऐसी अवस्था में हाथ-पैर तोड़कर ठूंसना पड़ता है, इससे स्वास्थ्य की हानि हो सकती है पर विधि-विधान में सुविधा होती है। इसी सुविधा के लिये हम जेलखाने में नाना प्रकार के अपराधियों को एक ही कमरे में ठूंस देते हैं, विद्यालय के क्लास घरों में बच्चों को भर देते हैं, जिनमें मोटे लक्षण का ऐक्य तो है किन्तु अनैक्य और भी गहरा है। मनुष्य के बनाए हुए प्रायः सभी विधान सत्य की अपेक्षा श्रेणी को बड़ा बनाते हैं। जब यूरोपीय आंख मूंद कर कहना चाहता है कि पूर्वी देशों के रहने वाले एकदम 'पूर्वीय' हैं तो असल में उनके मन का और धर्म-बुद्धि का आलस्य ही प्रमाणित होता है। समाज के कार्य को सहज करने के लिये बहुत दिनों से स्त्री और पुरुष के प्रभेद को पक्का बना दिया गया है। इस प्रकार बाहर पक्का कर देने पर क्रमशः अभ्यास-वश भेद भीतर की ओर से भी पक्का हो उठता है। मान लिया जाय कि लात मारने से लेकर दौड़ लगाने तक पुरुष के पैर में स्त्री के पैर की अपेक्षा अधिक शक्ति है ; इसी तत्त्व के ऊपर ज़ोर देकर पुरुष यदि कहने लगे कि विस्तारित भाव से पद-संचालन स्त्रियों के लिये अनावश्यक है, इस

लिये उधर की ओर से चित्त-विक्षेप और पद-विक्षेप निवारण करने के उद्देश्य से उन के दोनों पैरों को कड़े शासन में रखकर छोटा कर दिया जाय, तो इस दबाव से पैर छोटा हो ही जाता है। इसमें कुछ सुभीता भी है। गृह-सीमा के बाहर चलने फिरने का संकल्प उस पद-मर्यादा-हीन स्त्री के मन में उठता ही नहीं और इसीलिये संसार का कर्म-विभाग सहज हो जाता है। इस बात में इतनी-सी सच्चाई हो भी सकती है कि स्त्रियों की देह-प्रकृति की कोमलता के कारण ही पीड़न के दबाव से जिस आसानी से उनके दोनों पैर छोटे हो गए उस आसानी से मोटी हड्डी वाले पुरुष के पैर छोटे हो ही नहीं सकते थे। सारी पृथ्वी में बहुत दीर्घकाल से स्त्रियां जो नारीत्व नामक एक संकीर्ण सामाजिक फ्रेम में पिस-पिसाकर बंधती रही हैं उसका निस्संदेह एक कारण यह है कि वे दबाव को सहती हैं और अपनेको उस दबाव के अनुकूल बना ले सकती हैं।

जो हो, स्त्री-पुरुष की यह भेद-मूलक व्यवस्था बहुत दिनों से सहज ही चलती आई है, ऐसे ही समय एक युगान्तकाल का भूमिकम्प पश्चिमी देशों में समाज को प्रचण्ड भाव से धक्का दे गया—उस धक्के की चोट से स्त्री और पुरुष अपनी अपनी सीमाओं से छिटक कर बाहर निकल आए और वहां आकर टकरा गए। यहां स्त्रियों के लिये स्वतंत्र व्यवस्था नहीं है; यहां आकर स्वभावतः ही भेद के ऊपर से झुकाव उठ गया है। यहां स्त्री पुरुष के विशेषत्व को पारकर के जो साधारण मनुष्य है उसीकी मूलगत एकता पर ज़ोर दिया जाने लगा है। मनुष्य-समाज में यह एकदम नवीन सृष्टि की चर्चा है—यह हमेशा से चले आते हुए अभ्यास के विरुद्ध है जितने दिनों तक अतीत काल का चिर-संचित मोह नहीं कट जाता उतने दिनों तक यह स्पष्ट नहीं होगा। किन्तु स्त्री-पुरुष में उस साधारण मनुष्य को स्वीकार करना चाहिए जो श्रेणीविभाग के परे है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सच्चे भेद को सत्य न समझा जाय बल्कि इसका अर्थ यह है कि सच्चे अभेद को भी सत्य मानना होगा।

स्त्री-पुरुष में जो विशेष प्रकार का स्वातंत्र्य है उसे स्वीकार न करना ग़लती है। आज यह बात सभी जानते हैं कि हमारे शरीर में कितनी ही ग्रन्थियां (ग्लैण्ड्स्) हैं जिनका रस हमारे रक्त के साथ मिलकर केवल हमारे शरीर-प्रकृति को ही विशिष्टता नहीं दे रहे हैं बल्कि हमारी मानस-प्रकृति के विशेष-विशेष गुण को विशेष विशेष भाव से पुष्टि भी देते हैं। इससे सिर्फ यही नहीं होता कि ये विशेष ग्रन्थियां स्त्रियों के कंठस्वर में एक विशिष्ट गुण देती हैं बल्कि उनके अन्तर में उसके आनुषंगिक गुणों का संचार करती हैं। यदि दैहिक कारणों के उलट-फेर से स्त्री का कंठस्वर मर्दाना हो जाय तो देखा जायगा कि उसके मन में भी पुरुष का भाव आ जायगा। जिन कारणों से अस्थि और चर्म में विशेषता आती है उन्हीं कारणों से चित्त में भी आती है। स्त्री-पुरुष के देह-मन में विशेषत्व संघटित करने के साथ ही साथ निश्चित था

कि इस संसार में उनके औत्सुक्य (इंटरेस्ट) का विशेषत्व भी घटित होता ही। इसी औत्सुक्य की विशिष्टता पर से परस्पर के सामर्थ्य की भी विशिष्टता है। जीव के प्रति स्त्रियों का औत्सुक्य होता है और भाव के प्रति पुरुषों का। यदि साधारण तौर पर यह बात सच हो तो इसका कारण विश्वप्रकृति के भीतर ही है। प्रकृति स्त्रियों से जो दावा करती है वह पुरुषों से नहीं करती। इधर प्रकृति जब कोई दावा उपस्थित करती है तो दुर्बल भाव से बिल्कुल नहीं करती, उस दावे के साथ चाबुक और रिश्वत दोनों की व्यवस्था होती है। एक तरफ़ तो वह पेट में भूख देती है और दूसरी ओर जीभ में स्वाद, इन दोनों की चोट खाकर आदमी खाद्य खोजते फिरने को लाचार है। जीवरक्षा के प्रति स्त्रियों में जो अत्यन्त प्रबल औत्सुक्य है वह प्रकृति के षड्‌यंत्र से ही हुआ है, यही कारण है कि स्त्रियों की प्रीति अत्यन्त व्यक्तिगत होती है। वस्तु-परिच्छिन्न (एब्स्ट्रैक्ट) भाव की सृष्टि में, अव्यावहारिक सत्य की खोज में स्त्रियों की ओर से जो बाधा देना होता है वह बाहर की वस्तु नहीं है, वह अन्तर की वस्तु है। साहित्य, कला या विज्ञान आदि में स्त्रियों का कृतित्व जो बहुत अधिक मात्रा में नहीं देखा जाता उसके बाह्य कारण नाना व्यक्तियों ने नाना भाव से निर्णय किए हैं। तुमने अपने लेख में गान के विषय में स्त्रियों की विशेषता का उल्लेख किया है। एक बात तुम भूल गई हो,—स्त्रियों ने गान गाया है, गान की रचना नहीं की। भावलोक की और ज्ञानलोक की सृष्टि में बड़ी मात्रा में बुद्धि का वैराग्य रहना आवश्यक है। व्यक्तिगत, वस्तुगत और व्यवहार-संबंधी आसक्ति अधिक हो तो उस वैराग्य का अभाव उपस्थित होता है। दूसरी ओर जब उस वैराग्य की प्रबलता होती है तो जीव-संबंधी उत्सुकता क्षीण हो आती है।

प्रकृति में भेद है, लेकिन इसीलिये जो लोग भिन्न हैं उनके लिये दो स्वतंत्र जगतों का निर्माण नहीं हुआ। एक ही प्रकाश एक ही हवा और एक ही मिट्टी में आम और लीची दोनों को पोषण प्राप्त होता है। उस पोषण के उत्कर्ष से ही आम का आमत्व और लीची का लीचीत्व स्वतंत्र भाव से परिपुष्ट होता है। मेरे मत से संसार में स्त्री और पुरुष दोनों का क्षेत्र एक ही है। इस एक क्षेत्र में दोनों भिन्न भिन्न भाव से काम करते हैं। लड़ाई में बायां हाथ धनुष को पकड़े रहता है और दाहिना हाथ वाण फेंकता है। यहां अगर दोनों हाथ एक ही साथ एक ही प्रकार से काम करें तो शक्ति का व्याघात उपस्थित होगा। पिछले यूरोपीय युद्ध में स्त्रियों ने घर का काम काज संभाला था, उन्होंने युद्ध ही किया था पर अपने ढंग से। पृथ्वी के समस्त विभागों के समस्त कर्म ही स्त्री-शक्ति की अपेक्षा रखते हैं। उस शक्ति का प्रकाश अवरुद्ध हो गया है, इसलिये कितनी दीनता बढ़ गई है यह हम जान नहीं सकते। यदि स्त्री और पुरुष एक ही होते तो यह दैन्य केवल संख्यागत होता परन्तु उनके भाव में पृथक् पृथक्

विशिष्टता है और इस विशिष्टता के होने से ही स्त्री शक्ति के क्षेत्र को संकीर्ण करने के कारण हमारी दीनता केवल संख्या की नहीं रहकर गुण-गत हुई है, उसकी गभीरता भी बहुत अधिक है। कर्म में स्वदेशी-प्रेम का प्रकाश प्रधानतः पुरुष के हाथों रहने के कारण देश के एब्स्ट्रैक्ट हितों को लक्ष्य करके पुरुष जब देश के व्यक्तियों को बलि देने लगता है तो उसे कुछ भी दर्द नहीं अनुभव होता, इसका प्रमाण हमें प्रतिदिन मिल रहा है। इस पंगु आचरण से निश्चय ही स्वदेश-प्रेम का सत्य आहत हुआ है। निवेदिता की भारत-भक्ति मैंने देखी है, उसमें व्यक्तिप्रेम भरा था। वे मानों प्रत्येक भारतवासी की मातृस्वरूपा थीं। उस मातृबोध में जैसा ही तेज था वैसी ही करुणा थी। उन्होंने अपनी बुद्धि को अवच्छिन्न भाव से केवल समस्या-समाधान में नहीं लगाया। उन्होंने भारतवर्ष को बिल्कुल प्राणवान् मनुष्य की भांति सेवा प्रीति और चिन्तन के द्वारा परिवेष्टित किया था। यह चित्तवृत्ति अर्थशास्त्री की नहीं है, राष्ट्रतात्त्विक की नहीं है, इसमें समस्त शास्त्र और तत्त्व प्राणवान् होकर मिले थे। संसार के सब विभागों में वैरागी सत्य के साथ दरदी सत्य—माया-ममता का सत्य—का योग रहना चाहिए, तभी हर-पार्वती का मिलन परिपूर्ण होता है।

किन्तु इस बृहत् यज्ञक्षेत्र में स्त्री को यदि अपना स्थान लेना है तो 'अशिक्षितपटुत्व' से काम नहीं चलेगा। जीवन की परिधि जब संकीर्ण होती है तो सिर्फ सहजवृत्ति या इन्स्टिंक्ट के बल पर ही काम निकल जाता है, किन्तु बड़े क्षेत्र में देह मन और हृदय की परिपूर्ण शिक्षा आवश्यक है। वर्वरता की क्षुद्र सीमा में सहजवृत्ति (इन्स्टिंक्ट) का स्थान है पर सभ्यता की बड़ी सीमा में वह दुर्बल पड़ जाती है। स्त्री को आज पूर्णरूप से स्त्री बनने के लिये यह आवश्यक है कि उसके समस्त मानव शक्तियों का विकास हो। पशु-पक्षियों के बच्चों के लिये इन्स्टिंक्ट हो पर्याप्त होता है। मनुष्या की माता यदि ज्ञान बुद्धि और कर्म में इन्स्टिंक्ट या सहजवृत्ति के ऊपर न उठे तो मानव सन्तान के लिये यह बात परम अनिष्टकर है। हमारे देश में यह अनिष्ट जो बहुत अधिक मात्रा में घटता है, इस बात में कोई सन्देह नहीं है। हमारी घरेलू मां ने हिन्दुस्तानी बच्चे को सिर्फ घर का ही बनाया है, घर के बाहर मां के दुलारे लाल को पद-पद पर परास्त होना पड़ता है। इतने दिनों तक हमने समझा था कि शिक्षा की अपूर्णता और चित्त-विकास की क्षीणता स्त्रियों के कर्तव्य साधन के लिये ही आवश्यक हैं। इसका मतलब यह हुआ कि पिंजड़े के भीतर के कर्तव्य के लिये पंखों का जड़ होना ही सहायक है, इसमें संदेह नहीं। इसीलिये आज नये युग में हम यह नहीं कहेंगे कि स्त्रियां जबर्दस्ती पुरुष बनें। हमें केवल यह कहना है कि पुरुष के समान ही संसार में सर्वत्र ही स्त्री के दुरूह कर्तव्य हैं। पृथ्वी में अब तक मनुष्य का आत्म-प्रकाश प्रायः आधा ही हो रहा था—अथवा विच्छिन्न होकर व्यर्थ

हो गया था। आज हम अर्ध-नारीश्वर की बाट जोह रहे हैं। मैं यह कहता हूं कि प्राण के ऐश्वर्य में स्त्री पुरुष के हिस्से असमान नहीं हैं ; आधा आधी भी नहीं हैं, दोनों की ही सम्मिलित अखंड संपत्ति है।

स्त्रियों पर प्रकृति की ओर से मां-होने-का जबर्दस्त तगादा है। इसी प्रकार समाज की ओर से पुरुष पर अत्यधिक कामकाजी होने की मांग है। यदि पुरुष कामकाजी न हो सका तो उसकी सज़ा और हिकारत का कोई हिसाब नहीं रहता। ये सारे काम कुछ तो ऊंचे दर्जे के हैं कुछ निचले दर्जे के, किन्तु साधारणतः ये सब बंधे-बंधाए काम है। स्त्रियां गार्हस्थ्य का काम न कर सकें तो निन्दित होती हैं, पुरुष समाज के निर्दिष्ट कार्यों का चक्का न घुमा सकें तो लांछित होते हैं। पृथ्वी के पंद्रह आने आदमी ही साधारण आदमी हैं, वे इसी मांग के सांचे में ढले हैं और सही बात तो यह है कि इन ज़रूरतों का कड़ा निर्देश न रहे तो वे दिङ्मूढ़ हो जाते हैं।

किन्तु दैवक्रम से एक श्रेणी के मनुष्य ऐसे भी आते हैं जो तगादों के क्षेत्र के बाहर जन्मते हैं। अकबर बादशाह की भांति उनका जन्म घर में नहीं होता, रास्ते में होता है। वे अति विशेष भाव से स्त्री भी नहीं हैं, पुरुष भी नहीं हैं। इस श्रेणी की स्त्रियों पर प्रकृति की संकीर्ण प्रवृत्तियां ज़ोर नहीं डाल सकतीं, इस श्रेणी के पुरुषों पर दल की चोट बेकार जाती है। ये लोग अपनी स्वतंत्र शक्ति से अपने जीवन को और अपने जगत् को सर्जन करते हैं। इसके लिये वे दुःख पाते हैं, मार खाते हैं, पर कोई उपाय नहीं है। इनमें जो सर्वप्रथम होते हैं उनकी प्रधानता किसी-न-किसी समय स्वीकृत होती है, पर जो बिचबिचवा हैं उन्हें कोई स्वीकार नहीं करना चाहता। उन्हें लक्ष्यकर के इस संसार में कितनी ट्रेजेडियां (दुःखान्त घटनाएं) होती हैं इसका कोई हिसाब नहीं है। इन बिचले लोगों की संख्या कम नहीं होती, फिर भी हम इन्हें देख नहीं पाते क्योंकि दबाव में पड़कर या तो ये मर जाते हैं या फिर इनका बाहरी चेहरा भी औरों के समान हो उठता है। लोकालय में इस तृतीय श्रेणी का कर्मक्षेत्र निर्णीत नहीं हुआ इसीलिये ये लोग अनर्थपात करते है और कभी कभी ये निष्फल हो जाते हैं। मेरा विश्वास है कि आज के युग में यह यूथ-भ्रष्ट तीसरी जाति अपने क्षेत्र में स्वधर्म-रक्षा का अवकाश पा सकेगी और संसार में इसका प्रभुत्व ही सबसे बड़ा हो उठेगा—क्योंकि इस जाति के लोग ही बाहरी जिम्मेवारियों से मुक्त होकर भीतर की जिम्मेवारियां ले सकते हैं।

सृष्टि-संगीत में प्रकृति अपना ताल देते देते अचानक एक एक समय बंधे-बंधाए रागों से बाहर जा पहुंचती है। इसी प्रकार एक एक अद्भुत वैचित्र्यों का उद्भव होता है। स्त्रियों में यह आकस्मिक वैचित्र्य उतना अधिक नहीं घट सकता। इसका कारण यह है कि प्रकृति ने अपने प्रयोजन के लिये स्त्रियों को विशेष भाव से ढाला है। जहां तक प्रकृति के प्रयोजन का

मामला है वहां तक पुरुष-में का बहुत-कुछ फालतू है। इसीलिये बहुत अधिक बंधन न रहने के कारण उनको बनाते समय प्रकृति अपने सांचे के खाके को बात बात पर अतिक्रम करती रहती है। उनमें (पुरुषों में) बेहिसाबी और बेवजनी मनुष्य प्रायः दिखाई दे जाते हैं। एक दृष्टान्त देखो। हमारे देश में अन्त्यज जाति के मनुष्य समाज की शिक्षा और उच्च शिक्षा से प्रत्येक युग में वञ्चित रहे हैं। वे धर्म में और कर्म में ज्ञान के कनिष्ठ अधिकारी हैं, यह बात उनके मन में दाग दी गई है। यह विश्वास उनके संस्कार में जड़ जमा चुका है। उन्हें दूर रखने के लिये ज़ोर जबर्दस्ती की ज़रूरत नहीं है, वे स्वयं सर्वदा संकुचित रहते हैं। और फिर भी भारतीय इतिहास के मध्ययुग में इस अन्त्यज जाति के भीतर ही अध्यात्म तत्त्व के जो सब साधक उठ खड़े हुए उन्होंने केवल ज्ञान और चरित्र में ही नहीं काव्य-रचना में भी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। वंश-परंपरा से जिनका स्थान समाज के पैरों तले था वे ही अनायास ही शीर्षस्थान पर उठ गए। वे गुरु हुए। हठात् उनकी सृष्टि के उपादान सांचे को छाप कर अद्भुताकार गठन खड़ा करने में लग गए। इस अति-परिमित रचना की कोई पूर्वापरता नहीं रही। ये पूर्व युग के और वर्तमान परिवेष्टन के प्रबल प्रतिवाद रूप में सब-कुछ को अतिक्रम करके खड़े हो गए। इनके बाद भी इस धारा की अनुवृत्ति नहीं पाई गई। अवस्था की प्रतिकूलता को लंघन करने वाली इस शक्ति को अतिक्रमी-शक्ति नाम दिया जाय। यह हो ही नहीं सकता कि यह शक्ति स्त्रियों में एक दम पाई ही न जाय। किन्तु सब लोग मिलकर उसे अंकुर में ही विनष्ट कर देते हैं। दलानुगत मनुष्य स्वभावतः ही इस शक्ति को देख नहीं सकता, क्योंकि इसे उनके सामाजिक पैक-बाक्स में अटाना कठिन है। स्त्रियों के लिये जो पैक-बाक्स है उसके माल-मसाले की स्थिति-स्थापकता एकदम है ही नहीं। इसीलिये किसी विशेष लड़की के लिये सृष्टि-प्रकरण में जो कुछ भी अतिपरिमित रहा करता है वह एकदम बचपन से ही कड़े पैक-बाक्स के दबाव से बिल्कुल चपटा हो जाता है।

फिर भी इवोल्यूशन (विकास)-काण्ड में सीमातिक्रमियों का दल प्रकाश के मार्ग में अग्रसर हो जाता है। मनुष्य का इतिहास प्रधान रूप से व्यक्ति-विशेष की रचना है। प्रत्येक क्षण वृष्टि के फुहारे आकाश से उतर कर अन्तर्धान हो जाते हैं, गहरे और स्थिर जलाशय इसी महाक्षणिक के दान से रचित हैं। इस जगत् की नाट्य-शाला में मनुष्य का इतिहास क्षणजन्मा व्यक्तियों के संवाद का गान है। वे (क्षणजन्मा) लोग अकेले ही अपने गले से नई नई तानें छेड़ जाते हैं इसके बाद और दस जने भी उससे कंठ मिलाकर सुर मिलाने लगते हैं। अनेक बर्बर समाजों में कन्या-सन्तान को बचपन में ही मार डालते हैं। सभी समाजों ने अब तक नारी-वेश में आविर्भूत महा-आकस्मिक को शुरू में ही मार डाला है। आज से

पच्चीस वर्ष पहले यूरोप में भी यही बात थी। आज वहां सामाजिक श्रेणी की कोठरी से स्त्रियां बाहर निकल आई हैं। आशा करता हूं अब से अतिमानवियां भी संसार में अपना उचित स्थान पाएंगी। उनकी शक्ति अब नष्ट नहीं होगी। मनुष्य-समाज की सम्पत्ति विपुल परिमाण में बढ़ जायगी। कौन जाने हमारे देश में वह शुभ दिन कब आएगा। किन्तु प्राण-पुरुष की अचिन्तनीय लीला को हमेशा के लिये कौन रोक रख सकता है ?

वर्तमान युग का एक प्रबल लक्षण यह है कि जो लोग बहुत दिनों तक पीछे अन्धकार में पड़े हुए थे वे अब आगे आ रहे हैं। संसार के शूद्र समाज के तलदेश में थे, वे ऊपरवाले विशाल दल के बोझ से दबे थे। किसीने सोचा भी नहीं था कि इस दवाव को अस्वीकार करके किसी दिन मुक्त होकर ये लोग निकल आएंगे। समाज के समस्त स्थूल प्रयोजनों का बोझ ढोने के काम में अपनी समस्त व्यक्तिगत स्वतंत्रता लुप्त करके ये सब लोग मिलकर एक मानव-पिंड हो उठे थे, उनके भीतर कहीं ऐसा फाँक या पर्याप्त अवकाश नहीं था जिसके भीतर से आत्मशक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया प्राण की चञ्चलता विस्तार कर सकती, इसीलिये ये लोग केवल बाहर के धक्के से ही हिलते-डुलते और लुढ़कते रहे हैं, कोल्हू की तरह चक्कर काटते रहे हैं, चक्की की तरह पिसते रहे हैं। मनोगति की स्वाधीनता न रहने के कारण वे विशेष कुछ सृष्टि नहीं कर सके हैं, केवल उत्पन्न करते रहे हैं; चालन नहीं कर सके हैं, केवल वहन करते रहे हैं। उन्हें अज्ञ बनाए रखना ही समाज की गरज़ थी। क्योंकि ज्ञान से मनुष्य केवल बाहर की वस्तु को ही नहीं जानता, खुदको भी जानता है। जो खुदको जानता है उसे जब दूसरा अपनी आवश्यकता के साथ ठीक ठीक मेल बैठवा लेना चाहता है तो फिर वे आपस में टकरा जाते हैं। ऐसे आदमी के सहयोग की ज़रूरत पड़ते ही समझौता करना पड़ता है। राजा के लिये यह प्रजा के आकार में हो या धनी के लिये मजूर के रूप में, इससे ऊपरवाले का रास्ता ऊबड़खाबड़ हो जाता है। पाश्चात्य समाज में ज्ञान का आलोक परिव्याप्त हुआ है, जहां शूद्र अचेतन होकर एकाकार बने हुए थे वहां इस आलोक ने चेतनता फैला दी है और इसके साथ ही साथ उनमें स्वतंत्रता की उपलब्धि हुई और आत्मकर्तृत्व का बोध जाग पड़ा है। आज अब यह अवस्था हो गई है कि प्रभु और दास का संबंध सहज नहीं रहा। देश का सनातनी अज्ञान का जुआ ज्यों ही जन साधारण की गर्दन से उतर जायगा त्यों ही अपने आप उनका सिर ऊंचा हो जायगा। राजा और प्रजा के संबंध की जड़ में जो गभीर अपमान है वह सहज ही क्षीण हो जायगा। ज्ञान और आत्मोपलब्धि के बिना स्वाधीनता हो ही नहीं सकती। हमारे पुराने काल में स्त्रियां पुरुष का अन्तराय थीं। संसार के संकीर्ण प्रयोजन के निकट वे पारिवारिक कलदबाऊ पुतलियों की तरह विधि-विहित नियमों के अनुसार आवाज़ देती रही हैं, हिलती-डुलती

रही हैं। वे केवल यही बात जानती हैं कि अज्ञता और अशक्ति ही उनका भूषण है। माता या गृहिणी के विशेष विशेष ढांचे में ही उनका परिचय रहा है। उनके मनुष्यत्व का जो स्वातंत्र्य है वह कभी सांचा अतिक्रम करके भी प्रकाशित होता है, यह बात कभी अस्वीकृत हुई है और कभी निन्दित हुई है। इसी प्रकार स्त्रियां मनुष्य जाति की एक बड़ी भारी क्षति साधित करती आई हैं। आज ऐसा युग आया है जब स्त्रियों ने मानवत्व के पूर्ण मूल्य का दावा उपस्थित किया है। 'जननार्थं महाभागा' कहकर उनकी गणना अब नहीं होगी। सम्पूर्ण व्यक्तिविशेष के रूप में ही वे गण्य होंगी। मानव-समाज में इस आत्म-श्रद्धा के विस्तार के समान इतनी बड़ी सम्पत्ति और कुछ नहीं हो सकती। गिनती में मनुष्य का परिमाण नहीं मिलता, पूर्णता में ही उसका परिमाण है। हमारे देश में भी कृत्रिम-बंधन-मुक्त स्त्रियां जब अपने पूर्ण मनुष्यत्व की महिमा प्राप्त करेंगी तभी पुरुष भी अपनी पूर्णता पाएगा।

चिट्ठी लिखने का संकल्प लेकर ही बैठा था, किन्तु झरना नदी बन गया। मस्तक में अनेक बातें बर्फ के समान अचल होकर जमी रहती हैं, अचानक यदि एकबार सूर्य के ताप से गलने लगती हैं तो बाढ़ आ जाती है, यह चिट्ठी भी उसी प्रकार का एक आकस्मिक उत्पात है। अब इस समय भी यदि बांध न बांधूं तो प्रबंध की भद्र-सीमा भी नहीं टिक सकेगी।

फटी भीत के छेद में, नाम-गोत्र से हीन
कुसुम एक नन्हा खिला, क्षुद्र निरतिशय दीन।
वन के सब चिल्ला पड़े—'धिक् धिक्, है यह कौन'!
सूर्य उठे, बोले—'कहो भाई, अच्छे हो न?'

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर (अनुवादित)

पुस्तक-परिचय

प्रयाग विश्वविद्यालय की हिन्दी परिषद् के प्रकाशन—(२) आधुनिक-हिंदी साहित्य (१८५०-१९०० ई०) लेखक—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एम. ए., डी० फिल। (३) आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास(१९००-१९२५ ई०) लेखक—डा० श्री कृष्णलाल एम. ए., डी० फ़िल।

'विश्वभारती पत्रिका' के पिछले अंक में प्रयाग विश्वविद्यालय की "हिंदी परिषद्" के एक महत्त्व पूर्ण प्रकाशन ('तुलसीदास') की चर्चा हम कर चुके हैं। उपर्युक्त दो पुस्तकें भी उसी परिषद् ने प्रकाशित की हैं। इन दोनों पुस्तकों में सन् १८५० ई० से लेकर १९२५ ई० तक की पौन शताब्दी का हिंदी साहित्य का इतिहास विस्तारपूर्वक और गंभीरतापूर्वक विवेचित हुआ है। हिंदी साहित्य का आधुनिक काल भारतवर्ष में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद से आरंभ होता है। अंग्रेज़ी साम्राज्य इस देश में अंग्रेज़ों की किसी पूर्वनिधारित योजना के अनुसार नहीं स्थापित हुआ था। घटनाओं ने बड़ी तेज़ी से उसे इस देश में ला खड़ा किया और जो लोग इसके प्रधान अनुष्ठाता थे वे भी नहीं सोच सके थे कि उनका कार्य किस प्रकार का भविष्य बनाने जा रहा है। अंग्रेज़ी में यह वाक्य प्रायः कहाकत का रूप धारण कर चुका है कि 'ब्रिटिश साम्राज्य अनजान में अकस्मात् बन गया था।' परन्तु एक बार दृढ़ रूप से स्थापित होने के बाद तत्कालीन अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने धीर और सुदूरगामी विवेचना के बल पर बहुत सी ऐसी योजनाएं बनाईं जो आज भी हमें प्रभावित कर रही हैं। उन्होंने शिक्षा-व्यवस्था, न्यायाधिकरण, धर्मप्रचार आदि के लिये जो योजनाएं बनाई थीं उस में भाषा, लिपि, मुद्रायंत्र, और विशेष प्रकार के शिष्टाचार आवश्यक थे। इस प्रकार यद्यपि वे जानबूझ कर कुछ नया साहित्यिक जागरण ले आना नहीं चाहते थे पर अनजान में उन्होंने हमारे भावी साहित्य की नींव डाल दी। उनकी नीति ने हमारे देशवासियों को कभी उत्साहित किया, कभी विक्षुब्ध बनाया, कभी विरुद्ध दिशा में प्रयत्नशील किया और कभी उनके साहित्य की प्रतिद्वन्द्विता में हमें नियोजित किया। इन सब संघर्षों ने हमारे साहित्य को एक रूप दिया जो इस शताब्दी के आरंभ में एक निश्चित आकार में प्रकट हुआ। डाक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपनी पुस्तक में उन्हीं संघर्षों और विक्षोभों का प्रामाणिक विवरण तैयार किया है उनके प्रतिपाद्य विषय का महत्त्व इस बात में है कि वह हमारे औत्सुक्य को खूराक देता है, हमारी बहुत-सी आज की समस्याओं को समझने में सहायता पहुंचाता है और हमारे दिमाग़ से उन कितनी ही बद्धमूल धारणाओं को भरका देता है जो हमें अभिभूत किए हैं। हिंदी के आधुनिक रूप पर विचार करते समय हम में से बहुत-से लोग जिन कालेजों और उनके अध्यक्ष या अध्यापकों की विज्ञप्तियां उद्धृत करके अपने अभिप्रायानुकूल सिद्धान्त निकालते रहते हैं उन्हें क्या मालूम है कि उन कालेजों और उनके

अध्यक्षों का उद्देश्य हमारी साहित्यिक भवितव्यता का यथार्थ प्रवर्तन और मूल्य-निर्धारण नहीं था बल्कि शासन-व्यवस्था का सुचारु रूप से और दीर्घकाल तक चलाना था। वार्ष्णेय जी की पुस्तक में बहुत-से भूले हुए प्रमाणों को खोजकर हमें नये सिरे से सोचने की सामग्री दी है। इसके सिवा इस पुस्तक में साहित्य की उस नीहारिका की गतिविधि भी जांच की गई है। नीहारिका की वह आन्तरिक गति ही प्रधान होती है जो उसे किसी विशिष्ट नक्षत्र पिण्ड में रूपान्तरित करती है और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के हिंदी साहित्य में भी वह अन्तर्निहित गति ही प्रधान है जिसने वर्तमान शताब्दी के आरंभ में हमारे साहित्य को एक सुदर्श रूप दिया है। इस दृष्टि से भी वार्ष्णेय जी की पुस्तक का महत्त्व है।

बीसवीं शताब्दी तक आते आते हमारे साहित्य ने बिल्कुल नया रूप ग्रहण किया। भाषा परिष्कृत हुई, शैलियां आविष्कृत हुईं, आत्मश्रद्ध गांभीर्य धीरे धीरे प्रतिष्ठित हुआ, परमुखापेक्षिता की मात्रा कम हुई, विचारों को सरस बनाया गया और नए नए साहित्यिक प्रयोग प्रचुरता के साथ सामने आए। डा० श्री कृष्णलाल की पुस्तक इसी नवीन काल की आलोचना करती है। इनका विवेचन काल वार्ष्णेय जी के काल का आधा है पर विवेचना उनसे दूनी से भी अधिक है। इस पुस्तक के परिचय में डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि 'मैं निःसंकोच रूप से कह सकता हूं कि वर्तमान हिंदी साहित्य के विकास का ऐसा सूक्ष्म निष्पक्ष तथा आलोचनात्मक अध्ययन प्रथम बार हुआ है।' पुस्तक का प्रत्येक पाठक डा० वर्मा से सहमत होगा। इस पुस्तक का महत्त्व केवल इस बात में नहीं है कि इस में पुरानी भूली-अधभूली साहित्यिक कृतियों का परिचय दिया गया है बल्कि इस बात में है कि साहित्यकारों ने जानकर या अनजान में साहित्य में जो बीसियों प्रकार के प्रयोग किए थे उनका उचित और मनोरम विवेचन किया गया है। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते हम आश्चर्य के साथ देखते हैं कि हिंदी के इन पच्चीस वर्षों में कितने प्रकार के साहित्यिक प्रयोग हुए हैं। नाटकों उपन्यासों और कहानियों में उस समय तक के जाने हुए प्रायः सभी साहित्यिक रूपों का प्रयोग किया गया है। शैलियों में भी तरह तरह के प्रयोग हुए हैं और अन्त में हिंदी साहित्य नातिदीर्घ संघर्ष के बाद अपना रास्ता निकालने में समर्थ हुआ है। डा० लाल विश्लेषणात्मक शैली के विवेचक हैं और उन्होंने तत्तत् साहित्यांगों का निपुण भाव से विश्लेषण किया है परन्तु पुस्तक के प्रत्येक अध्याय के अन्त में पाठक अनुभव करता है कि उसने एक संपूर्ण वस्तु देखी है; केवल छितराए हुए कल पुर्जों का ढूह नहीं। इस पुस्तक की यह बड़ी भारी विशेषता है। सारी पुस्तक एक प्रसन्न धारावाहिक शैली में लिखी गई है इसीलिये अंगों उपांगों के विवेचन के कारण जो नीरसता आ सकती थी उसे इस शैली ने आच्छादित कर लिया है। जिस बात को लेखक ने गलत समझा है उसे खुलकर ही गलत कहा है और जिसे अच्छा समझा है उसे उच्छ्वास-मदिर भाषा में कहकर खर्व नहीं किया है। यद्यपि उनकी विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति पश्चिमी साहित्य की निर्धारित पद्धतियों से प्रभावित है, पर वह भलीभांति आत्मसात् की हुई है और जो कुछ भी वे कहते हैं वह उनकी ही बात जान पड़ती है। अपने वक्तव्य को उन्होंने मननपूर्वक समझा है और फिर लिपिबद्ध किया है। इस कारण पुस्तक शुरू से अन्त तक पठनीय और सुग्राह्य हो सकी है। पश्चिमी साहित्य के माध्यम से हमने जो साहित्यिक विवेचना-पद्धति पाई है उसकी विशेषता यह है कि वह हमें आलोच्य के

स्थान-काल और परिपार्श्विक अवस्थाओं के बीच में देखना सिखाती है और हम आलोच्य का मूल्य इन० परिस्थितियों के संबंध से ही निर्धारित करते हैं परन्तु इस पद्धति ने हमें आलोच्य को अन्य-निरपेक्ष भाव से देखने वाली हमारी पूर्व-परंपरा से विच्छिन्न कर दिया है। नवीन का अनुगमन और प्राचीन का परित्याग करने से जो नई विवेचन पद्धति बनी है उसे अपनी तर्क-संगत अन्तिम सीमा तक घसीट ले जाने का नतीजा यह होता है कि हमारे आलोच्य ग्रन्थ अधिकांश रूप में देश और काल में घटने वाली नीरंध्र कारण-परम्परा के अवश्यंभावी परिणाम के रूप में आते हैं। ग्रन्थकार बहुत कुछ उसके निमित्त मात्र होते हैं। हमारी पुरानी परंपरा हमें ठीक उल्टे रूप में सोचने को प्रोत्साहित करती है। डा० लाल की विवेचना पद्धति, जैसा कि हमने ऊपर बताया है, आधुनिक पश्चिमी पद्धति से प्रभावित है, परन्तु वह हू-ब-हू वही नहीं है। वे ग्रन्थकार को निमित्त-मात्र नहीं मानते और बड़ी आकर्षक भाषा में उसके उनके कृतित्व को प्रकट करते हैं। उदाहरणार्थ, बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ग्रन्थकारों का नया मार्ग ढूंढ़-निकालने का प्रयत्न उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है—'परन्तु नया मार्ग ढूंढ़ निकालना भी साधारण काम न था। रास्ते सभी अनजाने थे। किसी ओर अंधाधुंध ढंग से बढ़ना भी खतरे से खाली न था, फूंक फूंक कर पैर रखने की आवश्यकता थी। इस कठिन अवसर पर हमारे पथ-प्रदर्शकों ने बड़े साहस और उत्साह का परिचय दिया'.........इत्यादि। इस प्रकार डा० लाल की आलोचना में नवीन पद्धति का प्रभाव उन्हें निःसंग विश्लेषक तो बना सका है परन्तु ग्रन्थकार के स्वतंत्र व्यक्तित्व और परिस्थिति-निरपेक्ष कृतित्व पर से उनकी दृष्टि को नहीं हटा सका है।

मूल रूप में पुस्तक थीसिस् के रूप में अंग्रेज़ी में लिखी गई थी और इसलिये उसमें अंग्रेज़ी भाषा में सोचने की प्रणाली जगह जगह ऊपर आ गई है, फिर लेखक को अनेक नये परिभाषिक शब्द गढ़ने पड़े हैं जो हिंदी में कहीं कहीं बेमेल-से लगते हैं। अपनी प्राचीन साहित्य-परंपरा से ऐसे शब्द शायद खोजे जा सकते थे जो अधिक उपयुक्त होते और अधिक घरेलू जान पड़ते। दो एक उदाहरण यहां दिए जा सकते हैं। अंग्रेज़ी की साहित्यिक विवेचना में जिसे Mood कहते हैं वह उस वस्तु से एकदम भिन्न वस्तु है जिसे अपनी साहित्यिक परंपरा में 'वृत्ति' कहते हैं, अंग्रेज़ी में जिसे Transfered epithet कहते हैं वह अपनी परंपरा की लक्षणावृत्ति के अन्तर्गत आता है और 'विशेषण विपर्यय' शब्द उस भाव को प्रकट करने में असमर्थ है। भारतीय साहित्य परंपरा में 'व्यक्तिवाद' एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक सम्प्रदाय है जब कि इस पुस्तक में उसे Individualism के प्रतिशब्द के रूप में व्यवहार किया गया है। ऐसे और भी कई शब्द बताए जा सकते हैं। परन्तु पुस्तक के अन्त में हिंदी अंग्रेज़ी पारिभाषिक शब्दों की तालिका दी हुई है इसलिये यह त्रुटि दुरतिक्रम्य नहीं जान पड़ती। हम डा० लाल को इस पुस्तक लिखने के लिये बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि वे अपनी विवेचनात्मक प्रतिभा को सन् १९२५ के बाद की साहित्यिक प्रवृत्तियों के अध्ययन में भी नियोजित करेंगे।

—ह० द्वि०

हमारा हिन्दुस्तान—लेखक : मीनू मसानी ; अनुवादक : बी०पी० सिन्हा ; अगस्त १९४२ ;
पृ० सं० १६५ ; प्रकाशक : हम्फ्रे मिलफ़र्ड, आक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, आमीन-
हाउस, लंदन, ई० सी० ४ ; मूल्य का उल्लेख नहीं है ।

मीनू मसानी को देश पर प्यार है और उनकी अगणित सेवाओं में हमें इस छोटी-सी अनवद्य कृति को विशेष स्थान देना होगा । सक्रिय राजनीति के क्षेत्र से कुछ समय के लिये अवकाश ग्रहण करने के काल में उन्होंने यह पुस्तक लिखी थी । अक्सर ही लेखकवर्ग देश के बीते हुए गौरव को लेकर गलदश्रु हो उठता है, किंतु मीनू मसानी की इस किताब में भावालुता की बेकार फ़िज़ूलखर्ची नहीं मिलती । हमारा देश जैसा है उसके उसी रूप के उन्होंने दर्शन कराए हैं और हमें उस अद्भुत विरोधाभास का मुक़ाबिला करने के लिये बाध्य किया है जिसे लेकर हम आज वैभव के बीच भी मोहताज की तरह लाचार और बेबस हैं ।

किस तरह का मुल्क है हमारा यह हिंदुस्तान ? दुनिया के हर पांचजनों में एक हिंदुस्तानी होता है—इतनी विपुल संख्या है हमारी ; फिर भी दुनिया के मसलों में हमारी कोई राय नहीं । संसार के एक-तिहाई पशु हमारे अधिकार में हैं, फिर भी देश के हज़ारों बच्चे खाद्य के अभाव में मर जाया करते हैं । हमारे देश की ज़मीन उपजाऊ है और विस्तृत है, संसार की कुछ सबसे बड़ी और श्रेष्ठ नदियों से वह सिंचित है, इस देश के नर-नारी किसी भी देश अथवा जाति के नर-नारियों की अपेक्षा बुद्धि और समझ में कमतर साबित नहीं, तब भी क़िस्सा यह है कि हमारे किसान भूखों मरते हैं । कपास हम काफ़ी पैदा करते हैं, फिर भी कपड़ों के लिये बाहर की तरफ़ मुंह ताका करते हैं । देश के जंगल हमें १००,०००,००० टन इंधन प्रतिवर्ष दे सकते हैं और इस दान के कारण उनमें कोई क्षय नहीं होता, तब भी किसानों को गोबर के उपले जलाने होते हैं जिससे उनके खेतों को इतनी बढ़िया क़िस्म की खाद से वंचित रहना पड़ता है । कैनेडा और संयुक्त-राष्ट्र को छोड़कर संसार में हमारी जलशक्ति सबसे श्रेष्ठ है । इतना होने पर भी जब कि नार्वे में यह शक्ति हज़ार आदमी पीछे सात सौ घोड़ों की विद्युत्-शक्ति देती है, तब हिन्दुस्तान में हज़ार आदमी पीछे सिर्फ एक घोड़े की शक्ति से संतोष करना पड़ता है । संयुक्त-राष्ट्र अमरीका और फ्रांस के बाद हमारे यहां लोहे का सबसे बड़ा भाण्डार है जो बढ़िया भी सबसे ज्यादा है ; और मैन्गनीज़ का सबसे बड़ा उत्पादक देश—सोवियट रूस को छोड़कर—हिंदुस्तान ही है । फिर भी प्रधान उद्योग-धंधे हमारे यहां नहीं होते । इस सारी पहेली का हल कहां है और देश के करोड़ों आदमियों का आर्थिक जीवन जिस दुर्निवार चक्र में फंसा हुआ है उससे निकले भी ती क्योंकर ? वह कौन-सी सूरत होगी जिसमें देश की खेती-बाड़ी की हालत सुधर सकेगी, जब कि खेती ही इस देश की अधिकांश जनता का आधारभूत व्यवसाय है ? हम अपने साधनों का किस तरह उपयोग कर सकते हैं और किस तरह उन प्रधान उद्योगों की परिचालना कर सकते हैं जिनके बिना हिंदुस्तान कभी महान् और उन्नत देश नहीं बन सकता ? अपनी आर्थिक योजना हम किस तरह बनाएं जिससे बड़े पैमाने पर चलनेवाले उद्योग और गावों की दस्तकारी—इन दोनों के बीच उचित सामंजस्य स्थापित हो सके, ताकि प्रचुरतम लोगों का प्रभूततम मंगल साधित किया जा सके । ये और ऐसे ही अगणित प्रश्न, लेखक की इच्छा है,

कि हर भारतवासी के मन में जागें और वह खुद ही उनका उत्तर खोज निकाले। पुस्तक यद्यपि बालक-बालिकाओं के लिये लिखी गई है फिर भी भारतवासीमात्र को उसे पढ़ना चाहिए—फिर वह बूढ़ा हो या जवान। अपने देश के बारे में हम इतना कम जानते हैं और जो कुछ जानते हैं वह हमारी अपनी भावुकता के रंग से इतना रंगीन हो उठा है कि प्रायः ही देश की मूल समस्या हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती है।

सारी पुस्तक खूब ही सरल, सुस्पष्ट और बातचीत की शैली में लिखी हुई है जो एक साथ ही चिंता को उद्बुद्ध भी करती है और हमारी गलत धारणाओं या विरोधी तर्कों को निरस्त भी। हम धीरे धीरे लेखक की तरफ़ हो जाते हैं। पुस्तक में बहुत-से चित्र और स्केच हैं जो तथ्यों को आंखों के निकट और भी सुस्पष्ट कर देते हैं। प्रकाशक हमारे धन्यवाद के पात्र हैं जो इस पुस्तक को उन्होंने हिंदी पाठकों के लिये सुलभ कर दिया है। हमें आशा है, अन्य भाषाओं में भी इसके अनुवाद हो जाएंगे। विद्वान् अनुवादक ने भरसक कोशिश की है, फिर भी मूल पुस्तक की बहती हुई चपल भाषा और सुस्पष्ट नाटकीयता का आस्वाद सब समय बना नहीं रह सका है। कभी कभी तो वह खटक भी जाता है, जैसे 'छोटी श्रीमती जी' फ़िक़रा। लेकिन ये भूलें गौण हैं जिनका उचित निराकरण अगले संस्करण में सहज ही किया जा सकेगा। जो असल बात है वह यही है कि पुस्तक उत्कृष्ट है और छोटे-बड़े हर साक्षर भारतवासी के हाथों में उसे होना चाहिए।

—कृष्ण कृपालानी

रवीन्द्रनाथ थ्रू वेस्टर्न आइज़—(अंग्रेजी); लेखक : डा० ए. एरन्सन एम्. ए. (केन्टब); प्रस्तावना-लेखक : डा० अमिय चक्रवर्ती ; प्रकाशक : किताबिस्तान, इलाहाबाद ; पृष्ठसंख्या १५+१५८, छपाई उत्तम।

इस शताब्दी के आरंभ में जब कि सारा संसार सोचने लगा था कि अब कविता का प्रभाव मिटने को आया है, हठात् पूर्व के एक कवि ने यूरोप में इतना सम्मान पाया जितना अपने जीवन काल में किसी अन्य कवि ने नहीं पाया था। प्रजातंत्र राज्यों के प्रधानों ने उस कवि के लिये बड़ी बड़ी सम्मान-सभाएं बुलाईं, एकच्छत्र सम्राटों ने उसके साथ प्रेमपूर्ण संभाषण में अपना सौभाग्य समझा, फ़ासिस्ट डिक्टेटरों ने उस कवि के लिये उत्तम से उत्तम यात्राओं की व्यवस्था की और वर्गवादी अधिनायकों ने अपने देश और दल का समस्त उपकरण उसे प्रसन्न करने में लगा दिया। उसे नाश के कगार पर खड़ी हुई मानवता का उद्धारक समझा गया, हिंसा और प्रतिस्पर्द्धा से जर्जरित विश्व का त्राणकर्ता माना गया, अधर्म और पाप के पंक में डूबते हुए लोगों तक धर्म की नैया खे ले जानेवाला कहा गया और फिर भी उसे पश्चिम के सम्मान को ठेस पहुंचानेवाला, अस्पष्ट रहस्यवादी, इंग-भारतीय विचार-संकरता का परिणाम और वास्तविकता से अनभिज्ञ

करार दिया गया। ऐसा क्यों हुआ ? क्या रवीन्द्रनाथ का यह सम्मान पश्चिम की वास्तविक जिज्ञासा का परिणाम था ? क्या पश्चिम के लोगों ने इस महान् पूर्वी विचारक की जब प्रशंसा की तो वे ठीक ठीक समझ रहे थे और जब खुलकर निंदा करने लगे तो उस समय भी क्या उन्हें उस कवि के वास्तविक स्वरूप का परिचय था ? क्या यह सम्मान और कीर्ति का ज्वार-भाटा पश्चिम के किसी भावोन्माद का परिणाम था या युद्ध के घिनौने परिणामों से थके हुए पश्चिमी लोगों के बौद्धिक दर्प की प्रतिक्रिया थी ? डाक्टर एरन्सन ने उस समय के यूरोपीय विविध समाचारपत्रों की क़तरनों की सहायता से इन प्रश्नों के समझने का प्रयास किया है। 'रवीन्द्रनाथ थ्रू वेस्टर्न आइज़' अर्थात् पश्चिमी लोगों की दृष्टि में रवीन्द्रनाथ। प्रस्तुत पुस्तक इसी अध्ययन का फल है।

पुस्तक पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि रवीन्द्रनाथ वास्तव में क्या हैं इस विषय में यूरोपीय जनता प्रायः अंधकार में ही रही उनके विषय में ज्यादातर पत्रों के संपादकों और आलोचकों ने अर्द्धसत्य और असत्य किंवदन्तियों पर से ऐसी बातें लिखी थीं जो देखकर हैरानी होती है। उनकी कीर्ति को और उनके लेखों और भाषणों के संदर्भ-विच्छिन्न उद्धरणों को भिन्न भिन्न राजनीतिक दलों ने अपना उल्लू सीधा करने के लिये इस्तेमाल किया, पश्चिम के काल्पनिक पराजय से भीत-शंकित एक दलने ग़लत-सही बातें कहकर उनकी कीर्ति को म्लान करने का प्रयास किया। लेखक की संग्रह की हुई अखबारी कतरनें यदि लोकरुचि का सच्चा निदर्शक मान ली जाँय तो पश्चिमी विचारों की गंभीरता की विषय में संशयालु होना पड़ेगा। हमारे चित्त में यूरोपीय विचारकों के संबंध में एक बद्धमूल धारणा है कि वे बिना जांचे-बूझे, बिना समझे-विचारे कोई बात नहीं कहते, उनकी निंदा और गाली के पीछे भी एक गंभीर अध्ययन और ज्ञान-पिपासा होती है, परन्तु इस पुस्तक की संगृहीत कतरनें हमारे विश्वास को हिला देती हैं। यह वह यूरोप नहीं है जिसके बौद्धिक विश्लेषण और भाव-निरपेक्ष विवेचन-पद्धति को इस देश के नव्य बुद्धिजीवियों ने इतने बहुमान से अपनाया है। राजनीतिक और अर्थनीतिक आंधी-तूफ़ानों से जिस यूरोप का मस्तिष्क क्षणक्षण पर नर्म और गर्म हुआ करता है, जो यूरोप पारस्परिक कलह और चखचखों के भीतर से ही किसीको देखने का अभ्यासी है वही यूरोप क्या हमारा आदर्श बुद्धिवादी यूरोप है ? हमारा मन कहता है कि वास्तव में वह वैसा नहीं है। सौभाग्यवश इस पुस्तक के अन्तिम दो अध्यायों में कुछ ऐसे मनीषियों की बातें भी उद्धृत की गई हैं जो हमारी चिरबद्धमूल धारणाओं को पोषण देती हैं। उनमें ऐसे लोगों की भी बातें उठाई गई हैं जो सचमुच ही रवीन्द्रनाथ को समझने का प्रयत्न करते हैं। पुस्तक की प्रस्तावना में डा० अमिय चक्रवर्ती ने लिखा है कि वे चाहें तो ऐसी कतरनें भी प्रचुर परिमाण में संग्रह कर सकते हैं जो यूरोप की लोकरुचि का संपूर्ण विपरीत चित्र उपस्थित करेंगी। हम ठीक ठीक नहीं कह सकते कि उन कतरनों से कैसा चित्र हमारे सामने उपस्थित होगा और न इस प्रसंग में हमें उस अज्ञात चित्र की आलोचना करने का ही आग्रह है। हम तो इस प्रस्तुत पुस्तक में उपस्थित चित्र की ही बात करने जा रहे हैं।

इन उद्धरणों को बड़े परिश्रमपूर्वक संग्रह किया गया है और उनका उपयोग भी बड़ी साव-

धानी के साथ किया गया है। मामूली चिट्ठियों और वक्तव्यों का संबंध भी बड़े कौशल-पूर्वक बड़ी बड़ी घटनाओं के साथ खोज निकाला गया है। इन समस्त वादविवादों को ऐसे मनोरम ढंग से सजाया गया है कि सारी पुस्तक बहुत ही मनोरंजक और धारावाहिक शैली की हो गई है। लेखक ने अपने आपको इन वाद-विवादों से हमेशा अलग रखा है और उनपर टीका करते समय बराबर इस बात का ध्यान रखा है कि उस वक्तव्य के पीछे प्रच्छन्न भाव से काम करने वाले मनोभाव प्रकट हो जांय। पुस्तक में संगृहीत सभी वक्तव्य हमें उस समय की ऐताहासिक शक्तियों को आमने-सामने रख देने में किसी-न-किसी प्रकार की सहायता अवश्य करते हैं। निस्सन्देह इस पुस्तक ने रवीन्द्रनाथ-संबंधी अध्ययन का एक नया अध्याय खोला है। आगे यदि इस दिशा में और काम किया गया तो बहुत संभव है कि वे बातें भी हमारे सामने आएंगी जिसे प्रस्तुत लेखक ने या तो रुचि-भिन्नता के कारण या किसी प्रकार की पूर्व-निर्धारित धारणा के कारण छोड़ दिया है। फिर भी प्रस्तुत लेखक का इस दिशा में जो पथप्रदर्शन है उसका महत्त्व कम नहीं होगा। वे नहीं मानते कि इन अर्द्धसत्य असत्य और अविचारित मतों से रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा का कुछ बनता बिगड़ता है। लोग पूछ सकते हैं कि क्या हुआ यदि एक कवि को किसीने ग़लत समझा लिया? वस्तुतः इससे कुछ आता जाता नहीं, क्योंकि उसकी रचना की महत्ता तो अपने आप में ही अपना औचित्य लिये हुए है। परन्तु जो बात लेखक के विश्वास के अनुसार काम की है वह यह है कि क्या पश्चिमी लोगों का संवेदन सचमुच रवीन्द्रनाथ के संदेशों को ग्रहण करने के अनुकूल था और उनका संदेश का क्या सचमुच उन लोगों के निकट कोई अर्थ था? पुस्तक के प्रथम चार अध्याय पढ़ने पर इस प्रश्न का जो उत्तर मिलता है वह निराशाजनक है। ऐसा लगता है कि रवीन्द्रनाथ को उनके वास्तविक रूप में पहचानने की बहुत कम चेष्टा की गई, केवल दलगत स्वार्थ ही उनके मान-सम्मान में प्रधान हिस्सा लेता रहा। उन दिनों यूरोप की जैसी राजनीतिक अवस्था रही उसे देखते हुए वह बात असंभव नहीं जँचती कि राजनीतिक चालबाज़ियां प्रच्छन्न रूप से उनके सम्मान के ज्वार-भाटे का नियंत्रण कर रही हों पर मनुष्य को केवल इन प्रच्छन्न चालबाज़ियों का शिकार मान लेने का जी नहीं करता। क्या सहज सद्भाव और मानवोचित प्रेम-भाव ने कवि के सम्मान में कुछ भी भाग नहीं लिया, क्या सचमुच मनुष्य की स्वाभाविक ज्ञान-पिपासा, अतिथि-प्रेम, उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूति और सच्ची निष्ठा उस समय के यूरोप से एक दम उठ गए थे? निश्चय ही ऐसी बात कोई नहीं मानेगा। जब जर्मनी में और सारे यूरोप में कवि की पुस्तकों की लाखों प्रतियां बिक रही थीं, हजारों तैलचित्र, प्रस्तरमूर्तियां और हस्तलेख संग्रह किए जा रहे थे तो निश्चय ही लोगों के चित्त में केवल राजनीतिक स्वार्थ ही नहीं काम कर रहा था। इस पुस्तक के लेखक ने इन बातों की नितान्त उपेक्षा तो नहीं की है पर इसे प्रधान रूप से विवेचना-योग्य उन्होंने नहीं समझा। जो बात पुस्तक के पढ़ने पर सबसे अधिक अनावृत रूप में हमारे सामने आती है वह यह है कि आज के युग में मनुष्य की समस्या बहुत जटिल और भयावह हो गई है। अत्यन्त निर्दोष हरकतों में भी दलगत स्वार्थ की दृष्टि कोई न कोई ग़लत उद्देश्य का आरोप कर देती है, गाना और कविता करना भी इस युग में संदेह अविश्वास और प्रतिस्पर्द्धा का विषय बन गया है। डा० एरन्सन की पुस्तक ने अपने युग की इस समस्या को ही

प्रधान रूप से हमारे सामने उपस्थित किया है, रवीन्द्रनाथ और उनकी-सम्मान चर्चा तो उपलक्ष्य मात्र है। वस्तुतः पुस्तक में पश्चिमी आंखों के ज़रिये रवीन्द्रनाथ को देखना गौण बात है, प्रधान बात हो गई है रवीन्द्रनाथ के ज़रिये पश्चिमी आंखों का देखना। परन्तु यद्यपि इस ग्रंथ में 'पूर्व' और 'पश्चिम' नाम के दो मानव-समाजों को स्वीकार कर लिया गया है पर वास्तविक बात यह है कि मनुष्य एक और अविभाज्य है। उसके संस्कार बाह्य उपकरण हैं और उनको ही प्रधान मानना सर्वदा ठीक नहीं होता। और इसीलिये पश्चिमी आंखों की परीक्षा वस्तुतः आधुनिक युग की मनुष्यता की ही परीक्षा है। डा० एरन्सन की पुस्तक ने उसको एक पहलू को अनावृत यथार्थ रूप में रख दिया है और इसी बात में पुस्तक का महत्त्व है। पुस्तक पढ़ने से हम आश्चर्य और क्षोभ के साथ अपने युग के स्वार्थरत मनुष्य की रंगीन सम्मतियों को देखते हैं और गभीर भाव से सोचने को बाध्य होते हैं। लेखक ने आधुनिक जगत् का यह चित्र हमारे सामने रखकर हमारा उपकार किया है। पुस्तक के अन्त में दो परिशिष्टों में रवीन्द्रनाथ की पुस्तकों के पश्चिमी अनुवादों की तालिका संग्रह की गई है, जो बड़े काम की है। जो लोग रवीन्द्रनाथ के साहित्य के सभी पहलुओं का अध्ययन करना चाहते हैं उन्हें इस पुस्तक को संग्रह करना होगा।

—ह० द्वि०
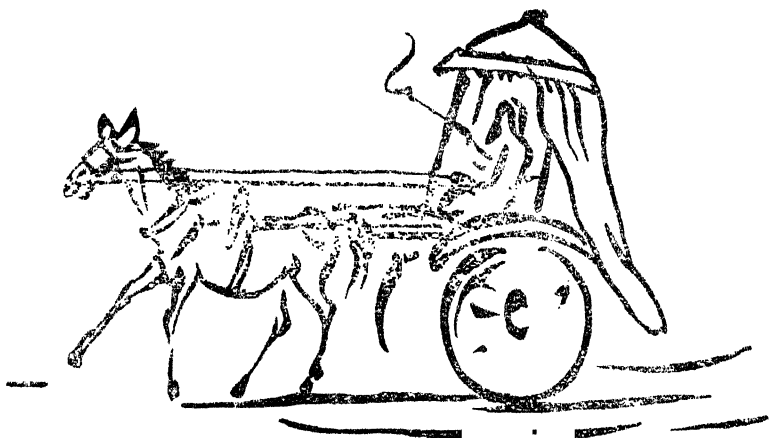
'रवीन्द्र-सङ्गीत'*

विद्याधर वभलवार

रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा इतनी बहुमुखी और विचित्र है, उनका दान ऐसा विपुल है कि जब हम उनके किसी एक रूप के दर्शन पाते हैं तो अन्य रूपों की सुधि भूल जाते हैं। फिर 'कवि' रवीन्द्रनाथ की महानता हमारे समूचे ध्यान को इस तरह अधिकृत कर लेती है, उनकी प्रतिभा का यह क्षेत्र ऐसा विराट् और विचित्र है कि हम वहां अटके रह जाते हैं, बिलम जाते हैं, रम जाते हैं ; कहीं और जा ही नहीं पाते। गान सुनते, तत्त्व और तथ्य की चिंता करते, समाज अथवा राजनीति की सूक्ष्म आलोचना या विज्ञान की बारीक विश्लेषणयुक्त कहानी सुनते—सब समय सबसे पहले जो वस्तु हमें विस्मय से अभिभूत कर देती है वह है उनकी वाणी का काव्यगत सौन्दर्य। हम आलोचक बनकर आते हैं किंतु मुग्ध दर्शक अथवा श्रोता होकर ही संतुष्ट होना पड़ता है। इस अभिभूत कर देनेवाले प्रभाव को भुलाकर, अपने से किंचित् दूर हटकर कुछ नैर्व्यक्तिक चर्चा करने का सुयोग हो ही नहीं पाता। इसीलिये सद्यःप्रकाशित 'रवीन्द्र-संगीत' बंगला पुस्तक को पढ़कर सबसे अधिक विस्मय हुआ कि लेखक यथासंभव शांत और संयत भाव से चिंता करते गए हैं। बचपन से ही रवीन्द्र-संगीत के स्वर-वितान में उनका मन पला-बढ़ा है और रवीन्द्रनाथ के निकट ही उन्होंने संगीत की शिक्षा पाई है ; परवर्ती जीवन में गुरुदेव के आदर्श को साकार करते, गाते और गवाते, उनके दिन कटे हैं। फिर भी चेले की युक्तितर्कशून्य भक्ति द्वारा आलोचना को उन्होंने आविल नहीं होने दिया है। कवि के संगीत के मर्म को उन्होंने आयत्त किया है, इसीसे उसके वैचित्र्य और वैशिष्ट्य का हमें परिचय करा सके हैं। भाषा इस तरह सुथरी और सुलझी है कि शास्त्रीय ज्ञान से उदासीन पाठक भी पुस्तक पढ़कर लाभ उठा सकते हैं।

लेखक ने रवीन्द्र-संगीत को नाना दिशाओं से समझने-समझाने की चेष्टा की है। भारतीय संगीत की ऐतिहासिक विकास-धारा में रवीन्द्रनाथ का क्या मूल्य, दान और स्थान है, समसामयिक संगीत-क्षेत्र में उसका क्या प्रभाव पड़ा है और भविष्य के विकास को उन्होंने कहाँ तक दिशा दी है—आदि प्रसंगों पर विचार किया गया है। उनके विचित्र गानों का उत्स कहां है, प्रेरणा कहां से जुटी है, उस चंचल व्याकुलता का रहस्य क्या है जिसकी प्रेरणा से वृद्ध रवीन्द्रनाथ भी तरुण युवा की तरह अविश्रांत गान-रचना में डूब जाया करते थे? उनके प्रेम और पूजा के गानों में इस तरह अभेद क्यों-कर संभव हो सका है और कविता तथा गान के छंद इस तरह समन्वित क्यों-कर हो गए हैं? रवीन्द्र-संगीत में देश-विदेश की स्वरवाहिनियां किस प्रकार

---

* बंगला-पुस्तक ; लेखक : श्री शान्तिदेव घोष ; प्रकाशक : विश्वभारती ग्रन्थालय, २, वंकिम चैटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता ; पृष्ठसंख्या १६४ ; मूल्य १।।) ; प्रच्छदपट श्री नन्दलाल वसु द्वारा अंकित।

आकर मिल गई हैं ; ताल और सुर, काव्य और गीत, छंद और गति का अपूर्व मिलन किस तरह गढ़ उठा है ? और अंत में, संगीत ने साधना का तथा साधना ने संगीत का रूप किस प्रकार पाया है ?—इन सभी विचारणीय विषयों पर लेखक ने प्रकाश डाला है ।

रवीन्द्रनाथ आजीवन पाठशाला से भागे हुए छात्र ही बने रहे ; सभी वस्तुओं को उनके रीतिगत बंधे मार्ग से पाते समय वे विद्रोही हो उठते थे । और फिर भी किसी अतिरिक्त क्षमता की सामर्थ्य से प्रत्येक वस्तु के मर्म तक पहुंचते उन्हें देरी भी नहीं लगती थी । उनके घर पर उच्चकोटि के संगीत की चर्चा प्रायः होती थी किंतु शिशु-रवीन्द्रनाथ की डलिया खिड़की-दरवाजे की राह हवा के पंखों चढ़कर आई हुई तानों से ही भर उठती थी । भारतीय राग-रागनियों की जो गूंज उनके ग्रहणशील चित्त में उस समय समाई वह मानों आजीवन उनके गीतों में नये-नये वैचित्र्य और माधुर्य के साथ बराबर प्रतिध्वनित होती रही । उन्होंने संगीत की शिक्षा नहीं पाई, किंतु संस्कार पाया । अपने अनावृत चित्त से शास्त्रीय संगीत के अतिरिक्त उन्होंने लोक-संगीत की धाराओं को भी ग्रहण किया था और केवल देशी ही नहीं, विदेशी सुरों को भी वे कैद कर लाए थे । इतना होने पर भी वाग्गेयकार की हैसियत से उन्होंने हमें जो दिया है वह उनकी स्वकीयता का ही दान है । शांतिबाबू ने अपनी आलोचना द्वारा यह तत्त्व खूब भली प्रकार हृदयंगम कराया है ।

पुस्तक का एक और भी वैशिष्ट्य उल्लेख के योग्य है । रवीन्द्रनाथ के गीतों का ठीक इतिहास—रीति की दृष्टि से भी और रस की तरफ़ से भी—बहुत-कुछ रहस्यागार में ही बंद पड़ा था । अनेक गीतों के समूचे परिवेश को लेखक ने अपनी जानकारियों की सहायता से हमारे लिये सुलभ किया है । उनकी रचना के उस विस्मृत वातावरण को हम जान पाते हैं जिसमें रवीन्द्रनाथ का कृतित्व भी गुंथा हुआ है, व्यक्तित्व भी । पढ़ते-पढ़ते जातीय उद्बोधन के गुरु, संपूर्ण नवीन रंगमंच के प्रयोजक रवीन्द्रनाथ को भी हम पहचान पाते हैं । पुराने ऐतिह्य के भीतर उन्होंने किस तरह नवीन का मंत्र फूंका है यह स्पष्ट हो जाता है ।

पुस्तक में जगह-जगह छापे की भद्दी भूलें रह गई हैं जिनकी मार्जना अत्यंत आवश्यक थी । फिर विषय-सूची का अभाव देखकर भी आश्चर्य हुआ । हमारी समझ में एक अनुक्रमणिका भी बहुत ज़रूरी थी । जिन गीतों का पुस्तक में उल्लेख है, स्वरलिपि-सहित उनका पूरा पाठ किस जगह मिल सकता है इसका निर्देश पाठक के लिये बहुत ज़रूरी था । रवीन्द्रनाथ की स्वरलिपि के वैशिष्ट्य के विषय में भी एक नोट होता तो अच्छा था । कहीं कहीं कोई कोई बात जैसे पूरी पूरी स्पष्ट नहीं हुई है । मसलन, लेखक ने आसावरी में कोमल-ऋषभ अथवा बिहाग के साथ केवल शुद्ध मध्यम के प्रयोगों के उदाहरणों द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि रवीन्द्रनाथ पर हिंदुस्तानी शैली की जगह विष्णुपुरी शैली का प्रभाव पड़ा है । बात चाहे सही हो पर ऊपर के प्रमाण तो काफ़ी नहीं हैं । उत्तर भारत में भी आसावरी में कोमल-ऋषभ अथवा बिहाग में केवल शुद्ध-मध्यम की योजना प्रचलित है । पाठक जानना चाहेगा कि उत्तर भारत की गान-पद्धति तथा विष्णुपुरी ढंग में वस्तुतः लेखक क्या प्रभेद मानता है ।

क्या केवल गायकी का ही भेद है अथवा अन्य मौलिक भेद भी हैं? हमारा दृढ़ विश्वास है कि कड़ी से कड़ी आलोचना द्वारा भी रवीन्द्रनाथ की मर्यादा घटने की बजाय बढ़ेगी ही।

रवीन्द्रनाथ उस्ताद नहीं थे, रसस्रष्टा थे। उनका चित्त सुर में बंधे हुए तानपूरे की तरह तनिक-से आघात से ही जैसे झंकृत हो उठता था—कभी कभी तो अनाहत भी। "उनके अंतर के जो गायक हैं, वही उन्हें गवाते हैं, वही उनकी प्रेरणा जुगाते हैं। कितनी ही आधी रातों में नींद के बीच सहसा किसी सुर की ध्वनि ने उनके अंतर में आघात किया है, जिसके बीच जाने-कहां बह गई उनकी निद्रा। उसी हठात्-पाए हुए सुर को वाणी में, छंद में जब तक पकड़ नहीं पाए हैं तब तक नींद नहीं। यदि किसी कारण वह सुर खो गया है, तब कैसी-एक तीव्र वेदना मन में जाग उठी है। बदली के दिन मन के शिखर-देश में प्रायः ही सुर के मेघ सघन होकर घुमड़ आए हैं। हृदय में तब शुरू हुआ है उनका विस्तारितवर्ह मयूर-नृत्य। सुबह की कच्ची ताज़ी धूप में किसी व्यथा से मन चंचल हो उठा है और वही गीतों में फूटकर प्रकाशित हो उठी है। शरत् के शिशिर-शुभ्र सौन्दर्य से छलकती हुई विश्वप्रकृति ने प्राणों में एक ऐसा आघात किया है जिसका आनंद शारदीय गानों में बिखर पड़ा है। शीत के भीतर जो मृत्यु की छाया है उसने भी चित्त में गान जगा दिया है। वसंत के आनन्द-हिल्लोल में तो वे मानो एकदम पागल हो उठे हैं—उनके वसंत के गीति-गुच्छ में उसके कितने रूपों का प्रकाश हम पाते हैं। ग्रीष्म की रुद्रता और कठोरता उन्हें वैरागी के गान-जैसी जान पड़ी है। गभीर अंधियारी रात में, पूनों की उच्छलित चांदनी में, सांझ-सबेरे, दुपहरिया के अलस पलों में उन्होंने विश्व-संगीत आहरण किया है। जिस मनुष्य की दैनंदिन जीवन-यात्रा में हम बंधे हुए नियम का एक सूत व्यतिक्रम भी नहीं देखते, उसी मनुष्य ने गान की प्रेरणा में मानों अपने को संपूर्ण बहा दिया है" (पृष्ठ ७)।

रवीन्द्रनाथ में शास्त्र का यदि कभी व्यतिक्रम भी घटा है तो वह किसी व्यापक संगीत-नियंत्रण के भीतर समाविष्ट हो जाता है। संधि और विपर्यय संगीत के क्षेत्र में कोई नई बातें नहीं हैं, भारतवर्ष की परम्परा में यह अनेक बार घटित हुआ है। प्रतिभावान् शिल्पी की प्रेरणा शायद मन-बुद्धि के अतीत रस-लोक से आती है, इसी कारण वह मन-बुद्धि की परिपंथी न होकर उन्हें आत्मसात् कर लेती है। जिस राह वह आती है वह मानों शिल्पी का 'षष्ठेन्द्रिय' है। इसीसे रवीन्द्रनाथ ने एक जगह कहा है: "गान के सुर के आलोक में इतनी देर बाद जैसे सत्य को देखा। अंतर में यह गान की दृष्टि सदा जाग्रत न रहने से ही सत्य मानो तुच्छ होकर दूर खिसक पड़ता है। सुर का वाहन हमें उसी पर्दे की ओट में सत्य के लोक में वहन करके ले जाता है। वहां पैदल चलकर नहीं जाया जाता, वहां की राह किसीने आंखों नहीं देखी।"

अपनी बात

भगवति वसुधे कथं वहसि

इस समय राजनीतिक दलबन्दियों ने साधारण मनुष्य को कुछ ऐसा अन्धा बना दिया है कि जातिधर्म-निर्विशेष मनुष्य के हित की बात सोचना असंभव-सा हो गया है। दल-गत स्वार्थ-बुद्धि को लोगों ने ऐसा स्वायत्त किया है कि वह उनका स्वभाव हो गई है। अपने दल के बाहर का आदमी संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। उसके रोने-गाने तक पर असदुद्देश्यों का आरोप किया जाता है, उसके तप और सत्यनिष्ठा का मज़ाक उड़ाया जाता है, उसके त्याग और बलिदान को स्वार्थ सिद्ध किया जाता है और अपने इस प्रकार के कृत्य को सफलता मान ली जाती है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि ऐसा करनेवाला व्यक्ति सब से पहले अपना ही अहित करता है। बड़े बड़े राष्ट्रपति जब अपनी विराट् अनुचर-वाहिनी के साथ इस प्रकार का गंदा प्रचार करते हैं तो ऊपर ऊपर से चाहे जितनी भी सफलता उनके पक्ष में आती दिख रही हो भीतर ही भीतर इतिहास-विधाता का निष्ठुर नियम-प्रवाह उनके स्वार्थों का मूल खधारता रहता है। इतिहास शक्तिशाली व्यक्तियों और राष्ट्रों की चिताभूमि को कुचलता हुआ आगे बढ़ रहा है, फिर भी गंदे तरीके सुधारे नहीं गए हैं, बल्कि और भी कौशल-पूर्वक उनको प्रभावशाली बनाया जाता रहा है। उपकार-परायण मनुष्य के सहज कार्यों को जब अभिसंधिमूलक बताया जाता है, विश्वास-परायण व्यक्ति के प्रेमपूर्ण कार्य को जब ढोंग कहा जाता है, शुद्धबुद्धि से किए हुए कर्म को जब असत् उद्देश्य से प्रेरित बताया जाता है तो साधारण बुद्धि का आदमी हैरान हो रहता है। वह पुराने कवि के समान हत-बुद्धि हो कर पूछता है कि हे भगवति वसुंधरे, तू ऐसे पाप विचारवाले असत्य-भाषी मनुष्यों को कैसे वहन कर रही है?—

> 'उपकारिणि विस्रब्धे शुद्धमतौ यः समाचरति पापम्
> तं जनमसत्यसंधं भगवति वसुधे कथं वहसि?'

सीखता कौन है!

परन्तु वसुंधरा के धारण करने का अपना नियम है। वह एक क्षण के लिये भी इस प्रकार के असत्यसंध को धारण नहीं करती। यह हमारी दृष्टि शक्ति की अपूर्णता है कि पतित को तब तक हम पतित रूप में नहीं देखते जब तक उसका सर्वनाश नहीं हो गया होता। जिस दिन कोई मनुष्य किसी सदाशय व्यक्ति के विषय में पाप चिन्ता करता है, शुद्धबुद्धि से किए हुए कार्य को ढोंग कहता है, त्याग और तपस्या का मज़ाक उड़ाता है उस दिन उसका पतन हो गया होता है। हम थोड़ी देर तक उसे सफल होते देखते हैं, उसकी समृद्धि की विपुलता हमें हतबुद्धि बनाए रहती है पर शीघ्र ही उसका तेज म्लान हो जाता है, सम्पत्ति उसका साथ छोड़ देती है, प्रकृति

के निष्ठुर नियम उसे दबोच लेते हैं। अनादिकाल से यह होता आया है, और न जाने कब तक होता रहेगा। • इतिहास हमें यही सिखा रहा है कि मनुष्य इतिहास से कुछ भी नहीं सीखता। सन्तों और महापुरुषों ने पुकार-पुकारकर कहा है कि सम्पत्ति से अन्धा न बनो, शक्ति की मदिरा से बेहोश मत होओ, दुर्बल की आह की अवहेलना मत करो पर ऊंची कुर्सियों तक आवाज़ नहीं पहुंच पाती। महाकाल के निष्ठुर-कठोर नियम न जाने कितने मदगर्वित सिंहासनों को धूलिसात् कर चुके हैं, न जाने कितने मुक्त कृपाणों की धारा सुखा चुके हैं, न जाने कितने वज्र-कपाट कारागारों को खंडहरों में परिणत कर चुके हैं, पर सीखता कौन है? दुनिया अपनी राह भागी जा रही है, और महाकाल का रथ अपने रास्ते दुर्धर्ष वेग से बढ़ रहा है।

—ह० द्वि०

दीनबंधु की पुण्यतिथि

पांचवी अप्रैल को दीनबंधु ऐन्ड्र्यूज़ की तीसरी पुण्यतिथि पड़ी: उस दिन केवल हमारे देश में ही नहीं बल्कि अन्यान्य कितने ही देशों में ऐसे लोग होंगे जिन्हें दीनबंधु की सजग याद आई होगी। कारण, दीनबंधु अपने जीवन भर इसीके लिये प्रयत्नवान् रहे कि सबमें सदा पारस्परिक प्रेम और सद्भाव बढ़े और शांति का संचार हो। हमारे देश पर तो उनकी विशेष ममता थी। जहां भी भारतमाता के पुत्र रहते हैं, वहां किसीपर कभी भी किसी भी तरह का कष्ट पड़ा नहीं कि ऐन्ड्र्यूज उनके पास जा पहुँचे। किसीने एक दफ़ा कहा था कि भारतवर्ष में कोई ऐसा गांव नहीं होगा जिसमें एक-न-एक ऐसा बंदा न मिल जाए जिसने दीनबंधु का नाम कानों सुना था या उन्हें आंखों देखा था। हमारे दिलों में अंग्रेज़ जाति के प्रति विश्वास की जड़ें झकझोरी जाकर भी जो हिल नहीं पाईं, उसका कारण दीनबंधु का हमारे देश और देशवासियों के लिये अगाध प्रेम ही है। गुजरानवाला ज़िले के कामोकी ग्राम के नंबरदार के उन शब्दों को भला कौन भूल सकता है जो उसने दीनबंधु से कहा था (जब दीनबंधु ने उससे पूछा था कि उस सरकार के लिये जिसके अफ़सरों ने उसके गांव पर अविश्वसनीय अत्याचार किए थे, क्या उसके मन में तीव्र धिक्कार और घृणा नहीं है?): "जब तक ब्रिटेन के लोगों में आप-जैसा एक भी अंग्रेज़ जीता है, तब तक मेरे दिल में आपकी जाति के लिये द्वेष रखना पाप होगा"। दीनबंधु की हमें आज बहुत सख्त ज़रूरत थी, कारण ब्रिटेन के प्रति इस देश की श्रद्धा आज कसौटी पर कसी जा रही है, उसके धैर्य की आज कठिन परीक्षा हो रही है। हमारे दिलों पर तो उनका नाम अमिट भाव से लिखा ही रहेगा किंतु दीनबंधु प्रभु के भी सदा प्यारे होंगे, कारण जो उनकी संतानों में प्रेम बढ़ाता है वही उनका सबसे प्यारा होता है।

—गुरुदयाल मल्लिक

राष्ट्रीय युद्ध-मोर्चा और रवीन्द्रनाथ

राष्ट्रीय युद्ध-मोर्चा (नेशनल वार-फ्रन्ट) का एक विज्ञापन अंग्रेजी तथा किसी किसी अन्य भारतीय भाषा में रवीन्द्रनाथ के एक विशाल फ़ोटोग्राफ़ के साथ बड़े बड़े हरफ़ों में छापा गया है : "क्या एशिया एशियावासियों के लिये है ?" प्रश्न की भंगी द्वारा ही उसका नकारात्मक उत्तर सुझाया गया है जिसका अर्थ ऐसा होता है कि रवीन्द्रनाथ के विचार में एशिया एशियावासियों के लिये न होकर ग़ैर-एशिया-वासियों के लिये है। कलकत्ते के एक हिंदी मासिक पत्र में जो विज्ञापन छपा है उसमें प्रश्न चिह्न नहीं है पर इससे विज्ञापन के उद्देश्य में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। विज्ञापन में प्रसंग से विच्छिन्न करके रवीन्द्रनाथ द्वारा जापानी कवि नोगुची को लिखे हुए उनके सन् १९३८ के प्रसिद्ध पत्र का एक उद्धरण दिया गया है जिसमें उन्होंने जापानी कवि के साम्राज्यवादी एशिया-प्रेम का प्रत्याख्यान किया था। विज्ञापन में कवि के वक्तव्य का हिंदी रूपान्तर इस प्रकार दिया हुआ है—

"जापानी लोग नरमुण्डों के ढेर पर एशिया का पुनर्निमाण करना चाहते हैं। नर-हत्या के कुकृत्यों में जापानी तैमूरलंग का अनुकरण कर रहे हैं। आपने अपने पत्र में "एशिया एशियावासियों के लिये" जिस सिद्धान्त का उल्लेख किया है, वह राजनीतिक धूर्तता के सिवा कुछ नहीं। इसमें विशाल मानवता तथा विश्व प्रेम की भावना का लेशमात्र नहीं है।"

यहां हम हिंदी अनुवाद के साथ समूचे अंगरेज़ी पत्र को उद्धृत करते हैं :

"You are building your conception of an Asia which would be raised on a tower of skulls. I have, as you rightly point out, believed in the message of Asia, but I never dreamt that this message could be identified with deeds which brought exaltation to the heart of Tamer Lane at his terrible efficiency in man-slaughter. When I protested against 'Westernisation' in my lectures in Japan, I contrasted the rapacious Imperialism which some of the *Nations* of Europe were cultivating, with the ideal of perfection preached by Buddha and Christ, with the great heritages of culture and good neighbourliness that went to the making of Asiatic and other civilizations. I felt it my duty to warn the land of the Bushido, of great art and traditions of noble heroism, that this phase of scientific savagery, which victimised Western humanity and had led their helpless masses to a moral cannibalism, was never to be imitated by a virile people who had entered upon a glorious renaiscence and had

every promise of a creative future before them. The doctrine of 'Asia for Asia' which you enunciate in your letter, as an instrument of political blackmail, has all the virtues of the lesser Europe which I repudiate and nothing of the larger humanity that makes us one across the barriers of political labels and divisions."

"आप जिस एशिया की कल्पना कर रहे हैं वह नरमुण्डों के स्तूप पर खड़ी होगी। आपका यह कथन सही है कि मैंने एशिया के संदेश में सदा विश्वास रक्खा है लेकिन यह तो मैंने सपने में भी नहीं सोचा था कि इस संदेश का अर्थ ऐसे सब कार्य होंगे जिन्हें सम्पन्न करके तैमूरलंग अपनी नरमेध की भीषण क्षमता पर उल्लसित हुआ करता था। जापान में दी हुई अपनी वक्तृताओं में जब मैंने उस देश के 'पश्चिमीकरण' के खिलाफ़ आवाज़ उठाई थी, तब एक तरफ़ यूरोप के कुछ 'राष्ट्र' जिस हिंसक-अपहारक साम्राज्यवाद का अनुशीलन कर रहे हैं उसके साथ दूसरी तरफ़ बुद्ध और ईसा-द्वारा उपदिष्ट पूर्णता के आदर्श का—एशिया तथा अन्यान्य देशों की महान् सभ्यताओं का निर्माण करनेवाली सांस्कृतिक संपद और पड़ोसी के प्रति आंतरिक सद्भाव की पुरानी विरासत का—सुस्पष्ट अंतर दिखलाया था। मैंने अपना कर्तव्य समझा कि बूशेडो की भूमि को—महान् शिल्प और उदात्त शौर्य की परंपरा रखनेवाले देश को—सावधान कर दूं कि वैज्ञानिक बर्बरता के जिस रूप ने पश्चिमी मानवता को अपना शिकार बनाया है और वहां की पर-वश जनता को नैतिक नरभोज की ओर प्रेरित किया है, उसका अनुकरण वे पुरुषार्थी देश न करने लग जाएं जिन्होंने आज एक उज्ज्वल नवजीवन की ओर कदम बढ़ाए हैं और जिनके सामने सृजन की उदार आशाओं से भर-पुरा भविष्य फैला हुआ है। 'एशिया एशिया-वासियों के लिये'—वाले जिस सिद्धान्त का आप अपने पत्र में प्रतिपादन कर रहे हैं, वह अरक्षा और अगौरव का भय दिखाकर ज़बर्दस्ती अभय देने के बहाने अधीनता स्वीकार कराने का राज-नैतिक साधन है। उसमें यूरोप के क्षुद्र रूप की वे सारी विशेषताएं आ जाती हैं जिनका मैं दृढ़ता-पूर्वक प्रत्याख्यान करता हूं, किंतु उस विराट् मानवता का उसमें कोई चिह्न भी नहीं है जो राजनैतिक दलबंदियों और विच्छेदों के सारे बाधा-बंधन लांघकर हमें ऐक्य के सूत्र में ग्रथित करती है।"

कवि के द्वितीय पत्र से, जो महीने भर बाद नागुची को लिखा गया था, हम एक और उद्धरण यहां दे रहे हैं :

"यदि मेरे शब्द कटु लगते हों तो मुझे क्षमा कर दीजिएगा। विश्वास रखें, दुःख और लज्जा से प्रेरित होकर ही आपको लिख रहा हूं क्रोध से नहीं। मैं केवल इसी लिये व्यथित नहीं हो रहा कि चीनवासियों की व्यथा के समाचार मेरे हृदय पर निर्मम आघात कर रहे हैं, बल्कि इसलिये कि आज मैं गर्व से सिर उठाकर महिमामय जापान के दृष्टांत की ओर इशारा नहीं कर सकता। यह सच है कि अन्यत्र कहीं भी इससे बेहतर स्टैण्डर्ड प्रचलित नहीं हैं और पश्चिम

के तथाकथित सभ्य देश प्रायः ऐसे ही बर्बर हैं और कदाचित् इससे भी कम 'विश्वास के पात्र'। यदि आप मुझसे उनका उल्लेख करते हों, तब तो मुझे कुछ भी नहीं कहना। चाहता तो यह था कि मैं स्वयं ही आपसे उनके कृत्यों की ओर संकेत करता। अपने देशवासियों के बारे में मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता, कारण, जब तक कोई अपने सिद्धान्तों को लेकर अपनेको अंत तक सफलतापूर्वक अटल न साबित कर दे तब तक शेखी बघारना बेकार ही है।

"मुझे शांति-संस्थापक के पद पर बैठाकर आपने जो गौरव दिया है उसके प्रति मैं संपूर्णतया जाग्रत हूं। यदि मेरे लिये किसी भी तरह यह संभव होता कि आप दोनों देशों के बीच ऐक्य की स्थापना कर सकूं, इस मरण-संघर्ष से आपको निष्कृति दे सकूं और 'एशिया में नवीन विश्व के पुनर्निर्माण' की सम्मिलित विराट् योजना के लिये आप दोनों को सचेष्ट देख सकूं, तब अपने प्राणों के उत्सर्ग को भी मैं गर्व के योग्य सौभाग्य मानता। किंतु केवल आपके नैतिक बोध के निकट आवेदन-मात्र जनाने के सिवाय मेरे पास और शक्ति ही कौन-सी है; और इसका आपने समुच्च कंठ से उपहास किया है। जब कि आप यह चाहते हैं कि मैं निष्पक्ष रहूं तब ऐसी प्रत्याशा भला किस तरह करते हैं कि मैं चियाङ् काई-शेक से मुक़ाबिले का मोर्चा उठा लेने के लिये निवेदन करूंगा, जब तक कि पहले आक्रमक-पक्ष ने अपना आक्रमण बंद नहीं किया है?"

इसके बाद विशेष टीका की ज़रूरत नहीं रह जाती। प्रचारकों का उद्देश्य साधु हो सकता है लेकिन जो व्यक्ति सब प्रकार के प्रचार और विज्ञापन से आजीवन अछूता रहा उसकी स्मृति के साथ हम प्रचार को युक्त नहीं देखना चाहते। देश में ऐसे "सच्चे प्रतिनिधियों" और "नेताओं" की कमी नहीं जिनका ह्वाइट-हाल में पर्याप्त मान है। तब फिर उनके महावाक्यों की जगह बेचारे कवि की उस निरीह वाणी को नाहक़ क्यों घसीटा जाता है जिसे बार-बार ठुकराने में संसार के वर्तमान उद्धारकर्त्ताओं ने कभी ज़रा-सा भी संकोच नहीं अनुभव किया!

—कृष्ण कृपालानी

विश्वभारतीपत्रिका

श्रावण, २००० खण्ड २, अंक ३ जुलाई, १९४३

शिक्षा-विधि

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

यहां आते समय मेरे मन में एक संकल्प था। वह यह कि यहां के विद्यालयों को भली भांति देख-सुनकर समझ लूंगा—यहां की शिक्षा संबंधी कोई व्यवस्था अपने देश के काम आ सकती है या नहीं, यह देख जाऊंगा। थोड़ा बहुत देख चुका हूं और पत्र-पत्रिकाओं में यहां की शिक्षा-प्रणाली के संबंध में कुछ विचारों को भी पढ़ चुका हूं। परीक्षा नाना प्रकार से चल रही है, और प्रणालियां भी नाना ढंग की उद्भावित हो रही हैं। एक दल का कहना है कि बच्चों की शिक्षा यथासंभव सुखकर होनी चाहिए और एक दूसरा दल कहता है कि बच्चों की शिक्षा में यदि पर्याप्त मात्रा में दुःख का परिमाण न रहेगा तो उन्हें संसार के लिये पक्का मनुष्य नहीं बनाया जा सकेगा; एकदल कहता है कि आंख और कान से, भाव और आभास से, शिक्षणीय विषयों को प्रकृति में सोख लेना ही उत्कृष्ट व्यवस्था है और दूसरा दल कहता है कि प्रयत्न-पूर्वक अपनी शक्ति का प्रयोग करके साधना के द्वारा विषयों को आयत्त कर लेना ही यथार्थ फलदायक है। असल बात यह है कि यह द्वन्द्व कभी नहीं मिटने का—क्योंकि मनुष्य की प्रकृति में ही यह द्वंद्व सत्य है; सुख भी उसे शिक्षा देता है और दुःख भी, शासन न हो तो भी उसका काम नहीं चलता और स्वाधीनता न हो तो भी उसकी रक्षा नहीं; एक तरफ़ उसके लिये पड़ी-पाई वस्तुओं का प्रवेश-द्वार खुला हुआ है और दूसरी तरफ़ कमाकर लाई हुई चीज़ों के आने जाने का मार्ग उन्मुक्त है। यह कहना सहज है कि दोनों के बीच के मार्ग को पक्का करके चिन्हित कर लो, किन्तु व्यवहार में यह असाध्य है। क्योंकि जीवन की गति कभी भी सीधी रेखा में नहीं चलती—भीतर और बाहर की नाना बाधाओं से और नाना तकाज़ों पर वह नदी

की भांति ढेढ़ी मेढ़ी चलती है, नहर के समान सीधी पड़ी नहीं रहती, इसीलिये उसके बीच की रेखा सीधी रेखा नहीं है, उसे बराबर स्थान परिवर्तन करना पड़ता है। इस समय जो लकीर उसके ठीक बीचोबीच की रेखा जान पड़ती है, दूसरे समय वही उसके अन्तिम किनारे की रेखा हो सकती है ; फिर एक जाति के लिये जो मध्यमार्ग है यही दूसरी जाति के लिये प्रान्तपथ हो सकता है। नाना अनिवार्य कारणों से मनुष्य के इतिहास में कभी युद्ध आता है, कभी शान्ति आती है, कभी धन-संपत्ति का ज्वार आता है, कभी उसका भाटा उपस्थित होता है, कभी वह अपनी शक्ति से उन्मत्त हो उठता है और कभी अपनी असमर्थता से अभिभूत हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य जब एक तरफ़ झुक पड़ रहा हो उस समय उसका दूसरी ओर प्रबल आकर्षण लगाना ही उसके लिये अच्छी शिक्षा है। मनुष्य की प्रकृति जब सबल भाव से सजीव होती है तब उसके अपने भीतर से ही एक सहज शक्ति के द्वारा वह अपने भार-सामंजस्य का रास्ता चुन लेती है। जिस मनुष्य को अपने शरीर पर कब्ज़ा है वह जब एक ओर से धक्का खाता है तो स्वभावतः ही दूसरी ओर सहारा लेकर अपने को सँभाल लेता है, किन्तु पिया हुआ शराबी एक धक्का खाते ही उलट पड़ता है और उसी अवस्था में पड़ा रह जाता है। यूरोप में बच्चों को मनुष्य बनाने का मार्ग अपने आप बदल रहा है। उनका चित्त नाना भाव के ज्ञान के संस्रव से जितना ही सचेत हो उठता है उतनी ही तेज़ी से उनके पथ का परिवर्तन भी होता रहता है।

इसीलिये चित्त की गति के अनुसार शिक्षा के मार्ग का निर्देश करना होता है। किन्तु चूंकि गति विचित्र है और सब लोग उसे आंखों से स्पष्ट नहीं देख पाते इसीलिये यह कभी नहीं हो सकता कि एक आदमी या एक दल इस मार्ग का दृढ़ भाव से स्पष्ट निर्देश कर दे ; अनेक लोगों के अनेक प्रयत्नों के समवाय से सहज पथ अपने आप अंकित होता रहता है। इसीलिये सभी जातियों के लिये अपनी प्रयोग-परीक्षा का रास्ता खुला रहने देना ही सत्य पथ के आविष्कार का एकमात्र रास्ता है।

किन्तु जिस देश में सामाजिक शिक्षा-शाला में बंधे रास्ते से तिनका भर इधर उधर होने पर जाति जाती है उस देश में मनुष्य होने के शुरू में ही एक ज़बर्दस्त बाधा है। सामाजिक अवस्था में परिवर्तन हो ही रहा है—परिवर्तन होगा ही—कोई उसे रोक नहीं सकता और फिर भी हम व्यवस्था को सनातन रेखा से पक्की कर लेंगे इस बिचार के समान मानव-दुर्गति और कोई हो नहीं सकती। यह कैसा है ? जैसे नदी हटती जा रही है किन्तु बंधा हुआ पक्का घाट एक ही जगह पड़ा हुआ है ; खेवे की नाव का मार्ग एक ही घाट पर निर्दिष्ट है, उसे छोड़ अन्य घाट पर नाव भिड़ाते ही धोबी-नाई बंद ! इस नीति का फल यह हुआ है कि घाट तो है लेकिन पानी नहीं है, नाव है लेकिन चलना-फिरना बंद है।

ऐसी अवस्था में हमारा समाज हमें अपने काल के उपयुक्त शिक्षा नहीं दे रहा है ; दो चार हजार वर्ष पहले के काल की शिक्षा दे रहा है। इसीलिये मनुष्य बनाने का जो सबसे बड़ा विद्यालय है वह हमारे लिये बंद है। हमारे वर्तमान की ओर देखकर हमारी जीवन-यात्रा के प्रति उसकी कोई जवाबदेही नहीं है। एक दिन एक विशेष अवस्था में हमारे समाज ने किसी-को ब्राह्मण किसीको क्षत्रिय किसीको वैश्य और किसीको शूद्र होने को कहा था। हमारे ऊपर उस समय समाज का यह कालोपयोगी दावा था, इसलिये इस दावे को लक्ष्य करके शिक्षा की व्यवस्था ने विचित्र आकार में अपने आप की स्वयं ही सृष्टि कर ली थी। क्योंकि सृष्टि का नियम ही यही है ;—एक मूल भाव का बीज जीवन के तकाज़े पर स्वयमेव अपनी शाखा-प्रशाखा फैला कर अंकुरित-पल्लवित हो जाता है—बाहर से आकर कोई उसमें शाखा-प्रशाखा जोड़ नहीं देता। हमारे वर्तमान समाज का कोई सजीव दावा नहीं है—यहां वह मनुष्य से कह रहा है, ब्राह्मण बनो। वह जो कुछ कह रहा है उसे ठीक ठीक पालन कर सकना किसी प्रकार संभव नहीं है। इसका फल यह हुआ है कि मनुष्य उसे केवल बाहर से मान लेता है। ब्रह्मण बनने के समय ब्रह्मचर्य नहीं रह गया है, सिर मुंड़ा कर तीन दिन के प्रहसन के बाद गले में जनेऊ धारण कर लेना पड़ता है। तपस्या के पवित्र जीवन की शिक्षा अब ब्राह्मण नहीं दे सकता, किन्तु पदधूलि देने के समय निस्संकोच रूप से उसके पैर सब के लिये खुले हुए हैं। इधर जातिभेद की मूल भित्ति वृत्तिभेद एकदम लोप हो गया है और फिर भी वर्णभेद के सभी बाहरी विधि-निषेध अचल हो कर जहां के तहां जमे हुए हैं। पिंजड़े को उसके सभी सलाई-सींकचों के साथ मानना पड़ रहा है हालां कि उसमें का पक्षी मर गया है। दाना-पानी हम नियत जुटा रहे हैं, हालां कि वह किसी जीवधारी की खूराक के काम में नहीं लग रहा। इसी प्रकार हमारे सामाजिक जीवन के साथ सामाजिक विधि का विच्छेद घट जाने से हम जो सिर्फ अनावश्यक काल-विरोधी व्यवस्था द्वारा बाधा पा रहे हैं इतना ही नहीं है बल्कि हम सामाजिक सत्य की रक्षा भी नहीं कर पा रहे हैं। हम मूल्य देते हैं और लेते हैं फिर भी उसके बदले में कोई सत्य वस्तु नहीं पा रहे। शिष्य गुरु को प्रणाम करके दक्षिणा चुका देता है किन्तु गुरु शिष्य का कर्जा चुका देने का कोई प्रयत्न तक नहीं करता। गुरु प्राचीन काल की भूली हुई भाषा में शिष्य को उपदेश देता है पर शिष्य में उस उपदेश को ग्रहण करने की शक्ति भी नहीं है श्रद्धा भी नहीं है, इच्छा भी नहीं है। इसका फल यह होता है कि क्रमशः हम यह विश्वास भी खोने बैठे हैं कि सत्य वस्तु का कोई प्रयोजन भी है। यह स्वीकार करने में हम ज़रा भी लज्जा नहीं अनुभव करते कि बाहर का ठाठ बनाए रखना ही काफ़ी है। यहां तक कि हमें यह कहने में भी संकोच नहीं होता कि व्यवहार में यथेच्छाचार करके भी प्रकाश्य रूप में उसे स्वीकार न करने में कोई नुकसान नहीं है। ऐसी

जिम्मेवारी मनुष्य को गरज़ से स्वीकार करनी पड़ती है। कारण यह है कि जब तुम्हारी श्रद्धा दूसरे रास्ते गई है तब भी यदि समाज कठोर शासन से आचार को एक ही जगह बांधे रखता है तो समाज के पंद्रह आने आदमी मिथ्याचार का आश्रय करने में लज्जा नहीं अनुभव करते। बात यह है कि मनुष्यों में वीरों की संख्या थोड़ी होती है;—अतएव सत्य को प्रकाश्य रूप में स्वीकार करने का दण्ड जहां असह्य रूप से अत्यधिक है वहां कपटाचार को अपराध मानने से चल नहीं सकता। इसीलिये हमारे देश में यह अद्‌भुत व्यापार प्रत्यह ही देखा जाता है कि मनुष्य किसी बात को अच्छी कहकर अनायास ही स्वीकार कर सकता है और फिर भी दूसरे ही क्षण अम्लान-बदन बना रहकर कह सकता है कि सामाजिक व्यवहार में मैं इसे पालन नहीं कर सकूंगा। हम भी जब सोचकर देखते हैं कि इस समाज में अपने सत्य-विचार को कार्य रूप में परिणत करने का महसूल कितना अधिक है तो इस मिथ्याचार को क्षमा कर देते हैं।

अतएव समाज को जहां जीवनप्रवाह के साथ अपने स्वास्थ्यकर सामंजस्य का पथ एकदम खुला नहीं रखा और इसीलिये पुराकाल की व्यवस्था जहां पद-पद पर बाधा स्वरूप हो कर उसे बद्ध कर रही है, वहां मनुष्य की जो शिक्षाशाला सबसे अधिक स्वाभाविक और प्रशस्त है, वह हमारे लिये नहीं है सो बात नहीं है, वह उसकी अपेक्षा भयंकर है। वह है और फिर भी नहीं है; इसीलिये वह सत्य के लिये रास्ता नहीं छोड़ देती और मिथ्या को जमा कर रखती है। यह समाज गति को एकदम स्वीकार नहीं करना चाहता और इसीलिये स्थितिको कलुषित कर देता है।

सामाजिक विद्यालय की तो यही बद्ध दशा है, इसके बाद है राजकीय विद्यालय। वह भी एक भारी-भरकम सांचे-में-ढला कारबार है। देश की समस्त शिक्षाविधि को वह एक सांचे में कड़ाई के साथ जमा देगा—यही उसकी एकमात्र चेष्टा है। कहीं देश अपनी स्वतंत्र प्रणाली अपने आप सोच न निकाले—यही उसका सबसे बड़ा डर है। देश की मानस-प्रकृति में एकच्छत्र अधिकार जमाकर वह अपना कानून चलाएगा, यही उसका उद्देश्य है। इसलिये यह बृहत् विद्या का कल क्लर्की का कल होता जा रहा है। यहां मनुष्य नोटों का कंकड़ बटोर कर डिग्रियों का बोरा भरता जा रहा है, किन्तु यह जीवन का खाद्य नहीं है। इसका गौरव केवल बोझाई का गौरव है, प्राण का गौरव नहीं।

सामाजिक विद्यालय की पुरानी जंजीर और राजकीय विद्यालय की नई जंजीर दोनों ही जितना हमारे मन को बांध रही हैं उतना मुक्ति नहीं दे रही हैं। यही हमारी एकमात्र समस्या है। नहीं तो नवीन प्रणाली से इतिहास का रटाना कितना सहज हुआ है या हिसाब का लगाना कितना मनोरम हुआ है इन बातों को मैं विशेष आदर देना नहीं चाहता। क्योंकि मैं जानता हूं, जब हम प्रणाली को खोजते हैं तो एक असाध्य और सस्ते रास्ते को खोजते हैं। सोचते

हैं, जब उपयुक्त मनुष्य को नियमित भाव से पाना कठिन है तो बंधी प्रणाली से उस अभाव को पूर्ण किया जा सकता है या नहीं। मनुष्य बार बार यही चेष्टा करके बार बार अकृतकार्य हुआ है और विपत्ति में पड़ा है। घूम-फिर कर हम जैसे भी क्यों न चलें अन्त में चलकर इस अलंध्य सत्य तक आकर रुकना ही पड़ता है कि, शिक्षक के द्वारा ही शिक्षा दी जा सकती है, प्रणाली के द्वारा नहीं। मनुष्य का मन चलनशील है और चलनशील मन ही उसे समझ सकता है। इस देश में पुराकाल से लेकर आज तक एक-एक महाशिक्षक उत्पन्न होते रहे हैं; इन्हीं लोगों ने ही भगीरथ के समान शिक्षा के पुण्य-स्रोत को आकर्षण करके संसार के पाप-भार को हल्का किया है और मृत्यु की जड़ता दूर की है। इन लोगों ने ही शिक्षा-संबंधी समस्त बाधा-विधानों भीतर से छात्रों के मन में प्राण का प्रवाह संचारित किया है। हमारे देश में भी अंग्रेज़ी शिक्षा के आरंभ के दिनों को स्मरण करो। डिरोजियो, कैप्टेन रिचार्डसन, डेविड हेयर ये लोग शिक्षक थे, शिक्षा के साँचे नहीं थे और न नोटों के वाहन थे। उन दिनों विश्व-विद्यालय का व्यूह इस भयंकर ढंग से पक्का नहीं था, उन दिनों उसमें हवा और प्रकाश के प्रवेश का उपाय था ;—उस समय नियमों के दरार में से शिक्षक अपना आसन बिछा लेने की जगह निकाल लेते थे।

जैसे भी हो, हमारे देश में विद्या के क्षेत्र को चहारदीवारी से मुक्त करना ही होगा। राजनीतिक आन्दोलन आदि बाह्य पंथा अवलंबन करके अपने प्रयत्नों को विक्षिप्त करके हम कोई विशेष फल नहीं पा रहे। उस शक्ति और उद्यम को सफलता के मार्ग में प्रवाहित करके स्वाधीनभाव से देश को शिक्षादान का भार हमें खुद लेना होगा। देश के कार्य में जो लोग आत्म-समर्पण करना चाहते हैं उनका सबसे प्रधान काम यही है। नाना शिक्षकों की नाना प्रयोग-परीक्षाओं के भीतर से अपने देश की शिक्षा के स्रोत को चालू कर लेने पर ही वह अपने देश की स्वाभाविक सामग्री हो सकेगी। तभी हम स्थानस्थान और क्षणक्षण पर यथार्थ शिक्षक देख सकेंगे। तभी स्वभाव के नियमों से शिक्षा की परंपरा अपने आप जाग उठेगी। 'राष्ट्रीय' नाम से चिह्नित करके हम किसी एक विशेष शिक्षापद्धति को नहीं खोज निकाल सकते। जो शिक्षा राष्ट्र के नाना व्यक्तियों की नाना चेष्टाओं द्वारा नाना भाव से चालित हो रही हो उसे ही हम राष्ट्रीय कह सकते हैं। अपने राष्ट्रीय शासन द्वारा ही हो या विदेशी शासन द्वारा ही हो जब कोई एक विशेष शिक्षाविधि सारे देश को किसी एक ध्रुव आदर्श में बांध देना चाहे तो उसे हम जातीय या राष्ट्रीय नहीं कह सकते—वह सांप्रदायिक होगी और इस लिये राष्ट्र के लिये घातक सिद्ध होगी।

शिक्षा के संबंध में एक बड़े सत्य को हमने सीखा था। हमने जाना था कि आदमी

आदमी के पास से सीख सकता है ; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जल से जलाशय पूर्ण होता है, दीपशिखा से शिखा जल उठती है और प्राण के द्वारा से प्राण संचारित होता है। मनुष्य को काट छांट देने से वह मनुष्य नहीं रह जाता—उस समय वह आफिस अदालत या कल-कारखाने की सामग्री बन जाता है, उसी हालत में वह मनुष्य न होकर मास्टर साहब बनना चाहता है ; उसी हालत में वह प्राण-दान करने के अयोग्य हो जाता है, सिर्फ पाठ-दान करने लगता है—सबक रटाने का उस्ताद हो जाता है। गुरु और शिष्य के परिपूर्ण आत्मीयता के संबंध के भीतर से ही शिक्षा-कर्म सजीव देह में रक्तस्रोत की भांति चला कर सकता है। क्योंकि शिशुओं के पालन और शिक्षण का यथार्थ भार पितामाता पर है। किन्तु पितामाता में ऐसी योग्यता या सुविधा न रहने के कारण ही अन्य उपयुक्त व्यक्ति की सहायता अत्यन्त आवश्यक हो जाती है। ऐसी अवस्था में गुरु को मातापिता हुए विना काम नहीं चल सकता। जीवन की सर्वश्रेष्ठ वस्तु को हम पैसा देकर खरीद नहीं सकते या आंशिक भाव से ग्रहण नहीं कर सकते ; उसे हम स्नेह, प्रेम और भुक्ति से ही आत्मसात् कर सकते हैं ; यही मनुष्य के पाकयंन्त्र का जारक रस है,—इसीकी सहायता से मानसिक भोजन हमारा होता है, यही जैव सामग्री को जीवन के साथ मिला सकता है। वर्तमान युग में हमारे देश में इसी प्रकार के गुरु का जीवन ही सब से अधिक आवश्यक हो पड़ा है। शिशु अवस्था में निर्जीव शिक्षा जैसा भयंकर भार और कुछ भी नहीं है,—वह मन को जितना कुछ देती है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वस्तु पीसकर बाहर निकाल लेती है। हम अपनी समाज-व्यवस्था में उसी गुरु को खोज रहे हैं जो हमारे जीवन में गति ले आ देंगे ; और अपनी शिक्षा-व्यवस्था में उस गुरु को खोजते हैं जो हमारे चित्त के गति पथ को बाधामुक्त कर देंगे। जैसे भी हो, हम सब तरफ से आदमी को चाहते हैं, उसके बदले में प्रणाली की बड़ी निगलवा कर कोई भी वैद्यराज हमारी रक्षा नहीं कर सकेंगे।

(चैलफोर्ड से संवत् १९६९ में लिखा हुआ एक पत्र)

वेद का अर्थानुचिन्तन

बलदेव उपाध्याय

कालक्रम से अत्यन्त अतीत कालमें निर्मित किसी ग्रन्थ का आशय पिछली पीढ़ियों के लिये समझना एक अतीव दुरूह व्यापार है। यदि प्राचीनता के साथ भावों की गहराई तथा भाषा की कठिनाई आ जाती है, तो यह समस्या और भी विषम बन जाती है। वेदों के अर्थानुशीलन के विषय में यह कथन अतीव उपयुक्त ठहरता है। एक तो वे स्वयं किसी धुँधले अतीत काल की कृति ठहरे, तिस पर भाषा की विषमता तथा विचारधारा की गभीरता ने अपना सिक्का जमा रखा है। फल यह हुआ कि उनके अर्थ का उचित मात्रा में पर्यालोचन करना, उनके अन्तस्तल तक पहुँचकर उनके मर्म की गवेषणा करना, एक दुर्बोध पहेली बन गई है। परन्तु इस पहेली के समझाने का प्रशंसनीय उद्योग प्राचीनकाल से ही चला आ रहा है। यास्क ने निरुक्त (१।२०।२) में इस उद्योग का तनिक आभास भी दिया है। उनके कथनानुसार ऋषि लोगों ने विशिष्ट तपस्या के बल पर धर्म का साक्षात्कार किया था। उन्होंने जब अर्वाचीन काल में धर्म को साक्षात्कार न करने वाले ऋषिजनों को देखा, तो उनके हृदय में नैसर्गिक करुणा जाग पड़ी और इन्हें मन्त्रों का उपदेश ग्रन्थतः तथा अर्थतः दोनों प्रकार से किया। प्राचीन ऋषियों ने श्रवण के बिना ही धर्मों का साक्षात् दर्शन किया था। अतः द्रष्टा होने के कारण उनका 'ऋषित्व' स्वतःसिद्ध था। परन्तु पिछले ऋषियों ने पहले मन्त्रों का ग्रन्थ तथा अर्थरूपसे श्रवण किया और इसके पश्चात् वे धर्मों के दर्शन में कृतकार्य हुए। अतः श्रवणान्तर दर्शन की योग्यता सम्पादित करने के कारण इनका उपयुक्त अभिधान 'श्रुतर्षि' रखा गया।[१] इन्हीं श्रुतर्षियों ने मानवों के कल्याणार्थ वेदार्थ समझने के उपयोगी शिक्षा निरुक्तादि वेदाङ्गों की रचना की। इस प्रकार अर्वाचीनकाल के मनुष्य दुरूहता का दोषारोपण कर वेदार्थ को भूल न जाँय, और न वे वेद-मूलक आचार तथा धर्म से मुँह मोड़ बैठें इस उन्नत भावना से प्रेरित होकर प्राचीन ऋषिगण वेदार्थ के उपदेश करने में सन्तत जागरूक थे। यास्क के शब्द ये हैं—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदाङ्गानि च ॥

---

१ अवरेभ्यः अवरकालीनेभ्यः शक्तिहीनेभ्यः श्रुतर्षिभ्यः। तेषां हि श्रुत्वा ततः पश्चादृषित्वमुपजायते, न यथा पूर्वेषां साक्षात्कृतधर्माणां श्रवणमन्तरेणैव ॥ —दुर्गाचार्य।

वेदों के गम्भीर अर्थ समझाने का प्रथम उद्योग कौन-सा है, यह कहना ज़रा मुश्किल है। आज कल उपलब्ध यास्क-विरचित निरुक्त से भी प्राचीन 'निघण्टु' है जिस की विस्तृत व्याख्या 'निरुक्त' में की गई है। निघण्टु शब्द का अर्थ है शब्दों की सूची। निघण्टु में संहिताओं के कठिन अथच सन्दिग्धार्थ शब्दों को एकत्र कर उनके अर्थ की सूचना दी गई है। उपलब्ध ग्रन्थों में 'निघण्टु' वेदार्थ के स्फुटीकरण का प्रथम प्रयास-सा लक्षित होता है। प्रातिशाख्यों की रचना इसी समय या इससे भी पहले की मानी जा सकती है। इन ग्रन्थों में वैदिक भाषा के विचित्र पदों स्वरों तथा सन्धियों के विवेचन की ओर ही ध्यान दिया गया है, साक्षात्‌रूप से पदों के अर्थ की पर्यालोचना का नितान्त अभाव है। किसी समय में विभिन्न निरुक्त ग्रन्थों की सत्ता थी और दूसरी सूचना भी अवान्तर ग्रन्थों में उद्धरणरूप से यत्र तत्र उपलब्ध भी होती है तथापि वेदार्थ की विस्तृत योजना का अधिक गौरवशाली ग्रन्थ यास्क-रचित निरुक्त ही है। इस ग्रन्थ-रत्न की परीक्षा से अनेक ज्ञातव्य विषयों का पर्याप्त पता चलता है। यास्क ने स्थल-स्थल पर आग्रायण, औपमन्यव, कात्थक्य, शाकटायन, शाकपूणि, शाकल्य आदि अनेक निरुक्ताचार्यों की तथा ऐतिहासिक, याज्ञिक, नैदान आदि अनेक विख्याताओं की वैयक्तिक तथा सामूहिक सम्मति का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है। इससे प्रतीत होता है कि वेदार्थ की अनुशीलन-परम्परा अत्यन्त प्राचीन है।

यास्क ने (निरुक्त १।१५) कौत्स नामक किसी आचार्य के मत का उल्लेख किया है। कहा नहीं जा सकता कि ये कौत्स वस्तुतः कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे या केवल पूर्वपक्ष के निमित्त कोई काल्पनिक व्यक्ति। कौत्स की सम्मति है कि मन्त्र अनर्थक हैं (अनर्थका हि मन्त्राः) इसकी पुष्टि में उन्होंने अनेक युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं जिन्हें चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि वेद-निन्दकों ने भी अवान्तर काल में ग्रहण किया है। इन युक्तियों की परीक्षा आवश्यक है :—

(१) मन्त्रों के पद नियत हैं तथा शब्दक्रम भी नियत हैं। सामवेद का प्रथम मन्त्र है— अग्न आयाहि वीतये। इनमें पदों को समानार्थक शब्दों से परिवर्तन कर 'वह्ने आगच्छ पानाय' नहीं कह सकते। आनुपूर्वी (आगे-पीछे क्रम) भी नियत है। मन्त्रमें 'अग्न आयाहि' को बदल कर 'आयाह्यग्ने' नहीं कर सकते। इस नियतवाचोयुक्ति तथा नियतानुपूर्वी का क्या मतलब है? यदि मन्त्र सार्थक होते, तो सार्थक वाक्यों की शैली पर पदों का तथा पदक्रम का परिवर्तन सर्वथा न्याय्य होता।

(२) ब्राह्मण-वाक्यों के द्वारा मन्त्रों का विनियोग विशेष अनुष्ठानों में किया जाता है। यथा उरुप्रथस्व (शु० य० १।२२) इस मन्त्र को प्रथन कर्म—विस्तार कार्य में शतपथ ब्राह्मण (१।३।६।८) विनियोग करता है। यदि मन्त्रों में अर्थद्योतन की शक्ति रहती, तो स्वतः सिद्ध अर्थ को ब्राह्मण के द्वारा विनियोग दिखलाने की क्या जरूरत होती।

(३) मन्त्रों का अर्थ अनुपपन्न है अर्थात् उपपत्ति या युक्ति के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। यजमान कह रहा है ओषधे त्रायस्व एनम् (ऐ ओषधि, तू वृक्ष की रक्षाकर)। भला निर्जीव ओषधि जो अपनी रक्षा में भी समर्थ नहीं है वह वृक्ष की रक्षा क्योंकर कर सकती है? यजमान स्वयं परशु का प्रहार वृक्ष पर कर रहा है, परन्तु परशु से कह रहा है कि परशु, तू इसे न मार (स्वधिते मैनं हिंसीः)। वह मतवाला ही होगा जो मार तो स्वयं रहा है और न मारने की प्रार्थना कर रहा है! (अनुपपन्नार्था मन्त्रा भवन्ति)।

(४) वैदिक मन्त्रों में परस्पर विरोध भी दृष्टिगोचर होता है। रुद्र के विषय में एक मन्त्र पुकार कर कह रहा है—एक एव रुद्रोऽवतस्थे, न द्वितीयः [तैत्ति० सं० १।८।६।१] (रुद्र एक ही हैं, दूसरे नहीं), उधर दूसरा मन्त्र उनकी अनेकता का वर्णन डंके की चोट कर रहा है—असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् (तै० सं० ४।५।११।५) अर्थात् पृथ्वी पर रुद्र असंख्य हजारों की संख्या में हैं। इस प्रकार एकता और अनेकता के झमेले में किसी तथ्य का निर्णय नहीं हो सकता (विप्रतिषिद्धार्था मन्त्राः)।

(५) वैदिक मन्त्रों में अर्थज्ञ पुरुष को कार्यविशेष के अनुष्ठान के वास्ते सम्प्रेषण—(आज्ञा) दिया जाता है। जैसे होता से कहा जाता है—अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि (श० ब्रा० १।३।२।३) अर्थात् जलनेवाली अग्नि के लिए बोलो। होता अपने कर्तव्य कर्म से स्वतः परिचित होता है कि अमुक यज्ञ में अमुक कार्य का विधान उसे करना है। ऐसी दशा में संप्रेषण की उक्ति अनर्थक है।

(६) मन्त्रों में एकही पदार्थ को अनेक रूपों में बतलाया गया है। यथा अदिति ही समस्त जगत् है। अदिति ही आकाश है। अदिति ही अन्तरिक्ष है (अदितिर्द्यौरदिति रन्तरिक्षम् ... ... ऋ० सं० १।८९।१०)। छोटा बच्चा भी जानता है कि आकाश और अन्तरिक्ष भिन्न देशवाची होने से आपस में अलग अलग हैं। ऐसी दशा में अदिति के साथ इन दोनों की समानता बतलाना कहाँ तक उपयुक्त है?

(७) मन्त्रों के पदों का अर्थ स्पष्टरूपेण प्रतीत नहीं होता (अविस्पष्टार्था मन्त्राः) जैसे अम्यक् (ऋ० १।१६९।३), यादृस्मिन् (ऋ० ५।४४।८), जारयायि, (ऋ० ६।१२।४) काणुका (ऋ० ८।७७।४), जर्भरी, तुर्फरी (ऋ० १०।१०६।६) आदिशब्दों का अर्थ साफ़ तौर से मालूम नहीं होता। कौत्स का यही समारोहपूर्ण पूर्वपक्ष है। इस पक्ष का खण्डन यास्क ने बड़ी सच्ची युक्तियों के सहारे किया है। यास्क का मुख्य सिद्धान्त है कि जितने शब्द हैं वे अर्थवान् होते हैं। लोकभाषा में यही नियम सर्वत्र काम करता है। वैदिक मन्त्रों के शब्द भी लोकभाषा के शब्द से भिन्न नहीं हैं। सुतरां लौकिक शब्दों के समान वैदिक शब्दों का भी

अर्थ होना ही चाहिए (अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्)। अनन्तर कौत्स के पूर्वपक्ष का क्रमशः खण्डन इस प्रकार है :—

(१) लौकिक भाषा में भी पदों का नियत प्रयोग तथा पद-क्रम का नियत रूप दृष्टि-गोचर होता है। जैसे इन्द्राग्नी और पितापुत्रौ। इन प्रयोगों में न तो शब्द ही बदले जाते हैं और न इनका क्रम छिन्नभिन्न किया जा सकता है। ऐसा नियमन होने पर भी इनकी सार्थकता बनी ही रहती है।

(२) ब्राह्मणों में मन्त्रों का विनियोग-विधान उदितानुवादमात्र है अर्थात् मन्त्रों में जिस अर्थ का प्रतिपादन अभीष्ट है उसीका केवल अनुवाद ब्राह्मण-वाक्यों के द्वारा किया जाता है।

(३) वैदिकमन्त्रों का अर्थ अनुपपन्न नहीं है। परशु प्रहार करते समय भी जो अहिंसा कही गई है वह वेद के द्वारा सिद्ध है। परशु के द्वारा वृक्ष का छेदन आपाततः हिंसा का सूचक अवश्य है, परन्तु वेद से ज्ञात होता है कि परशु-छेदन वस्तुतः हिंसा नहीं है। विधिपूर्वक किसी शाखा का यज्ञ के लिये छेदन करना अनुग्रह है, हिंसा नहीं।

(४) रुद्र की एकता तथा अनेकता के उल्लेख करनेवाले मन्त्रों में पारस्परिक विरोध नहीं है, क्योंकि महाभाग्यशाली देवता की यही महिमा है कि वह एक होते हुए भी अनेक विभूतियों में वर्तमान रहता है। इन्द्र को अशत्रु तथा शत्रुविजेता मानने में भी कोई विरोध नहीं है। यह वर्णन रूपक-कल्पना पर अवलम्बित है। लोक में भी शत्रुसम्पन्न होने पर भी राजा शत्रुहीन बतलाया जाता है।

(५) अनुष्ठान से परिचित व्यक्ति को भी दी गई आज्ञा (सम्प्रेषणा) व्यर्थ नहीं मानी जा सकती, क्योंकि विशिष्ट अतिथि के आगमन पर मधुपर्क का देना सबको विदित है, परन्तु फिर भी लोक व्यवहार में विधिज्ञ पुरुष से तीन बार मधुपर्क मांगने की चाल है। ऐसी दशा में ब्राह्मणग्रन्थों का सम्प्रेषण निरर्थक नहीं।

(६) अदिति को सर्वरूपात्मक बतलाने का अभिप्राय उसकी महत्ता दिखलाने में है। भक्तिभाव से प्रेरित होकर भक्त अदिति से कह रहा है कि जगत् के समस्त पदार्थ तुम ही हो।

(७) मन्त्रों का अर्थ यदि स्पष्टरूपेण ज्ञात नहीं होता, तो उसके जानने का उद्योग करना चाहिए। निरुक्तग्रन्थ में शब्दों को धातुओं के साथ सम्बन्ध स्थापित कर अर्थ विधान की सुचारु व्यवस्था की गई है। अपना दोष दूसरों के मत्थे मढ़ना कहां तक ठीक है। यदि सामने खड़े वृक्ष को अन्धा नहीं देखता, तो इसमें बेचारे गरीब पेड़ का कौन-सा अपराध है? यह तो पुरुष का अपराध है (नैष स्थणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति)। इसी प्रकार अर्थ-विवेचक शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए, उपयोगी ग्रन्थों के अभ्यास बिना

किए मन्त्रों पर अनर्थक होने का दोषारोप करना कहां तक औचित्यपूर्ण है ? 'अम्यक्' का अर्थ है प्राप्नोति (पहुंचता है), 'यादृस्मिन्' का यादृशो (जिस प्रकार का), 'जर्भरी' का अर्थ है भर्तारौ (भरण करनेवाले) तुर्फरी का अर्थ है हन्तारौ (मारनेवाला)१

२

वैदिक मन्त्रों का अर्थ नितान्त गूढ़ है। उनके समझने के लिये आर्ष दृष्टि चाहिए या ऋषि-प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण। मन्त्रों के शब्दों में व्याकरण-सम्बन्धी सरलता होने पर भी उनके द्वारा अभिधेय अर्थ का पता लगाना नितान्त दुरूह व्यापार है। गूढ़ार्थता के लिये इस मन्त्र के रहस्यवाद की ओर दृष्टिपात किया जाय।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आ विवेश ॥ (ऋ० ४।५८।३)

इस मन्त्र का सीधा अर्थ है—चार इसकी सींगें हैं, तीन पैर हैं, दो सिर, सात हाथ। तीन प्रकार से बाँधा गया यह वृषभ (बैल तथा अभीष्ट वस्तुओं की वर्षा करनेवाला) ज़ोर से चिल्ला रहा है। महादेव ने मरणशील वस्तुओं में प्रवेश किया। परन्तु प्रश्न है कि विचित्र वेषधारी महादेव वृषभ है कौन ? यास्क ने इस रहस्योद्घाटन की कुञ्जी हमारे लिये तैयार कर दी है। किसीके मत से यह 'महादेव यज्ञ है। चारों वेद इसकी चार सींगें हैं, तीनों पैर तीन सवन (सोमरस निकालने के प्रातः, मध्याह्न तथा सायं तीन काल) हैं ; दो सिर हैं प्रायणीय तथा उदयनीय नामक हवन ; सातों हाथ हैं सातों छन्द। यह यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण तथा कल्प के द्वारा त्रिधा बद्ध है। इस प्रकार यज्ञरूपी महादेव ने यजन के लिये मनुष्यों में प्रवेश किया है (निरुक्त १३।७)। दूसरोंका मत है कि यह महादेव सूर्य है जिसकी चारों दिशाएँ चार सींगें हैं, तीनों पैर तीन वेद हैं, दो सिर हैं रात और दिन ; सात हाथ हैं सात प्रकार की किरणें। सूर्य, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से सम्बद्ध हैं अथवा ग्रीष्म, वर्षा, शीत इन तीन ऋतुओं का उत्पादक है। अतः वह 'त्रिधा बद्धः' मन्त्र में कहा गया है। पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में इस मन्त्र की शब्द-परक व्याख्या की है। उनकी सम्मति में यह महादेव शब्द है, क्योंकि उसकी चार सींगें चार प्रकार के शब्द हैं (नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात) ; भूत, वर्तमान,

१. जैमिनि ने मीमांसा सूत्रों में (१।२।३१—५३) बड़े ऊहापोह के साथ इसी प्रकार मन्त्रों की सार्थकता प्रदर्शित की है। सायणाचार्य ने ऋग्वेद भाष्य के उपोद्घात में इस विषय का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है।

भविष्य ये तीनों काल तीन पैर हैं। दो सिर हैं दो प्रकार की भाषाएँ—नित्य तथा कार्य। सातों हाथ हैं प्रथमादि सातों विभक्तियां। शब्द का उच्चारण तीन स्थानों—हृदय, गला और मुख से होता है। अतः वह तीन प्रकार से बद्ध भी है। अर्थ की वृष्टि करने से शब्द वृषभ पदवाच्य है। (४) राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में इस मन्त्र की व्याख्या काव्यपुरुष की स्तुति के विषय में किया है। सायण भाष्य में इनसे अतिरिक्त अर्थों का वर्णन किया गया है। इनमें से प्रत्येक अर्थ परम्परा पर अवलम्बित होने के कारण माननीय तथा आदरणीय हैं। मन्त्रों के गूढ़ार्थ की यही विशेषता है कि उनका अर्थ भिन्न भिन्न प्रकार से किया जा सकता है। यास्क ने इस प्रसङ्ग में आधे दर्जन मतों की चर्चा की है जिनमें वैयाकरण, परिव्राजक, ऐतिहासिक तथा याज्ञिक आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न पन्थों के समर्थक आचार्यों के मतों को भी यथास्थान उल्लेख किया है। परम्परामूलक होने के कारण इन आचार्यों के कथनों पर हम अप्रामाणिकता का लाञ्छन लगाकर उन्हें हँसी-खेल में उड़ा नहीं सकते।

तो इन गम्भीरार्थवाचक मन्त्रों की व्याख्या करने का कौन-सा साधन हमारे पास है? किस प्रकार ये मन्त्र अभीष्ट अर्थ को प्रतिपादन कर सकते हैं? यास्क का इस प्रश्न का उत्तर बहुत उपादेय, उल्लेखनीय तथा विवेचनीय है। निरुक्तपरिशिष्ट (१३।११) में उनका स्पष्ट कथन है—मन्त्रों का विचार परम्परागत अर्थ के श्रवण और तर्क से निरूपित किया जा सकता है। मन्त्रों की व्याख्या अलग अलग न करनी चाहिए, बल्कि प्रकरण के अनुरूप होनी चाहिए। जो मनुष्य न तो ऋषि है, न तपस्वी है, वह वेद के अर्थ का साक्षात्कार नहीं कर सकता। [अयं मन्त्राभ्यूहो ऽभ्यूहोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतः। न तु प्रकरणेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः। न ह्येषु प्रत्यक्षमस्ति अनृषेः अतपसो वा (नि० १३।११)] यास्क ने इस प्रकार सबसे अधिक महत्त्व श्रुति—आचार्य मुख से परम्परा से सुना गया अर्थ या इस प्रकार के ज्ञान के संग्रह ग्रन्थ (ब्राह्मण)—को दिया है। परम्परा के अतिरिक्त इन गूढ़ार्थक ग्रन्थों का रहस्य किस प्रकार जाना जा सकता है? मन्त्रद्रष्टा ऋषिओं के द्वारा उपदिष्ट अर्थ की परम्परा को जाननेवाला व्यक्ति ही मन्त्र की अर्थ-विवेचना में सर्वथा कृतकार्य हो सकता है। यास्क का इस परम्परा के लिये विशेष अभिधान है—पारोवर्य। परन्तु इस परम्परा को विशिष्ट विद्याओं के अनुशीलन से परिपुष्ट करने की आवश्यकता होती है। इसीलिये सम्प्रदायवेत्ता पुरुषों में भी अनेक विद्याओं के ज्ञाता पुरुष का दर्जा कहीं अधिक बढ़कर होता है (पारोवर्यवित्सु च खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति—(निरुक्त १।१६)। दूसरा साधन तर्क है। तर्क की भी महिमा महनीय है। यास्क के द्वारा उद्धृत एक प्राचीन ब्राह्मण का कथन है कि ऋषियों के स्वर्गगमन के अवसर पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा कि अब हमारा ऋषि कौन होगा?

तब देवताओं ने मन्त्रार्थ-चिन्तन के वास्ते तर्क को ही ऋषि बनाकर दे दिया। अतः तर्क की भी गरिमा माननीय है। मीमांसा की गणना तर्क के भीतर की जा सकती है। मीमांसा का कार्य वेदार्थ-चिन्तन ही है। प्रायः वैदिक कर्मकलापों के अनुष्ठान में परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होता है। इन आपाततः विरोधी अंशों में विरोध का परिहार कर एकवाक्यता दिखलाना मीमांसा की विशेषता है। अतः वेदों के रहस्य जानने के लिये मीमांसा का उपयोग यथार्थ है। तीसरा साधनतप है। तप से अभिप्राय गाढ़ चिन्तन, गम्भीर ध्यान तथा मनन प्रतीत होता है। इन साधनों से युक्त पुरुष ही मन्त्रों का यथार्थ अर्थ निरूपण कर सकता है। वेदाङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण आदि—की भी उपयोगिता वैदिक मन्त्र के अनुशीलन के वास्ते ही है। इनके अतिरिक्त इतिहास-पुराण से भी सहायता अपेक्षित है, इनका आधार वेद ही है। इनमें सुरक्षित परम्परागत सिद्धान्त की सहायता से वेद का मौलिक अर्थ भली भांति जाना जा सकता है। इसी कारण महाभारत इतिहास-पुराण को वेदार्थ के उपबृंहण का साधन स्वीकार करता है—

> इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्
> बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

२

इस कसौटी पर कसने से भारतीय वेदभाष्यकारों—स्कन्दस्वामी, सायणाचार्य आदि—के भाष्य बिल्कुल खरे उतरते हैं। उन्होंने आवश्यक समग्र सामग्री का उपयोग बड़ी विवेचक बुद्धि के साथ किया है। निरुक्तकार ने शब्दों की जो व्याख्याएँ प्रस्तुत कर दी हैं उनका उपयोग समस्त पिछले भाष्यकारों ने किया है। यह भी याद रखने की बात है कि निरुक्त की व्याख्याएँ ब्राह्मणग्रन्थों में अधिकतर हू-ब-हू पाई जाती हैं। इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में जिस वेदार्थ का उद्घाटन किया गया उपलब्ध होता है उसीका अनुसरण भाष्यकारों के भाष्यों में हम पाते हैं। वेदार्थानुशीलन का सम्प्रदाय अविच्छिन्नरूप से चलता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि यास्क ने वैदिक मन्त्रों का जो अर्थ किया है, उसीका अनुसरण हम भिन्न-भिन्न शताब्दियों में होनेवाले स्कन्दस्वामी, माधवभट्ट तथा सायण के व्याख्यानों में पाते हैं। निरुक्त के अतिरिक्त वेदाङ्ग, मीमांसा, इतिहास तथा पुराणों से आवश्यक सामग्री को ग्रहणकर इन व्याख्याताओं ने अपने व्याख्यानों को परिपुष्ट किया है। इस प्रकार वेदार्थ-चिन्तन की वही पद्धति हमें माननीय है जो सायण आदि भाष्यकर्ताओं के ग्रन्थों में हमें मिलती है।

यूरोपियन विद्वानों के द्वारा उद्भावित ऐतिहासिक पद्धति का रहस्य समझ लेना यहाँ

अनुचित न होगा। इन विद्वानों के आद्य आचार्य शर्मण्यदेशीय डा० राथ महोदय हैं जिनका स्पष्ट कथन है कि तुलनात्मक भाषाशास्त्र आदि उपादानों की सहायता से एक विदेशी यूरोपियन वेद का अर्थ जितना समझ सकता है उतना भारतीय टीकाकार कभी भी नहीं समझ सकता। अधिकांश पाश्चात्य वैदिक स्कालर इसी मत के अनुयायी है। वे सायणके भाष्यों की कौन कहे, यास्क की व्याख्याओं की भी हँसी उड़ाने में तनिक भी नहीं चूकते। उन्होंने अपनी विचित्र धारणा बना रखी है कि भारतीय परम्परा का लोप बहुत पहले हो चुका है ; अतः वैदिक मन्त्रों के समझने के लिये ईरान, असीरिया, यूनान, लिथुएनिया आदि विदेशी जातियों के रहन-सहन, आचार-विचार की सहायता नितान्त उपयुक्त है। भाषाशास्त्र आदि उपयोगी शास्त्रों की अवहेलनाके हम पक्षपाती नहीं है, परन्तु यह भी भुलाना नहीं चाहते कि वेद भारतीय ग्रन्थरत्न हैं जिनके द्वारा समग्र भारतीय हिन्दु-समाज हज़ारों वर्षों से अनुशासित होता आया है और जो इतिहास, पुराण, स्मृति आदि समग्र पिछले संस्कृत वाङ्मय का एकमात्र उपजीव्य है। ऐसी विषम परिस्थिति में इन आवश्यक उपादानों का तिरस्कार कर केवल ऐतिहासिक पद्धति को हम दोष-शून्य कैसे मान लें ? पाश्चात्यों की वैदिक साहित्य को लोकप्रिय बनाने की सेवा का हम आदर करते हैं, परन्तु उन्होंने बड़े अभिनिवेश से सायण के व्यख्यानों की जो अग्राह्यता मनमाने ढंगसे दिखलाई है वह वेदज्ञाताओं के प्रचुर उपहास का पात्र है। निष्पक्ष होकर सोचना चाहिए कि भारतीय संस्कारों से संस्कृत, भारतीय विद्याओं तथा सम्प्रदाय से नितान्त परिचित सायण की व्याख्याओं में हम आस्था रखें अथवा हिन्दु सम्प्रदाय से अनभिज्ञ, अभारतीय वायुमण्डल में शिक्षित-दीक्षित राथ, वेबर, ओल्डनबर्ग आदि पाश्चात्यों की कल्पना-प्रसूत व्याख्याओं में श्रद्धा जमावें।

परम्परा तथा भाषाविज्ञान को एक दूसरे के शोधक रूप से ग्रहण करना उपयुक्त प्रतीत होता है। कभी कभी भाषाविज्ञान की झोंक में आकर इस शास्त्र का विद्वान् मनमानी ऊटपटाँग कल्पना कर सम्भवनाओं के दलदल में बेतरह फंस जाता है। एक दो शब्दों का उदाहरण लिया जाय। ऋग्वेद में 'शिश्नदेव' शब्द दो बार (७।२१।५ ; १०।१०।९९) आया हुआ है। इस शब्द का अर्थ यास्क ने 'अब्रह्मचर्य' किया है (नि० ४।१९) जो देव शब्द के लाक्षणिक अर्थ को लेकर एकदम ठीक है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों का आग्रह है कि इस शब्द से लिङ्गपूजा करनेवाले व्यक्तियों की ओर संकेत है और इसी आधार पर वे ऋग्वेद में लिङ्गपूजा का प्रचलन मानने को कटिबद्ध हैं ! मातृदेव, पितृदेव, श्राद्धदेव के समान शिश्नदेव की गति समझना चाहिए, जहां 'देव' शब्द वाच्यार्थ में न प्रयुक्त होकर लक्ष्यार्थ में प्रयोग किया गया है। दशममण्डल का सुप्रसिद्ध मन्त्र है—कस्मै देवाय हविषा विधेम। यहां सायणादि समस्त भाष्यकार 'कस्मै' पद से प्रजापति का अर्थ ग्रहण करते हैं। साहब लोग इसे गलत बतलाकर इसका प्रश्नार्थ में प्रयोग

मानते हैं। परन्तु भारतीय परम्परा इससे विपरीत है। संहिताओं तथा ब्राह्मणों में अनेक स्थानों पर 'कः' प्रजापति तथा प्रश्न अर्थ में आता है। ब्राह्मण इसे 'अतिरिक्त' (जिसकी व्याख्या न की जा सके) बतलाते हैं। कः अर्थात् अनिर्वचनीयः। प्रजापति को न तो हम इदं रूप से जान सकते हैं न ईदृक् रूप से। अतः कथमपि निर्वचनीय न होने से प्रजापति के लिये 'किम्' शब्द का प्रयोग अत्यन्त उचित तथा युक्तियुक्त है। गृह्यसूत्रों में गर्भाधान के अवसर पर एक विधान का निर्देश है—कूर्मपित्तम् अंके निधाय जपति। जिसका प्रकाण्ड विद्वान् डा० ओल्डनवर्ग ने अक्षरशः अर्थ किया है—कूर्मस्य पित्तं कछुआ का पित्त (bile of tortoise); हालां कि इसका साम्प्रदायिक टीकाकारों के द्वारा प्रदत्त अर्थ है जलपूर्ण शराव = जलसे भरा घड़ा। प्रकरण देखकर भी कहा जा सकता है कि साहबी अर्थ अप्राकरणिक, असङ्गत तथा अभारतीय है। पुरुषसूक्त में वर्णित सहस्रशीर्षा पुरुष की वैदिक कल्पना को स्कैनडिनेविया के किसी दानव की कल्पना से तुलना करना इसी प्रकार चिन्त्य है। हर्ष का विषय है कि सायण के अर्थ के प्रति पाश्चात्यों की भी श्रद्धा बढ़ने लगी है। डा० पिशेल तथा डा० गेल्डनर ने 'वेदिशेस्तूदियन' में प्रमाणपुरःसर सायण के परम्परागत अर्थ का औचित्य स्वीकार किया है। हमारी तो यह चिर-विचारित धारणा है कि भारतीय वैदिक भाष्य के प्रकाश में ही हम वेद के अर्थ को देख सकते हैं। सायण ही वेदार्थ-चिन्तन में हमारे प्रधान पथ-प्रदर्शक हैं। उनके बिना हमें घने अन्धकार में टटोलने पर भी राह नहीं मिल सकती।

गान

[मूल लेखक—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनु०—व्यो० शा०]

दौड़ते उनके नयन हैं—

मान की धन की डगर में,

रूप के मोहक नगर में,

दल बनाकर चल पड़े हैं किए मन में कठिन पन हैं।

देखना अनजान जन को,

दृढ़ किया सब भाँति मन को,

किन्तु किसको देखना है, जानता बिलकुल न मन है !

दौड़ते उनके नयन हैं।

हृदय जब वह देखता है

देखना जो प्रेम का है ;

नयन की जल-धार में तब नियत बह जाते नयन हैं।

तुम न अब मुझको बुलाना।

मैं अरूप-रसाब्धि के उस पार को हूं चल पड़ा रे।

आज चलने के दिवस यह

अति उदास बयार रह-रह,

लग रही है पाल में इस नाव के अन्तिम किनारे।

मैं अमृत-सागर अतल में

पारहीन अपार-जल में

डुबा जाऊंगा नयन को ; आज मुझको पार जाना।

तुम न अब मुझ को बुलाना।

धर्मकीर्त्ति का दर्शन

राहुल सांकृत्यायन

(२)

दूसरे दार्शनिकों का खण्डन

धर्मकीर्त्ति ने अपने ग्रंथ प्रमाणवार्त्तिक में अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का समर्थन और प्रतिपादन ही नहीं किया है, बल्कि अपने समय तक की हिन्दू दार्शनिक प्रगति की आलोचना भी की है। जिन दार्शनिकों के ग्रंथों को सामने रखकर उन्होंने यह आलोचना की है, उनमें उद्योतकर और कुमारिल जैसे प्रमुख ब्राह्मण दार्शनिक मुख्य हैं, हमने पुनरुक्ति और ग्रंथ विस्तार के डर से उनके बारे में अलग नहीं लिखा, किन्तु यहां धर्मकीर्त्ति की आलोचना से उनके विचारों को हम जान सकते हैं।

नित्यवाद का सामान्य रूप से खण्डन

पहिले हम उन सिद्धान्तों को ले रहे हैं जिन्हें कई दार्शनिक सम्प्रदाय मानते हैं।

नित्यवाद का खण्डन—अनित्यवाद (क्षणिकवाद) का घोर पक्षपाती होने से बौद्धदर्शन नित्यवाद का जबर्दस्त विरोधी है। भारत के बाकी सारे ही दार्शनिक किसी न किसी रूप में नित्यवाद को मानते हैं, जैन और मीमांसक जैसे आत्मवादी ही नहीं चार्वाक जैसे भौतिक-वादी भी भूतके सूक्ष्मतम अवयव को क्षणिक (अनित्य) कहने के लिये तैयार नहीं थे, उसी तरह जैसे कि पिछली सदी तक के यूरोप के यांत्रिक भौतिकवादी विश्व की मूल ईंटों—परमाणुओं—को क्षणिक कहने के लिये तैयार न थे।

दिङ्नाग कहते हैं[1]—"कारण स्वयं विकार को प्राप्त होकर ही दूसरी (चीज) का कारण हो सकता है।" धर्मकीर्त्ति ने कहा—"जिसके होने के बाद जिस वस्तु का जन्म होता है, अथवा (जिसके) विकारयुक्त होने पर (दूसरी वस्तु) में विकार होता है, उसे उस (=पीछेवाली वस्तु) का कारण कहते हैं।[2]

---

१. "कारणं विकृतिं गच्छज्जायते ऽन्यस्य कारणम्।"

२. प्रमाणवार्त्तिक २।१८१-८२।

इस प्रकार कारण वही हो सकता है जिसमें विकार हो सकता है। "नित्य (वस्तु) में यह (बात) नहीं हो सकती है, अतः ईश्वर आदि (जो नित्य पदार्थ) हैं उनसे (कोई वस्तु) उत्पन्न नहीं हो सकती।"३

"जिसे अनित्य नहीं कहा जा सकता, वह किसी (चीज) का हेतु नहीं हो सकता। (नित्यवादी) विद्वान् उसे ही नित्य कहते हैं जिसका स्वभाव (स्वरूप) विनष्ट नहीं होता।"४

यह भी बतला चुके हैं कि धर्मकीर्त्ति परमार्थ सत् उसी वस्तु को मानते हैं, जो कि अर्थवाली (सार्थक) क्रिया (करने) में समर्थ हो। नित्य में विकार का सर्वथा अभाव होने से क्रिया हो ही नहीं सकती।

आत्मा, ईश्वर, इन्द्रिय आदि से अगोचर है, साथ ही वह नित्य होने के कारण निष्क्रिय भी है, इतने पर भी उनके अस्तित्व की घोषणा करना साहस-मात्र है।

आत्मवाद का खण्डन—चार्वाक और बौद्ध दर्शन को छोड़ सारे भारतीय दर्शन आत्मा को एक नित्य चेतन पदार्थ मानते हैं। बौद्ध अनात्मावादी हैं, अर्थात् आत्मा को नहीं मानते। आत्माको मानने पर भी क्षण क्षण परिवर्तनशील चेतना-प्रवाह (विज्ञान-सन्तति) एक से दूसरे शरीर में जुड़ता (प्रतिसंधि ग्रहण करता) रहता है, इसे हम पहिले बतला चुके हैं। चेतना (मन या विज्ञान) सदा कायाश्रित रहता है, जब कि एक शरीर का दूसरे शरीर से एकदम सन्निकट सम्बन्ध नहीं है, मरने वाला **क** शरीर भूलोक पर है और उसके बाद का सजीव बनने वाला **ख** शरीर मंगल लोक में है। ऐसी अवस्था में **क** शरीर को छोड़ **ख** शरीर तक पहुंचने में बीच की एक अवस्था होगी जिसमें विज्ञान को काया से बिल्कुल स्वतंत्र मानना पड़ेगा, फिर "मन कायाश्रित है" कहना गलत होगा। इसके उत्तर में बौद्ध कह सकते हैं कि हम मनको एक प्रवाह मानते हैं, प्रवाह का अर्थ निरंतर अविच्छिन्न चली जाती एक वस्तु नहीं, बल्कि हर क्षण अपने रूप से विच्छिन्न—सर्वथा नष्ट होती, तथा उसके बाद उसी तरह की किन्तु बिल्कुल नई चीजका उत्पन्न होना, और इस नष्ट उत्पत्ति··· से एक विच्छिन्न प्रवाह का जारी रहना। चेतना-प्रवाह इसी तरह का विच्छिन्न प्रवाह है, वह जीवन-रेखा सा मालूम होता है, किन्तु है वस्तुतः जीवनविन्दुओं की पांती। फिर प्रवाह को विच्छिन्न मान लेने पर "मन कायाश्रित" का मतलब मन के हर एक "विन्दु" को विना काया के नहीं रहना चाहिए। **क** शरीर (-प्रवाह) के अन्तिम और **ख** शरीर (-प्रवाह) के आदिम चित्तविन्दुओं (**क**-चित्त, **ख**-चित्त) के बीच यदि किसी **ग** चित्त-विन्दु

---

३. प्र. वा. २।१८३।

४ वही २।२०४।

को माने ही न तभी आक्षेप किया जा सकता है कि ग चित्तविन्दु काया के बिना है। इस तरह स्थिर (नित्य या चिरस्थायी) नहीं बल्कि बिजली की चमक से भी बहुत तेज गति से "आंख मिचौनी" करनेवाले चित्त-प्रवाह (अनात्म तत्त्व) को मानते हुए भी बौद्ध एक से अधिक शरीरों (शरीर-प्रवाहों) में उसका जाना सिद्ध करते हैं।

(क) **नित्य आत्मा नहीं**—आत्मा को नित्य माननेवाले वैसा मानना सबसे जरूरी इस बात के लिये समझते हैं, कि उसके बिना बंध—जन्म मरण में पड़कर दुःख भोगना—, और मोक्ष—दुःखों से छूटकर परम "सुखी" हो विचरण करना—, दोनों संभव नहीं। इसपर धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

"दुःख की उत्पत्ति में कारण (कर्म) बंध है, (किन्तु) जो नित्य है (वह निष्क्रिय है इसलिये) वह ऐसा (कारण) कैसे हो सकता है? (वस्तुतः) जिसे अनित्य (=क्षणिक) नहीं कहा जा सकता, वह किसी (चीज़) का कारण नहीं हो सकता,······नित्य उस स्व-रूप को कहते हैं, जो कि नष्ट नहीं होता। (अतः) इस लज्जाजनक दृष्टि (नित्यता के सिद्धान्त) को छोड़कर उसे (=आत्मा को) अनित्य कहो।"[१]

नित्य आत्मा का विचार (=सत्काय दृष्टि) सारी बुराइयों की जड़—
"मैं सुखी होऊँ या दुःखी नहीं होऊं—यह तृष्णा करते (पुरुष) को जो "मैं" ऐसा ख्याल (=बुद्धि) होती है, वही सहज आत्मवाद (=सत्त्वदर्शन) है। "मैं" ऐसी धारणा के बिना कोई आत्मा में स्नेह नहीं कर सकता; और आत्मा में (इस तरह के) स्नेह के बिना सुख की कामना करनेवाला बन (कोई गर्भस्थान की ओर) दौड़ नहीं सकता।"[२]

"जब तक आत्मा-सम्बन्धी प्रेम नहीं छूटता तब तक (पुरुष अपनेको) दुःखी मानता रहेगा और स्वस्थ (=चिन्तारहित) नहीं हो सकेगा। यद्यपि कोई (अपनेको) मुक्त करनेवाला नहीं है, तो भी ("मैं" "मेरा" जैसे) झूठे ख्याल (आरोप) को हटाने के लिये यत्न करना पड़ता है।"[३]

"यह (क्षणिक मन-शरीर-प्रवाह से) भिन्न आत्मा का ख्याल है, जिससे उससे उलटे स्वभाव (वस्तु की अस्थिरता आदि) में राग (=स्नेह) उत्पन्न होता है।"[४]

---

१. प्र. वा. २।२०२-२०५।
२. प्र. वा. २।२०१-२।
३. वही २।१९१-९२।
४. प्र. वा. १।१९५।

आत्मा का ख्याल (केवल) मोह है, और वही सारी बुराइयों की जड़ (=दोषों का मूल) है ।"१

"(यही) मोह **सत्काय-दृष्टि** (=नित्य आत्मा की धारणा) है, मोहमूलक ही सारे मल (=चित्तविकार) हैं ।"२

धर्म के माननेवालों के लिये भी आत्मवाद (=सत्काय दृष्टि) बुरी चीज़ है, इसे बतलाते हुए कहा है—

"जो (नित्य) आत्मा को मानता है, उसको "मैं" इस तरह का स्नेह (=राग) सदा बना रहता है, स्नेह से सुख की तृष्णा करता है, और तृष्णा दोषों को ढांक देती है। (दोषों के ढंक जाने से वह वहां गुणों को देखता है, और) गुणदर्शी तृष्णा करते हुए 'मेरा (सुख)' ऐसी (चाह करते) उस (की प्राप्ति) के लिये साधनों (=पुनर्जन्म आदि) को ग्रहण करता है । इस सत्काय-दृष्टि के कारण से जब तक आत्मा की धारणा है तब तक वह संसार (=भवसागर) में है । आत्मा (मेरा) जब है तभी पराये (-पन) का ख्याल होता है । मेरा-पराया का जब भेद (पुरुष में) आता है, तो 'लेना' 'छोड़ना' (राग, द्वेष) होता है, इन्हीं (लेने छोड़ने) से बंधे सारे दोष (ईर्ष्या आदि) पैदा होते हैं । जो नियम से आत्मा में स्नेह करता है, वह आत्मीय (सुख-साधनों) से राग रहित नहीं हो सकता ।"३

"आत्मा की धारणा सर्वथा अपने (व्यक्तित्व) में स्नेह को दृढ़ करती है । आत्मीयों के प्रति स्नेह का बीज (जब मौजूद है तो वह दोषों को) वैसे ही कायम रखेगा ।"४

"(वस्तुतः आत्मा नहीं नैरात्म्य ही है) किन्तु नैरात्म्य में जब (गलती से) आत्म-स्नेह हो गया, तो उससे (आत्म-स्नेह से जिसे कि वह आत्मीय अपने सुख आदि की चीज़ समझता है उसमें) जितना भी लाभ हो उसके अनुसार क्रियापरायण होता है । (बड़ा लाभ न होने पर छोटे लाभ को भी हासिल करने से बाज नहीं आता, जैसे) मत्तकासिनी (=मत्तगजगामिनी सुन्दरी) के न मिलने पर (कामुक पुरुष) पशु में भी कामतृप्ति करता है ।"५

इस प्रकार नित्य आत्मा युक्ति से सिद्ध नहीं है, और धर्म, परलोक मुक्ति में भी उसके मानने से बाधा ही होती है ।

---

१. प्र. वा. २।१९६ ।
२. वही २।२१३ ।
३. वही २।२१७-२२० ।
४. वही २।२३५, २३६ ।
५. वही २।२३३ ।

ईश्वर खण्डन—ईश्वरवादी ईश्वर को नित्य, और जगत् का कर्ता मानते हैं। धर्मकीर्त्ति ईश्वर के अस्तित्व को खंडन करते हुए कहते हैं—

"जैसे (स्वरूप से) वह (ईश्वर जगत् की सृष्टि के वक्त) कारण वस्तु है, वैसे ही (स्वभाव से करने से पहिले) वह अकारण भी था। (आखिर स्वरूप से एकरस होने से दोनों अवस्था में उसमें भेद नहीं हो सकता, फिर) जब वह कारण (माना गया उसी वक्त) किस (वजह) से (वैसा) माना गया (और) अकारण नहीं माना गया ?

"(कारक और अकारक दोनों अवस्थाओं में एकरस रहनेवाला ईश्वर जब कारण कहा जाता है, तो प्रश्न होता है—) राम (के शरीर) में शस्त्र के लगने से घाव और औषध के लगने से घाव भरना (देखा जाता है) ; शस्त्र और औषध क्षणिक होने से क्रिया कर सकते हैं, इसलिये उनके लिये यह सम्भव है, किन्तु यदि (नित्य अतएव निष्क्रिय ईश्वर को कारक मानते हो, तो क्रिया आदि) सम्बन्ध-रहित ठूँठ को ही क्यों न विश्व का कारण मान लेते ?

"(यदि कहो कि ईश्वर के सृष्टि के कारक होने की अवस्था में विशेषता होती है, तो प्रश्न होगा ऐसा होने में उसके स्वरूप में परिवर्त्तन हो जायेगा ; क्योंकि, स्वरूप में परिवर्त्तन हुए बिना वह कारक नहीं हो सकता, और नित्य होने से) वह कोई व्यापार (= क्रिया) नहीं कर सकता। और (साथ ही) जो नित्य है, वह तो अलग नहीं (सदा वहां मौजूद) है, (फिर उसकी सृष्टि-रचना सम्बन्धी) सामर्थ्य के बारे में यह समझना मुश्किल है, (कि सदा अपनी उसी सामर्थ्य के रहते भी वह उसे एक समय ही प्रदर्शित कर सकता है, दूसरे समय नहीं)।

"जिन (कारणों) के होने पर ही जो (कार्य) होता है, उन (कारणों) से अन्य को उस (कार्य) का कारण मानने पर (कारण ढूंढ़ते वक्त ईश्वर तक ही जाकर थम जाना ठीक नहीं पड़ेगा, बल्कि) सर्वत्र कारणों का अन्त ही नहीं (होगा। ईश्वर के आगे भी और तथा उससे आगे और···ढूंढ़ने पड़ेंगे)।

"(कारण वही होता है जिसके स्वरूप में कार्य के उत्पादन के समय परिवर्त्तन होता है) भूमि आदि अंकुर पैदा करने में कारण अपने स्वरूप परिवर्त्तन करते हुए होते हैं ; क्योंकि उन (= भूमि आदि) के संस्कार से अंकुर में विशेषता देखते हैं। (ईश्वर अपने स्वरूप में परिवर्त्तन किये बिना कारण नहीं बन सकता, और स्वरूप परिवर्त्तन करने पर वह नित्य नहीं हो सकता।)"

ईश्वरवादी ईश्वर सिद्ध करने के लिये इसे एक जबर्दस्त युक्ति समझते हैं—सन्निवेश (= खास आकार-प्रकार) की वस्तु को देखने पर कर्त्ता का अनुमान होता है, जैसे सन्निवेश वाले घड़े को देखकर उसके कर्त्ता कुम्हार का अनुमान होता है। इसका उत्तर देते धर्मकीर्ति कहते हैं—

"किसी वस्तु (घट) के बारे में (सन्निवेश का होना पुरुष की उपस्थिति में यदि) प्रसिद्ध है तो उसके एक से शब्द (सन्निवेश पुरुष पूर्वक होता है) की समानता से (कुम्हार की तरह ईश्वर का) अनुमान करना ठीक नहीं ; जैसे कि (एक जगह कहीं) पीले रंग वाले धूयें को देखकर आगका अनुमान किया (तो सभी जगह पीलेरंग को देखकर आग का अनुमान करते चलें)। यदि ऐसा न माने तब तो चूँकि कुम्हार ने मिट्टी के किसी घड़े आदि को बनाया तो दीमकों के 'टीले' को कुम्हार की ही कृति सिद्ध करना होगी।[1]

पहिले **सामग्री कारण वाद** के बारे में कहते वक्त धर्मकीर्त्ति बतला चुके हैं, कि कोई एक वस्तु कार्य को नहीं उत्पादन करती, अनेक वस्तु मिलकर अर्थात् कारण-सामग्री कार्य करने में समर्थ होती है।

न्याय-वैशेषिक का खंडन—वैशेषिक और न्याय दर्शनों में जगत् को बाहर से परिवर्त्तनशील मानते हुए, यूनानी दार्शनिकों, खासकर अरस्तू के दर्शन का अनुसरण करते हुए, बाहरी परिवर्त्तन के भीतर नित्य एकरस तत्वों—चेतन और जड़ मूल तत्वों—को सिद्ध करने की कोशिश की गई है। बौद्ध दर्शन अपवाद-रहित क्षणिकता के अटल सर्वव्यापी नियम को स्वीकार करते हुए किसी स्थिरता-साधक सिद्धान्त को मानने के लिये तैयार नहीं थे ; इसीलिये हम प्रमाणवार्त्तिक में धर्मकीर्त्ति को मुख्यतः ऐसे सिद्धान्तों का जबर्दस्त खंडन करते देखते हैं। वैशेषिक ने स्थिरवादी सिद्धान्त के अनुसार अपने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन छः पदार्थों को स्वीकृत किया है, इनमें कर्म और विशेष ही हैं जिनके मानने में बौद्धों को आनाकानी नहीं हो सकती थी ; क्योंकि कर्म या क्रिया क्षणिकवाद का ही साकार-परमार्थसत्-स्वरूप है और हेतु सामग्री तथा **अपोह** (जिसके बारे में आगे शब्द प्रमाण पर बहस करते वक्त लिखेंगे) के सिद्धान्तों को माननेवाले होने से विशेष को भी वह स्वीकार कर सकते थे (बाकी द्रव्य, गुण, सामान्य, समवाय को वह कल्पना पर निर्भर व्यवहार सत् के तौरपर ही मान सकते थे)।

द्रव्य गुण का खंडन—बौद्धों की परमार्थ सत् और व्यवहार सत् की परिभाषा के बारे में पहिले कहा जा चुका है, उनमें परमार्थ सत् की कसौटी उन्होंने—अर्थ-क्रिया-कारिता को रखा है। विश्व में जो कुछ वस्तु सत् है, वह अर्थ-क्रिया से व्याप्त है, जो अर्थ-क्रियाकारी नहीं है वह वस्तु सत् (परमार्थ सत्) नहीं हो सकती। विश्व और उसकी "वस्तुओं" के बारे में ऐसा विचार रखते हुए वह वस्तुतः "वस्तु" को ही नहीं मान सकते थे, क्योंकि "वस्तु" से साधारण जन के मन में स्थिर पदार्थ का ख्याल आता है ; इसीलिये बौद्ध दार्शनिकों ने वस्तु के स्थान में

---

१. प्र. वा. २।१२, १३।

"धर्म" या "भाव" शब्द का अधिक प्रयोग किया है। "धर्म" को मज़हब या मज़हबी स्थिर सत्य के अर्थ में नहीं बल्कि विच्छिन्न प्रवाह के उन बिन्दुओं के अर्थ में लिया है जो क्षण क्षण नष्ट और उत्पन्न होते वस्तु के आकार में हमें दिखलाई पड़ते हैं। "भाव" (=होना) को वह इसलिये पसंद करते हैं, क्योंकि वस्तु स्थिति हमें "है" का नहीं बल्कि "होने" का पता देती है—विश्व स्थिर तत्त्वों का समूह है जो प्रतिक्षण घटित हो रही हैं। वैशेषिक की द्रव्य-गुण की कल्पना इस **भाव** के पीछे छिपे विच्छिन्न प्रवाह वाले विचार के विरुद्ध है।

वैशेषिक का कहना है कि द्रव्य और गुण दो चीजें (पदार्थ) हैं, जिनमें गुण वह है जो सदा किसीके आधार पर रहता है, गंध को हमेशा हम पृथिवी (तत्त्व) के आधार पर देखते हैं, रस को जल (तत्व) के आधारपर। उसी तरह जहां जहां हम द्रव्य को देखते हैं, वहां वहां उसके आधेय—गुण भी पाए जाते हैं—जहां जहां पृथिवी (तत्त्व) मिलता है, वहां वहां उसका आधेय गुण गंध भी मिलता है। इस तरह गुण के लिये कोई आधार होना चाहिए, यह ख्याल हमें द्रव्य की सत्ता स्वीकार करने के लिये मजबूर करता है; और द्रव्य सदा अपने आधेय गुणके साथ रहता है, यह ख्याल हमें गुणकी सत्ता को स्वीकार करने के लिये मजबूर करता है। बौद्धों का कहना है प्रकृति इस द्रव्य-गुण के भेद को नहीं जानती—यह तो हम समझने की आसानी के लिये अलग करके कहते हैं, जिस तरह प्रकृति दश आमों में से एक को पहिला, एक को दूसरा····इस तरह नंबर देकर हमारे सामने उपस्थित नहीं करती: हरएक आम एक दूसरे से भिन्न है—बस वह इतना ही जानती है। "चूंकि **भाव** प्रतिक्षण विनष्ट हो रहे हैं, **भावों** के प्रवाह की उस तरह (=प्रतिक्षण विनाश से युक्त) की उत्पत्ति से (सिद्ध होता है, कि यह उत्पत्ति सदा) स-हेतुक (कारण या पूर्ववर्त्ती **भाव** के होने पर) होती है, इससे आश्रय (=आधार) है, सिर्फ इसी अर्थ में लेना चाहिए कि हर एक भाव की उत्पत्ति के पहिले भाव-प्रवाह मौजूद रहता है, इससे भिन्न अर्थ में (आश्रय आधार या द्रव्य का मानना) अ-युक्त है।" १

जैसे जल का आधार घड़े को मानते हैं, उसी तरह गंध का आधार पृथिवी (तत्त्व) है, यह कहना गलत है "जल आदि के लिये आधार की जरूरत हो सकती है, क्यों कि (गतिशील जल के) गमन का (घड़े से) प्रतिबंध होता है, गुण, **सामान्य** (जाति) और कर्म (तो तुम्हारे मत में गति सहित ही द्रव्य के भीतर रहते हैं, फिर ऐसे) गतिहीनों को आधार मानकर क्या करना है?"२

---

१ प्र० वा० २।६७।

२ वही २।६८।

इस तरह आधार की कल्पना गलत साबित होने पर आधेय गुण आदि का पृथक् पदार्थ होना भी गलत ख्याल है। गुण सदा द्रव्य में रहता है, अर्थात् दोनों के बीच **समवाय्** (नित्य) सम्बन्ध है, तथा द्रव्य गुण का समवायी (=नित्य सम्बन्ध रखनेवाला) कारण है, पर समवाय और समवायी कारण का ख्याल भी पूर्व खंडित द्रव्यगुण की कल्पना पर आधारित होने से गलत है।

सामान्य का खंडन—गायें करोड़ों हैं, जब हम उनकी भूत, वर्त्तमान भविष्य की व्यक्तियों पर विचार करते हैं तो अनगिनत मालूम होती हैं। इन अनगिनत गाय-व्यक्तियों में एक बात हम सदा पाते हैं, वह है गायपन (गोत्व), जो गाय-व्यक्तियों के मरते रहने पर भी हर नई उत्पन्न गाय में पाया जाता है। अनेक व्यक्तियों में एकसा पाया जानेवाला यह पदार्थ सामान्य या **जाति** है, जो नित्य—सर्वकालीन—है। यह है सामान्य को सिद्ध करने में वैशेषिक की युक्ति, जिसके बारे में पहिले लिख चुकने पर भी प्रकरण के समझने में आसानी के लिये हमें यहां फिर कहना पड़ा है।

अनुमान के प्रकरण में धर्मकीर्त्ति कह चुके हैं, कि **सामान्य** अनुमान का विषय है, साथ ही सामान्य वस्तु सत् नहीं बल्कि कल्पना पर निर्भर है। इस तरह जहां तक व्यवहार का सम्बन्ध है, उसके मानने से वह इन्कार नहीं करते, इसीलिये वह कहते हैं—

"बाहरी अर्थ (पदार्थ) की अपेक्षा के बिना जैसे (अर्थ=पदार्थ उसे) वाचक मान, वक्ता जिस शब्द को नियत करते हैं, वह शब्द वैसा (ही) वाचक होता है।"

"एक स्त्री के लिये भी संस्कृत में बहुवचन दाराः, (छ नगरों के लिये बहुवचन वाले अर्थ के लिये संस्कृत में एक वचन) षण्णगरी (=छ नगरी) कहा जाता है। ऐसे (शब्द-रूपों) में एकवचन और बहुवचन की व्यवस्था का क्या कारण है? अथवा सामान्य अनेक व्यक्तियों में एक होता है, आकाश (=सिर्फ एक है फिर) ख का ख-भाव खपन (=आकाशपन), यह सामान्य क्यों माना जाता है?"१

इसका अर्थ यही है, शब्दों के प्रयोग में वस्तु की परवा नहीं करके वक्ता बहुत जगह स्वतंत्रता दिखलाते हैं, गायपन इसी तरह की उनकी "स्वतंत्र" कल्पना है, जिसके ऊपर (वस्तु-स्थिति का) फैसला करना गलत होगा।

"(सर्वथा एक दूसरे से) भिन्नता रखनेवाले भावों (=वस्तुओं) को लेकर एक अर्थ (गायपन) जतलानेवाली बुद्धि (=ज्ञान पैदा होती है, जिस) के द्वारा उन (भावों) का (वास्तविक) रूप ढँक (=संवृत हो) जाता है, (इसलिये ऐसे ज्ञान को) संवृति (=वास्तविकता को ढाकनेवाली) कहते हैं।

---

१. १।६८, ६९।

"उसी (संवृति या कल्पनावाली बुद्धि) के अभिप्राय को लेकर सामान्य को सत् कहा जाता है ; क्योंकि परमार्थ में वह अ-सत् (और) उसके (संवृति बुद्धि) द्वारा कल्पित है ।१"

गायपन एक वस्तु सत् है जो सभी गाय-व्यक्तियों में है, यह ख्याल गलत है, क्योंकि--

"व्यक्तियां (भिन्न भिन्न गायें एक दूसरे में) अनुगत नहीं हैं, (और) न उनमें (=भिन्न भिन्न गाय व्यक्तियों) में (कोई) अनुगत होनेवाला (पदार्थ) दीख पड़ता है (जो दीखता है, वह भिन्न भिन्न गाय-व्यक्तियाँ हैं), ज्ञान से अभिन्न (यह सामान्य) कैसे (एकसे) दूसरे पदार्थ को प्राप्त हो सकता है ?

"इसलिये (अनेक) पदार्थों में एक-रूपता (=सामान्य) का ग्रहण झूठी कल्पना है, इस (झूठी कल्पना) का मूल है (व्यक्तियों का) पारस्परिक भेद, जिसके लिये (गोत्व आदि) संज्ञा शब्द का प्रयोग होता है ।"२

"यदि (संज्ञाओं, शब्दों द्वारा पदार्थों का) भेद (मालूम होता है, तो इतना ही तो शब्दों का प्रयोजन है, (फिर) वहां सामान्य या किसी दूसरी (चीज की कल्पना से) तुम्हें क्या लेना है ?"३

वस्तुतः गायपन आदि सामान्य-वाची शब्द विद्वानों ने व्यवहार के सुभीते के लिये बनाए हैं ।

"एक (तरह के) कार्य (करनेवाले) भावों (वस्तुओं) में उनके कार्यों के जतलाने के लिये भेद करनेवाली संज्ञा की जरूरत होती है, जैसे दूध, श्रम-प्रदान आदि क्रियाओं को करनेवाली गायों में उनके कार्यों को जतलाने के लिये भेद करनेवाली संज्ञा की ; किन्तु गाय-व्यक्तियों के अनगिनत होने से हर व्यक्ति का अलग अलग रखने पर नाम बहुत बढ़ जाता, वह हो भी नहीं सकता था, और (प्रयास) फजूल भी होता, इसलिये (व्यवहार-कुशल) वृद्धों ने उस (=गायवाले) कार्य से फर्क करने के विचार से एक शब्द ("गाय" नाम को प्रयुक्त) किया ।"४

फिर प्रश्न होता है, सामान्य (=गायपन) जिसे नित्य कहते हो, वह एकदेशीय है या सर्वव्यापी ? यदि कहो वह एकदेशीय अर्थात् अपने से सम्बन्ध रखनेवाली गाय-व्यक्ति में ही रहता है, तो—

१. प्र. वा. १।७०-७२ ।
२. वही १।७३-७४ ।
३. वही १।९९ ।
४. वही १।१३९-१४० ।

"(एक गाय में स्थित सामान्य उस व्यक्ति के मरने तथा दूसरी गाय के उत्पन्न होने पर एक से दूसरे में) न जाता है, और न उस (व्यक्ति के उत्पत्तिवाले देश) में (पहिले से) था (क्योंकि वह सिर्फ व्यक्ति में ही रहता है), और (व्यक्ति की उत्पत्ति के) पीछे (तो जरूर) है, (क्योंकि सामान्य के बिना व्यक्ति हो नहीं सकती)। (सामान्य को) अंशवाला (मानते हो, जिसमें कि उसका एक अंश = छोर पहिली व्यक्तिसे और दूसरा पीछे उत्पन्न होनेवाली व्यक्ति से सम्बद्ध हो) और (अंशरहित मानने पर यह नहीं कह सकते कि वह) पहिले के (उत्पन्न होकर नष्ट होते) आधार को छोड़ता है (क्योंकि ऐसा मानने पर देशकाल के अन्तर को नित्य सामान्य जब पार करेगा उस वक्त उसे व्यक्ति से अलग भी मानना पड़ेगा, इस प्रकार बेचारे सामान्यवादी के लिये) मुसीबतों का अन्त नहीं ।

"दूसरी जगह वर्त्तमान (सामान्य) की अपने स्थान से बिना हिले उस (पहिले स्थान) से दूसरे स्थान में जन्मनेवाले (पिंड) में मौजूद होना युक्तियुक्त (बात) नहीं है ।

जिस (देश) में वह भाव (= खास गाय) वर्त्तमान है उस (देश = स्थान) से (सामान्य, गायपन) संबद्ध भी नहीं होता (क्योंकि तुम मानते हो कि सामान्य देश में नहीं व्यक्ति में रहता है, और फिर कहते हो, देश में रहनेपर भी उस) देशवाले (पदार्थ, गाय-व्यक्ति) में व्याप्त होता है, यह तो कोई भारी चमत्कार-सा है ।

"यदि सामान्य को (एकदेशीय नही) सर्वव्यापी (= सर्वग) मानते हो, तो एक जगह एक गाय व्यक्ति द्वारा व्यक्त कर दिए जाने पर उसे सर्वत्र दिखाई देना चाहिए, (क्योंकि सर्वव्यापी सामान्य में) भेद न होने (= एक व्यक्ति होने) से व्यक्ति की अपेक्षा नहीं" ।

"(और ऊपर की बात से यह भी सिद्ध होता है कि गायपन सामान्य सर्वत्र है, फिर वह क्यों नहीं दिखलाई देता, यह पूछने पर आप कहते हैं—क्योंकि उसके लिये व्यंजक (= प्रकट करनेवाली) व्यक्ति—गाय—की जरूरत है । इसका अर्थ हुआ—(पहिले) व्यंजक के ज्ञान हुए विना व्यंग्य (= सामान्य) ठीक से प्रतीत नहीं होता। तब फिर सामान्य (गायपन) और सामान्यवान् (गायपनवाली गाय-व्यक्ति) के सम्बन्ध में उल्टा क्यों मानते हो (अर्थात् गायपन सामान्य गायव्यक्ति की उत्पत्ति से पहिले भी मौजूद था) ।"१

अतएव सामान्य है ही नहीं—

"क्योंकि (व्यक्ति से भिन्न) केवल जाति का दर्शन नहीं होता, और (गाय) व्यक्ति के ग्रहण के वक्त भी उसके (नामवाची) शब्दरूप (गाय) से भिन्न (कुछ) नहीं दिखाई देता ।"२

---

१ प्र० वा० ३।१५४-५८ ।

१ वही ३।४९ ।

"इसलिये सामान्य अ-रूप (अ-वस्तु) है, (और वह) रूपों (गाय व्यक्तियों) के आधार पर नहीं कल्पित किया गया है ; बल्कि (व्यक्तियों को क्रिया-सम्बन्धी) उन विशेषताओं के जतलाने के लिये शब्दों द्वारा (वह) प्रकाशित किया जाता है।

" ऐसे (सामान्य) में वास्तविकता (=रूप) का अवभास अथवा सामान्य के रूप में अर्थ (पदार्थ गाय-व्यक्ति) का ग्रहण भ्रान्ति (-मात्र) है, और वह भ्रान्ति चिरकाल से (वैसे प्रयोग को) देखते रहने के अभ्यास से पैदा हुई है।

"और पदार्थों (=विशेषों या व्यक्तियों) का पर (अपने से भिन्न व्यक्ति) से बिलगावरूपी जो समानता (सामान्य) है, और जिस (सामान्य) के नियम में ये (शब्दार्थ-सम्बन्धी संकेत रखनेवाले) शब्द हैं, उसका कोई भी स्वरूप (वास्तविक रूप) नहीं है (क्योंकि शब्द व्यवहार के सुभीता के लिये कल्पित किए गए हैं।" १

(c) **अवयवी का खंडन**—हम बतला आए हैं कि कैसे अक्षपाद अवयवों (अंगों) के भीतर किन्तु उनसे अलग एक स्वतंत्र पदार्थ अवयवी (अंगी) को मानते हैं। धर्मकीर्त्ति सामान्य की भांति अवयवी को व्यवहार (=संवृति) सत् माननेके लिये तैयार हैं, किन्तु अवयवों से परे अवयवी एक परमार्थ सत् है, इसे वह नहीं स्वीकार करते। "बुद्धि (ज्ञान) जिस आकार की होती है, वही उस (बुद्धि) का ग्राह्य कहा जाता है।"२ हम बुद्धि (ज्ञान) को अवयवों के स्वरूप की ही देखते हैं, उसमें हमें अवयवी का पता नहीं लगता, भिन्न भिन्न अवयवों के प्रत्यक्षज्ञान को एकत्रित कर कल्पना के सहारे हम अवयवी की मानसिक सृष्टि करते हैं, जो कि कल्पित छोड़ वास्तविक वस्तु नहीं हो सकती। यदि कहो कि अवयवी का भी ग्रहण होता है, तो सवाल होगा :

"एक ही बार अपने अवयवों के साथ कैसे अवयवी का ग्रहण हो सकता है ? गले की कमरी सींग आदि अवयवों के न देखने पर गाय और अवयवी नहीं देखी जा सकती।" ३

जिस तरह वाक्य पढ़ते वक्त पहिले से एक-एक अक्षर पढ़ने के साथ वाक्य का अर्थ नहीं मालूम होता जाता, बल्कि एक एक अक्षर हमारे सामने से गुजरता है और संकेतानुसार खास छाप हमारे मस्तिष्क पर छोड़ जाता है, इन्ही छापों को मिला कर मन सारे वाक्य का अर्थ कल्पना द्वारा तैयार करता है। उसी तरह गाय की सींग, गलकम्बल, पूंछ बारी बारी से दीखते जो छाप छोड़ते हैं, उनके अनुसार, हम गाय-अवयवी की कल्पना करते हैं ; किन्तु जिस तरह सामान्य व्यक्ति से

---

१ प्र० वा० २।३१, ३२।

२ वही ३।२२४।

२ वही ३।२२५।

भिन्न कोई वस्तु सत् नहीं हैं, उसी तरह अवयवी भी वस्तु से भिन्न कोई वस्तु नहीं। यदि अवयवी वस्तुतः एक स्वतंत्र वास्तविक पदार्थ होता तो—

"हाथ आदि (में से किसी एक) के कम्पन से सारे (शरीर) का कम्पन होता, क्योंकि एक (ही अखंड अवयवी) में (कम्पन) कर्म (और उसके) विरोधी (अकम्पन कर्म; दोनों) नहीं रह सकते ; ऐसा न होने पर (कम्पन वाले से अकम्पनवाला अवयवी) अलग सिद्ध होगा।"१

"अवयवों के योगसे अवयवी अलग वस्तु पैदा होती है, ऐसा मानने पर अवयवों के योग के साथ अवयवी के भी मिल जानेसे अवयव + अवयव + अवयव.... = भार जितना होता है, अवयव + अवयव+अवयव.... + अवयवी = भार बहुत ज्यादा होना चाहिए। क्योंकि यदि अवयवों के भार और (उसके अनुसार तोलने पर तराजू का) नीचे जाना होता है, तो (अवयवों के साथ अवयवी के भी मिल जाने पर अधिक) तराजू को नीचे जाना चाहिए।'२

"क्रमशः (सूक्ष्म अवयवों को बढ़ाते हुए बहुत अवयवों से) युक्त धूलिकी राशि में एक समय (अलग अलग अवयवों और उनसे) युक्त (राशि) के भार में भेद होना चाहिए ; और इस (गौरव के) भेद के कारण (सोने के या चांदी के छोटे छोटे टुकड़ों को) अलग अलग तोलने तथा (उन टुकड़ों को गलाकर एक पिण्ड बना) साथ (तोलने) पर सोने के माषक (मासा, रत्ती) आदि (में तोलने की) संख्या में समानता नहीं होनी चाहिए।"३

एक मासा भर सोना अलग तोलने पर भले ही एक मासा हो किन्तु जब फि मासा सोने को गला कर एक डला तैयार किया गया तो उसमें ९६ मासे के ९६ टुकड़ों के अतिरिक्त उनसे बना अवयवी भी आ मौजूद हुआ है, इसलिये अब वजन ९६ मासा से ज्यादा होना चाहिए।

(४) **संख्या आदि का खंडन**—वैशेषिक ने संख्या, संयोग, कर्म, विभाग आदि गुणों को वस्तु सत् के तौर पर माना है, जिन्हें कि धर्मकीर्त्ति व्यवहार (संवृति) सत् भर मानने के लिये तैयार हैं और कहते हैं—

"संख्या, संयोग, कर्म आदि का भी रूप उसके रखनेवाले (द्रव्य) के स्वरूप से (या) भेद के साथ कहने से बुद्धि (ज्ञान) में नहीं भासित होते। इसीलिये भासित न होने पर भी उन्हें वस्तु-सत् मानना गलत है।

"शब्द के ज्ञान में (एक घट इस) कल्पित अर्थ में वस्तुओं के (पारस्परिक) भेद को अनुसरण करनेवाले विकल्प के द्वारा (संख्या आदि का प्रयोग उसी तरह किया जाता है) जैसे

---

१. प्र. वा. ३।२।८४।

२. वही ४।१५४।

३. वही ४।१५७, १५८।

गुण आदि में (पांती में एक बड़ी जाती है, यहां एक भी गुण और बड़ी भी गुण है किन्तु गुण में गुण नहीं हो सकने से एक संख्या के साथ बड़ा परिमाण का प्रयोग नहीं होना चाहिए) अथवा नष्ट या अब तक न पैदा हुओं में) 'एक, दो, ··· मर गए, या पैदा होंगे' का कहना जो एक, दो ······संख्या, मरे या न पैदा हुए जैसे अस्तित्व-शून्य आधार का आधेय गुण-रूप वह कल्पित छोड़ वास्तविक नहीं हो सकता।"[1]

सांख्य दर्शन का खंडन—सांख्य दर्शन चेतन और जड़ दो प्रकार के तत्त्वों को मानता है, जिनमें चेतन-पुरुष तो निष्क्रिय साक्षी मात्र है, हाँ उसके सम्पर्क से जड़ तत्त्व—**प्रधान**—सारे जगत् को अपने स्वरूप-परिवर्त्तन द्वारा बनाता है। सांख्य प्रधान में भिन्नता नहीं मानता और साथ ही सत्कार्यवाद—अर्थात् कार्य में पहिले से ही पूर्णरूपेण कारण के मौजूद होने—को स्वीकार करता है। धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

"अगर अनेक (बीज, पानी, मिट्टी आदि) एक (प्रधान, प्रकृति) स्वरूप होते हुए एक कार्य (=अंकुर) को करते हैं, तो (वही) स्वरूप (प्रधान) एक (बीज) में (वैसे ही है, जैसे कि वह दूसरी जगह); इसलिये (दूसरे) सहकारी (कारणों) पानी, मिट्टी आदि फ़जूल हैं।

"(पानी मिट्टी आदि सहकारी कारणों के न होने पर बीज के रहने से) वह (**प्रधान**—मौलिक तत्त्व तो अ-भिन्न है) और (वह पानी मिट्टी आदि बन जाने पर भी अपने पहिले) स्वरूप को नहीं छोड़ता (क्योंकि वह नित्य है, और) विशेष (पानी, मिट्टी आदि) नाशमान हैं (किन्तु हम देखते हैं) एक (सहकारी जल या मिट्टी) के न होने पर भी कार्य (=अंकुर) नहीं होता, इससे (पता लगता है कि) वह (अंकुर प्रधाम से नहीं बल्कि) विशेषों (=पानी मिट्टी आदि) से उत्पन्न होता है।

"परमार्थवाला भाव (पदार्थ) वही है; जो कि अर्थ-क्रिया को कर सकता है। (ऐसे अर्थक्रिया करनेवाले हैं मिट्टी, पानी आदि विशेष) और वह (परस्पर भिन्न होने से कार्य=अंकुर में) एक रूप नहीं होते, और जिसे (तुम) एकरूप होना (कहते हो) उस (=प्रधान) से (अंकुर) कार्य का (पैदा होना) सम्भव नहीं (क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार वह तो जैसा अपने स्वरूप में है वैसा ही मिट्टी आदि बनने पर भी है)।

"और प्रधान को हर हालत में एकरूप मानने पर बीज, मिट्टी, पानी सभी प्रधान-मय और एक रूप हैं फिर एक बीज के रहने से मिट्टी, पानी आदि के न होने पर भी अंकुर की उत्पत्ति में कोई हर्ज नहीं होना चाहिए; किन्तु हम (यह स्वभाव देखते हैं कि) उस

---

१ प्र वा २।९२

(=कारण) स्वरूप से (बीज, मिट्टी, पानी आदि के आपस में) भिन्न होने पर कोई (बीज, मिट्टी आदि जैसा अंकुर का) कारण होता है, दूसरे (आग, सुवर्ण आदि) नहीं ; यदि (बीज, मिट्टी, आग, पानी आदि विशेषों का) अभेद होता तो (अंकुर का आग से) नाश (और बीज आदि से) उत्पत्ति (दोनों) एक साथ होती ।"[१]

"(जो अर्थ-क्रिया करनेवाला[२] है) उसीको कार्य और कारण कहते हैं, वही स्व-लक्षण (वस्तुसत्) हैं ; (और) उसीके त्याग और प्राप्ति के लिये पुरुषों की (नाना कार्यों में) प्रवृत्ति होती है ।

"जैसे (सांख्य-सम्मत मूल भौतिक तत्त्व, **प्रधान** की सभी भौतिक तत्त्वों—मिट्टी, बीज, पानी, आग में) अभिन्नता के एक समान होने पर भी सभी (बीज, पानी, आग....प्रधान-मय तत्त्व) सभी (कार्यों-अंकुर, घड़ा आदि) के (करने में) साधन नहीं होते ; वैसे ही (पूर्व पूर्व कारण क्षणिक परमाणु या भौतिक तत्त्वों सभी उत्तर उत्तर कार्यों—मिट्टी बीज पानी आग आदि में भिन्नता के एक समान होने पर भी सभी (कारण) सभी (कार्यों) के (करने में) साधन नहीं होते ।

"(यही नहीं, सत्कार्यवाद के विरुद्ध कारण से कार्य को) मानने पर (सब नहीं) कोई ही (वस्तु) अपनी विशेषता (= धर्म) की वजह से (किसी एक कार्य का) कारण हो सकती है, किन्तु (सत्कार्यवाद के अनुसार कारण से कार्य को) अभिन्न मानने पर (सभी वस्तुएं अभिन्न हैं, फिर उनमें से) एकका (कहीं) क्रिया (कार्य) कर सकना और (कहीं) न कर सकना (यह दो परस्पर विरोधी बातें) हैं ।"[३]

इस प्रकार सांख्य का सत्कार्यवाद—मूलतः विश्व की वस्तुएं कारण से कार्य अवस्था में कोई भेद नहीं रखतीं—(प्रधान=पानी, प्रधान = आग, प्रधान = चीनी, प्रधान = मिर्च)—गलत है, और बौद्धों का असत्-कार्यवाद ही ठीक है, जिसके अनुसार कि—कारण एक नहीं अनेक हैं, और हर कार्य अपने कारण से बिल्कुल भिन्न चीज है, यद्यपि हर नया उत्पन्न होनेवाला कार्य अपने कारण से सादृश्य रखता है, जिससे 'यह वही है' का भ्रम होता है ।

मीमांसा का खंडन—मीमांसा के सिद्धान्तों के बारे में हम पहिले लिख चुके हैं ।

---

१ प्र० वा० १।१६६-१७०

२ अर्थक्रियाकारी समर्थ कार्य के उत्पादन में समर्थ, क्रिया के उत्पादन में समर्थ सार्थक भिन्न करने में समर्थ, सफल क्रिया करने में समर्थ, क्रिया करने में योग्य, क्रिया कर सकनेवाला आदि इसके अर्थ हैं ।

३ प्र० वा० १।१७५—१७७

मीमांसा का कहना है कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण 'सामने उपस्थित पदार्थ वस्तुतः क्या है, इसे नहीं बतला सकते, और परलोक, स्वर्ग, नरक, आत्मा आदि जो पदार्थ इन्द्रिय-अगोचर हैं,' उनका ज्ञान कराने में तो वे बिल्कुल असमर्थ हैं, इसलिये उनका सबसे ज्यादा जोर शब्द-प्रमाण—वेद पर है, जिसे कि वह अपौरुषेय—किसी पुरुष (मनुष्य, देवता या ईश्वर) द्वारा नही बना अर्थात् अकृत सनातन मानते हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष तथा अंशतः प्रत्यक्ष अर्थात् अनुमान के सिवा किसी तीसरे प्रमाण को नहीं मानते, और प्रत्यक्ष-अनुमान की कसौटी पर कसने से वेद उसके हिंसामय यज्ञ—कर्मकाण्ड आदि ही नहीं बहुत-सी दूसरी गप्पें और पुरोहितों की दक्षिणा के लोभ से बनाई बातें गलत साबित होतीं' ; ऐसी अवस्थामें सभी धर्मानुयायियों की भांति वैदिक पुरोहितों को मीमांसा-जैसे शास्त्र की रचना करके शब्द-प्रमाण को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण सिद्ध करना जरूरी हुआ। बुद्ध से लेकर नागार्जुन तक बौद्धों की ओर से ब्राह्मण-पुरोहितों के जबर्दस्त हथियार वेद के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड पर भारी प्रहार हो रहा था। युक्ति के सहारे ज्ञानकाण्ड को बचाने की कोशिश अक्षपाद और उनके भाष्यकार वात्स्यायन ने की, जिनपर दिग्नाग के कर्कश तर्कशरों का प्रहार हुआ, जिससे बचाने की कोशिश पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाज (५००ई०) ने की, किन्तु धर्मकीर्तिने उद्योतकर की ऐसी गति बनाई की वाचस्पति मिश्र को "उद्योतकर की बूढ़ी गायों" के उद्धार के लिये कमर बांधनी पड़ी।

किन्तु युक्तिवादयों (तार्किकों) की सहायता से वैदिक ज्ञान और कर्म-काण्ड के समर्थकों का काम नहीं चल सकता था। इसलिये वादरायण को ज्ञानकांड (ब्रह्मवाद) और जैमिनि को कर्मकांड पर कलम उठानी पड़ी। उनके भाष्यकार शबर असंग के विज्ञानवाद से परिचित थे। दिग्नागने अक्षपाद और वात्स्यायन की भाँति शबर और जैमिनि पर भी जबर्दस्त चोट की ; जिस पर उद्योतकर की भाँति मीमांसक कुमारिलभट्ट मैदान में आए, धर्मकीर्ति उद्योतकर पर जिस तरह प्रहार करते हैं, उससे भी निष्ठुर प्रहार उनका कुमारिल पर है। वेद-प्रमाण के अतिरिक्त मीमांसक प्रत्यभिज्ञा को भी एक जबर्दस्त प्रमाण मानते हैं, हम इन्हीं दोनों के बारे में यहां धर्मकीर्त्ति के विचारों को लिखेंगे।

प्रत्यभिज्ञा-खंडन—पदार्थ (= राम) को सामने देख कर "यह वही (राम) है" ऐसी प्रत्यभिज्ञा (प्रामाणिक स्मृति) स्पष्ट मालूम होनेवाली (= स्पष्टावभास) प्रत्यक्ष प्रमाण है,—मीमांसक इस तरह प्रत्यभिज्ञा को मानते हैं। बौद्ध इस प्रत्यभिज्ञा को "यह वही है" की कल्पना पर आश्रित होने से प्रत्यक्ष नहीं मानते, और "स्पष्ट मालूम होनेवाली" के बारे में धर्मकीर्ति कहते हैं—

"काटने पर फिर से जमे केशों, (मदारी के नये नये निकाले) गोलों, तथा (क्षणक्षण नष्ट हो नई शिखावाले) दीपों...में भी ('यह वही है' यह) स्पष्ट भासित होता है ; (किन्तु क्या इससे यह कहना सही होगा कि केश-गोल-दीप वही हैं ?)।

"जब भेद (प्रत्यक्षतः) ज्ञात है, तो भी, वैसा (एक होने के भ्रमवाला अभेद) ज्ञान कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है ? इसलिये **प्रत्यभिज्ञा** के ज्ञान से (केश आदि की) एकता का निश्चय ठीक नहीं है।"[१]

शब्दप्रमाण-खंडन—यथार्थ ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है, शब्दप्रमाण को माननेवाले कपिल, कणाद और अक्षपाद प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त यथार्थ वक्ता (=आप्त) पुरुष के वचन (शब्द) को भी प्रमाण मानते हैं। मीमांसक "कौन पुरुष यथार्थ वक्ता है" इसे जानना असंभव समझते हुए कहते हैं—

(क) **अपौरुषेयता फ़ज़ूल**—" 'यह (पुरुष) ऐसा (यथार्थ वक्ता) है या नहीं है' इस प्रकार (निश्चायक) प्रमाणों के दुर्लभ होने से (किसी) दूसरे (पुरुष) के दोषयुक्त (=झूठे) या निर्दोष (=सच्चे, यथार्थ वक्ता) होने को जानना अति कठिन है।"[२]

और फिर :

"(किन्हीं) वचनों के झूठे होने के हेतु (अज्ञान, राग, द्वेष आदि) से जो दोष (हैं वह) पुरुष में रहनेवाले हैं, (इसलिये पुरुषवाले—पौरुषेय वचन झूठे होते हैं, और) अपौरुषेय-सत्यार्थ——।"[३]

इसके उत्तर में धर्मकीर्त्ति कहते हैं :—

"(किन्हीं) वचनों के सत्य होने के हेतु (ज्ञान, अराग, अद्वेष आदि जो) गुण (हैं वह) पुरुष में रहनेवाले हैं, (इसलिये जो वचन पुरुष के नहीं हैं, वह सत्य कैसे हो सकते हैं, और (जो) पौरुषेय (हैं वही) सत्यार्थ (हो सकते हैं)।"[४]

"(साथ ही शब्द के) अर्थ को समझाने का साधन है (गाय शब्द का अर्थ सींग-पूंछ-गलकम्बल वाला पिंड ऐसा) संकेत (और वह संकेत) पुरुष के ही आश्रय से रहता (पौरुषेय) है। इस (संकेत के पौरुषेय होने) से वचनों के अपौरुषेय होने पर भी उनके झूठे होने का दोष सम्भव है।

"यदि (कहो, शब्द और अर्थ का) संबंध पौरुषेय है, (तो आग और आँच के सम्बन्ध की भांति उनके स्वाभाविक होने से संकेत से) अजान पुरुष को भी (सारे वेदार्थ का) ज्ञान होना चाहिए। यदि (पौरुषेय) संकेत से वह (सम्बन्ध) प्रकट होता है तो (संकेत से भिन्न कोई) दूसरी कल्पना (संबन्ध को व्यवस्थापित) नहीं कर सकती।

---

१. प्र. वा. ३।५०३-५०५।
२. वही १।२२२।
३. वही १।२२७।
४. वही १।२२७, २२९।

"यदि (वस्तुतः) वचनों का एक अर्थ में नियत होना (प्रकृति-सिद्ध) होता, तो (एकवचन का एक छोड़) दूसरे अर्थ में प्रयोग न होता।

"यदि (कहो एक वचन का) अनेकों अर्थों (=पदार्थों) से (वाच्यवाचक) संबंध (स्वाभाविक) है ; तो (एक ही वचन से) विरुद्ध (अर्थों की) सूचना होगी। फिर 'अग्निष्टोम याग स्वर्ग का साधन है' इस वचन का अर्थ 'अग्निष्टोम याग नरक का साधन है' भी हो सकता है।"१

जैसे भी हो, वेद को पुरुषरचित न मानने पर भी पिंड नहीं छूटता। क्योंकि, "(शब्द-अर्थ के संबंध को) पुरुष (संकेत) द्वारा न संस्कार्य (=प्रकट होनेवाला मानने पर वचनों की ही) बिल्कुल निरर्थकता होगी (क्योंकि शब्दार्थ सम्बन्ध संकेत को सभी लोग गुरु-शिष्य संबंध से ही जानते हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता)। यदि (पुरुष द्वारा) संस्कार (होने) को स्वीकार करो तो यह ठीक गजस्नान हुआ (वेद-वचन और उसके शब्दार्थ संबंध को तो पौरुषेय नहीं माना, किन्तु शब्दार्थ संबंध के संकेत को पुरुष द्वारा ही संस्कार्य मानकर फिर वेद-वचन से मिलनेवाले ज्ञान के सच-झूठ होने में सन्देह पैदा कर दिया)।"२

और वस्तुतः वेद को जिस तरह जैमिनि अपौरुषेय सिद्ध करना चाहते हैं, वह बिल्कुल गलत है।

"(चूंकि वेद वचनों के) कर्त्ता (पुरुष) याद नहीं, इसलिये (वह) अपौरुषेय हैं'—ऐसे भी (ढीठ) बोलनेवाले हैं। धिक्कार है (जगत् में छाये इस जड़ता के) अंधकार को।"३

अपौरुषेयता सिद्ध करने के लिये "कोई (कहता है) "जैसे यह (आज का विद्यार्थी) दूसरे (पुरुष अपने गुरु से) बिना सुने इस वर्ण (=अक्षर) और पद-क्रम (वाले वेद) को नहीं बोल सकता, वैसे ही कोई दूसरा पुरुष (गुरु) भी (अपने गुरु और वह अपने गुरु···से) सुने बिना नहीं बोल सकता ; और इस प्रकार गुरुओं की परम्परा का अन्त न होने से वेद अनादि, अपौरुषेय सिद्ध होता है।"४

किन्तु ऐसा कहनेवाला भूल जाता है—"(वेद से भिन्न) दूसरे (पुरुष के) रचित (रघुवंश आदि) कोई ग्रंथ भी (गुरु-शिष्य में) संप्रदाय के बिना (पढ़ा) जाता नहीं देखा

१. प्र. वा. १।२२७-२३१।
२. वही १।२३३।
३. वही १।२४२, २४३।
४. वही १।२४२, २४३।

गया, फिर इससे तो वह (रघुवंश) भी (वेद की) तरह (अनादि) अनुमान किया जाएगा।"[1]

गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र के संबंध से हर एक तरह की बात मनुष्य सीखता है, और इसीसे मीमांसक वेद को अनादि सिद्ध करते हैं, फिर "वैसा तो म्लेच्छ आदि (अ-भारतीय जातियों) के व्यवहार (अपनी माँ और बेटी से व्याह आदि) तथा नास्तिकों के वचन (ग्रंथ) भी अनादि (मानने पड़ेंगे और) अनादि होने से (उन्हें भी) (वेद) जैसे ही (स्वतः प्रमाण मानना होगा।"[2]

"फिर इस तरह के अपौरुषेयत्व के सिद्ध होने पर भी (जैमिनि और कुमारिल को) कौन-सा फायदा होगा ; (क्योंकि इससे तो सब धान बाईस पंसेरी हो जाएँगे)।[3]

(ख) **अपौरुषेयता की आड़ में कुछ पुरुषों का महत्त्व बढ़ाना**—वस्तुतः एक दूसरे ही भाव से प्रेरित होकर जैमिनि कुमारिल प्रभृति ने अपौरुषेयता का नारा बुलन्द किया है—

" '(इस वेद वचन का) यह अर्थ है और यह अर्थ नहीं है' यह (वेद के) शब्द (खुद) नहीं कहते (शब्द का यह अर्थ तो पुरुष-कल्पित है) और वे रागादि-युक्त होते हैं। उन्हीं रागादिमान् पुरुषों के बीच जैमिनि वेदार्थ का तत्त्ववेत्ता है, फिर प्रश्न होता है—? 'वह एक (जैमिनि ही) एक तत्त्ववेत्ता है, दूसरा नहीं, यह भेद क्यों ? उस (जैमिनि) की भांति पुरुषत्व होते भी किसी तरह दूसरे को रागादिमान् तुम क्यों नहीं मानते ?[4]

(ग) **अपौरुषेयता से वेद के अर्थ का अनर्थ**—तुम कहते हो, चूंकि (पुरुष) स्वयं रागादिवाला (है, इसलिये) वेद के अर्थ को नहीं जानता, और (उसी कारण) दूसरे (पुरुष) से भी नहीं, (जान सकता ; बेचारा) वेद (स्वयं तो अपने अर्थ को) नहीं जतलाता, फिर वेदार्थ की क्या गति होगी ? इस (गड़बड़ी) से तो 'स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र होम करे' इस श्रुति का अर्थ कुत्ते का मांस भक्षण करे' नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है ?

"यदि (कहो) लोगों की बात प्रसिद्ध है (जिससे इस तरह का अर्थ नहीं हो सकता), तो (सवाल होगा—सभी लोग तो रागादिवाले हैं) उनमें कौन (स्वर्ग-जैसे) अतीन्द्रिय पदार्थ का देखनेवाला है, जिसने कि अनेक अर्थवाले शब्दों में 'यही अर्थ है' इसका निश्चय किया ?

---

१. प्र. वा. १।२४३, २४४।
२. वही १।२४८, १४९।
३. वही १।२४९।
४. वही १।३१६।

"स्वर्ग उर्वशी आदि (कितने ही वैदिक) शब्दों का अर्थ (वेदज्ञ होने का दावा करने-वाले मीमांसकों द्वारा किया गया लोक) रूढ़ि से भिन्न अर्थ भी देखा जाता है (जैसे स्वर्ग का लोक-संमत अर्थ है मनुष्य से बहुत ऊँचे दर्जे के विशेष पुरुषों का वासस्थान जहां अ-मानुष सुख तथा उसके नाना साधन सदा सुलभ हैं ; इसके विरुद्ध मीमांसक कहते हैं कि वह दुःख से सर्वथा रहित सर्वोत्कृष्ट सुख का नाम है । उर्वशी का लोक-सम्मत अर्थ है स्वर्ग की एक अप्सरा किन्तु इसके विरुद्ध मीमांसक वेदज्ञ उसे अरणि या पात्री (नाम के यज्ञपात्र) का पर्याय बतलाते हैं) ; फिर उसी तरह 'जुहुयात्' का अर्थ 'कुत्ता-मांस खाओ' (सभी तरह के अर्थ लग सकनेवाले दूसरे शब्दों 'अग्निहोत्रं जहुयात्') जैसे ही ('कुत्ता-मांस खाओ' इस अर्थ की) कल्पना (भी) मानो ।"१

अपौरुषेयता का नारा पुरोहितों की वैसी ही परवंचनामात्र है जैसे कि राजगृह का मार्ग पूछने पर "कोई एक (पुरुष) कहे 'यह ठूंठ कहता है कि यह मार्ग है और दूसरा (पुरुष कहे 'यह मार्ग है' इसे) मैं खुद कहता हूं । (अब) इन दोनों की (वंचना और सचाई की तुम खुद) परीक्षा कर सकते हो ।"२

(घ) **एक बात सच होने से सारा वेद सच नहीं**—वेद का एक वाक्य है "अग्निर्हिमस्य भेषजं" (आग सर्दी की दवा है) इसे लेकर मीमांसक कहते हैं—"चूंकि 'अग्नि-हिमस्य भेषजं' यह वाक्य बिल्कुल सत्य (प्रत्यक्षसिद्ध) है, उसी तरह 'अग्निहोत्रं जहुयात् स्वर्गकामः'—स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र होम करे, इस) दूसरे वचन को भी (उसी) वेद का एक अंश होने से प्रमाण मानना चाहिए ।३

इसके उत्तर में इतना ही कहना है कि—

"यदि इस तरह (एक बात की सचाई से) प्रमाण सिद्ध होता, तो फिर यहां (दुनिया में) अ-प्रमाण क्या रहा है ? बहुभाषी (झूठे) पुरुष में एक भी सच्ची बात न हो, इसे तो (कोई) नहीं कहता ।४

(ङ) **शब्द कभी प्रमाण नहीं हो सकता**—"जो अर्थ (प्रत्यक्ष या अनुमान से) सिद्ध है, उस (—के साधन) में वेद (=शास्त्र) के त्याग देने से (कोई) क्षति नहीं, और जो परोक्ष (=इन्द्रिय-अगोचर पदार्थ हैं, वह अभी साबित ही नहीं हो सके हैं, अतः उन) में वेद (आगम) का (उपयोग) ठीक ही नहीं हो सकता, अतः (वहां इसका) ख्याल हो नहीं हो सकता । (इस प्रकार परोक्ष और अपरोक्ष दोनों बातों में वेद या शब्द-प्रमाण की गुंजाइश नहीं ।५"

---

१. प्र. वा. १।३२०-३२३ ।
२. वही १।३२८ ।
३. वही १।३३३ ।
४. वही १।३३८ । ५. वही ४।१०६ ।

"किसने यह व्यवस्था (=कानून) बना दी कि 'सभी (बातों) के बारे में विचार करते वक्त शास्त्र (=वेद) को लेना चाहिए' (और वेद के) सिद्धान्त को न जाननेवाले को धुआं, देख आग (होने की बात) को न ग्रहण करना चाहिए।

"वेद के फंदे से रहित (वेद वचनों के) गुण या दोष को न जाननेवाला सहज प्राणी (=सीधे सादे आदमी के मत्थे) ये सिद्धान्त (= वेद आदि की प्रमाणतारूपी) विकट पिशाच किसने थोप दिए ?"१

अन्त में धर्मकीर्ति ने मीमांसकों के प्रत्यक्ष, अनुमान-जैसे प्रमाणों को छोड़ "अपौरुषेय वेद" के वचन पर आंख मूंदकर विश्वास करने की बात पर जोर देने का जबर्दस्त खंडन एक दृष्टान्त देकर किया। कोई दुराचारिणी (स्त्री) पर-पुरुष के समागम के समय देखी गई, और जब पति ने उसे डाँटा, तो उसने पास की स्त्रियों को संबोधन करके कहा : देखती हो बहिनो ! मेरे पति की बेवकूफी को ; मेरी जैसी धर्मपत्नी के वचन (=शब्द प्रमाण) पर विश्वास न कर अपनी आँखो के दो बुलबुलों (= प्रत्यक्ष और अनुमान) पर विश्वास करता है।२

(च) **अहेतुवाद-खंडन**—कितने ही ईश्वरवादी और सन्देहवादी दार्शनिक विश्व में कार्य-कारण नियम या हेतुवाद को नहीं मानते। इस्लामिक दार्शनिकों में अशअरी ने कार्य-कारण नियम को ईश्वर की सर्व शक्तिमत्ता में भारी बाधा समझा, और इस एक तरह भौतिकवाद की छिपी हिमायत बतलाते कहा कि चीज़ों के पैदा होने में कोई कारण पहिले से उपस्थित नहीं (अल्ला मियां हर एक वस्तु को हरवक्त बिल्कुल नई—असत् से सत् के रूप में—बनाते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ सन्देहवादी आधुनिक और प्राचीन दार्शनिक भी हैं, जो विश्व की वस्तुओं की रचना में किसी प्रकार के कार्य-कारण नियम को नहीं मानते। वह कहते हैं, चीजें किसी कारण से न बनती हैं, और न तुरन्त नष्ट हुए अपने पूर्वगामी के स्वभाव आदि में सदृश उत्पत्ति होने के किसी नियम का अनुसरण करती हैं। वह कहते हैं—"कांटे आदि में तीक्ष्णता आदि का (कोई) कारण नहीं, उसी तरह (जगत् में) यह सब कुछ बिना कारण (अहेतुक) है।..३

धर्मकीर्ति उत्तर देते हैं—"जिसके (पहिले) होने पर जो (बाद में) जन्मे, अथवा (जिसके) विकार से (जिसको) विकार हो, वह उसका कारण कहा जाता है, और वह उन (कांटों) में भी है।"४

---

१. प्र. वा. १।५३, ५४।

२. प्रमाणवार्त्तिकस्ववृत्ति १।३३७ "सा स्वामिना परेण संगता त्वमित्युपलब्धा वदति 'पश्यत पुंसो वैपरीत्यं धर्मपत्न्यां प्रत्ययमकृत्वा बुद्बुदयोः प्रत्येति।"

३. वही २।१८०-१८१

४ वही २।१८१-१८२।

बौद्ध दार्शनिक हर उत्पन्न होनेवाली चीज़ को क्षण-विनाशी बिन्दुओं के प्रवाह का एक विन्दु मानते हैं, और इस प्रकार कोई वस्तु-विन्दु ऐसा नहीं जिसका पूर्व और पश्चाद्गामी विन्दु न हो। यही पूर्वगामी विन्दु कारण और पश्चाद्गामी विन्दु कार्य है, और हर एक पश्चाद्गामी अपने पूर्वगामी विन्दु के स्वभाव से सादृश्य रखता है, यदि यह नियम न होता तो आम खानेवाला१ आम की गुठली रोपने के लिये ज्यादा ध्यान न देता। एक भाव (= वस्तु) के होने पर ही दूसरे भाव का होना, तथा हर एक वस्तु की अपने पूर्वगामी के सदृश उत्पत्ति, हेतुबाद को साबित करती हैं। जबतक विश्व में सर्वत्र देखा जाता यह उत्पत्ति-प्रवाह और सदृश उत्पत्ति का नियम विद्यमान है, तब अहेतुवाद बिल्कुल गलत दर्शन है।

(छ) **जैनों के अनेकान्तवाद का खंडन**—जैन दर्शन के स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का जिक्र हम कर चुके हैं। इस वाद के अनुसार घड़ा घड़ा भी और कपड़ा भी है, उसी तरह कपड़ा कपड़ा भी है और घड़ा भी, इस तरह धर्मकीर्त्ति का आक्षेप है। "यदि सब वस्तु (अपना और अन्य) दोनों रूप है, तो (दही दही है, ऊंट नहीं, अथवा ऊंट ही ऊंट है दही नहीं, इस तरह) दही में उसकी विशेषता को इन्कार करने से किसीको 'दही खा' कहने पर वह क्यों ऊंट पर नहीं दौड़ता? (-आखिर ऊँट में भी वैसे ही दही है, जैसे दही में दही)।

"यदि कहो, दही में कुछ विशेषता है, जिस विशेषता के साथ दही ही वर्तमान है ऊँट नहीं ; तो वही विशेषता अन्यत्र भी है, पह बहुत नहीं रही, और इसीलिये सब वस्तु दोनों रूप नहीं बल्कि अपना ही अपना है और पर ही (पर है)।१

धर्मकीर्त्ति के दर्शन के इस संक्षिप्त विवरण को उनके ही एक पद्य के साथ हम समाप्त करते हैं—"वेद' (ग्रंथ) की प्रमाणता, किसी (ईश्वर) का (सृष्टि) कर्त्तापन (कर्तृवाद) मानना स्नान (करने) में धर्म (होने) की इच्छा रखना, जातिवाद (छोटी बड़ी जात पाँत) का घमंड और पाप दूर करने के लिये (शरीर को) सन्ताप देना (उपवास तथा शारीरिक तपस्याएँ करना) ये पांच हैं अक्ल मारे (लोगों) की मूर्खता (जड़ता) की निशानियां।"२

---

१. प्रमाणवार्त्तिक स्ववृत्ति १।३४२

२. "वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः
संतापारंभः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिंगानि जाड्ये।"

'नटी की पूजा'*

कृष्ण कृपालानी

'नटी की पूजा' रवीन्द्रनाथ के सबसे सरल और मार्मिक नाटकों में से एक है। इसमें प्रतीक-विधान की वह जटिलता अथवा विचारों की वह ऐकान्तिकता नहीं है जिसके कारण उनके अन्य नाटक कभी-कभी किंचित् दुर्बोध प्रतीत होने लगते हैं। वैसे नाटक के एक चरित्र के प्रति पाठक का आकर्षण संभवतः मनोवैज्ञानिक कारणों पर ही निर्भर है, तब भी नाटक की आधिकारिक घटना का केन्द्र भक्ति की सरल भावना ही है। और जब नाटक का कथानक अंत में चरम आत्मोत्सर्ग के विषाद में परिणत हो जाता है, तब भक्ति की वह सरल भावना असाधारण भाव से उदात्त हो जाती है, हृदय एक अनोखे ऐश्वर्य का अनुभव करता है। रंगमंच पर इस नाटक का अभिनय देखनेवाला कोई भी दर्शक मानव-आत्मा के इस परम वैभव से अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। यह अनुभूति जब भलीभांति जगा दी जाती है तब क्षुद्र भी मानो दिव्य हो उठता है, विराट् का स्पर्श पाकर जैसे संपूर्ण बदल उठता है।

नाटक का आधार स्वर्गीय राजेन्द्रलाल मित्र की एक कहानी है जो उनकी 'दी संस्कृत बुद्धिस्ट लिटरेचर आफ़ नेपाल' पुस्तक में संकलित है। कहानी इस प्रकार है :

"भगवान् बुद्ध से सत्य का ज्ञान पाकर राजा बिम्बिसार ने तथागत के नख और केश लेकर अपने अन्तःपुर में एक स्तूप बनवाया था। उनकी दासियां प्रतिदिन उस स्थान की सफ़ाई किया करती थीं। पिता की हत्या के बाद जब अजातशत्रु को सिंहासन मिला तब उसने मृत्युदंड का भय दिखलाकर सेविकाओं की यह परिचर्या बंद करा दी। श्रीमती नामक एक दासी ने प्राणों की परवाह न कर एक दिन उसे धोकर स्वच्छ किया और वहां दीपमालिका जलाई। राजा ने अत्यंत क्रुद्ध होकर उसे वध के लिये भेज दिया।"

भारतीय इतिहास के पाठकों को ज्ञात होगा कि राजा बिम्बिसार (लगभग ५४६-४९४ ई० पू०) भगवान् बुद्ध (लगभग ५६६-४८६ ई० पू०) का समकालीन था और उसीने मगध के उस प्राचीन साम्राज्य की नींव रक्खी थी जिसकी राजधानी राजगृह था। कहा जाता है कि उसके पुत्र अजातशत्रु (लगभग ४९४-४६२ ई० पू०) ने पिता का वध करके सिंहासन पर

* स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ का प्रसिद्ध नाटक। इसका हिंदी भाषान्तर श्री भगवती-प्रसाद चन्दोला ने किया है और प्रकाशन विश्वभारती पब्लिशिंग डिपार्टमेंट ने।

अधिकार कर लिया था, यद्यपि एक और अनुश्रुति यह भी है कि स्वयं बिम्बिसार ने अपना राज्य अजातशत्रु को सौंप दिया था। कवि ने नाटक के कथानक की रचना में इन दोनों अनुश्रुतियों का उपयोग किया है। कवि की कहानी का रूप इस प्रकार है :

बिम्बिसार भगवान् बुद्ध से त्याग की महिमा का बोध पाते हैं और यह देखकर कि अजातशत्रु सिंहासन के लिये लुब्ध है, अपनी ही इच्छा से राज्य का अधिकार उसे सौंप देते हैं और स्वयं नगर के बाहर आश्रय लेते हैं। वे अब अपना सारा समय चिंतन और प्रार्थना में व्यतीत करते हैं। उनके प्रभाव से उनका छोटा लड़का चित्र भी त्यागी होकर संघ में प्रवेश करता है और भिक्षु हो जाता है। राजमाता लोकेश्वरी किसी समय बुद्ध की भक्त थीं किंतु अब वे उस धर्म से अत्यंत कटुतापूर्वक विमुख हो उठती हैं जिसने उनके पति और पुत्र दोनों को उनसे छीन लिया है। देवदत्त बुद्ध का एक भाई और प्रतिस्पर्धी था; उसके प्रभाव में नया राजा अजातशत्रु, बौद्ध धर्म के पालन को दण्डनीय ठहराता है और उसके अनुयायियों पर सब प्रकार के अत्याचार करता है। इसी बीच बुद्धदेव के जन्मदिवस पर किसी एक वसंतपूर्णिमा* के दिन प्रासाद की राजनर्त्तकी श्रीमती संघ की ओर से मंदिर की पूजा के लिये नियुक्त की जाती है। यह सम्मान अभी तक राजकुमारियों का उपभोग्य था, अतएव उनमें से रत्नावली इससे तिक्त हो उठती है। राजा ने मंदिर में पूजा करना दंडनीय ठहराया ही था अतएव नटी का अपमान करने के अभिप्राय से रत्नावली राजा से यह आज्ञा प्राप्त कर लेती है कि श्रीमती मंदिर में पूजा न करके स्तूप के सम्मुख नृत्य करे। नटी इस आज्ञा को शिरोधार्य करके नियत समय पर नृत्य की सज्जा से युक्त होकर वहां उपस्थित होती है। नृत्य आरंभ होता है और अध्यात्म की मंगलमयी भावना में परिणत हो जाता है। आनंद में विभोर होकर नटी एक-एक करके अपने समस्त वस्त्राभूषण उतारकर फेंक चलती है; फिर बाहर के बहुमूल्य परिधान भी त्यक्त हो जाते हैं और अंत में वह भिक्षुणी के निरलंकृत गेरुए वेश में दिखाई देती है। पूजा के अंतिम मंत्रों को उच्चारित करने के लिये जैसे ही वह अपना शीश झुकाती है, राजाज्ञा से उसी समय उसका सिर धड़ से अलग कर दिया जाता है। भक्ति और निष्ठा के इस करुण और मर्मस्पर्शी दृश्य से रत्नावली का कठोर हृदय भी पिघल जाता है।

इसी समय पूजा के लिये मंदिर आते हुए बिंबिसार को भी राजा के भृत्य मार डालते हैं। इसीके साथ अजातशत्रु को प्रभूत रक्तपात के भयकंर परिणामों का भय होता है। उसे आशंका

---

* बुद्ध का जन्मदिन वैशाखी पूर्णिमा को मनाया जाता है जो आज ग्रीष्मऋतु के आसपास पड़ती है, किंतु ईसा के ६०० वर्ष पूर्व वह तिथि वसंत ऋतु में पड़ा करती थी।

होती है कि कहीं राज्य की जनता विद्रोही न हो उठे। अतएव वह पश्चात्ताप करता है और अपने अत्याचारों को अन्यथा करने की चेष्टा करता है।

नाटककार ने जिस कथानक का उपयोग किया है वह कहां तक ऐतिहासिक है और कहां तक काल्पनिक, अथवा किस हद तक उसने अनुश्रुतियों का अनुसरण किया है—इन और इन्हीं जैसे अधिकांश विषयों पर हम विचार नहीं करने जा रहे। नाटक का आकर्षण ऐतिहासिक नहीं है। गभीर मानव अनुभूतियों की मर्मस्पर्शिता और राजमाता के चरित्र के सूक्ष्म संघर्ष में ही इस रचना का प्रकृत आकर्षण छिपा हुआ है। हम यहां उसी पर किंचित् विचार करेंगे।

बुद्धदेव ने वेदों की असंदिग्धता एवं जातीय दृष्टि से ब्राह्मण की वर्णश्रेष्ठता का प्रत्याख्यान किया था। भगवान् की उपासना पर किसी जातिविशेष का एकाधिपत्य नहीं हो सकता और न वह उपासना किसी वैदिक रीतिविशेष में संकुचित ही रह सकती। सत्य के आह्वान पर हम अपने सर्वश्रेष्ठ दान का जो निवेदन करते हैं वही सच्ची उपासना है। ज्ञानी अपना ज्ञान निवेदन करता है, कर्मी अपना कर्म ; कवि अपने गीत उत्सर्ग कर देता है और निवेदिता नटी अपने नृत्य प्रभु के चरणों में चढ़ाती है। रवीन्द्रनाथ ने तथागत के संन्यास-धर्म का यही अर्थ किया है। ब्राह्ममुहूर्त में राजमहल के सिंहद्वार पर खड़े होकर भिक्खु उपालि बुद्धदेव के नाम पर भिक्षा मांग रहे हैं। केवल नटी ही इस समय जाग उठी है। वह जानती है कि समाज में उसका व्यवसाय कितना गर्हित समझा जाता है, अतएव उसे इतना साहस नहीं होता कि अपने ही हाथों वह भिक्षा दे सके। वह राजकन्याओं में से किसी एक को जगाने जाना चाहती है। किंतु भिक्खु उसे आश्वास देते हैं कि उसका दान भी प्रभु उसी तरह प्रेम से स्वीकार करेंगे। श्रीमती संकुचित होती है : मेरे पास है ही क्या देने योग्य—मैं हतभागिनी हूं। प्रभु का पुण्य भिक्षापात्र मेरे दान से कुंठित होगा।—किंतु भिक्षु आश्वास देते हैं : तुम अपना सर्वश्रेष्ठ दान निवेदन कर दो!—भिक्षु के ये शब्द श्रीमती के हृदय में उस सर्वव्यापी आत्माभिमान को जगा देते हैं जो राजकन्या अथवा क्रीत दासी दोनों के अंतराल में समान भाव से छिपा होता है। सामाजिक विधान इस आधारभूत मानव-ऐक्य को अपने दंभ और अहंकारयुक्त मान-दंडों से अस्वाभाविक रूप में विकृत कर डालते हैं, अपनी सुविधानुसार किसी को श्रेष्ट और किसी को हेय क़रार दे चलते हैं। किंतु जो प्रकृत धर्म है वह मनुष्य की विकृति को अन्यथा करके उस ऐक्य को पुनः प्राणवान् करता है जिसके द्वारा मनुष्य को सही सही मापा जा सकता है—उसे मुक्त किया जा सकता है। इसीसे नटी अपनी निष्ठा और आंतरिकता के बल पर अपने व्यवसाय की तुच्छता को दूर करती है और अपने प्राण विसर्जन करके आत्मा के गौरव की प्रतिष्ठा करती है।

नाटक का विषय तो मर्मस्पर्शी है ही, उसका प्रधान आकर्षण राजमाता लोकेश्वरी के चरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में है। उन्होंने भगवान् तथागत को अपने चर्मचक्षुओं से देखा था, उनकी पूजा की थी। अतएव एक ओर उनके हृदय की भक्ति उन्हें उस तरफ़ बुला रही थी, दूसरी ओर उनके चित्त में बौद्ध धर्म के प्रति प्रलयंकर क्रोध संचित हो रहा था। वे देख रही थीं कि इस धर्म की मानवीयता मानव को ही पावों तले कुचल रही है; मैत्री, प्रीति, सेवा और करुणा का संदेश हिंदू समाज को शतधा विच्छिन्न कर रहा है; "ब्राह्मण को वह तुच्छ दास बनने के लिये कहता है, क्षत्रिय से कहता है भिक्षा का पात्र हाथ में लो, कृपाण को त्यागो"। उनके पति ने सिंहासन छोड़ दिया है, पुत्र ने घर त्याग दिया है। "मैं आज स्वामी के रहते हुए विधवा हूं, पुत्र के होते हुए पुत्रहीना हूं, प्रासाद के बीच निर्वासिता हूं।" धर्म समाज की उन्नति करता है, उसे खंड-खंड नहीं करता; मनुष्य के कर्म को भगवान् की इच्छा द्वारा परिपुष्ट करता है, उसे निर्बल नहीं छोड़ देता। जिनका कर्तव्य केवल सेवा है उनके लिये अहिंसा ही चरम धर्म हो सकती है, किंतु क्षत्रिय के उस तेज को वह खर्व करती है जिसका महत् उद्देश्य शासन है, जो शक्ति को परिचालित करता है। पङ्क की उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती, किंतु पर्वत की रचना सृष्टिकर्त्ता ने निर्दय चट्टानों द्वारा ही की है। राजमाता की राजोचित गरिमा और धर्म के अंतर्निहित सामाजिक उद्देश्य का बोध—इन दोनोंने उन्हें उस एकांत व्यक्तिवादी धर्म के विरुद्ध विद्रोही बना दिया है जो रक्त और मांस के मूल दावे को अस्वीकार करता है। "हाय रे रक्तमांस। हाय री असह्य क्षुधा, असह्य वेदना। रक्तमांस की तपस्या क्या शून्य की तपस्या से किसी तरह भी कम है"? दूसरी तरफ़ उनके भीतर स्वयं हिंदू धर्म ने ही एक ऐसा सूक्ष्म अध्यात्म-बोध जगा दिया है कि वे करुणामय बुद्धदेव की प्रशांत एवं तेजोमयी दिव्य मूर्ति को भूल नहीं पातीं। उनके उस रूप का संस्मरण बार-बार हृदय के गभीर भक्ति-स्रोत का अर्घ्य पाता है। राजमाता लोकेश्वरी नवागत बौद्धधर्म और प्राचीन हिंदू समाज के ऐतिहासिक संघर्ष की मानो प्रतीक हैं। जैसा कि रवीन्द्रनाथ कहा करते थे, हिंदू-धर्म न तो बौद्धमत को हटा ही पाया, न स्वयं उसके द्वारा अन्यथा ही हो सका। आज वह मतवाद चाहे 'मृत' ही माना जाए, फिर भी इस महादेश के महाप्राण महामानवों ने उससे आज भी प्रेरणा पाई है। रवीन्द्रनाथ और गांधी दोनों ही इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। अपने जीवन में केवल एक ही बार रवीन्द्रनाथ की इच्छा किसी मूर्ति के निकट साष्टांग प्रणाम निवेदन करने की हुई थी और वह बुद्धगया में तथागत की मूर्ति के निकट! उपनिषद् तथा बुद्धदेव का जीवन—इन दोनों गभीर आध्यात्मिक स्रोतों ने उनके जीवन को सदा प्राणदान् कर रखा। कविता, गीत अथवा नाटक के माध्यम से रवीन्द्रनाथ ने बार बार बुद्ध की आत्मा का आह्वान किया है।

नीचे हम 'नटी की पूजा' के एक गान की कुछ पंक्तियां उद्धृत करते हैं। नाटक के भीतर नाटकीय उपयुक्तता को कहीं पीछे छोड़कर इन शब्दों के भीतर की दीप्ति हमें आलोकित कर देती है :

"हिंसाय१ उन्मत्त पृथ्वि, नित्य निठुर द्वन्द्व
घोर कुटिल पन्थ तार२ लोभ-जटिल बन्ध।
नूतन तव जन्म लागि३ कातर सब प्राणी
कर४ त्राण महाप्राण आन५ अमृतवाणी!
विकशित करो प्रेमपद्म चिर-मधु-निष्यन्दे।
शांत हे, मुक्त हे, हे अनंतपुण्ये,
करुणाघन, धरणीतल करो कलंक-शून्ये।"

इसीके पांच वर्ष बाद सन् १९३२ में सारनाथ के मूलगंधकुटी-विहार के उद्घाटन के समय उन्होंने एक और कविता लिखी थी जिसे हम यहां फिर उद्धृत करते हैं :

ओइ नामे ६ एक दिन धन्य हल ७ देश देशान्तरे तव जन्मभूमि।
सेइ ८ नाम आरबार ९ ए देशेर १० नगरे प्रान्तरे दान करो तुमि ११॥
बोधिद्रुमतले तव सेदिनेर १२ महा जागरण
आबार सार्थक होक् १३ मुक्त होक् मोह-आवरण
विस्मृतिर रात्रिशेषे ए भारते तोमार स्मरण नव प्राते उठुक् कुसुमि१४॥
चित्त हेथा १५ मृतप्राय, अमिताभ, तुमि अमितायु
आयु करो दान
तोमार बोधन-मंत्रे हेथाकार१७ तन्द्रालस वायु
होक् प्राणवान्।
खुले याक् १८ रुद्ध द्वार, चौदिके घोषुक् १९ शंखध्वनि
भारत अंगन-तले आजि तव नव आगमनी
अमेय प्रेमेर२० वार्ता शतकंठे उठुक् निःस्वनि२१ एने दिक् २२अजेय आह्वान॥

---

१ हिंसा से, २ उसका, ३ के लिये, ४ करो, ५ ले आओ, ६ उसी नाम से, ७ हुई, ८ वही, ९ पुनः, फिर, १० देश का, ११ तुम, १२ उस दिन का, १३ हो, १४ खिल उठे, १५ यहां, १७ यहां का, १८ खुल जाय, १९ चारों ओर बज उठे, २० प्रेम की, २१ बज उठे, २२ ले आए।

चतुरंग

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

(गतांक से आगे)

दामिनी

१

हम लोग गुहा से वापस आ गए। गांव में मंदिर के निकट गुरुजी के किसी शिष्य के दो-मंज़िले मकान के ऊपरवाले कमरों में हमारा निवास ठीक हुआ था।

गुहा से लौटने के बाद दामिनी कुछ ख़ास दिखाई नहीं पड़ती। वह हमारे लिये रसोई कर देती है सही, किन्तु यथासंभव दिखाई नहीं देती। उसने मुहल्ले की स्त्रियों के साथ मेल-जोल बढ़ा लिया है, सारा दिन उन्हींके बीच घर-घर घूमती-फिरती है।

गुरुजी कुछ खीझ-से उठे। उन्होंने सोचा, धरती के घर की तरफ़ ही दामिनी का खिंचाव है, आकाश की ओर नहीं। कुछ दिन जिस तरह वह देवता की पूजा के समान हम लोगों की सेवा में आ जुटी थी, इस समय उसमें थकावट दिखाई पड़ रही है। भूलें होती हैं, कामकाज में उसकी वह सहज श्री अब नहीं देखी जाती।

गुरुजी फिर उससे मन ही मन डरने लगे हैं। दामिनी की भौंहों में कुछ दिनों से एक रेखा काली होती आ रही है और उसके मिज़ाज की हवा जाने-कैसी अस्तव्यस्त होकर बहनी शुरू हो गई है।

दामिनी का ढीला बंधा हुआ जूड़ा कंधे की तरफ है ; ओठों में, आखों के कोनों में, और हाथ के किसी आक्षेप में रह-रहकर कठोर उल्लंघन का इशारा मिल जाता है।

गुरुजी ने फिर गान-कीर्त्तन में और भी अधिक मन लगा दिया। सोचा, उड़ा हुआ भ्रमर मीठी खुशबू से खुद ही लौटकर शांत होकर मधुकोष पर आ बैठेगा। हेमन्त के छोटे-छोटे दिन गान की मदिरा से फेनायित होकर जैसे छलकने लगे।

लेकिन कहां—दामिनी तो पकड़ में नहीं आ सकी। गुरुजी उसे लक्ष्य करके एक दिन हंसते हुए बोले—भगवान् शिकार खेलने चले हैं ; हरिणी दौड़-दौड़कर शिकार का आनंद और भी जमाए दे रही है। किन्तु मरना तो पड़ेगा ही !

शुरू में जब दामिनी के साथ हम लोगों का परिचय हुआ तब वह भक्तमंडली में प्रत्यक्ष नहीं थी, लेकिन उसकी तरफ़ कभी हमारा ख्याल ही नहीं गया। किंतु आज यही बात हमारे निकट

प्रत्यक्ष हो उठी कि वह नहीं है। उसे न देख पाना ही हमें पागल हवा की तरह सब तरफ़ से झकझोरने लगा। गुरुजी ने उसकी ग़ैरहाज़िरी को अहंकार कहकर मान लिया है, इसलिये वह बात उसके अहंकार को केवल और भी अधिक चोट ही पहुंचाती है। और मैं? — मेरी बात बतलाने की कोई ज़रूरत नहीं।

एक दिन गुरुजी ने साहस करके यथासंभव मृदुमधुर स्वर में दामिनी से कहा, दामिनी, आज तीसरे पहर तुम्हें कुछ फुर्सत होगी? हो तो—

दामिनी बोली, नहीं।

क्यों नहीं, सुनूं भला?

मुहल्ले में लड्डू कूटने जाऊंगी।

लड्डू कूटने? क्यों?

नन्दी वगैरों के यहां ब्याह है।

वहां जाना क्या तुम्हें बिल्कुल ही—

हां, मैंने उनसे वादा कर छोड़ा है।

और कुछ न कहकर दामिनी तेज़ हवा के झोंके की तरह सहसा चली गई। शचीश वहीं बैठा था, वह तो अवाक् हो गया। कितने ही धनी-मानी-गुणी विद्वान् उसके गुरु के पास सिर नवाते हैं, और इधर यह ज़रा-सी छोकरी—इसका यह कैसा अकुंठित तेज है?

और भी एक दिन सांझ के समय दामिनी घर पर ही थी। उस दिन गुरुजी ने विशेष करके कोई बड़ी-सी बात चलाई। थोड़ी दूर अग्रसर होते ही उन्होंने हमारे मुंह की ओर ताका तो कुछ खाली-खाली-जैसा भाव पाया। मालूम हुआ, हम लोग अन्यमनस्क हैं। पीछे की ओर मुड़कर देखा तो जाना कि दामिनी जहां बैठकर कपड़े में बटन टांक रही थी वहां नहीं है। समझ गए, हम दोनों यही सोच रहे हैं कि दामिनी उठ कर चली गई। उनके मन में भीतर ही भीतर बच्चे की झुनझुनी की तरह ज़रा-सा हिलाते-डुलाते केवल यही एक बात बार-बार बजने लगी— दामिनी ने सुना नहीं—सुनना चाहा नहीं। जो कुछ कह रहे थे उसका सूत्र खो गया। कुछ देर बाद उनसे और नहीं रहा गया; दामिनी के कमरे के पास जाकर बोले, दामिनी, यहां अकेली क्या कर रही हो? उस कमरे में नहीं आओगी?

दामिनी ने कहा, ना, कुछ काम है।

गुरु ने झांककर देखा, पिंजरे में एक चील है। दो दिन हुए जाने-कैसे टेलिग्राफ़ के तार से टकराकर वह चील धरती पर आ गिरी थी; वहां से कौओं के दल के हाथ से उद्धार करके दामिनी उसे घर ले आई थी, उसके बाद से शुश्रूषा चल रही थी।

यह चील गई ; अबकी दामिनी ने कुत्ते का पिल्ला जुटा लिया है, उसका जैसा रूप है वैसा ही कौलीन्य भी। वह एक मूर्तिमान् रसभंग है। करताल की ज़रा-सी आवाज़ पाते ही वह आकाश की ओर मुंह करके आर्त्तस्वर में विधाता के पास शिकायत जताने लगता है ; वह शिकायत विधाता सुनते नहीं यही खैरियत है, किन्तु जो लोग सुनते हैं उनसे तो धीरज नहीं रखा जाता।

एक दिन जब छत के कोने पर एक टूटी हांड़ी में दामिनी फूल-पौधों को लेकर व्यस्त थी, तभी शचीश ने आकर उससे पूछा, आजकल तुमने वहां जाना एकबारगी क्यों छोड़ दिया है ?

कहां ?

गुरुजी के पास।

क्यों, मुझसे तुम्हारा क्या काम है ?

काम हमारा कुछ भी नहीं है, किन्तु तुम्हारा तो है।

दामिनी जल उठी, बोली, कुछ नहीं, कुछ नहीं !

शचीश स्तंभित होकर उसके मुंह की तरफ़ ताकता रह गया। थोड़ी देर बाद बोला, देखो, तुम्हारा मन अशांत हो गया है, यदि शांति चाहती हो तो—

तुम लोग मुझे शांति दोगे ? रात-दिन मन में केवल लहरें उठा-उठाकर पागल हो रहे हो, तुम्हारी शांति कहां ? हाथ जोड़ती हूं, रक्षा करो मेरी—मैं शांति से ही थी, शान्ति से ही रहूंगी।

शचीश बोला, ऊपर लहरें देखती हो सही किन्तु धीरज रखकर भीतर तक पहुंचते ही देखोगी, वहां सब शांत है।

दामिनी हाथ जोड़कर बोली, अजी दुहाई है तुम्हारी, मुझसे और भीतर तक पहुंचने के लिये न कहना। तुम सब मेरी उम्मीद छोड़ दो तो कदाचित् मैं बच जाऊं !

२

नारी-हृदय का रहस्य जान सकने योग्य अभिज्ञता मेरी नहीं हुई। नितांत ऊपर-ऊपर और बाहर-बाहर से जो कुछ थोड़ा-बहुत देखा है उससे मेरा यही विश्वास हुआ है कि वे लोग जहां दुःख पाएंगी वहीं हृदय देने के लिये प्रस्तुत होंगी। ऐसे पशु के लिये वे अपनी वरणमाला गूंथती हैं जो उस माला को कामना के कीचड़ में कुचलकर वीभत्स कर सकता है ; और यदि वैसा न हो सके तो फिर किसी ऐसी ओर वे लक्ष्य करेंगी जहां उनकी माला पहुंच नहीं सकती,

जो व्यक्ति भाव की सूक्ष्मता में इस तरह घुल मिल गया है कि उसे 'नहीं है' कहने से भी गलती नहीं होगी। स्वयंवरा होने के समय नारी उन्हींका वर्जन करती है जो मेरी तरह० मंझोले आदमी हैं, जो स्थूल-सूक्ष्म से मिलकर गढ़े हुए हैं, नारी को जो नारी के रूप में ही जानते हैं अर्थात् इतना जानते हैं कि वे मिट्टी सानकर गढ़ी हुई खेल की गुड़िया भी नहीं हैं और सुर से बुनी हुई वीणा की झंकार मात्र भी नहीं। वे हमें त्याग देती हैं, कारण, हममें न तो लुब्ध लालसा का दुर्द्दान्त मोह है, न विभोर भावुकता की रंगीन माया। हम लोग प्रवृत्ति के कठिन पीड़न से उन्हें तोड़कर फेंक भी नहीं पाते, और भाव के ताप से गलाकर अपनी कल्पना के सांचे में गढ़ना भी नहीं जानते। वे जो हैं, हम उसी रूप में उन्हें जानते हैं, इसीलिये यद्यपि वे हमें पसंद करती हैं फिर भी प्यार नहीं कर पातीं। हम लोग ही उनके यथार्थ आश्रय हैं, हमारी निष्ठा पर वे निर्भर कर सकती हैं, हमारा आत्मोत्सर्ग इतना सहज होता है कि यह वे भूल ही जाती हैं उसका कोई मूल्य भी होगा। उनके निकट हम सिर्फ इतनी ही बख़शीश पाते हैं कि वे ज़रूरत पड़ते ही हमें अपने उपयोग में लाती हैं, और शायद हम पर श्रद्धा भी करती हैं। लेकिन जाने भी दीजिए, ये सब क्षोभ की बातें हैं, बहुत करके ये सब सच भी नहीं हैं और खूब संभव है, हम जो कुछ भी नहीं पाते वहीं हमारी जीत है, कम-से-कम ऐसा ही सोचकर अपनेको सांत्वना तो दे ही लेता हूं।

दामिनी गुरुजी की छाया भी बचाकर चलती है क्योंकि उनके प्रति उसके मन में एक नाराज़ी है, वह शचीश को यथासंभव बचाकर चलती है क्योंकि उसके प्रति उसके मन का भाव ठीक इससे उल्टा है। नज़दीक में सिर्फ मैं ही एक आदमी हूं जिसे लेकर राज़ी-नाराज़ी की कोई झंझट ही नहीं। इसीलिये दामिनी मेरे पास अपनी पुरानी बातें, नई बातें, मुहल्ले में कहां क्या देखा और क्या हुआ है—यही सब अत्यंत मामूली विषय भी अनर्गल बड़बड़ा जाया करती है। मेरे दूसरी मंज़िलवाले कमरे के सामने जो तनिक-सी ढकी हुई छत है वहीं बैठकर सरौते से सुपारी काटते-काटते वह जो-चाहे कहे जाती है—दुनिया की यह अत्यंत मामूली घटना भी आजकल शचीश की भाव-विह्वल आंखों में इस तरह जा पड़ेगी—यह मैं सोच ही नहीं सकता था। हो सकता है घटना नितांत साधारण न भी हो, लेकिन मेरा ख्याल था कि शचीश जिस मुल्क का बाशिन्दा है वहां घटना नामक कोई वस्तु नहीं होती ; वहां आह्लादिनी और संधिनी और योगमाया जो कुछ घटा रही हैं वह एक नित्य लीला है, अतएव ऐतिहासिक नहीं है। वहां चिर-यमुनातीरे चिर-धीर-समीरे जिसने मुरली सुनी है, वह अपने चारों ओर के अनित्य व्यापार को भी आंखों देखता या कानों सुनता है, सहसा ऐसा गुमान भी नहीं होता। कम-से-कम गुहा से लौटने के पहले तो शचीश के आंख-कान इसकी अपेक्षा कहीं अधिक रुद्ध थे।

३

कुछ दिन तक सतीश और भी अधिक ज़ोश के साथ करताल बजाकर नाचते नाचते कीर्तन करता फिरा। इसके बाद एक दिन मेरे पास आकर बोला, दामिनी को हम लोगों के बीच रखना नहीं हो सकता।

मैंने कहा, क्यों ?

वह बोला, प्रकृति का संसर्ग हमें एकबारगी छोड़ देना होगा।

मैंने कहा, यदि ऐसा ही है तब तो समझना चाहिए हमारी साधना में कहीं कोई भारी भूल है।

शचीश मेरे मुख पर अपनी दृष्टि जमाकर देखने लगा।

मैंने कहा, जिसे तुम प्रकृति कहते हो वह तो एक प्रकृत पदार्थ है, तुम उसे कदाचित् दूर हटा भी सकते हो लेकिन तब भी संसार से तो उसे हटाया नहीं जा सकता। अतएव तुम यदि इस तरह साधना करते रहो गोया वह वस्तु संसार में नहीं है, तब यह अपनेको भुलावा देना होगा। किसी दिन यह प्रवंचना इस तरह पकड़ में आएगी कि भागते राह न मिलेगी।

शचीश ने कहा, न्याय का तर्क अपने पास रक्खो, मैं काम की बात कह रहा हूं। स्पष्ट ही दिख रहा है, स्त्रियाँ प्रकृति की दूती हैं, प्रकृति का हुक्म तामील करने के लिये वे तरह-तरह के साज-सिंगार से मन को भुलाने की चेष्टा किया करती हैं। चैतन्य को आविष्ट न कर पाने पर वे हुकूमत कैसे कर सकेंगी भला। इसीसे चैतन्य को मुक्त रखने के लिये प्रकृति की इन दूतियों को, जैसे भी हो, बरकाकर चलना चाहिए।

मैं मालूम नहीं क्या-कुछ कहने जा रहा था कि शचीश मुझे रोककर बोला, भाई विश्री, प्रकृति की माया को देख नहीं पा रहे हो, कारण उसी माया के पाश में अपने को फंसाए हुए हो। जो सुंदर रूप दिखाकर वह आज तुम्हें मुग्ध किए हुए है, मतलब चुक जाने पर उस रूप के कृत्रिम चेहरे को वह सरका देगी ; जिस तृष्णा के चश्मे से तुम उस रूप को जगत् की सबसे बड़ी वस्तु समझ कर देख रहे हो, समय बीतने पर वह उस तृष्णा तक को संपूर्ण लुप्त कर देगी। जहां मिथ्या का जाल इस तरह सुस्पष्ट भाव से फैल गया है, वहां ज़रूरत क्या है बहादुरी दिखलाने जाने की ?

शचीश बोला, तुम लोग गुरु को नहीं मानते इसीसे तुम्हें मालूम नहीं है कि गुरु ही हमारी नौका के कर्णधार हैं। साधना को अपनी मर्जी-मुताबिक़ गढ़ना चाहते हो ?—अंत में मरोगे !

यह कहता शचीश गुरु के कमरे में चला गया और वहां उनके चरणों के पास बैठकर पांव दबाने लगा। उसी दिन शचीश ने गुरु के लिये हुक्का भरकर उनके निकट प्रकृति के नाम नालिश कर दी।

एक दिन की तंबाकू के सात सारी बातें खत्म नहीं हुईं। कई दिन तक गुरु ने कई प्रकार से चिंता की। दामिनी को लेकर वे काफ़ी भुगत चुके हैं। अब देखते हैं कि इस एकमात्र छोकरी ने भक्तों के अविराम, एकरस भक्ति-स्रोत में एक खासी भँवर की सृष्टि कर डाली है। लेकिन शिवतोष घर-द्वार-संपत्ति-समेत दामिनी को कुछ इस तरह उनके हाथों सौंप गया है कि उसे कहां हटाएं, सोचना कठिन है। और उससे भी कठिन यह है कि गुरु दामिनी से डरते हैं।

इधर शचीश उत्साह की मात्रा दूनी-चौगुनी बढ़ाकर, बारंबार गुरु के पांव दबाकर और हुक्का संजोकर भी यह बात किसी भी तरह नहीं भूल सका कि प्रकृति उसकी साधना के पथ पर खूब मजे से अड्डा जमाकर डटकर बैठ गई है।

एक दिन मुहल्ले के गोविन्दजी के मंदिर में किसी मशहूर विदेशी कीर्त्तनवाले के दल का कीर्त्तन चल रहा था। संवाद खतम होते होते काफ़ी रात बीत चुकेगी। मैं शुरू में ही सहसा उठकर चला आया था; मैं वहां नहीं हूं यह बात उस भीड़-भभ्भड़ में किसीकी नज़र में पड़ेगी —मैंने इसकी कल्पना भी नहीं की थी।

उस दिन सांझ के समय दामिनी का मन खुल गया था। जो बातें इच्छा होने पर भी कही नहीं जातीं, अटक और उलझ जाती हैं,वे भी उस दिन बड़े सहज और सुन्दर रूप में दामिनी के मुंह से निकल रही थीं। कहते कहते वह मानो मन के भीतर की जाने-कितनी अनजोनी कोठरियां देख सकी। उस दिन दैवात् अपने ही साथ आमने-सामने खड़े होकर साक्षात्कार करने का उसे सुयोग आ जुटा था।

इसी समय मालूम नहीं कब शचीश पीछे की तरफ़ से आकर खड़ा होगया, हम जान ही नहीं पाए। उस समय दामिनी की आंखों से आंसू झर रहे थे। वैसे बात कुछ भी नहीं थी, किंतु उस दिन उसकी सारी बातें जैसे आंसुओं की गहराई में से गुज़रती हुई बाहर आ रही थीं।

शचीश जिस समय आया उस समय भी कीर्त्तन का संवाद खत्म होने में काफ़ी देरी थी। मैं समझ गया, इतनी देर से उसके भीतर सिर्फ धक्का-धुक्की ही चल रही थी। दामिनी शचीश को सहसा सामने देखकर जल्दी-जल्दी आंखें पोंछती हुई बगलवाले कमरे की तरफ़ जाने लगी। शचीश ने कांपते गले से पुकारा, सुनो दामिनी, एक बात है।

दामिनी धीरे-धीरे फिर बैठ गई। मुझे उठूं-उठूं करते देख उसने मेरी ओर कुछ इस तरह ताका कि मैं फिर उठ नहीं सका।

शचीश ने कहा, हम जिस प्रयोजन से गुरुजी के निकट आए हैं, तुम तो उस प्रयोजन से नहीं आईं।

दामिनी बोली,नहीं।

शचीश बोला, तब किसलिये तुम भक्तों के बीच बनी हुई हो ?

दामिनी की दोनों आंखें जैसे भक् से जल उठीं, वह बोली, क्यों बनी हुई हूँ ? मैं क्या अपनी साध से यहां हूँ ? तुम्हारे भक्तगण जो इस भक्तिहीना को भक्ति के कैदखाने में पांवों में बेड़ी पहनाकर बंद किए हुए हैं ! तुम लोगों ने मेरे लिये क्या कोई और रास्ता रख छोड़ा है ?

शचीश बोला, हम लोगों ने तै किया है कि तुम यदि अपनी किसी आत्मीया के पास जाकर रहने लगो तो हम तुम्हारे खर्च-पाती का बंदोबस्त कर देंगे ।

तुम लोगों ने तै किया है ?

हां ।

मैंने तै नहीं किया ।

क्यों ! इसमें तुम्हें कौन-सी अड़चन है ?

तुम लोगों में से कोई भक्त किसी एक उद्देश्य से एक बंदोबस्त करेंगे और कोई अन्य भक्त किसी अन्य मतलब से कोई और बंदोबस्त करेंगे, मैं क्या बीच में तुम पांच-पचीस आदमियों के पांसे की गोटी हूँ ?

शचीश अवाक् होकर ताकता रहा ।

दामिनी ने कहा, मुझे तुम लोग पसंद करोगे इस आशा से अपनी इच्छा से तुम लोगों के बीच नहीं आई हूँ और आज तुम लोग पसंद नहीं करते इस कारण तुम लोगों की इच्छा शिरोधार्य करके यहां से चली जाऊंगी—सो नहीं होगा ।

कहते-कहते मुंह पर दोनों हाथ ढंककर आंचल दबाती हुई वह रो पड़ी, और शीघ्र ही वहां से उठकर कमरे में भागकर उसने भीतर से द्वार बंद कर लिए ।

उस दिन शचीश फिर कीर्त्तन सुनने नहीं गया । उसी छत पर धरती पर ही चुपचाप बैठा रहा । उस दिन दक्खिन की हवा के साथ सुदूर की लहरों का शब्द पृथिवी की छाती के क्रन्दन के समान नक्षत्र-लोक की ओर उठता जान पड़ा । मैं बाहर आकर अंधियारे में गांव के सुनसान रास्ते पर अकेला घूमने लगा ।

४

गुरुजी ने हम दोनोंको रसके जिस स्वर्गलोक में बांध रखने की चेष्टा की थी, आज मिट्टी की बनी यह धरती उसे तोड़ डालने के लिये कमर कसकर पीछे पड़ी है । इतने दिन रूपक के प्याले में भाव का रस भर-भर कर उन्होंने हमें पिलाया है ; अब की बार रूप के साथ रूपक के

टकरा जाने के कारण प्याला औंधा होकर धरती पर गिरने के लिये प्रस्तुत है। आसन्न विपद के लक्षण उनकी आंखों से ओझल नहीं रहे।

शचीश आजकल मालूम नहीं कैसा-कुछ हो गया है। जिस पतंग की डोर टूट गई है उसके समान वह हवा में तो अब भी डोल रहा है, किंतु चक्कर खाकर गिर पड़ने में अब और विलंब नहीं है। जप-तप अर्चना आलोचना में यों बाहर की तरफ़ से तो कोई कमी नहीं है, किन्तु उसकी आंखें देखने से समझ में आ जाता है कि भीतर ही भीतर उसका पाया सरक रहा है।

और मेरे बारे में कुछ भी अनुमान करने का रास्ता दामिनी ने रख नहीं छोड़ा है। वह इस बात को जितना ही समझने लगी कि गुरुजी मन ही मन भय और शचीश मन-ही-मन व्यथा अनुभव कर रहा है, उतना ही वह मुझे लेकर और भी खींचातानी करने लगी। बात यहां तक पहुँची कि यदि कभी मैं, शचीश और गुरूजी बैठे बातें कर रहे हैं तो उसी समय दरवाजे के पास आकर दामिनी बुला गई है ; श्रीविलास बाबू, एक दफ़ा आइए तो।—श्रीविलासबाबू से उसे आखिर काम कौन-सा है सो भी नहीं कहेगी। गुरुजी मेरे चेहरे की तरफ़ ताकते हैं, शचीश मेरे मुंह की ओर देखता है, मैं भी तनिक देर उठूं कि न उठूं करते दरवाजे की ओर दृष्टि उठाकर सीधे बाहर चला जाता हूं। मेरे चले जाने पर भी कुछ देर तक बातचीत का सिलसिला बनाए रखने की कोशिश होती है, लेकिन बातचीत की अपेक्षा वह कोशिश ही बड़ी हो उठती है, और इसके बाद फिर बातचीत ही बंद हो जाती है। इसी तरह बेहद तोड़-फोड़ और चूर-मार की बेतरतीबी चलने लगी, किसी भी तरह एक चीज़ दूसरी के साथ अपना गठबंधन स्वीकार नहीं करना चाहती।

हम दोनों ही गुरुजी के दल के प्रधान वाहक हैं—उच्चैःश्रवा एवं ऐरावत कहना भूल नहीं होगी। अतएव वे सहज में हमारी आशा नहीं छोड़ सकते। उन्होंने दामिनी के पास आकर कहा, मां दामिनी, इस बार किसी दूर और दुर्गम स्थान को जाऊंगा। तुम्हें यहीं से लौट जाना होगा।

कहां जाऊंगी ?

अपनी मौसी के यहां।

सो मुझसे नहीं होगा।

क्यों ?

प्रथम तो वे मेरी सगी मौसी नहीं हैं, उसके बाद वे मेरा चाहती ही क्या हैं जो मुझे अपने घर रखेंगी ?

तुम्हारा खर्च जिससे उन्हें सहना न पड़े ऐसी व्यवस्था—

झंझट क्या केवल खर्च का है ? वह जो मेरी देख-रेख और खबरदारी लेंगी, इसकी जिम्मेवारी तो उनपर नहीं है।

मैं क्या चिरकाल सब समय तुम्हें अपने साथ लिए फिरूंगा ?

इसका उत्तर क्या मुझे देना होगा ?

अगर मैं मर जाऊं तो तुम कहां जाओगी ?

यह सोचने का भार मुझपर किसीने नहीं दिया। मैंने इतना ही भलीभांति समझ लिया है कि मेरी मौसी नहीं है; बाप नहीं है, भाई नहीं है, घर नहीं, द्वार नहीं, पैसा नहीं कौड़ी नहीं—कुछ भी नहीं है! इसीलिए मेरा भार बहुत बड़ा है; उस भार को आपने बड़ो साध से ही ले रखा है, उसे आप दूसरे के कन्धों उतार नहीं सकेंगे।—यह कहती हुई दामिनी वहां से चली गई। गुरुजी ने दीर्घनिश्वास फेंककर पुकारा—मधुसूदन!

एक दिन दामिनी ने मुझे हुक्म दिया, कुछ अच्छी अच्छी बंगला किताबें उसके पढ़ने के लिये मंगवा देनी होंगी। कहने को जरूरत नहीं, अच्छी किताबों से दामिनी का मतलब भक्ति-रत्नाकर से नहीं था और मुझपर किसी तरह का दावा करते हुए उसे संकोच नहीं होता था। उसने किसी प्रकार समझ लिया था कि दावा करना ही मेरे प्रति सबसे बड़ा अनुग्रह करना है। कोई कोई पेड़ ऐसे होते हैं कि जिनके डाल पत्तों को छांट देने से ही वे कुशल-पूर्वक रहते हैं; दामिनी के सम्पर्क में मैं उसी जाति का आदमी हूं।

मैंने जिस लेखक की किताबें ला दी थीं वह आदमी एकबारगी खालिस आधुनिक था। उसकी रचना में मनु की अपेक्षा मानव का प्रभाव कहीं अधिक था। पुस्तकों का पैकेट गुरुजी के हाथों जा पड़ा। उन्होंने तिरछी भौंहें करते हुए पूछा, क्यों जी श्रीविलास, यह सब किताबें किसलिये ?

मैं चुप रहा।

गुरुजी दो चार सफे उलटकर बोले; इसमें सात्विकता की गन्ध तो कोई खास नहीं मिल रही।

लेखक को वे क़तई पसन्द नहीं करते।

मैं जल्दी में कह बैठा, तनिक ध्यान देकर देखिये तो सत्य की गन्ध पाइएगा।

असल बात यह है कि भीतर ही भीतर विद्रोह पक रहा था! भाव के नशे की खुमारी में मैं एकदम जर्जरित हो रहा था। मनुष्य को दूर हटाकर केवल मात्र मनुष्य की हृदय-वृत्तियों को लेकर दिनरात इस तरह झकझोरने से जहां तक अरुचि हो सकती है वहां तक हो गई है।

गुरुजी दम भर मेरी ओर ताकते रहे, फिर बोले, अच्छा तब एक बार ध्यान देकर देखा जाय।—यह कह कर पुस्तकें उन्होंने तकिए के नीचे रख लीं। मैं समझ गया, वे लौटाना नहीं चाहते।

दामिनी ने आड़ से अवश्य ही घटना का आभास पा लिया था। दर्वाज़े के पास आकर वह मुझसे बोली, आप से जो किताबें मंगवाई थीं, वे क्या अब भी नहीं आई हैं ?

मैं चुप रह गया।

गुरुजी बोले, मां, वे किताबें तो तुम्हारे पढ़ने योग्य नहीं हैं।

दामिनी ने कहा, आप कैसे जानते हैं ?

गुरुजी भ्रूकुञ्चित करके बोले, तुम्हीं किस तरह जानोगी ?

मैंने पहले ही पढ़ी हैं, आपने शायद नहीं पढ़ीं !

तब फिर क्या ज़रूरत है ?

आपकी किसी ज़रूरत में तो कोई बाधा नहीं पड़ सकती, केवल मेरी ही कोई ज़रूरत नहीं होगी ?

मैं संन्यासी हूं यह तुम जानती हो !

मैं संन्यासिनी नहीं हूं यह आप जानते हैं। मुझे वे पुस्तकें अच्छी लगती हैं— दीजिए !

गुरुजी ने तकिए के नीचेसे किताबें निकाल कर मेरे हाथ के पास फेंक दीं। मैंने समेट कर दामिनी को दे दीं।

इस घटना का परिणाम यह हुआ कि दामिनी जो किताबें अपने कमरे में बैठकर अकेली पढ़ा करती थी, उन्हें मुझे बुलाकर सुनाने के लिये कहती है। बरामदे में बैठकर हमारा पढ़ना होता है, आलोचना चलती है,—शचीश बार बार सामने से होकर आता जाता है, चाहता है बैठ जाए, अनाहूत बैठ नहीं पाता।

एक दिन किसी किताब में कोई एक बड़ी हंसी की बात थी, सुनकर दामिनी खिलखिला-कर हंस पड़ी—हंसी रुकना ही नहीं चाहती। हमारा ख्याल था, मन्दिर में मेला है, शचीश वहीं गया है ! अचानक देखता हूं पिछली तरफ के कमरे का दर्वाज़ा खोलकर शचीश निकल आया और हम लोगों के साथ ही बैठ गया।

उसी क्षण दामिनी की हंसी एकदम बंद हो गई, मैं भी अप्रस्तुत हो पड़ा। सोचा शचीश के साथ कुछ बात करूं, किन्तु कोई बात खोजे न मिली। चुपचाप किताब के सफे उलटने लगा। शचीश जिस तरह अचानक आकर बैठ गया था, वैसे ही अचानक उठ कर चला गया। उस दिन फिर हम लोगों का पढ़ना न हो सका। शचीश शायद समझ नहीं पाया कि मेरे और दामिनी के बीच जिस आड़ का अभाव मानकर वह मुझसे ईर्ष्या करता है, वही आड़ वास्तव में होने के कारण मैं उससे ईर्ष्या करता हूं।

उसी दिन शचीश गुरुजी के पास जा कर बोला, प्रभु, कुछ दिन के लिये अकेले समुद्र की तरफ घूम आना चाहता हूं। हफ्ते भर के भीतर ही लौट आऊंगा।

गुरुजी उत्साह के साथ बोले, खूब अच्छी बात है, तुम जाओ।

शचीश चला गया। दामिनी ने फिर मुझे न तो पढ़ने के लिए बुलाया, न उसे मेरी कोई और ज़रूरत हुई। उसे मुहल्ले की स्त्रियों के साथ गपशप करते भी नहीं देखता। कमरे में ही रहती है, कमरे का दरवाज़ा बन्द रहता है।

कुछ दिन और भी कट जाते हैं। एक रोज़ गुरुजी दुपहर को सो रहे थे, मैं छत के बरामदे में बैठा चिठ्ठी लिख रहा था, इसी समय शचीश सहसा आकर मेरी ओर दृष्टिपात किए बिना दामिनी के बन्द दरवाज़े पर धक्का दे कर बोला, दामिनी, दामिनी।

दामिनी उसी समय दरवाजा खोल कर बाहर आई। शचीश का चेहरा यह कैसा हो रहा है। प्रचन्ड तूफान का झपट्टा खाए हुए, फटे पाल और टूटे मस्तूल वाले जहाज की तरह उसका भाव है;—आंखें दोनों कैसी-कैसी, केश उलझे-सुलझे, मुंह दुबला-पतला, कपड़े मैले। शचीश बोला, दामिनी तुम्हें चले जाने के लिये कहा था—यह मेरी भूल थी, मुझे माफ़ करो।

दामिनी हाथ जोड़कर बोली, यह आप क्या कह रहे हैं?

ना, मुझे माफ़ करो। हमलोग अपनी ही साधना के सुभीते के लिये तुम्हें मर्ज़ी मुताबिक साथ रखें या दूर हटाएं, इतने बड़े अपराध की बात अब मैं किसी दिन मन में नहीं लाऊंगा—किन्तु तुमसे मेरा एक अनुरोध है, वह तुम्हें मानना ही होगा।

दामिनी ने तत्काल झुककर शचीश के दोनों पांव छूते हुए कहा, मुझे आज्ञा दो तुम।

शचीश बोला, तुम हमारा साथ दो, इस तरह अपने को अलग अलग मत रखो।

दामिनी ने कहा, मैं साथ दूंगी, मैं कोई अपराध नहीं करूंगी।—यह कहकर फिर नत होकर पांव छूते हुए उसने शचीश को प्रणाम किया, और फिर कहा, मैं कोई अपराध नहीं करूंगी।

पत्थर फिर गला। दामिनी की जो असल दीप्ति थी उसका प्रकाश बना रहा, ताप नहीं रहा। पूजा-अर्चना-सेवा में माधुर्य का फूल खिल उठा। जब कीर्तन की बैठक जमती, जब गुरुजी हमारे साथ आलोचना के लिये बैठते, जब वे गीता अथवा भागवत की व्याख्या करते, दामिनी कभी एक दिन के लिये भी गैरहाजिर न रहती। उसकी साज-सज्जा में भी परिवर्तन हो गया है। उसने फिर अपनी टसर की सादी साड़ी पहन ली है, दिन में जब भी वह दिखाई पड़ती है, ऐसा मालूम होता है जैसे अभी-अभी स्नान करके आई हो।

गुरुजी के साथ अपने व्यवहार में ही उसकी सबसे कड़ी परीक्षा है। वहां जब वह प्रणाम करने के लिये नत होती, तब मैं उसकी आंखों के कोनों में एक रुद्र तेज की झलक देख पाता। मैं अच्छी तरह जानता हूं, गुरुजी के किसी भी हुक्म को वह मन में ज़रा भी नहीं सह पाती, किन्तु उनकी सभी बातें उसने यहां तक एकांत भाव से मान ली हैं कि एक दिन वे बंगला के उसी विषम आधुनिक लेखक की दुर्विषह रचना के विरुद्ध साहसपूर्वक अपना एतराज़ जना सके। दूसरे दिन उन्होंने देखा उनके दिन में विश्राम करने के कमरे में बिछौने के पास कितने ही फूल रखे हुए हैं ; ये फूल उसी आदमी की पुस्तक के फाड़े हुए सफ़ों पर सजाए हुए हैं।

मैंने कई बार देखा है, गुरुजी शचीश को जब अपनी सेवा के लिये बुलाते, तब यही बात दामिनी के लिये सबसे अधिक असह्य हो पड़ती वह किसी प्रकार उसे सरकाकर उसका काम खुद ही कर देने की कोशिश करती, लेकिन हर बार वैसा संभव नहीं होता था। इसीलिये शचीश जब गुरुजी की चिलम को सुलगाते हुए फूंक लगाता तब दामिनी प्राणपण से मन-ही-मन जपती : अपराध नहीं करूंगी, अपराध नहीं करूंगी। लेकिन शचीश ने जो कुछ सोचा था वह तो कुछ नहीं हुआ इसी तरह और भी एकबार दामिनी जब नत हुई थी, तब शचीश ने केवल माधुर्य ही देखा मधुर को नहीं देखा। इस बार स्वयं दामिनी शचीश के निकट इस प्रकार सत्य हो उठी है कि कीर्त्तन भजन की कड़ियां और तत्त्व के उपदेश सब-कुछ को ठेल कर वह दिखाई देती है, किसी भी तरह उसे आज ढक कर नहीं रखा जा सकता। शचीश उसे इतना सुस्पष्ट देख पाता है कि उसके भाव का नशा टूट जाता है। अब वह उसे किसी भी तरह भाव रस का रूपक मात्र नहीं समझ पाता। दामिनी उस समय गीतों को नहीं सजाती, गीत ही दामिनी को सजा उठते हैं।

यहां एक छोटी-सी बात और कह रखूं कि अब दामिनी को मेरी कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। मेरे पास उसकी सारी फरमाइशें अचानक एकदम बन्द हो गई हैं। मेरे जो सहयोगी थे उनमें चील मर चुकी है, नेवला भाग गया है, कुक्कुर-शिशु के अनाचार से गुरुजी विरक्त हैं इसीलिये दामिनी ने उसे कहीं टाल दिया है। इसी तरह बेकार और संगीहीन हो जाने से मैं पुनः गुरुजी के दर्बार में पहले के समान भर्त्ती हो गया यद्यपि वहां की सारी बातचीत और गाना-बजाना मुझे बिल्कुल बेस्वाद लगता था।

६

एक दिन शचीश कल्पना के उन्मुक्त पात्र में पूर्व और पश्चिम, अतीत और वर्त्तमान के समस्त दर्शन और विज्ञान, रस और तत्त्व एक साथ पका कर एक अपूर्व अर्क उतार रहा था, इसी समय हठात् दामिनी दौड़ती हुई आकर बोली, अजी तुमलोग एकदफा जल्दी इधर आओ।

मैं शीघ्र उठकर बोला, क्या हुआ ?

दामिनी बोली, नवीन की स्त्री ने शायद ज़हर खा लिया।

नवीन हमारे गुरुजी के किसी चेले का रिश्तेदार है— हमारा पड़ोसी और हमारे कीर्त्तन के दल का एक गायक। जाकर देखा, उसकी स्त्री मर चुकी है। पता लगाने पर मालूम हुआ, नवीन की स्त्री ने अपनी मातृहीना बहिन को अपने पास लाकर रखा था। ये लोग कुलीन हैं, उपयुक्त पात्र मिलना कठिन है। लड़की देखने में अच्छी है। नवीन के छोटे भाईने उसे ब्याह के लिए पसन्द किया है। वह कलकते के कालेज में पढ़ता है, और कुछ माह बाद परीक्षा देकर आगामी आषाढ़ में वह ब्याह करेगा, यह ठीक हो गया है। इसी समय नवीन की स्त्री को पता लगा कि उसके पति और उसकी बहिन दोनों एक दूसरे पर आसक्त हैं। तब उसने अपनी बहन के साथ शादी करने के लिए पति से अनुरोध किया। ज्यादा ज़बर्दस्ती नहीं करनी पड़ी। विवाह खत्म होने पर नवीन की पहली स्त्री ने विष खाकर आत्महत्या कर ली।

उस समय कुछ भी करने को नहीं था, हमलोग लौट आए। गुरुजी के निकट बहुत से शिष्य जुट गए, वे लोग कीर्त्तन सुनाने लगे—गुरुजी कीर्त्तन में साथ देकर नाचने लगे।

रात के शुरू के पहर में चांद निकला है। छत के जिस कोने की तरफ एक फरहद का पेड़ झुक आया है, वहीं छाया और प्रकाश के संगम पर दामिनी चुप-चाप बैठी है। शचीश उसके पीछे छायादार बरामदे में धीरे धीरे चहल-कदमी कर रहा है। डायरी लिखने का मुझे रोग है, कमरे में अकेला बैठा लिख रहा हूँ।

उस दिन कोकिल की आंखों नींद नहीं थी। दक्खिन की हवा में पत्ते जैसे बातें करना चाहते हों, और उनपर चांद का उजाला झलमल कर रहा है। अचानक किसी समय शचीश को जाने-कैसा लगा, वह दामिनी के पीछे आ खड़ा हुआ। दामिनी ने चौंककर सिर पर कपड़ा खींचते हुए एकदम उठकर चले जाने का उपक्रम किया। शचीश ने पुकारा, दामिनी !

दामिनी रुक कर खड़ी हो गई। हाथ जोड़कर बोली, प्रभु, मेरी एक बात सुनो।

शचीश ने चुपचाप उसके मुंह की ओर ताका। दामिनी बोली, मुझे समझा दो कि तुम लोग दिनरात जिसे लेकर रह रहे हो, उससे पृथ्वी का क्या प्रयोजन है ? तुम किसे बचा पाए ?

मैं कमरे से निकल कर बाहर बरामदे में आ खड़ा हुआ। दामिनी बोली, तुम लोग रात और दिन रस की पुकार मचाए रहते हो, उसे छोड़ तुम्हारे पास और कोई बात ही नहीं। रस क्या है सो तो आज देख लिया ? उसके न धर्म है न कर्म, न भाई है न स्त्री, न कुलमान ; उसके दया नहीं, विश्वास नहीं, लाज नहीं, शर्म नहीं। इसी निर्लज्ज निष्ठुर सत्यानाशी रस के रसातल से मनुष्य की रक्षा करने का तुमने क्या उपाय किया है ?

मुझसे रहा नहीं गया, बोल उठा, हमने स्त्रियों को अपनी चहार-दीवारी से दूर खदेड़कर निरापद स्थान में रस की चर्चा करने का कौशल रचा है।

मेरी बात पर जरा भी कान न देकर दामिनी ने शचीश से कहा, मैं तुम्हारे गुरु के निकट कुछ भी नहीं पाती। वे मेरे चञ्चल मन को पल भर भी शान्त नहीं कर पाए। आग से आग नहीं बुझाई जाती। तुम्हारे गुरु जिस पथ पर सबको चला रहे हैं, वहां धैर्य नहीं है, वीर्य नहीं है, शान्ति नहीं है। वह जो छोकरी मर गई, रस की राह में रस की राक्षसी ने ही तो उसकी छाती का रक्त सोख कर उसे मार डाला। कैसा कुत्सित चेहरा था उसका, सो तो देख आए? प्रभु हाथ जोड़कर कहती हूं, उस राक्षसी के निकट मुझे बलि मत देना। मुझे बचाओ। अगर कोई मुझे बचा सकता है तो वह तुम्हीं हो।

पल भर के लिए हम तीनों ही चुप रहे। चारों ओर सब कुछ इस तरह स्तब्ध हो उठा कि मुझे ऐसा जान पड़ा मानों झिल्ली के रव से पाण्डुवर्ण आकाश की सारी देह झनझन करनेवाली हो।

शचीश बोला, मैं तुम्हारा क्या कर सकता हूं?

दामिनी बोली, तुम्हीं मेरे गुरु होओ। मैं और किसीको नहीं मानूंगी। मुझे ऐसा कुछ मन्त्र दो जो इस सबसे कहीं ऊपर की वस्तु हो—जिससे मैं बच सकूं। मेरे साथ मेरे देवता को भी तुम नष्ट मत करना।

शचीश स्तब्ध खड़ा रहा, बोला, वही होगा।

दामिनी शचीश के पांवों के पास धरती पर माथा टेककर बहुत देर तक प्रणाम किए रही। बारबार केवल यही गुनगुनाती रही, तुम मेरे गुरु हो, तुम मेरे गुरु हो, मुझे बचाओ, बचाओ, बचाओ!

परिशिष्ट

फिर एकदिन अखबारों में कानाफूसी और गाली-गलौज चल निकली—कि फिर शचीश के मत में परिवर्तन हो गया है। एक दिन अति उच्चस्वर में वह न मानता था जाति, न मानता था धर्म। इसके बाद फिर एक दिन अति उच्चस्वर में उसने खाना-छूना स्नान-तर्पण योग-याग देवदेवी कुछ भी मानते बाक़ी नहीं रखा। इसके बाद एक दिन फिर इस सम्पूर्ण मानने की झोला-झोली का बोझा एक तरफ़ फेंककर वह शांत होकर चुपचाप बैठ गया। उसने क्या माना और क्या नहीं, सो कुछ भी समझ में नहीं आया। सिर्फ यही देखा गया कि पहले की तरह वह फिर काम में लग गया है। किन्तु उसमें झगड़ा-फ़साद का चटखारा बिल्कुल नहीं है।

विस्मृत बौद्ध दर्शन का अभिज्ञान

शान्तिभिक्षु

(१)

भारतीय दर्शन के विकास में बौद्ध दर्शन का बहुत बड़ा हाथ रहा है। सच तो यह है कि बौद्ध दर्शन का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त किए बिना भारतीय दर्शन की प्रवृत्ति समझी ही नहीं जा सकती। बौद्ध सम्प्रदाय के ह्रास के साथ साथ उसका धर्म और दर्शन भारत में विस्मृत होने लगा। चौदहवीं शती के सर्वदर्शनसंग्रह ग्रन्थ के लेखक माधवाचार्य ने वैभाषिक का अर्थ "उलटा-पलटा बोलने वाला" किया। जिस विभाषा के अनुयायी होने के कारण बौद्धों का एक सम्प्रदाय वैभाषिक कहलाने लगा उसके मूल अर्थ "विशिष्टा भाषा = विशिष्ट भाष्य" का विस्मरण हो जाना ही इस प्रकार की भूलों का कारण है। इसी प्रकार बुद्ध का चरित्र जिस समय पुराणों में मिलाया गया उस समय पौराणिकों को बुद्ध का विस्मरण हो चुका था। उन्होंने पुराणों में दर्ज किया कि द्वापर में असुरों को मोहित करने के लिये विष्णु ने बुद्धावतार लिया। करुणाकुल होकर जिसने संसार को दया, प्रेम, अहिंसा और परार्थ के लिये सर्वस्व निछावर कर देने वाली बोधिचर्या का उपदेश दिया वह असुरों को धर्म से छुड़ाकर अधर्म में प्रेरणा देने वाले छली कपटी के रूप में याद किया गया। पर आज हमें बौद्धों के एक सम्प्रदाय हीनयान के प्रतिनिधिभूत स्थविरवाद का विशाल त्रिपिटक, जो अपनी टीकाओं के साथ तीन महाभारत के बराबर है, प्राप्त है और उससे बुद्ध और बुद्धधर्म की एक प्रामाणिक जानकारी मिलती है। बौद्धों के दूसरे सम्प्रदाय महायान के अनेकों ग्रन्थ भी आज संस्कृत में हमारे सम्मुख उपस्थित हैं। इनसे बुद्धधर्म के एक दूसरे पहलू पर प्रकाश पड़ता है। बुद्ध के बाद जिन बौद्ध पंडितों ने सम्प्रदाय रक्षा की तथा तर्क और दर्शन के क्षेत्र में नई विचार धारा का जन्म दिया उनकी भी कितनी ही कृतियां आज सामने हैं।

भारतीय दर्शन में चारवाक, बौद्ध, जैन और ब्राह्मण दर्शन के आलोचनात्मक अंश तत्कालीन भारतीय मस्तिष्क के विकास की ऊँची अवस्था को प्रकट करते हैं। हिन्दू-दार्शनिकों की आनुश्रुतिक चिन्ता-पद्धति को सजाकर रखने वाला एकमात्र ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र है। सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध, जैन, माहेश्वर और भागवत विचारधारा की मुख्य रूप से इसमें आलोचना है। ब्राह्मण तर्क में भी बौद्धों की तार्किक विचारधारा की खूब समीक्षा है। गोतम के न्यायसूत्र के भाष्य में वात्स्यायन (३०० ई०) ने कुछ आरम्भिक बौद्ध स्थापनाओं के प्रत्याख्यान का प्रयत्न

किया। बस फिर तो एक सिलसिला चल पड़ा। दिङ्नाग (४२५ ई०) ने प्रमाणसमुच्चय नामक एक सुन्दर तर्क शास्त्र का ग्रन्थ लिखा और वात्स्यायन की समीक्षा कर के उसकी भूलों को दिखलाया। दिङ्नाग का उत्तर देने के लिये उद्योतकर (५५० ई०) ने भाष्य पर वार्तिक लिखा। धर्मकीर्त्ति (६०० ई०) ने उद्योतकर का अपने प्रमाणवार्तिक में प्रत्याख्यान किया और अन्त में उद्योतकर के समर्थन के लिये वाचस्पति मिश्र (८५० ई०) को तात्पर्य टीका लिखनी पड़ी। बौद्धों की जिस विचारधारा की ब्राह्मण तर्क और दर्शन में खूब छान बीन की गई, उसके प्रतिपादक ग्रन्थों का कुछ बरस पहले कुछ पता न था। ब्रह्मसूत्र में वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक दर्शन का उल्लेख और प्रत्याख्यान है। जिस विभाषा के नाम से उसके अनुयायियों का वैभाषिक नाम पड़ा वह आज मूल संस्कृत में लुप्त है। चीनी भाषा में आज भी पूरी विभाषा पाई जाती है। चीन से प्रो० तान् विश्वभारती चीनभवन के पुस्तकालय के लिये जिन चीनी ग्रन्थों का संकलन करके लाए हैं उनमें पूरा त्रिपिटक और विभाषा है। चीनी भाषा के आवरण में छिपी विभाषा आज भी अपने पुनरुद्धार की प्रतीक्षा में है। विभाषा टीका के लिये कनिष्क (७८ई०) के संरक्षण में जिस विद्वन्मण्डली के सम्मेलन में महाकवि और दार्शनिक अश्वघोष का अनन्य हाथ रहा उनको भी कुछ बरस पहले लोग न जानते थे। १८६५ ई० में फ्रेंच पण्डित सिलवाँ लेवी ने बुद्धचरित का पहला सर्ग प्रकाशित किया। इससे पहले यूरोप में अश्वघोषविषयक जानकारी नहीं के बराबर थी अश्वघोष की कृतियां आज भी पूरी नहीं मिल पाई हैं। प्रमुख कृतियों में बुद्धचरित काव्य और शारिपुत्रप्रकरण (नाटक) खण्डित हैं। केवल सौन्दरनन्द काव्य पूरा मिला है जो अभी हाल में ही पंजाब विश्वविद्यालय से छपा है। ई. बी. कोवेल (E.B. Cowell) ने आक्सफोर्ड से १८९३ में बुद्धचरित की पोथी प्रकाशित की। इसमें १७ सर्ग थे। अन्तिम चार अमृतानन्द ने अपनी ओर से उन्नीसवीं शती के आरम्भ में जोड़ दिए थे क्यों कि बहुत यत्न करके भी उसे उस समय पूरी पोथी कहीं से नहीं मिली थी। म०म० हरप्रसाद शास्त्री को जो नेपाल दरबार से पोथी मिली वह भी चौदहवें सर्ग के बीच तक ही जाती है। इन चौदह सर्गों का हाल ही १९३६ में ई० एच्० जौन्स्टन (E. H. Johnston) ने सम्पादन किया है और पंजाब विश्वविद्यालय ने छपाया है। आज अश्वघोष महाकवि के रूप में कालिदास के समान ही नहीं पर प्राचीन होने के कारण उससे भी अधिक गौरवास्पद स्थान लिए हैं। इस समय, जब तक इनसे कोई पुराना कवि न मिले इनकी रचनाएँ रामायण और महाभारत के बाद और सबसे पुरानी हैं। विभाषा के साथ अश्वघोष का नाम चिरस्मरणीय रहेगा ही। यद्यपि विभाषा आज हमारे सम्मुख संस्कृत में नहीं है पर विभाषा के आधार पर उसके अभिप्राय का ठीक ठीक प्रतिपादन करने वाला वसुबन्धु (४२०-५०० ई०) का अभिधर्मकोश सामने है। बेल्ज देश के पण्डित

पूसिन् (Louis De La Vallee Poussin) ने पहले पहल चीनी भाषा के शुआन् चुआङ कृत कारिका और भाष्य के अनुवाद का फ्रांसीसी भाषा में उल्था किया। पाद-टिप्पणियों में उन्होंने ५०० के लगभग कारिकाओं का हस्तलिखित ग्रन्थ, तथा भाष्य के उद्धरण एवं चीनी और तिब्बती भाषान्तर के सहारे सम्पादन किया था। सुपरिचित बौद्ध पण्डित राहुल सांकृत्यायन ने पूसिन् की सामग्री को लेकर अभिधर्मकोश की मूल कारिकाओं का उद्धार किया और उनपर नालन्दिका नाम की संक्षिप्त संस्कृत टीका लिखी। यह ग्रन्थ १९३१ में काशी विद्यापीठ से प्रकाशित हो चुका है।

सौत्रान्तिक मत का खंडन करने के लिये इसका नाम बहुतों ने लिया पर आज कोई भी कृति हमारे सामने नहीं है। इसके सिद्धान्तग्रन्थ पूरे के पूरे लुप्त हो चुके हैं। इसका उद्धार करने के लिये बहुत बड़ी तपस्या की ज़रूरत है। खण्डनार्थ उल्लेख किए गए उद्धरणों के सहारे इसके सिद्धान्त को शास्त्रीय रूप में फिर से लाया जा सकता है। शंकर ने ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या में विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान किया है पर इनके दादागुरु गौड़पाद विज्ञानवादियों की तर्क-प्रणाली को पूरा पूरा स्वीकार कर लेते हैं। उनके ख्याल से यदि विज्ञान को प्रतीत्यसमुत्पन्न न माना जाय तो उसमें और ब्रह्मवाद में विरोध ही नहीं रहता। इस विज्ञानवाद को यथार्थरूप से समझने के लिये आज हमारे सामने वसुबन्धु का 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' नामक सुन्दर ग्रन्थ है। १९२५ में पेरिस से सिलवाँ लेवी ने इस ग्रन्थरत्न को पहले पहल प्रकाशित किया। यह उन्हें नैपाल के राजगुरु हेमराज शर्मा से मिला था। अपनी कृतज्ञता प्रकाशन के लिये लेवी ने उन्हींको इस ग्रन्थ का समर्पण भी किया। इस ग्रन्थ का मूलभाग कारिकाओं में है। पहले प्रकरण का नाम विंशिका और दूसरे का नाम त्रिंशिका है। पहले पर ग्रन्थकार की अपनी, और दूसरे पर स्थिरमति की टीका है। शंकराचार्य पर इस ग्रन्थ की विचारधारा ने बहुत बड़ी छाप डाली है। उनके भाष्य में यह विचारधारा जगह जगह फूट पड़ी है। शंकर पर बौद्ध प्रभाव की बात छिपी न रही या न रह सकती थी। ब्राह्मणों के एक दल ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहकर मायावाद को असत् शास्त्र कहा "मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।" यह बात और भी बौद्धदर्शन के अनुशीलन से पुष्ट हो जाती है। वस्तुतः शंकरदर्शन बौद्ध विज्ञानवाद का ब्राह्मण संस्करण है जिसमें थोड़े हेरफेर के साथ तर्क प्रणाली तो बौद्ध है पर श्रुति के साथ उसका ग्रन्थि-बन्धन शंकर की सूझ है। शून्यवाद को शंकर ने 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध' कहकर बिना समीक्षा किए ही छोड़ दिया है या उन्हें छोड़ना पड़ा है। बात यह है कि शून्यवाद का जितनी सूक्ष्मता और विवेचना के साथ बौद्धदर्शन में प्रतिपादन हुआ है, उसमें किसी दूसरे का दखल होना बड़ा कठिन है। शून्यवाद दुरूह नहीं है वह अत्यंत हृदयंगम है। उसके तर्क इतने प्रबल हैं कि जो उसकी ओर जाए वह लौट नहीं सकता। वह उसीका हो जाता है। सो उसकी विचारधारा को पूर्वपक्ष के रूप में

रखना भी शंकर ने ठीक न समझा। यदि रखते तो ब्रह्मवाद से शायद हाथ ही धोना पड़ता। आज शून्यवाद को ठीक ठीक समझने के लिये नागार्जुन की 'मूलमाध्यमिककारिकाएँ' चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपदा के साथ सामने हैं। १९०३ में सेंटपीटर्सबर्ग से पूसिन् ने सम्पादन कर इसे हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। इसी विषय पर आर्यदेव का 'चतुःशतक' भी हमारे सामने है। इसकी खण्डित पोथी ही हरप्रसाद शास्त्री को मिली थी जिसका सम्पादन कर १९१४ में एशियाटिक सोसाइटी बंगाल से उन्होंने प्रकाशन करवाया था। पी. एल. वैद्य ने इसके सोलह प्रकरणों में से लुप्त अन्तिम नव प्रकरणों का उद्धार तिब्बती भाषान्तर के सहारे किया। विश्वभारती विद्याभवन के तत्कालीन आचार्य पं० विधुशेखर शास्त्री भट्टाचार्य ने इस ग्रन्थ को तिब्बती भाषान्तर के सहारे चन्द्रकीर्ति की टीका के साथ उद्धार किया है। यह ग्रन्थ अंग्रेजी अनुवाद संस्कृत और तिब्बती पाठ के साथ विश्वभारती से प्रकाशित होकर आज हमारे सम्मुख है। चन्द्रकीर्ति (६०० ई०) कोरे टीकाकार पण्डित ही न थे इन्होंने माध्यमिक सिद्धान्तों को सरलतया समझाने के लिये बड़ी प्राञ्जल शैली में 'मध्यमकावतार' नामक ग्रन्थ लिखा है। १९१२ में पूसिन् ने तिब्बती अनुवाद का सम्पादन किया था वह हमारे सामने है। संस्कृत में मद्रास के जरनल आफ़ ओरियंटल रिसर्च में यह छपा है। यह तिब्बती अनुवाद का प्रत्यनुवाद है। शून्यवादी माध्यमिकों के आचार एवं विचारधारा के आदर्श को एक साथ प्रकाशित करनेवाला शान्तिदेव (७०० ई०) का बहुत ही सुन्दर ग्रन्थ एशियाटिक सोसाइटी बंगाल का प्रकाशन 'बोधिचर्यावतार' हमारे सामने है। यह ग्रन्थ पढ़ते समय जान नहीं पड़ता कि हम दार्शनिक ग्रन्थ पढ़ते हैं। कविता का आनन्द इस ग्रन्थ के पढ़ने से मिलता है और सिद्धान्त की जानकारी भी होती है। तिब्बतियों में इस ग्रन्थ के अनुवाद का वैसा ही आदर और प्रचार है जैसा उत्तरी भारत में तुलसीकृत रामायण का। शंकर के परवर्ती शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह में दर्शन की बड़ी ऊंची उड़ान है। इसमें ब्राह्मण दार्शनिकों का खूब प्रत्याख्यान हुआ है। पूर्वपक्ष को जितनी ईमानदारी और प्रौढ़ता के साथ इस ग्रन्थ में विस्तार से निरूपण किया गया है उससे जान पड़ता है कि बौद्धदर्शन की पण्डिताई के साथ अन्यदर्शनों में वह पूर्ण निष्णात हैं। षड्दर्शनों की बारीकियों के समझने में ब्राह्मण दर्शनों के टीकाकार वाचस्पति मिश्र प्रमुख हैं। फिर भी वाचस्पति टीकाकार ही हैं ग्रन्थकार नहीं। शान्तरक्षित से उनकी तुलना नहीं हो सकती। इस ग्रन्थ का गायकवाड़ सीरिज़, बड़ौदा के ३०, ३१ अंकों में १९२६ में प्रकाशन हो चुका है। भारतीय न्यायदर्शन के समर्थन में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की कृतियों का बहुत बड़ा स्थान है। दिङ्नाग का न्यायप्रवेश ही हमारे सामने है। यह गायकवाड़ सीरिज़ के ३९ वें अंक में १९२७ में प्रकाशित हुआ है। इनकी प्रमुख कृति प्रमाण-

समुच्चय के लिये भोट अनुवाद पर ही सन्तोष करना पड़ता है। इसका एक परिच्छेद भोट अनुवाद से संस्कृत में प्रत्यनुवाद कर मैसूर विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है। धर्मकीर्ति की कृतियों का उद्धार कर राहुल जी ने बड़ा कार्य किया है। प्रमुख कृतियों में प्रमाणवार्तिक, वादन्याय का राहुल जी ने विहार उड़ीसा की अनुसन्धान पत्रिका में सम्पादन किया है। न्यायविन्दु भी सुलभ है। हेतुविन्दु की टीका और अनुटीका गायकवाड़ सीरिज़ से निकलनेवाली ही है। इन उपरोक्त कृतियों ने भारतीय तत्त्वचिन्ता में एक क्रान्ति उत्पन्न की थी और आज उनके पुनरुद्धार से हमारे पास एक व्यवस्थित सामग्री प्राप्त है जिससे हम अतीत की विचारधारा और उसके क्रमिक विकास को ठीक ठीक हृदयंगम कर सकते हैं।

विभाषा टीका का निर्माण बौद्ध दार्शनिक पहलुओं पर व्यवस्थित रूप से प्रकाश डालनेवाली पहली घटना है। इस टीका के बनने से जो बौद्ध दार्शनिक विचारधारा चली आ रही थी उसमें कुछ उथल-पुथल हो गई। फलतः मूल सूत्रों को पकड़कर चला आनेवाला सम्प्रदाय सौत्रान्तिक इस नई टीका विभाषा के माननेवाले वैभाषिकों से दार्शनिक विचारों में कुछ अलग-सा हो गया। शुआन् चुआङ् ने अश्वघोष के आसपास होनेवाले कुमारलात को इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना है। सच तो यह है कि विखरी सूत्रान्त (सूत्र = बुद्धवचन + अन्त = सिद्धान्त) विचारधारा का जो बहुत पुरानी थी कुमारलात ने संकलन कर व्यवस्थित रूप दिया होगा, इस नाते उन्हें प्रवर्तक कहना ठीक है पर वे उस विचारधारा के आविर्भावक न थे। खण्डनार्थ दूसरों द्वारा छीछालेदर किए गए उद्धरणों को छोड़कर सौत्रान्तिक साहित्य आज हमारे पास और कुछ नहीं है। अश्वघोष और कुमारलात दोनों ही मध्ययुग में खूब प्रसिद्ध थे। अश्वघोष की माता का नाम सुवर्णाक्षी था। साकेत (अयोध्या) के किसी ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म हुआ था। ब्राह्मण धर्म और पुराण आदि के परिचय की प्रवीणता उनके काव्यों में यत्र तत्र फूट पड़ी है। उपमा के लिये पौराणिक कथाएं और ऋषि-मुनियों की चर्चा करते समय उनकी पुराण-पण्डितता खुले बिना नहीं रहती।

अश्वघोष के अनन्तर महादार्शनिक नागार्जुन (१५० ई०) हुए। इन्होंने सर्वास्तिवादी सौत्रान्तिक और वैभाषिक विचारधारा में क्रान्ति उत्पन्न की। सर्वास्तिवादी सत्ता को क्षणिक मानते थे। नागार्जुन ने कहा कि सत्ता की निरपेक्ष सिद्धि है ही नहीं प्रत्युत सत्तामात्र सापेक्ष है*। इस प्रकार इनके दर्शन का पर्यवसान शून्यवाद में हुआ। नागार्जुन दक्षिण कोसल

---

* प्रतीत्य कारकः कर्म तं प्रतीत्य च कारकं। कर्म प्रवर्तते नान्यत् पश्यामः सिद्धिकारणम्॥
एवं वियादुपादानं व्युत्सर्गादिति कर्मणः। कर्तुश्च कर्मकर्तृभ्यां शेषान् भावान् विभावयेत्।
—मूलमाध्यमिककारिका ८ प्रकरण, १२-१३ श्लोक।

(छत्तीस गढ़) के निवासी थे। इनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। ब्राह्मणोचित संस्कारों के साथ इन्होंने साङ्गोपाङ्ग वेद तथा अन्य विद्याओं का अध्ययन किया था। नागार्जुन ने महायान सम्प्रदाय का खूब प्रचार और पोषण किया जिसके कारण वे महायान के प्रवर्तक के रूप में याद किए जाते हैं। नागार्जुन एक सिद्ध के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। इनका सिद्धपना तान्त्रिक सिद्धियों के कारण भी हो सकता है। वस्तुतः यह रसायन के बहुत बड़े पण्डित और वैद्य भी थे। इसके कारण भी यह सिद्ध के रूप में प्रसिद्ध हुए हैं। नागार्जुन के जैसी बहुमुखी प्रतिभा बहुत कम में होती है। शुआन् चुआङ् ने इनकी उपमा सूर्य से दी है। सूर्य जगत का हित करता है पर तपाता भी है। नागार्जुन वस्तुतः उस सूर्य के सदृश हैं जिन्होंने बिना सन्ताप दिए विद्या के क्षेत्र में वह अमूल्यनिधि दी जो युग-युग हित करती अमर रहेगी। नागार्जुन के समान ही प्रतिभाशील इनके शिष्य आर्यदेव थे। शुआन् चुआङ् के अनुसार ये सिंहल-निवासी थे। नागार्जुन और आर्यदेव के प्रसङ्ग में पाँचवी शती के आरम्भ में होनेवाले माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रशस्त टीकाकार बुद्धपालित और भावविवेक का स्मरण करना अपेक्षित है। इन दोनों की कृतियों के भोट अनुवादों पर ही आज हमें सन्तोष करना है। बुद्धपालित माध्यमिक विचारधारा में प्रासंगिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। प्रसङ्गः = प्रकरणम् = अधिकरणम् = विरोधः आदि शब्द पर्यायवाची के रूप में व्यवहृत होते हैं। माध्यमिक दर्शन अनुभवप्रवण है कोरा तर्क-प्रवण नहीं। बेकार की तर्क-प्रवणता के विरोधी होने से ये प्रासंगिक (= वैरोधिक) कहलाए। भावविवेक ने प्रायः स्वतन्त्र तर्कों से माध्यमिक दर्शन के प्रतिपादन में श्रम किया सो उनका सम्प्रदाय स्वातन्त्रिक कहलाता है।

नागार्जुन के बाद बौद्ध दार्शनिकों में असंग और वसुबन्धु (४२० ई०) ने फिर एक नई विचारधारा को जन्म दिया। वह विचारधारा योगाचार या विज्ञानवाद है। सत्तामात्र की सापेक्षसिद्धि मानकर नागार्जुन ने उसका पर्यवसान शून्यवाद के रूप में किया था। विज्ञानवादी बाह्य सत्ता को तो नागार्जुन की भाँति शून्य मानने को तैयार थे पर चित्त (मन या विज्ञान) को भी शून्य मानना उन्हें न जँचता था। इसका मूल कारण उनकी योग-प्रक्रिया के प्रति आसक्ति का होना ही है। सम्पूर्ण योग-प्रक्रिया मन की विभिन्न अवस्थाओं पर ही निर्भर है। मन और मन की विभिन्न अवस्थाओं की भी नागाजुन की भांति सापेक्षसिद्धि मानने से विज्ञानवादियों ने इनकार किया। तर्क से भी विज्ञान के सिद्ध करने की इन्होंने कोशिश की और अपनी योग-पद्धति से उसके साधना का मार्ग भी प्रशस्त किया। बाह्य जगत् को इन्होंने विज्ञान का परिणाम कहा। असंग योगाचार विज्ञानवाद के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके गुरु का नाम मैत्रेय था। चीनी बौद्धों की अनुश्रुति

के अनुसार यह मैत्रेय तुषितलोकवासी बोधिसत्त्व मैत्रेय हैं। मैत्रेय के नाम से "योगाचारभूमिशास्त्र" नामक एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। तिब्बती अनुवादों में यह असंग के नाम से प्रसिद्ध है। शुआन्चुआङ् ने भी इसे असंग की ही कृति बताया है। इसका एक अंश 'बोधिसत्त्वभूमि' संस्कृत में प्रकाशित हुआ है। असंग की सभी कृतियां चीनी अनुवादों में ही हैं। वसुबन्धु असंग के छोटे भाई थे। यह दोनों विद्वान् भाई पेशावर (पुरुषपुर) में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए। वसुबन्धु का अधिक समय मध्यदेश के साकेत में बीता। साकेत के बुद्धमित्र स्थविर इनके गुरु थे। इनका कश्मीर के सर्वास्तिवादियों से विशेष सम्बन्ध रहा है। अभिधर्मकोश उन्हीं की प्रेरणा से ही आचार्य ने लिखा है। अयोध्याधीश्वर चन्द्रगुप्त प्रथम पर वसुबन्धु का बहुत प्रभाव पड़ा। पहले वह सांख्यमतानुयायी थे फिर बौद्ध हो गए। चन्द्रगुप्त के पुत्र और पत्नी दोनों ही इनके शिष्य थे। वसुबन्धु का यह मान बहुतों से न सहा गया। वृद्धावस्था में वसुबन्धु असंग के बुलाने से फिर पेशावर गए और भाई की प्रेरणा से योगाचारमत ग्रहण कर लिया। इस दिशा में इन्होंने बहुत कुछ साहित्य लिखा। इनकी 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' विज्ञानवाद समझने की कुञ्जी है। इसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। पांचवी शती में वसुबन्धु के सम्प्रदाय में कितने ही आचार्य हुए। इनमें दिङ्नाग (४२५ ई०) बहुत प्रसिद्ध हैं। बौद्ध-तर्क की नीव डालने वाले तथा बौद्धों में तार्किक सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने वाले यही हैं।

छठी शताब्दी में धर्मकीर्ति बहुत श्रेष्ठ तार्किक हुए। इन के बाद नालन्दा के प्रधान आचार्य शान्तिरक्षित का नाम बहुत महत्वपूर्ण है। बौद्ध धर्म की जड़ तिब्बत में जमाने के लिए वहां जाकर ७४९ ई० में इन्होंने सम्-ये विहार की स्थापना की। १३ वर्ष भोट में रहकर ७६२ ई० में यह परिनिर्वृत हुए। इनके बाद बौद्धों में फिर कोई दार्शनिक न हुआ। उस समय क्या ब्राह्मण क्या बौद्ध और क्या जैन सब का झुकाव तन्त्र की ओर हो चुका था। जनता का विश्वास मन्त्र-तन्त्र पर इतना था कि मान-पूजा के लिये सभीको मन्त्र-तन्त्र अपनाने पड़े। जिस तिब्बत में बौद्ध धर्म की जड़ जमाने के लिये शान्तिरक्षित गए थे वहां भी जनता उनको पूरे तौर पर न अपना सकी, मन्त्र-तन्त्र की वह भी भूखी थी। आखिर शान्तरक्षित के ही सम्बन्धी पद्मसम्भव ने उनकी यह भूख जाकर मिटाई। पद्मसम्भव को जो मान भोटियों से मिला वह शायद ही भारत के दूसरे आचार्य को मिला हो। अश्वघोष से शान्तरक्षित तक पहली शती से शुरू कर आठवीं शती के लगभग आठ सौ वर्षों तक भारत में जो अविच्छिन्न भाव से दार्शनिक-विकास-धारा बही वह बड़ी गौरवास्पद थी। यह तिब्बत गई तो वहां भी जागरण उत्पन्न किया। चीन से तो सबसे पहले उसका सम्बन्ध हुआ वहां भी उसने कम प्रभाव नहीं डाला। आज चीन और तिब्बत में बौद्धधर्म और दर्शन उनकी घरेलू

चीज़ है। क्या ही अच्छा होता कि वह दार्शनिक धारा आगे भी बहती रहती! मन्त्र-तन्त्र के ढकोसले ने एक ओर तत्त्व-चिन्तन की प्रवृत्ति को मन्द बनाया, राजनीतिक जागरूकता के अभाव ने राजतन्त्र का पतन किया, नौबत यहाँ तक पहुंची कि एक के बाद दूसरी गुलामी भारत के भाग्य पर लदी। अस्तु। जो भी हुआ सो हुआ। पश्चिम के सम्बन्ध ने सब कुछ बिगाड़ करते हुए भी हमारे अतीत के समझने में जो मार्ग दिखाया वह अभिनन्दनीय है। भारत के सत् शिष्य चीन और तिब्बत ने हमारी सामग्री को सुरक्षित कर बड़ी उपयुक्त गुरुदक्षिणा दी है। फ़ाहयान, शुआन्-चुआङ्, ई-चिङ् और तारानाथ ने अपनी भाषाओं में भारतीय वृत्तान्तों को गूंथकर समय आदि का जो ब्योरा दिया है उससे अतीत को कालक्रम से देखने में बड़ी सहायता मिली है। इस सब सहायता के बल पर ही आज हम एक चर से भूले बौद्धदार्शनिकों का अभिज्ञान पाने में सफल हो पाए हैं।

(२)

इस नए अभिज्ञान एवं नई साहित्यिक सम्पत्ति ने हमारी जानकारी में एक नया परिवर्तन उत्पन्न कर दिया है। कुछ ही दिन पहले हम बुद्ध तथा उनके धर्म को बहुत ग़लत समझ रहे थे, बौद्ध तत्त्वचिन्तन की हमें कितनी ग़लत जानकारी थी; यह हम आज समझ रहे हैं। पर हम तब विवश थे, तब हमारे पास केवल बौद्ध विरोधियों ने जो कुछ बौद्धधर्म और दर्शन के बारे में बतला रक्खा था उसके अतिरिक्त हमारे पास जानने को कुछ न था। पर आज हम उतने अकिञ्चन नहीं हैं। आज बुद्ध धर्म और दर्शन की वह सामग्री हमारे पास है कि हम उसे ठीक ठीक समझ सकते हैं।

शंकर ने बुद्ध को 'अनाप शनाप बोलनेवाला दुनिया का दुश्मन'१ कहा! कुमारिल ने बुद्ध के उपदेश को 'कुत्ते की खाल में पड़े दूध'२ जैसा निकम्मा बताया! जिसके पास ज़बान है उसे बोलने से कौन रोक सकता है? फिरभी इस प्रकार के फूहड़पने का जवाब किसी भले आदमी के पास हो ही क्या सकता है? आज जिसने बुद्ध के धर्म और विनय की सरसरी तौर पर भी पड़ताल की है वह उन्हें दुनिया का गुमराह करनेवाला नहीं कह सकता। बुद्ध का धर्म बिल्कुल स्पष्ट है उसमें विरोध या असंगतियां नहीं हैं। करुणाकुल बुद्ध ने साफ़ साफ़ कहा है:

१. 'सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु।' (ब्रह्मसूत्र २।२।३२ पद)।

२. सन्मूलमपि अहिंसादि श्वदतिनिक्षिप्तक्षीरवदनुपयोगि।' (तन्त्रवार्तिक)।

'विजय से वैर पैदा होता है, पराजित दुःखी होता है, जो जय और पराजय को छोड़ चुका है उसे ही सुख है, उसे ही शान्ति है।'[1] जानकारों ने इसीलिए कहा है : "तथागत ने थोड़े में केवल 'अहिंसा' के तीन अक्षरों में धर्म का वर्णन किया है[2]।" क्या सचमुच यह गुमराह करनेवाला रास्ता है ?

कर्म और उसके फल को वैदिक, बौद्ध और जैन तीनों मानते हैं। कर्मफल का देनेवाला ईश्वर है और कर्मफल का भोगनेवाला जीव है। सांख्यों और जैनों को कर्मफल के भोग में ईश्वर का हस्तक्षेप मंजूर नहीं है। वेदान्ती भी इस प्रकार के हुकूमत करनेवाले ईश्वर को नहीं मानते। हाँ, अक्षपाद और कणाद को इस प्रकार के ईश्वर की ज़रूरत है। ईश्वर की बात यहां छोड़ देनी है, केवल उसके गुलाम 'जीव' की कहानी पर ध्यान देना है। बौद्धों को छोड़कर सभी जीव को एक टिकाऊ चीज़ समझते हैं। दार्शनिक भाषा में कहेंगे कि जीव नित्य है। जीव शब्द भी यहां छोड़ देना चाहता हूं इसके लिए 'आत्मा' शब्द को लेना है। आत्मा का अर्थ कुछ विस्तृत है, जो लोग ईश्वर मानते हैं उनका ईश्वर भी इसमें शामिल हो जाता है, वेदान्ती आदि दार्शनिक जो आत्मा के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की उससे अलग सत्ता नहीं मानते उनका भी इसी शब्द से काम चल जाता है। और बौद्ध लोग जो आत्मा को मानते ही नहीं वे भी इसीमें 'न' जोड़कर काम चला लेते हैं।

कर्म है और उसका फल है पर उसका आश्रय कोई टिकाऊ या स्थिर किंवा नित्य आत्मा नहीं है, यह बुद्ध की मान्यता है। आत्मा क्या, सत्ता मात्र में जो सत् या स्थिरता का भान होता है वह असल में नहीं है। बुद्ध ने इसे इस प्रकार समझाया है : बीज होने पर अंकुर होता है पर बीज ही अंकुर नहीं है और बीज से पृथक् अथवा उससे भिन्न कुछ और वस्तु भी अंकुर नहीं है। अतः बीज शाश्वत स्थिर टिकाऊ या नित्य नहीं है (क्योंकि उसका अंकुर रूप में परिवर्तन देखा जाता है। वह उच्छिन्न या नष्ट भी नहीं होता (क्योंकि अंकुर बीज ही का तो रूपान्तर है)।[3] यह एक उदाहरण है जिसके द्वारा सिद्धान्त का स्पष्टीकरण है। बुद्ध का अपना मत है कि न तो कुछ भी अशाश्वत है और न कुछ भी उच्छिन्न होता है। प्रत्येक वस्तु

---

१. 'जयं वेरं पसवति दुःखं सेति पराजितो। उपसन्तो सुखं सेति हित्वा जय पराजयं॥' धम्मपद १५।५

२. 'धर्मं समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागताः।' चतुःशतक।

३. बीजस्य सतो यथाङ्कुरो न च यो बीजु स चैव अङ्कुरो।
न च अन्यु ततो न चैव तदेवमनुच्छेद अशाश्वत धर्मता।
— ललित विस्तर

अपने कारण से उत्पन्न होती है। कार्य कारण से न तो अन्य या भिन्न ही होता है और न अनन्य ही, कार्य कारण से अन्य होता तो कारण का उच्छेद मानना पड़ता, यदि कार्य अनन्य अर्थात् कारण-रूप ही होता तो उसे शाश्वत या नित्य मानना पड़ता। पर दोनों बातें नहीं हैं इसलिये न कोई शाश्वत है और न किसी का उच्छेद होता है। 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' बुद्ध का दार्शनिक सिद्धान्त है। यह सकारणता और परिवर्तन के नियम के आधार पर विकसित हुआ है। इस नियम को प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं। जिसका अक्षरार्थ है : समुत्पादः = उत्पत्ति, कार्यमात्र का होना। प्रतीत्य (एव भवति) = कारण के (प्राप्त) होने पर ही होता है। बुद्ध के बाद जितने भी बौद्ध दार्शनिक हुए वे 'प्रतीत्यसमुत्पाद' तथा 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' के सहारे ही अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त करते रहे हैं। सब कुछ ही जब अशाश्वत और अनुच्छिन्न है तब 'आत्मा' भी इसका अपवाद नहीं है। इस बेटिकाऊ, पर न नष्ट होनेवाले, आत्मा को बौद्ध चित्त या विज्ञान कहते हैं।

जिस अशाश्वतानुच्छेदवाद की पद-पद पर बौद्ध दर्शनों में चर्चा है उसको पूर्वपक्ष के रूपमें कहीं भी ब्राह्मण और जैन दर्शनों ने छुआ तक नहीं। यह बात बड़े आश्चर्य में डालने वाली है। जहां भी बौद्ध दर्शन की आलोचना की गई है वहां सर्वत्र उसे उच्छेदवादी दिखलाया है—अभाववादी बताया है। शंकराचार्य साफ़ ही सौगत दर्शन का अभिप्राय समझाते कहते हैं 'सौगत दर्शन ठीक नहीं क्योंकि वे किसी कारण को स्थिर नहीं मानते, जिसका निष्कर्ष है अभाव से भाव की उत्पत्ति को मानना',* सौगत दर्शन को शंकर 'वैनाशिक' कहते हैं यद्यपि सौगतों ने जहां किसी वस्तु को शाश्वत नहीं माना है वहां उसका विनाश या उच्छेद मानने से भी इनकार कर दिया है। यह एक नमूना है और इस प्रकार के अनेकों नमूने हैं जिनमें इस प्रकार ग़लत रूप में बौद्ध दर्शन को उपस्थित किया गया है। खैर, विरोध करने में अब तक बुद्ध को उच्छेदवादी या वैनाशिक बनाया गया सो बनाया गया पर अब उन्हें उच्छेदवादी या वैनाशिक नहीं कहा जा सकता।

आज हम कह रहे हैं कि बुद्ध वैनाशिक या उच्छेदवादी नहीं थे पर क्या इसपर वे लोग विश्वास करेंगे या मानलेंगे जो बुद्धिपर पोथी धरकर तर्क करने बैठते हैं। तर्क में पोथी पत्रा काम नहीं दिया करता। यदि देता तो अपने तत्त्व या मतलब के बचाव के लिए जल्प और वितण्डा की ज़रूरत ही क्या थी? जो लोग छलबल से, जल्प और वितण्डा से दूसरों को चुप कर देना ही तत्त्व-

---

* 'अनुपपन्नो वैनाशिकसमयः, यतः स्थिरमनुयायिकारणमनभ्युपगच्छतामभावाद्भावोत्पत्तिरित्येतदापद्यते'। ब्रह्मसूत्र २।२।२६ पर शारीरक भाष्य

† तत्त्वाध्यवसाय संरक्षणार्थं जल्पवितण्डे वीजप्ररोहसंरक्षणार्थं काटकशाखावरणवत्। न्यायसूत्र ४।२।५०

रक्षा का साधन समझते हैं, उनसे इस बात की आशा करना भूल है कि वे दूसरे के मत को सही सही देख सकेंगे। उनकी यही कौन सी कम भलमनसाहत है जो जल्प और वितण्डा को तत्त्वरक्षा का साधन कहते हुए मुंहपर थप्पड़ लगादेने को तत्त्वरक्षा का साधन नहीं कहा। इस छली मनोवृत्ति के कारण बौद्ध जिस रूपमें अपने दार्शनिक सिद्धान्त मानते हैं उनको उसी रूप में उपस्थित कर आलोचना नहीं की गई, फलतः उन आलोचनाओं के द्वारा हम जिस रूपमें बौद्ध दर्शन की झलक पाते हैं, वह उसके स्वरूप से सर्वथा उलटी है।

हम जिस प्रतीत्यसमुत्पाद और उसके आधारपर विकसित अशाश्वतअनुच्छेदवाद का ज़िक्र कर चुके हैं उसके आधार पर ही पिछली बौद्ध दार्शनिक प्रक्रिया ठहरी हुई है। विभाषा और उसके माननेवाले वैभाषिक सम्प्रदाय का ऊपर ज़िक्र हुआ है। इन्होंने बुद्ध वचन के अनुसार सत्ताको प्रतीत्यसमुत्पन्न तथा अशाश्वत और अनुच्छिन्न कहा। सत्ता का वर्गीकरण पाँच स्कन्धों में है। बौद्ध मान्यता के अनुसार कोई 'एक' वस्तु नहीं है प्रत्युत जहां 'एक' का भान होता है वहां 'अनेकों का समूह' हुआ करता है। वृक्ष 'एक' पदार्थ है पर वह है क्या? जड़, तना, शाखा और पत्र आदि का समूह ही तो है। हरएक पदार्थ का यही हाल है। इस भाव को व्यक्त करने के लिए ही स्कन्ध शब्द का प्रयोग होता है। स्कन्ध का अर्थ राशि या ढेर है। प्रत्येक वस्तु अनेकों का एक ढेर है उसमें जो 'एक' की प्रतीति है वह व्यवहारतः ठीक हो सकती है पर परमार्थतः है ही नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने अवयवों का स्कन्ध या ढेर है। नैयायिक पदार्थ को अवयवों का ढेर न मान कर अवयवों से अतिरिक्त एक अवयवी की कल्पना करते हैं। अवयवी को मान कर भी अक्षपाद ने मान लिया है कि 'अवयवी का अभिमान दोष अर्थात् राग, द्वेष और मोह का कारण है।' (न्यायसूत्र ४।२।३) यद्यपि अवयवों से व्यतिरिक्त अवयवी की सत्ता असिद्ध है। 'एक' की प्रतीति से अवयवी की सिद्धि नहीं हो सकती क्यों कि 'एक' अपने आपमें ही सिद्ध नहीं है। 'एकत्व' को सिद्ध मान कर हिन्दू तार्किकों ने 'अवयवी' की सिद्धि की है। अवयवों के स्कन्ध या ढेर को ही वैभाषिक पदार्थ मानते हैं। अवयव के लिए 'परमाणु' शब्द का प्रयोग होता है क्यों कि स्थूल पदार्थ का जो सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयव है वह परमाणु है। इस प्रकार परमाणुपुंज ही पदार्थ है यह निष्कर्ष निकला। हिन्दू तार्किक भी परमाणु मानते हैं पर उनके यहां परमाणु-पुंज पदार्थ नहीं है प्रत्युत उनसे व्यतिरिक्त एक 'अवयवी' पदार्थ है। परमाणु पृथिवी, जल, तेज और वायु के होते हैं। यह चार भूत कहलाते हैं। इन चार भूतों का कारण 'अविज्ञप्ति' है। अविज्ञप्ति क्या है सो तो ठीक ठीक पता नहीं। सचमुच ही वह अ-विज्ञप्ति न जानी गई चीज़ ही है। खैर यह चारभूत, अविज्ञप्ति, पांच ज्ञानेन्द्रियां और उनके पाँच रूप, शब्द, गन्ध रस, स्पर्श विषय एवं कुल पंद्रह को रूप स्कन्ध कहते हैं। चक्षु से रूप का, श्रोत्र से शब्द का, नासिका से

गन्ध का, जिह्वा से रसका, शरीर (=काय, स्पर्शेन्द्रिय) से स्पर्श का और मन से धर्म (=मानसिक भावों) का जो ज्ञान सामान्यतया होता है उसे विज्ञान स्कन्ध कहते है। यदि इस ज्ञान में विषय की विशेषताएं भी झलकें तो वह 'संज्ञास्कन्ध' होगा। जैसे आँख से कोई स्त्री दिखाई पड़ी यह तो विज्ञान स्कन्ध हुआ पर यदि इस ज्ञान में स्त्री का रंग, रूप, कद आदि की प्रतीति भी शामिल हो तो वह संज्ञास्कन्ध होगा क्योंकि यह सं=सम्यक् या विशेषरूप से ज्ञा=जानकारी हुई है। सुख दुःख की अनुभूति का नाम वेदना-स्कन्ध है। इन चारों स्कन्धों से जो कुछ बचा है वह संस्कार स्कन्ध है। इन पाँचों स्कन्धों की सत्ता प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से अशाश्वत एवं अनुच्छिन्न है। यह बात वैभाषिक तो मानते ही हैं पर सौत्रान्तिक भी इससे सहमत हैं।

इस दार्शनिक धारा में नागार्जुन ने एक और नूतन बात पैदा कर दी। उन्हें ने कहा कि पाँचो स्कन्धों की सत्ता निरपेक्ष नहीं है। किन्तु उनकी सत्ता सापेक्ष है। उन्होंने साफ़ साफ़ कहा है: कर्म कर्म के करनेवाले के बिना नहीं हो सकता। जब कर्म होता है तब कर्म का करनेवाला भी होता ही है। सो कर्म और उसको करनेवाला अर्थात् कारक अपनी अपनी सिद्धि के लिए परस्पर की अपेक्षा रखते हैं। यह एक उदाहरण है। वस्तुतः प्रत्येक सत्ता का यही हाल है। सब की सिद्धि सापेक्ष ही है*। सत्ता की सिद्धि सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। इसीका नाम 'शून्यवाद' है। शून्यवाद निरपेक्ष सत्ता की सिद्धि से इन्कार करता है। पता नहीं इसमें कौन सी असंगति है जिसे देखकर शंकर ने इसे 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध' (ब्रह्मसूत्र २।२।३१) कहा है। इस शून्यवाद का विकास भी प्रतीत्यसमुत्पाद पर ही अवलम्बित है। प्रतीत्य समुत्पाद ने किस प्रकार अशाश्वत और अनुच्छेदवाद का स्थापन किया यह ऊपर कहा गया है। अशाश्वत और अनुच्छिन्न या परिवर्तनशील सत्ता में जो सत्ता की प्रतीति हो रही है वह भी निरपेक्ष नहीं हैं क्योंकि कार्य की सत्ता कारण की सत्ता की अपेक्षा रखती है। माध्यमिक शून्यवाद के प्रतिपादक नागार्जुन की मूल माध्यमिक कारिकाओं पर टीका करते समय इसीलिए चन्द्रकीर्ति ने प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ ही किया है: 'हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पादः।' (पृ० ५) सो प्रतीत्यसमुत्पाद कोरा सकारणता और परिवर्तन का नियम नहीं है प्रत्युत वह सत्ता की सिद्धि भी सापेक्ष मानकर निरपेक्ष सत्ता का खण्डन करता है।

यह खण्डन-प्रणाली बड़ी रोचक है। काम बिना किए नहीं होता। कल्पना कीजिये मैं रोटी बनाना चाहता हूं। रोटी बनाना काम है जो मुझे करना है सो मैं रोटी का बनानेवाला या कर्त्ता या कारक हुआ। रोटी जिसे बनाना है वह मेरा काम या कर्म हुई। पर इस काम

* माध्यमिककारिका ८।१२, १३ (ऊपर पृ० २६१ में उद्धृत)

के लिए मुझे कुछ करना धरना भी पड़ेगा खाली बैठे रहने से तो काम न चलेगा सो यह करना धरना या क्रिया भी इसके लिये चाहिए। पर इतने से भी काम नहीं चल सकता रोटी के लिये आटा चाहिए, पकाने के लिये चूल्हा आदि चाहिए। इन्हें कारण शब्द से कह सकते हैं। रोटी का कारण आटा है और रोटी उसका कार्य है पर यदि मैं हाथों से काम न लूं तो यह कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता सो हाथ इसके कारण हुए। इन कर्त्ता, कर्म, हेतु या कारण, कार्य की सिद्धि पर नागार्जुन के शब्दों में विवेचना करनी है।

यदि कर्म को स्वभावतः (=निरपेक्षतः) सत् मानें तो कर्म को कर्त्ता की ज़रूरत न रहेगी और कर्त्ता भी निकम्मा हो जाएगा क्यों कि उसके करने योग्य कर्म तो स्वभाव सत् है ही फिर उसके करने का सवाल ही क्या? यदि यह मानें कि कर्म स्वभाव से असत् है और वह असत् कर्त्ता के द्वारा किया जाता है तब बड़ी आफ़त होगी। कर्म बिना हेतु के हो जाएगा, और कर्त्ता को भी निर्हेतुक ही कहना पड़ेगा। जब हेतु ही नहीं रहा तब कार्य कारण का सवाल ही क्या? कार्य और करण की व्यवस्था ही जब नहीं रही तब किसी कर्म या काम के करने की बात ही नहीं उठती और कर्त्ता करण कोई चीज़ ही नहीं रहते। इस प्रकार जब कुछ करने धरने आदि की बातही नहीं रही तब धर्म और अधर्म किसी की चर्चा बेकार है। (माध्यामिककारिका ८।२-५) अतः स्वभावतः या निरपेक्षतः न तो सत्ता है और न अभाव ही है प्रत्युत काम के लिए जैसे कर्त्ता या करने वाले की अपेक्षा है वैसे ही कर्त्ता को काम या कर्म की अपेक्षा है। दोनों को बिना सापेक्ष माने सिद्धि नहीं हो सकती। सत्ता को सापेक्ष सिद्ध मानने पर भी व्यवहार में विरोध नहीं आता क्यों कि तत्त्वचिन्तक भी व्यवहार के समय लोक-प्रमाण पर ही चलता है। लोकप्रमाणक सत्य को संवृति-सत्य कहते हैं। संवृति-सत्य के अनुरोध से सत्ता को निरपेक्ष कहना दोष नहीं पर परमार्थ-सत्य के अनुरोध से उसकी सिद्धि सापेक्ष है। यह सापेक्षता, सकारणता और परिवर्तन का नियम ही नागार्जुन के मत से प्रतीत्यसमुत्पाद है। प्रतीत्यसमुत्पाद को ही उन्होंने शून्यवाद कहा है; 'यः प्रतीत्य समुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे' (मध्यमिककारिका)। शून्यवाद के इतने स्पष्ट रहने पर भी यदि लोग ऊल-जुलूल ही उसे समझते रहें ती इसमें शून्यवाद के प्रवर्तक का दोष ही क्या? 'न ह्येष स्थाणोरपराधः, यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति'।

जैसा कि पहले ही बताया गया है नागार्जुन के अनन्तर असंग और वसुबन्धु फिर दो क्रान्तिकारी दार्शनिक हुए। इन्होंने चित्त या विज्ञान को तो निरपेक्ष सिद्ध माना पर बाह्यार्थ को विज्ञानसापेक्ष कहा। फलतः बाह्य अर्थ भी विज्ञान के परिणाम या परिवर्तन का एक रूप बताया गया। जो बाह्य अर्थ को निरपेक्ष मानते थे उनका इन्होंने खण्डन किया। सौत्रान्तिक और वैभाषिक परमाणु-पुञ्ज को पदार्थ मानते थे। कणाद और अक्षपाद परमाणुओं से अतिरिक्त अवयवी

की कल्पना करते थे। वसुबन्धु के बाह्यार्थ निराकरण को गौड़पाद ने उसी रूप में मान लिया। यह मानना ज़रूरी भी था क्योंकि वेदान्त में भी बाह्य सत्ता ब्रह्म सापेक्ष ही है, निरपेक्ष नहीं।

यहां हमने बुद्ध के दार्शनिक सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद की पड़ताल की है। बुद्ध ने किसी को न तो शाश्वत माना और न किसी का उच्छेद या विनाश माना। सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों ने भी इसी बात को माना और विवेचना पूर्वक पांचो स्कन्धों की निरपेक्ष सत्ता मानी। नागार्जुन ने इनकी सत्ता को सापेक्ष कहा। वसुबन्धु ने विज्ञान की सत्ता को निरपेक्ष और बाह्य सत्ता को उसी प्रकार विज्ञान सापेक्ष कहा जैसा कि वेदान्तियों ने बाद में बाह्य सत्ता को ब्रह्मसापेक्ष माना। पर किसी ने न तो किसी को शाश्वत माना न किसी का उच्छेद। इतना स्पष्ट होते हुए भी विरोधी आलोचकों ने सौगत दर्शन को वैनाशिक या उच्छेदवादी कहा है जो नितान्त भ्रम है। कदाचित् सौगत दर्शन की ठीक ठीक जानकारी पाने का उनलोगों ने प्रयास ही नहीं किया।

बौद्ध दर्शन उच्छेद-विनाश या अभाववाद को मानता है, यही बात उसके आलोचकों ने बता रक्खी थी और इसी को मान कर उन्होंने बड़े बड़े दोष दिखाए थे। पर हम देखते हैं उन्होंने बौद्ध दर्शन को जिस रूपमें उपस्थित किया वह उसका असली रूप नहीं है फिर भला उस पर थोपे दोष यथार्थ हो ही कैसे सकते हैं। बुद्ध का अवतार असुरों की प्रवंचना के लिए हुआ और उनका दर्शन आत्मा का उच्छेद मानता है। यह दो व्यापक बातें जिनके उल्लेख से ब्राह्मण ग्रन्थ भरे हैं, आज ग़लत सिद्ध हो रहे हैं। आज बुद्ध का धर्म और दर्शन हमारे सामने है। बुद्धने आचरण के क्षेत्र में जैसे कायपीड़न तथा भोगविलास के जीवन को मनाकर मध्यम मार्ग से चलने का उपदेश दिया वैसे ही दार्शनिक क्षेत्रों में शाश्वत और उच्छेद दोनों मान्यताओं से बचकर अशाश्वत और अनुच्छेद वाद का स्थापन किया। बौद्ध दार्शनिकों ने परिवर्तन के जिस वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या के व्याज से अमूल्य ज्ञान निधि दी है, उसे और उसके द्रष्टा बुद्ध को उपसंहार में फिर स्मरण करना है—

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्॥
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥

—नागार्जुन

मेरे पितृदेव

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मेरे जन्म के कुछ बरस पहले से ही पिताजी प्रायः देशभ्रमण में लगे हुए थे। बचपन में वे मेरे निकट अपरिचित ही थे—ऐसा कहा जा सकता है। बीच बीच में वे कभी अचानक घर आ पहुंचते ; साथ में परदेशी नौकर लाते ; तब उन लोगों को अपना बना लेने की मन में बड़ी उमंग उठती। एक बार लेनू नामक एक कम-उम्र पंजाबी नौकर उनके साथ आया। उसने हम लोगों के निकट जो समादर पाया वह स्वयं रञ्जीतसिंह के लिए भी कम न होता। मैं घर के पिंजरे में बंद था, इसलिए जो कुछ विदेशी अथवा दूरदेशी होता, वह बड़े ज़ोर से मेरे मन को अपनी ओर खींच लेता। झोलाझोली लटकाए ढीलाढाला मैला पाजामा फरफराते हुए विपुलकाय क़ाबुली भी मेरे निकट भयमिश्रित रहस्य की सामग्री होता। जो हो, पिताजी जब आते तब उनके नौकरचाकर आदि के घरों के आसपास हमलोग दूर ही दूर से चक्कर लगाकर अपना कुतूहल मिटाते ; उनके नज़दीक पहुंचना नहीं हो पाता।

ख़ूब याद है, बचपन के दिनों में कभी एक बार अंगरेज़ी सरकार के चिरंतन हौआ—रूसियों-द्वारा भारत-आक्रमण की आशंका पर लोग गरमागरम चर्चा कर रहे थे। हमारी कोई हितैषिणी आत्मीया माँ के निकट इसी आसन्न विप्लव की बात को मनमुताबिक रंगकर कह गईं। पिताजी तब पहाड़ पर थे। तिब्बत भेदकर हिमालय के न मालूम किस सूराख़ से होकर रूसी लोग कब धूमकेतु के समान एक दिन सहसा प्रकट हो पड़ेंगे—भला कोई जान सकता है? मां बड़ी बेचैन ही उठीं। घर में किसीने उनकी इस उत्कण्ठा का समर्थन नहीं किया, इसलिए बड़ों के निकट सहायता पाने की उम्मीद छोड़कर अंत में उन्होंने आश्रय लिया इस बालक के निकट। मां का उद्वेग वहन करते हुए पिताजी के पास वही मेरी पहली चिट्ठी थी। किस तरह लिखना होता है, क्या करना होता है—कुछ भी नहीं मालूम। कचहरी के महानंद मुंशी के पास शरण ली। पाठ तो बाक़ायदा बन गया इसमें संदेह नहीं, किंतु पुराने काग़ज़ों के जिस शुष्क शतदल पर ज़मीन्दार के मुंशी की सरस्वती विहार करती हैं, उसीकी सुगंध से इस पाठ की भाषा बसी हुई थी। इस चिट्ठी का उत्तर मुझे मिला था। पिताजी ने लिखा—डरने की कोई बात नहीं। रूसियों को वे स्वयं ही खदेड़ देंगे।—इस प्रबल आश्वासवाणी से मां का भय दूर हो गया हो—सो नहीं, लेकिन पिताजी के संबंध में मेरा साहस ख़ूब बढ़ गया।

रोज़ ही उन्हें पत्र लिखने के लिए मैं महानंद की कचहरी में हाज़िर हो जाता। कहने की ज़रूरत नहीं कि महानंद की अवस्था मुझसे बहुत बड़ी थी। इसलिए उसके हाथ में अर्पित की हुई चिट्ठियां कभी हिमालय के शिखर तक नहीं पहुंचीं।

बहुत दिन प्रवास करके जब कुछ दिनों के लिए पिताजी कलकत्ते आते, तब उनके रोब से मानो सारा घर एकबारगी गमक उठता। मैं देखता, बड़े लोग देह पर चोगा डालकर, साफ़ सुथरे होकर, मुंह का पान बाहिर ही त्यागकर उनके निकट जाते। सभी सावधान होकर चलते-फिरते। भोजन में कहीं कोई त्रुटि न रह जाय इसलिए मां खुद रसोई में जा बैठतीं। वृद्ध किनू हरकारा अपनी तमगेवाली पगड़ी और शुभ्र चपकन पहनकर दरवाज़े पर हाज़िर रहता। हमलोग बरामदे में दौड़धूप-गोलमाल करके कहीं उनके विश्राम में बाधा न दें, इसके लिए पहले से ही हमें सतर्क कर दिया जाता। हम सब धीरे-धीरे चलते, धीरे-धीरे बोलते ; उछलकूद करने का साहस ही नहीं होता।

एक बार पिताजी हम तीन बच्चों का उपनयन कराने आए। वेदान्तवागीश को लेकर वैदिक मन्त्रों से उन्होंने उपनयन का अनुष्ठान स्वयं संकलित कर लिया। कई दिन पहले से शुरू करके दालान में बैठाकर बेचारामबाबू ने ब्राह्मधर्मग्रंथ में संग्रहीत उपनिषद् मंत्रों की विशुद्ध-रीति के अनुसार अनेक आवृत्तियां हम लोगों से करा लीं। यथासम्भव प्राचीन वैदिक पद्धति के अनुसार हमारा उपनयन हो गया। माथा मुड़ाकर कुण्डल पहनकर हम तीन वटुक तिमंज़िले के कमरे में तीन दिन के लिए बंद हो गए—इसमें हमें बहुत मज़ा आया। परस्पर कानों के कुण्डल पकड़कर हमलोगों ने खींचातानी शुरू कर दी। मेरा ख्याल है कि पुराने ज़माने के तपोवन में खोज करने पर हमारे समान लड़के एकदम पाए ही नहीं जाएंगे—ऐसी बात नहीं है ; वे लोग एकबारगी खालिस भले लड़के ही रहे हों, इसका कोई प्रमाण नहीं। कारण, शिशुचरित्र नामक पुराण सब पुराणों की अपेक्षा पुराना है ; उसके समान प्रामाणिक शास्त्र किसी भाषा में लिखा नहीं गया।

नूतन ब्राह्मण बन जाने पर गायत्रीमंत्र का जाप करने की खूब झोंक थी। विशेष यत्नपूर्वक एकमन होकर मंत्र जपने की चेष्टा करता। मंत्र ऐसा तो नहीं है जिसका ठीक तात्पर्य उस कच्ची उम्र में मैं समझ पाता। खूब याद है, 'भूर्भुवःस्वः'—इसी अंश का सहारा लेकर मैं मन को भलीप्रकार फैला देने की चेष्टा करता। क्या समझता, क्या सोचता सो स्पष्ट करके कहना कठिन है, किंतु मनुष्य के अंतर में एक कुछ ऐसी वस्तु है जिसका काम बिना संपूर्ण समझे भी चल जाता है। इसीसे एक रोज़ की बात याद आती है—अपने पढ़ने के कमरे में पक्के फ़र्श के—एक कोने में बैठे गायत्रीमंत्र जपते-जपते सहसा दोनों आंखें आंसुओं से डबडबा

उठीं और टपटप करके जल गिरने लगा। क्यों गिरने लगा—इसका कारण मैं खुद भी तनिक समझ नहीं पाया। किसी कड़े परीक्षक के हाथ में पड़ने पर संभवतः विमूढ़ होकर मैं कोई एकाध ऐसा कारण बतलाता जिसका गायत्री मंत्र से कोई योग ही नहीं होता। असल बात यह है कि अंतर के अंतःपुर में जो कुछ होता रहता है, बुद्धि-क्षेत्र तक उसकी खबर हमेशा नहीं पहुंच पाती।

सिर घुटा लेने पर बड़ी चिंता हुई कि स्कूल क्योंकर जाऊंगा। गो-जाति पर फिरंगी लड़कों का भीतरी आकर्षण जैसा भी हो, ब्राह्मणजाति पर तो उनकी भक्ति नहीं है। अतएव मुंड़े हुए सिर पर यदि अन्य किसी चीज़ की वर्षा वे नहीं भी करें, तो कम-से-कम हास्य की वर्षा तो करेंगे ही।

ऐसी ही दुश्चिंता के भीतर एक दिन तिमंज़िले के कमरे से पुकार आई। पिताजी ने पूछा कि उनके साथ हिमालय जाना चाहता हूं कि नहीं। "चाहता हूं"—इस बात को यदि चील्ला कर आकाश चीरकर कह पाता तब वह शायद मनोभाव के उपयुक्त उत्तर होता। कहां बेंगाल एकेडेमी और कहां हिमालय।

घर से यात्रा के लिये चलने के पूर्व सदा के समान पिताजी ने सबके साथ दालान में एकत्र होकर उपासना की। मैं गुरुजनों को प्रणाम करके उनके साथ गाड़ी में सवार हो गया। अपनी ज़िन्दगी में यह पहली बार मेरे योग्य पोशाक बनी थी। किस रंग के कैसे कपड़े की होगी यह पिताजी ने स्वयं आदेश कर दिया था। सिर के लिये मखमल ज़री का काम की हुई एक टोपी थी जिसे मैं हाथ में लिए था। घुटे सिर पर टोपी लगाने में मुझे भीतर भीतर आपत्ति थी। गाड़ी पर चढ़ते ही पिताजी ने कहा—टोपी लगा लो। उनके पास यथारीति परिच्छन्नता में कमी करने की गुंजाइश थी ही नहीं। लज्जित मस्तक पर टोपी पहननी ही पड़ी। रेलगाड़ी में ज़रा-सा मौक़ा मिलते ही उसे उतार लेता, किंतु पिताजी की दृष्टि एक बार भी बचा नहीं पाता; उसी समय उसे उसके स्थान में धारण करना पड़ता।

छोटी-छोटी बातों से लेकर बड़ी-बड़ी बातों तक में पिताजी की कल्पना और उनका काम-काज अत्यंत यथायथ हुआ करता। वे मन में कुछ भी धुंधला नहीं रखते थे और उनके काम में जैसे-तैसे कुछ भी कर देने का अवकाश ही नहीं रहता। उनके प्रति दूसरों का और दूसरों के प्रति उनका समस्त कर्तव्य बिल्कुल सुनिर्दिष्ट था। हमारा जातिगत स्वभाव खूब ही ढीलाढाला है। छोटी-मोटी इस तरफ़ उस तरफ़ बहने वाली हवा को हमलोग कर्तव्य में ही नहीं गिनते। इसी कारण पिताजी के साथ व्यवहार में हम सभी को अत्यंत भीत और सतर्क रहना होता था। यों किसी जगह थोड़ा बहुत उनीस-बीस हो जाने से कोई ख़ास हानिलाभ शायद नहीं होता, किंतु

जिस जगह व्यवस्था में ज़रा भी फेरफार होता वहीं वे आहत हो पड़ते थे। वे जिस बात का संकल्प करते उसके प्रत्येक अंग-प्रत्यंग को मन की आंखों के आगे बिल्कुल साफ़ साफ़ प्रत्यक्ष कर लेते थे। इसीसे किसी क्रियाकर्म के अवसर पर कौन चीज़ ठीक कहाँ रहेगी, कौन कहां बैठेगा, किसपर किस काम का कितना भार होगा—सब कुछ आद्यन्त वे मन में ठीक कर रखते थे और उसके किसी अंश में भी किसी भी तरह अन्यथा नहीं होने देते थे। इसके बाद वह काम हो चुकने पर भिन्न भिन्न लोगों से उसका विवरण सुनते और प्रत्येक की वर्णना मिलाकर, मन के भीतर उसे जोड़कर घटना को बिल्कुल स्पष्ट करके देखने समझने का प्रयत्न करते। इस मामले में हमारे देश का जातिगत धर्म उनमें था ही नहीं। उनके संकल्प, चिंता, आचरण और अनुष्ठान में कहीं तिल भर भी शैथिल्य की गुंजाइश नहीं रहती। इसीसे हिमालय के दिनों में एक ओर मुझे यथेष्ट आज़ादी थी और दूसरी ओर समस्त आचरण अलंघ्य रूपसे निर्दिष्ट था। जहां वे छुट्टी देते वहां किसी तरह कोई बाधा ही नहीं देते थे और जहां नियम बांधते वहां लेशमात्र भी छिद्र नहीं रखते थे।

यात्रा के शुरू में पहले कुछ रोज़ बोलपुर में रुकने की बात थी। यद्यपि मैं बिल्कुल छोटा ही था किंतु पिताजी इच्छानुसार घूमने फिरने को लिये कभी नाहीं नहीं करते। बोलपुर के मैदानों में जगह जगह वर्षाजल की धारा ने रेतीली मिट्टी को काटकर ज़मीन की सतह के नीचे तरह-तरह के कंकर-पत्थरों से खचित छोटी छोटी पर्वत-श्रेणियां, गुहा-कन्दरा, नदी-उपनदी की रचना की है और इस प्रकार मानों बालखिल्य ऋषियों के देश का भूवृत्त प्रकाशित किया है। इन टीलों और नीचे गढ़ों को यहां 'खोआई' कहते हैं। यहां से कुरते के छोर में नानाप्रकार के पत्थर संग्रह करके मैं पिताजी के सामने रखता। उन्होंने मेरे इस अध्यवसाय को कुछ कहकर किसी दिन उसकी उपेक्षा नहीं की वे उत्साह प्रकट करके कह उठते : वाह, क्या कहने हैं! ये सब तुमने पाए कहां? मैं कहता—ऐसे न-जाने कितने हैं। ऐसे हज़ारों पत्थर हैं; मैं रोज़ ला सकता हूं। वे कहते : तब तो बड़ी अच्छी बात है। इन पत्थरों से तुम हमारा वह पहाड़ सजा दो!

पास ही एक पोखर खोदने की चेष्टा में एक जगह की मिट्टी बहुत कड़ी पाकर छोड़ दी गई थी। इस अधूरे गर्त्त की मिट्टी से दक्खिन की तरफ़ पहाड़ के नमूने पर एक स्तूप तैयार हो गया था। सुबह के समय इसी जगह चौकी पर पिताजी उपासना के लिए बैठते। उनके सामने पूरब की विशाल प्रान्तर-सीमा पर सूर्योदय होता। इसी पहाड़ को पत्थरों से खचित करने के लिये उन्होंने मुझे उत्साहित किया था।

खोआई में एक जगह मिट्टी पर से बहकर नीचे के एक गहरे गढ़े में पानी जमा होता। अपना ढक्कन ज़रा-सा हटाकर यह जल-संचय रेत में से होकर झिरता रहता। छोटी-

छोटी मछलियां जलकुण्ड के मुंह के पास बहाव की उलटी दिशा में तैरने की स्पर्द्धा किया करतीं। मैंने जाकर पिताजी से कहा : एक अत्यन्त सुन्दर पानी की धारा देख आया हूं, वहीं से हमारे नहाने-धोने और पीने के पानी की व्यवस्था हो जाय तो बहुत अच्छा हो। उन्होंने फ़ौरन मेरे उत्साह का समर्थन करके कहा : ठीक तो है, यह तो बहुत अच्छा होगा।—और आविष्कारकर्ता को पुरस्कृत करने के लिए वहीं से पानी मंगवाने का प्रबंध करा दिया।

संभवतः मुझे सावधानी सिखलाने की ग़रज़ से वे मेरे पास दो-चार आने रखा देते जिनका मुझे हिसाब रखना पड़ता। उनकी क़ीमती सोने की घड़ी में चाबी देने का काम भी मुझे ही दिया गया था। सुबह जब टहलने निकलते तब मुझे साथ ले लेते। राह में भिखारी मिलने पर मुझसे ही भीख दिलवाते। अंत में जमाखर्च मिलाते समय हिसाब ही न मिलता। एक दिन तो तहबील बढ़ गई। पिताजी कहने लगे : देखता हूं तुम्हें ही अपना कैशियर बना लेना होगा; तुम्हारे हाथ में तो पैसा बढ़ जाता है।—उनकी घड़ी में मैं खूब फ़िक्र से चाबी दिया करता। किन्तु फ़िक्र कुछ ज्यादा ही करता था, इसलिए थोड़े दिनों के भीतर घड़ी को मरम्मत के लिए कलकत्ते भेजना पड़ा।

बड़े होने पर जब काम का भार पड़ा और उनके पास हिसाब पेश करना पड़ा, तब की बात याद आ रही है। उन दिनों वे पार्कस्ट्रीट में रहते थे। हर महीने की दूसरी तीसरी तारीख को उन्हें हिसाब पढ़कर सुनाना होता था। पिछले महीने और पिछले वर्ष के साथ इस बार के आय-व्यय का तुलनात्मक विवरण उनके सामने रखा जाता था। पहले तो वे मोटी-मोटी रक़मों को सुनकर मन ही मन उनकी जोड़-बाक़ी कर लिया करते। मन में यदि कभी असंगति बोध करते तब सब छोटी छोटी संख्याएं उन्हें सुना जाना होता। किसी किसी दिन ऐसा होता कि हिसाब में जिस जगह कोई कमज़ोरी होती, उन्हें विचलित होने से बचाने के विचार से मैं उसे दबा जाता। किंतु दबाना कभी सफल नहीं हुआ। हिसाब का मोटा रूप वे चित्तपट पर आंक लेते थे; जिस जगह छिद्र रहता वहीं उनकी नज़र रुक जाती। इसीलिए महीने के वे दो दिन ख़ास बेचैनी के दिन हुआ करते। पहले ही कह आया हूं कि सभी बातों को मन में सुस्पष्ट करके देख लेना उनके स्वभाव में था, वह चाहे गणित के अंक हों या प्राकृतिक दृश्य हो या अनुष्ठान अथवा आयोजन हो। शांतिनिकेतन का नया मंदिर आदि बहुत-सी चीजें अपनी आंखों से वे नहीं देख पाए। किंतु शांतिनिकेतन देखकर जो कोई भी उनके निकट गया है उससे बिना-देखी वस्तुओं की वर्णना सुनकर उन्हें पूरी तरह मन में बिना आंके उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। उनकी स्मरणशक्ति और धारणाशक्ति असाधारण थी, इसीसे एकबार मन में जिसे ग्रहण कर लेते वह किसी भी तरह वहां से मिट नहीं पाता।

भगवद्गीता में उनके मन के श्लोक चिह्नित थे। उन्हें बंगला-अनुवाद सहित मुझे नक़ल करने के लिये दिया गया। घर पर मैं नगण्य बालक था; यहाँ इन सब महत्त्वपूर्ण कामों का भार पड़ने पर इसके गौरव को मन ही मन खूब बढ़ाकर देखने लगा।

बोलपुर से चलकर साहेबगंज, दानापुर, इलाहाबाद, कानपुर आदि में रुकते-रुकाते अंत में हम लोग अमृतसर पहुंचे। राह में एक घटना हुई थी जो मुझे आजतक ठीक याद रह गई है। किसी एक बड़े स्टेशन पर गाड़ी आकर खड़ी हुई और टिकट-निरीक्षक ने आकर हम लोगों की टिकटें देखीं। एकबार मेरे मुंह की ओर ताका, कुछ संदेह जैसा उसे हुआ लेकिन कहने की हिम्मत नहीं कर पाया। कुछ देर बाद और एक जन आया — दोनों हमारे डिब्बे के पास कुछ फुसफुसाकर चले गए। तीसरी बार शायद खुद स्टेशनमास्टर आकर हाज़िर हुआ और मेरी आधी टिकेट की परीक्षा करके पिताजी से बोला—इस लड़के की उम्र क्या १२ साल से अधिक नहीं? पिताजी ने सिर्फ इतना ही कह दिया—'नहीं'। तब मैं ग्यारह का था लेकिन अपनी उम्र के हिसाब से मेरी बाढ़ कुछ ज्यादा हो गई थी। स्टेशनमास्टर बोला—इसके लिये पूरा किराया देना पड़ेगा। पिताजी की दोनों आंखें जल उठीं; उन्होंने उसी दम बाक्स से नोट बाहर कर दिया। किराए के रुपये काटकर जब वह बाक़ी रुपये लेकर वापस करने आया तब उन्होंने उसके हाथ से लेकर खन-खन खिड़की के बाहर प्लैटफ़ार्म के फ़र्श पर फेंक दिए। स्टेशन मास्टर अत्यंत संकुचित होकर चला गया—रुपये बचाने के लिये पिताजी मिथ्या कहेंगे—इस संदेह की क्षुद्रता ने उसका सिर आपही नीचा कर दिया।

अमृतसर का गुरुद्वारा मुझे स्वप्न की तरह याद आता है। कितने ही दिन प्रभात में पिताजी के साथ पाँव-पैदल चलकर सरोवर के बीच में स्थित सिखमंदिर गया हूं। वहाँ सब समय भजन कीर्तन चलता रहता है। पिताजी उन्हीं सिख उपासकों के बीच में बैठकर कभी कभी सहसा सुर में सुर मिलाकर भजन में साथ देने लगते; विदेशी के मुंह से यह वन्दना-गान सुनकर वे लोग अत्यंत उत्साहित हो उठते और उन्हें समादर देते। लौटती बेर मिसरी के टुकड़ों तथा हलवे का प्रसाद ले आते।

जब संध्या हो आती, पिताजी बगीचे के सामनेवाले बरामदे में आ बैठते। तब उन्हें ब्रह्मसंगीत सुनाने के लिये मेरी पुकार होती। चाँद निकल आया है; वृक्षों के भीतर से होकर बरामदे के फ़र्श पर चाँदनी बिखर रही है — मैं विहाग के सुरों में गा रहा हूं:

"तुमि बिना के कभु संकट निवारे,
के सहाय भव अंधकारे।"—

वे निस्तब्ध होकर सिर झुकाए दोनों हाथ मिलाकर गोद में रखे चुपचाप सुरों में डूबकर सुन रहे हैं—सांझ का वह चित्र आज भी याद हो आता है।

बचपन में, मैंने दो पारमार्थिक कविताएं रची हैं—यह समाचार सुनकर एक दिन पिताजी हँस पड़े थे। बड़े होने पर मैं इसका पूरा पूरा शोध कर पाया था। तब माघोत्सव का समय था, सुबह और अपराह्न में मिलाकर मैंने कई गान रचे थे; उनमें से एक था — "नयन तोमारे पाय ना देखिते, रयेछो नयने नयने।" मेरी और ज्योतिदादा की पुकार हुई। हार्मोनियम पर ज्योतिदादा को बिठलाकर उन्होंने एकएक करके सभी नये गाने सुनाने के लिये कहा। कोई-कोई गीत दुबारा भी गाना पड़ा। जब गाना समाप्त हुआ, तब उन्होंने कहा — देश का राजा यदि देश की भाषा जानता और साहित्य का सम्मान समझता, तब वही कवि को पुरस्कार देता। राजा की तरफ़ से जब इसकी कोई संभावना नहीं है तब यह काम मुझे ही करना पड़ेगा। ऐसा कहकर उन्होंने पांचसौ रुपये का एक चेक मेरे हाथों में रख दिया।

मुझे अंगरेज़ी पढ़ाने के लिये Peter Parleys Tales-माला की कितनी ही पुस्तकें उन्होंने साथ रख ली थीं। बेंजामिन फ्रैंकलिन की जीवनी में उस व्यक्ति की हिसाबी और काम-काजी धर्मनीति की संकीर्णता उन्हें पीड़ित किया करती। पढ़ाते पढ़ाते फ्रैंकलिन की घोरतर सांसारिक बुद्धिमानी और नैतिक उपदेशों के वाक्यों से विरक्त होकर वे प्रतिवाद किए बिना न रहते।

इसके पहले मुग्धबोध रट डालने के सिवाय और तो कोई संस्कृत मैंने पढ़ी नहीं थी; पिताजी ने एकदम ऋजुपाठ द्वितीय भाग से शुरू कराकर उपक्रमणिका के शब्दरूप कण्ठस्थ करने के लिये दे दिए। बिल्कुल शुरू से ही वे यथासाध्य संस्कृत-रचना में मुझे उत्साहित करते थे। मैं जो पढ़ता उसीके शब्द उलट-पालटकर लंबे लंबे समास गूंथकर इच्छानुसार अनुस्वार जोड़ते हुए देववाणी को अपदेवता के योग्य कर डालता। किंतु मेरे इस अद्‌भुत दुःसाहस का पिताजी ने एक दिन भी उपहास नहीं किया।

इसके सिवाय प्राक्टर-लिखित सरल-पाठ्य अंगरेज़ी ज्योतिष-ग्रंथ से बहुत-सी बातें वे ज़बानी मुझे समझाया करते और इन्हें मैं बँगला में लिखता। अपने पढ़ने के लिये वे जो किताबें साथ लाए थे उनमें एक ग्रंथ मेरी दृष्टि में खूब स्पष्ट था—दस बारह जिल्दों में बंधा हुआ गिबन् का रोम। देखने से नहीं लगता कि उनमें कुछ भी रस होगा। मन ही मन सोचता—अच्छा, मुझे तो सिर पर आ पड़ने पर बहुत-सी चीजें पढ़नी ही पड़ती हैं; बालक हूं कोई चारा नहीं; किंतु ये तो इच्छा करने पर नहीं भी पढ़ सकते, तब खाहमखाह यह तकलीफ़ क्यों?

स्वर्ग से विदाई

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

म्लान हो आई गले में मालिका मंदार की, है बुझ चली ज्योतिर्मयी टीका ललाट-विराजिता,
देवेन्द्र, सारा पुण्यबल है क्षीण मेरा,
आ गया दिन आज जब मैं स्वर्ग से हूंगा विदा ;
हे देवगण हे देवियो, इस देवपुर में देवता की भांति मैं हूं रहा वर्ष करोड़।
थी आशा बंधी मन में कि इस अन्तिम विछोह-मुहूर्त में स्वर्गीय लोगों के विलोचन-प्रान्त
में मैं देख जाऊंगा ज़रा-सी अश्रु की रेखा ममत्व-भरी।
मगर यह स्वर्ग की है भूमि सुख की खान शोक-विहीन
औदासीन्य से निष्पलक देख रही,
नहीं हैं गिरे उसके पलक लाखों वर्ष तक।
अश्वत्थ की सुकुमार टहनी से खिसक जो जीर्णतम पत्ता गिरा उसकी व्यथा जितनी लगी
उस पेड़ को—
उतनी व्यथा भी है न लगती स्वर्ग को जब सैकड़ों होते गृहच्युत नित्य एक निमेष में
हतभाग्य मेरी भांति निहतज्योति तारा-पिण्ड-सम,
गिरते धरा के जन्ममृत्युस्रोत में जिसका न कोई अन्त है।

देवेन्द्र, यदि बजती व्यथा वह स्वर्ग के उर में
विरह की म्लान छाया जो कहीं देती दिखाई
तो चिरन्तन ज्योति होती म्लान इसकी प्रियनयन-निःसृत सुकोमल शिशिर वाष्पाच्छन्न हो,
नंदन-विपिन निश्वास-सह मर्मरित हो उठता
तथा मन्दाकिनी गाती करुणतर रागिणी अपने मनोहर तीर पर कलकंठ से ;
सन्ध्या दिवस के अन्त में आती उदासी से भरी जाती चली दिग्वलय के उस पार निर्जन
प्रान्त से होकर ;
निशा निस्तब्ध सन्नाटा-भरी वैराग्य का संगीत गा उठती, लिए झिल्ली-झणित झंकार तारा
की सभा के बीच।

होता भंग रह-रह ताल नृत्यनिलीन मेना के कनकमय नूपुरों में ;
उर्वशी की स्वर्णवीणा स्खलित हो उठती पयोधर-प्रान्त से,
झंकारती दारुण-करुण मृदु तान अन्यमनस्क हो ;
दिखती अकारण वाष्परेखा अमरगण के अश्रुहीन अदीन नयनों में ।—
सदा पति-पार्श्व में बैठी हुई एकासनासीना शची सहसा चकित हो देखती पति के दृगों में,
खोजती मानों वहां कुछ तृषाशामक वारि ।
धरती से पवन के स्रोत में बहता हुआ आता करुण उच्छ्वास जब-तब
और झर पड़ती कुसुम-मंजरी नंदन विपिन की सुकुमार ।

हे सुरलोक, आनन्दित रहो हँसते रहो हे देवगण, पीते रहो पीयूष ।
यह पुर है तुम्हारे सौख्य का आगार,
परदेशी कि हम हैं मर्त्य की सन्तान ।
प्यारी मर्त्यभूमि नहीं कभी है स्वर्ग, वह है मातृभूमि अमोल ;
उसके नयन से झरती रहेगी अश्रुधारा
छोड़ यदि आवें उसे दो दिवस के भी बाद हम दो दण्ड के भी लिये ;
जितने भी न क्यों हों क्षुद्र, जितने दीनहीन अपात्र, जितने पाप-ताप-ग्रस्त,
सबको व्यग्र आलिङ्गन-जड़ित कर मां निरन्तर बांधना है चाहती,
जाती जुड़ा छाती लगाती प्रेम से जब धूलिधूसर मलिन अंगों को ।
बहे हे देवगण, तव स्वर्ग में पीयूष की धारा, हमारे मर्त्य में सुख-दुःख-मिश्रित प्रेमधारा रहे
जो निज अश्रुजल से सींचकर भूलोक के स्वर्गीय खण्डों को सदा श्यामल बनाये रहे ।

—ऐसा हो कि हे अप्सरी,
तव मोहक दृगों की ज्योति प्रेम-विछोह-पीड़ा से कभी भी म्लान मत हो जाय,
मैं होता बिदा हूं ।
चाहती हो तुम किसीको नहीं,
ना पातीं किसीका शोक ।
धरती पर किसी ग्रामान्त में
अश्वत्थ की छायातले दीनातिदीन मलीन गृह में भी
कहीं मम प्रेयसी जो जन्म लेगी,

—बालिका वह हृदय में संचित रखेगी अमृत का भाण्डार यत्न-समेत मेरे ही लिये,
शिशुकाल में ही उस नदी के तीर पर शिवमूर्ति रचकर मांग लेगी वर मुझे सप्रेम,
संध्या के समय उत्सुकमना, प्रज्वलित कर लघुदीप सरिता में बहा देगी सशंक-सकंप,
निश्चल एक-टक लखती रहेगी, सोचती भावी अचल सौभाग्य एकाकी खड़ी तट पर
कि सौम्य मुहूर्त में फिर कभी प्रविशेगी भवन में
लिये विमल सुहाग, सन्नत नयन, चर्चित भाल,
मंगल वसन, मोहक ताल-सुर-संगीत, वेणु-निनाद—
उत्सव-जाल ।
फिर हो सुदिन या दुर्दिन, भवनलक्ष्मी विराजेगी—
करों में मंगलांचित वलय
शुभ सीमन्त में सिन्दूर,
इस संसार-सागर के सिरे पर पूर्णिमा की चाँद ।
—हे सुरवृन्द, आएगा स्मरण फिर भी मनोहर स्वर्ग स्वप्न-समान रह-रह कर
किसी अधरात को जब मैं अचानक देख पाऊंगा
कि निर्मल सेज पर बिछला रही है चाँदनी
जिसमें अलस निद्राजड़ित मेरी प्रिया के बाहु लुंठित हो रहे हैं,
शिथिल लज्जा-ग्रंथियां है ;
एक मृदुल सुहाग-चुंबन से जगा दूंगा
कि व्रीड़ा भरी सचकित प्रिया जगकर वल्लरी-सम लिपट जाएगी रभस-आश्लेष में मम वक्ष से ।
उस समय मलयानिल बहेगी कुसुम का ले वास,
जाग्रत् पिकी कूकेगी सुदूर-विलासि तरु की डाल पर ।—

अयि दीन-हीन-मलीन दुःखातुरा अश्रु-निलीन जननी मर्त्यभूमि,
अनेक दिन के बाद मेरा चित्त रोदन कर उठा है आज तेरे लिये ;
मां, जिस दिन विदाई के करुण दुख हेतु मेरे शुष्क नयनों में भरा जल-वाष्प
उस दिन ही मधुर सुरलोक छाया-छविल—
तंद्रिल कल्पना की भांति क्या जाने कहां उड़ गया !
तेरा नील-विपुल-व्योम, तेरा ज्योतिमय आलोक,
तेरे जन-बहुल पुर-ग्राम, जलनिधि के तटों की वालुका-वेला मनोरम दीर्घ।

तरुगण-मध्य वह निःशब्द अरुणोदय,
विजन सरिता-तटों की साँझ अवनतमुखी,
सब कुछ प्रतिफलित हो गए मुकुर-समान इस नयनांबु में !

हृत-पुत्रिके हे जननि,
जिस दिन मैं तुम्हारी गोद से छिन गया अन्तिम बार
उस दिन की तुम्हारी आंख की झरती हुई जलधार सिंचित कर रही थी जो तुम्हारे मातृस्तन को सतत
वह निश्चय गई है सूख अब तक,
किन्तु फिर भी जानता हूं जब तुम्हारी गोद में मैं लौट आऊंगा पुनः
तत्क्षण बढ़ा भुज-युगल तू लेगी हृदय में लगा मंगल-शंख बजवाकर तथा
तत्काल स्नेहच्छाय सुखदुख से भरे संसार में अपने अनेकों पुत्र-कन्या बीच
मुझको यों बिठा लेगी कि मानो चिरन्तन पहिचानवाला आ गया कोई भवन में
और फिर दिन रात सिरहाने खड़ी जगती रहेगी
प्राण में कम्पित हृदय में सदा शंकित बनी,
ऊपर देवता की ओर करुणा-भरे नयनों से रहेगी ताकती
चिन्ताभरी मन में कि जिसको पा सकी हूं वह नहीं खो जाय
मेरा लाल !

(अनु०—व्यो० शा०)

साहित्य का नया रास्ता

हजारीप्रसाद द्विवेदी

साहित्य में बड़ी तेज़ी से परिवर्तन हो रहा है। हमारा तरुण साहित्यकार यह विश्वास करने लगा है कि अब तक के साहित्यकार जिस मार्ग पर चलते रहे वह मार्ग अपने चरम गन्तव्य तक पहुँच चुका है, अब अगर उसीपर बना रहना है तो या तो धीरे धीरे पीछे लौटना होगा या फिर दौड़कर एक बार आगे से पीछे और एकबार पीछे से आगे की ओर आने की कसरत करनी होगी। इस क्रिया से दौड़नेवाले की फुर्ती, ताक़त और हिम्मत की तारीफ़ कर ली जा सकती है पर इतना निश्चित है कि उससे आगे बढ़ने की आशा नहीं की जा सकती। आगे बढ़ना हो तो इस सड़क के अन्तिम किनारे से मुंड़ जाना होगा। सबलोग उस रास्ते को नहीं देख पाते क्योंकि वह अब भी अच्छी तरह से बना नहीं है, काँटे और कंकड़ की ढेर में से एक अस्पष्ट पगडंडी उस रास्ते की ओर इशारा कर रही है, लहूलुहान हो जाने का खतरा भी बहुत है पर अगर मनुष्य जाति को वर्तमान दुर्गति से बचना है तो इस मार्ग पर चलने के सिवा और कोई उपाय नहीं है।

यह जो मनुष्यजाति को दुर्गति के पंक से बचाने का संकल्प है यह एक बहुत बड़ा उपादान है जो आज के साहित्य को नये रास्ते की ओर ठेल रहा है। मैंने मार्क्स-लिखित एक वाक्य किसी पुस्तक में उद्धृत देखा था। पुस्तक चूंकि मार्क्स के बहुत बड़े प्रशंसक की लिखी हुई है इसलिये उसके उद्धरण को प्रामाणिक मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। उस छोटे-से किन्तु सारगर्भित वाक्य का भावार्थ हिंदी में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है "अब तक तत्त्व-ज्ञानियों ने विश्व की नानाभाव से **व्याख्या-मात्र** की है, लेकिन असली प्रश्न व्याख्या करने का नहीं है, बल्कि **परिवर्तन** करने का है।" इसका मतलब यह हुआ कि मार्क्स का प्रचारित तत्त्वज्ञान कोई शास्त्रीय मतवाद नहीं है बल्कि दुनिया को बदलकर मनुष्य के सुख-सौविध्य के अनुकूल निर्माण करने का विज्ञान है। वह केवल बहसकी चीज़ नहीं है। उसने दुनिया को ही नहीं दुनिया के इतिहास को भी एक खास दृष्टि से देखा है और सब देख सुन लेने के बाद वह जिस नतीजे पर पहुँचा है उस तक मनुष्य को पहुँचा देने को वह एक कर्तव्य मानता है। इस मत को माननेवाला उसी लक्ष्य तक मानवजाति को पहुँचा देने के उद्देश्य से ही काव्य लिखता है, नाटक खेलता है, पार्लियामेंट की सीटें दखल करता है और सेना के संचालन में अपना हक़

खोजता है। यह नहीं है कि साहित्य के मैदान में वह सौंदर्य के निरीह मृग का शिकार करता हो, राजनीति में झूठ-सच की आँखमिचौनी खेलता हो, और धर्म के क्षेत्र में आत्मोद्धार के लिये सपाद लक्ष मंत्र का जप करता हो। वह सब क्षेत्रों में केवल एक ही लक्ष्य को सामने रखकर काम करता है—मनुष्य जाति को उस लक्ष्य तक पहुँचा देना जो उसके अभीष्ट मतवाद के आचार्यों द्वारा अनुध्यात है और जिस लक्ष्य तक पहुँचकर उसके विश्वास के अनुसार मनुष्य जाति का अभ्युदय निश्चित है।

दो बातें इस प्रसंग में स्मरण कर ली जानी चाहिए। भारतवर्ष में तटस्थ पर्यालोचक द्वारा की गई दुनिया की व्याख्या को दर्शन नहीं कहा गया है। इस देश में प्रत्येक दार्शनिक विचार का विकास किसी धार्मिक साधना के कारण हुआ है इसलिये धार्मिक साधना का जो उद्देश्य हुआ करता है वह उद्देश्य दार्शनिक विचारधारा के साथ बराबर अनुस्यूत रहा है। धार्मिक-साधना का एक उद्देश्य यह अवश्य होता है कि वह साधक को बदल कर एक विशेष कोटि का बना दे। अर्थात् धार्मिक साधना भी विश्व की व्याख्या मात्र नहीं है बल्कि साधक को परिवर्तित कर देने की चेष्टा है। इसलिये अन्यान्य देशों के तत्त्वज्ञानियों की भांति इस देश के दार्शनिक केवल तटस्थ व्याख्याता नहीं कहे जा सकते। यह अवश्य है कि वे साधना से और दर्शन से व्यक्ति को बदलने का प्रयास करते थे, सारी दुनिया को नहीं। दूसरी बात यह कि यद्यपि प्राचीनतर तत्त्ववाद जीवन के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में व्यावहारिक सत्य को भिन्न भिन्न रूपमें मानते थे तथापि सर्वत्र एकरस सत्य को खोजने और आचरण करने का प्रयास बहुत नई बात नहीं है। व्यावसायिक क्रान्ति के बाद से नाना मनीषियों ने नाना भाव से इस बात को प्रमाणित किया है। इन दो बातों के होते हुए भी यह सत्य मालूम होता है कि जितने व्यापक और वैज्ञानिक रूप में मार्क्स के अनुयायियों ने ऊपर बताई हुई विशेषता को अपनाया है उतना अबतक कभी नहीं हुआ था।

अपनेको प्रगतिशील घोषित करनेवाली रचनाओं ने ऐसे लोगों को एक अजीब भ्रम में डाल रखा है जो मेरे समान जिज्ञासु तो हैं पर अर्थशास्त्र की पुरानी, आधुनिक (पूंजीवादी) और मार्क्सवादी व्याख्याओं को समझने का सुयोग नहीं पा सके हैं और इसीलिये जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसके व्यापक प्रयोग को ठीक ठीक समझ नहीं पाते। पर इधर हाल ही में प्रगतिशीलता आन्दोलन के नेताओं ने उत्तम कोटि की प्रगतिशील कविताओं का संग्रह करना शुरू किया है। इन रचनाओं के पढ़ने से मेरे मन में जो बात सबसे पहले लगी है वह यह है कि जिन रचनाओं को प्रगतिशील कहा गया है उनकी आधारभुत तत्त्व-चिंता कोई आर्थिक या राजनीतिक वाद नहीं है। संपूर्ण मानवजाति ने अनादिकाल से जो ज्ञानराशि संचय की है उस संपूर्ण का रस निचोड़ कर ही वह तत्त्वज्ञान अपनी सत्ता बताता है। कम-से-कम उसकी इच्छा ऐसी ही है। इस

तत्त्ववाद को चार सूत्रों में जो बाँट लिया जा सका है सो केवल आपात-सुविधा के लिये : (१) दुनिया या प्रकृति (जिसमें मानव-समाज भी शामिल है) परस्पर सापेक्ष वस्तुओं से बनी है, कोई भी वस्तु अपने आप में निरपेक्ष नहीं है; (२) कुछ भी स्थिर नहीं है, प्रत्येक वस्तु गतिशील है और परिवर्तनशील है, या तो वह विकासोन्मुख है या पतनोन्मुख, पर है गतिशील; (३) वस्तुओं का विकास आसानी से नहीं हो जाता—थोड़ी देर तक वह ज़रूर आसानी से ही चलता रहता है पर एक ऐसे स्थल पर पहुँचता है जब वह एकाएक तेज़ी से विलट जाता है। पानी में गर्मी का संचार करते रहिए। निश्चित है कि थोड़ी देर तक कुछ परिवर्तन नहीं दिखेगा। एकाएक एक खास सीमा तक आने पर पानी खौलने लगेगा, उसमें उथल-पुथल मच जायगा और वह वाष्प बनकर उड़ने लगेगा। पतनोन्मुख पानी और विकासोन्मुख वाष्प की यह सादी कहानी अत्यन्त जटिल मानव समाज में भी इसी प्रकार दिखाई देती है; (४) प्रत्येक वस्तु में दो तत्त्व होते हैं; विकासोन्मुख और ह्रासोन्मुख। जो विकसित हो रहा है उसे दूसरा तत्त्व बाधा देता है, अभिभूत करने की चेष्टा करता है; जब विकसनशील तत्त्व काफी सबल हो जाता है तो द्वन्द्व तीव्रतम हो उठता है और फिर धीरे धीरे बाधा देनेवाला या प्रतिकर्ता तत्त्व ठप्प हो जाता है। ये चार सूत्र प्रकृति के कण-कण में लागू हैं। इनको आवश्यकतानुसार अपने उद्देश्य-साधन में लगाया जा सकता है। ज्ञान-विज्ञान की चर्चा का फल वही उद्देश्य साधन है, राजनीति और अर्थनीति का लक्ष्य इन्हीं नियमों को अनुकूल विश्व-निर्माण में लगाना है और साहित्य और कला का उद्देश्य भी ऐसा ही है। अलौकिक आनंद का अनुभव हो जाय तो उसे आनुषंगिक फल मान लेना चाहिए। वही साहित्य का वास्तव फल नहीं है।

ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है वह आधुनिक प्रगतिशीलता का ठीक ठीक विश्लेषण है या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। इसमें ईमानदारी के साथ समझने की चेष्टा के सिवा और किसी सद्गुण की बात का दावा मैं नहीं पेश कर सकता। पर यह अगर सत्य के नजदीक है तो मुझे ऐसी कोई बात नहीं दिखती जिससे वे लोग चिढ़ें या घबराएं जो अपने को प्राचीन-पंथी कहते हैं। ऊपर मैंने जो कुछ लिखा है वह न तो हमारी प्राचीन काव्य परम्परा के स्वाभाविक विकास का परिपंथी है न आधुनिक सहृदय के मानस-संस्कारों का प्रतिगामी। प्राचीन कवि अपने काव्य का उद्देश्य "रामादिवदाचरितव्यम् न तु रावणादिवत्" समझता था। इसका अन्तर्निहित अर्थ यह था कि काव्य दुनिया के आचरण को अच्छे मार्ग की ओर मोड़ देने के संकल्प से लिखा जाता था। उस समय सत् और असत् की सीमाएं निर्धारित थीं, धर्म और अधर्म की मर्यादा स्थिरमान ली गई थीं, ऐसा विचार केवल बाह्य सतह पर चक्कर काटने वालों के लिये ही ठीक है। कभी भी प्राचीन विचारकों ने कर्म-विशेष को सदा के लिये सत् या असत् नहीं बताया। कर्म की

गति सदा गहन समझी जाती रही है, इसीलिये गीता में कर्म, अकर्म और विकर्म तीनों को ठीक ठीक समझने पर जोर दिया गया है—

कर्मणोऽह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।

सत्य बोलना धर्म है, यह मोटी-सी बात है। पर सत्य बोलना क्या चीज़ है यह अवस्था के विचार के बिना नहीं समझा जा सकता। शुकदेव से नारद ने कहा था कि सच बोलना ठीक है, पर हित की बात बोलना और भी ठीक है — सत्य की अपेक्षा हित श्रेष्ठ है! — क्यों कि मेरा विचार यह है कि सत्य वह नहीं है जो मुंह से बोला जाता है, सत्य वह है जो समस्त जगत् का ज्यादा से ज्यादा उपकार करता है, आपाततः वह चाहे झूठ जैसा ही क्यों न सुनाई देता हो—

सत्यस्य बचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्

यद्भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम ॥

— म० भा० शान्तिपर्व ३२९. १३

महाभारत में अन्यत्र बताया गया है कि अवस्था विशेष में सत्य के बदले असत्य बोलना ही विहित है (शां० १०९.१६) सो यह समझना कि कर्म की सत् और असत् की मर्यादा प्राचीन विचारकों ने लोहे की मोटी दीवार से बांध दी थी सत्य का अपलाप-मात्र है। यह अवश्य है कि साधारण जनता को उन्होंने इतनी गहराई में उतरने की शिक्षा नहीं दी और उनके लिये पाप-पुन्य की मर्यादा बांध दी। यहां वे गलती कर सकते हैं पर प्राचीन तत्त्ववादियों की गलतियों को अपना खूराक बनाकर प्रगतिशीलता का आन्दोलन अपनी गति को कुंठित भर कर सकता है, किसीका कोई उपकार नहीं कर सकता।

प्रगति-आंदोलन के नेताओं ने हरदम क्लास, वर्ग और श्रेणी का नाम ले लेकर भी अपना वक्तव्य धूमिल बना दिया है। वे ऐसी बहुत-सी बातें कहते हैं जो वर्ग-भावना के बिना भी समझाई जा सकती थी परन्तु उनका उद्देश्य उस बातको समझाना शायद कम होता है और वर्ग-संघर्ष की भावना को परिचित बनाना अधिक। 'संकृति' शब्द बड़ा अस्पष्ट है इसलिये उसे छोड़कर 'ज्ञान' शब्द को लेकर विचार किया जाय। मानव-समाज ने प्रत्येक काल में किसी-न-किसी रूप में ज्ञानधारा को आगे बढ़ाया है। प्रत्येक काल में ज्ञान की साधना एक खास वर्ग या श्रेणी ने की है। समय ने उस वर्ग को दुनिया की सतह से पोंछ दिया है पर उनका आविष्कृत ज्ञान मानवमात्र की सम्पत्ति होकर उपकार कर रहा है। शुल्व-सूत्रों के जिन ब्राह्मण-पुरोहितों ने प्रथम प्रथम रेखागणित के विश्वव्यापक नियमों का आविष्कार किया था वे मिट गए पर जो ज्ञान वे दे गए वह सारे जगत् की अपनी चीज़ है। इसी-

लिये यद्यपि प्रत्येक ज्ञान का एक ऐसा व्यावहारिक रूप रहा है जो वर्ग-विशेष के अर्थार्जन का मूल रहा है पर वह उसका शाश्वत रूप नहीं है। उसका एक स्थिरतर रूप भी है जो अपने उद्भावक वर्ग के नष्ट हो जाने पर भी बना रहता है। मैं ठीक नहीं कह सकता कि ज्ञान के उस रूप को प्रगतिवादी नेता क्या कहेंगे पर वह जो कुछ भी कहें उस शब्द का अर्थ शाश्वत या स्थिर जैसा ही कुछ होगा। ज्ञान का जिस प्रकार एक स्थिर या शाश्वत रूप है जो वर्ग-स्वार्थ के परे है उसी प्रकार काव्य-सौन्दर्य का भी है। उसका 'ब्रह्मानंद-सहोदर' कहकर समझने की चेष्टा किए बिना ही मज़ाक उड़ा देना आसान है पर उससे मिलते-जुलते शब्द का व्यवहार किए बिना उसे समझाया नहीं जा सकता।

हम लोग यह समझने के अभ्यस्त हैं कि काव्य के पढ़ने-सुनने वाले या नाटक के देखने वाले सहृदय के चित्त में ही वासना रूप से स्थायी भाव स्थित होता है। काव्य के श्रवणद्वारा या अभिनय के दर्शन द्वारा वही रति उद्बुद्ध होकर आस्वादित होती है। काव्य में एक ऐसी शक्ति होती है जो राम में से रामत्व और सीता में से सीतात्व आदि हटाकर साधारण स्त्री-पुरुषके रूप में उपस्थित करती है। इस साधारणी वृत्ति रूप से, जैसा कि विश्वनाथ ने कहा है, जब काव्यार्थ उपस्थित होता है तो उसके फलस्वरूप सत्त्वगुण का उद्रेक होता है, और चित्त स्वप्रकाश और आनंदमय हो जाता है। क्योंकि प्रकाश और आनंद दोनों ही सत्त्वगुण के धर्म हैं। इस प्रकार जो रस अभिव्यक्त होता है वह विश्वजनीन होता है। उसमें कोई वैयक्तिक राग द्वेष नहीं होता। लौकिक भय-प्रीति-जनक व्यापारों से यह भिन्न होता है क्योंकि इसमें व्यक्तिगत सुख दुःख का स्पर्श नहीं होता। लोक में एक स्त्री एक पुरुष के प्रति अभिलाषा प्रकट करती है तो उसमें व्यक्तिगत सुख दुःख का भाव रहता है, पर काव्य और नाटक में जब यही बात होती है तो उसमें वह व्यक्तिगत राग द्वेष नहीं होता। इसमें सहृदय एक निर्वैयक्तिक अलौकिक आनंद का उपभोग करता रहता है। यद्यपि अपने ही चित्त का पुनः पुनः अनुभूत स्थायी भाव अपने आकार के समान ही अभिन्न है तथापि वह काव्य-नैपुण्य से गोचर किया जाता है, आस्वादन ही इसका प्राण है, विभावादिक के रहने पर ही यह रहता है, नानाप्रकार के मीठे खट्टे पदार्थों के संयोग से बने हुए शरबत की भांति यह आस्वादित होता है, मानों सामने परिस्फुरित होता हुआ हृदय में प्रवेश करता हुआ, सर्वांग को आलिंगन करता है, अन्य सब कुछ को तिरोहित करता हुआ ब्रह्मानंद को अनुभव करने वाला यह रस अलौकिक चमत्कार का कारण है। यह कार्य नहीं है क्योंकि कारण के नाश होने पर कार्य नष्ट नहीं होता और यह विभावादि के अभाव में नहीं रह सकता। वह ज्ञाप्य भी नहीं है, अर्थात् जिस प्रकार अंधकार में रखी हुई वस्तु दीपक आदि से प्रकाशित होकर ज्ञाप्य बनती है, उस प्रकार यह नहीं होता, क्योंकि वह स्वंयसिद्ध है। बल्कि वह विभावादि से व्यंजित होकर

आस्वादित होता है। जो कारक द्वारा कार्य नहीं, ज्ञापक द्वारा ज्ञाप्य भी नहीं ऐसी कोई वस्तु दुनिया में नहीं हो सकती, इसीलिये रस अलौकिक है। अभिनवगुप्त के इस मत में सबसे बड़ी विशेषता है वह यह है कि वे स्थायी भाव को पहले से ही सहृदय के चित्त में स्थित मानते हैं, जब कि अन्यान्य व्याख्याकार रस को सहृदय से बाहर मानते हैं। निस्सन्देह अभिनव का सिद्धान्त मनोविज्ञान-सम्मत है और रसानुभूति का सर्वोत्तम मार्ग बताता है। वही हमारा अब तक का सर्वोत्तम समझा जाने वाला मत है। यह मत भारतीय सहृदय के रोम-रोम में रमा है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद काव्यास्वादन के इस नियम को स्वीकार नहीं कर सकता। परन्तु इन भौतिकवादियों की भी कई श्रेणियां है। यदि वह साधारण राजनीतिक प्रचारक होगा तो अभिनवगुप्त या आनंदवर्धन को किसी वर्गविशेष का प्रतिनिधि मानकर उनकी नीयत पर ही आलोचना की कैंची चला देगा। परन्तु यदि वह गंभीर तत्त्वचिंतक होगा तो मानेगा कि ये विचार चाहे जिस क्लास को उपज हों ज्ञानधारा को आगे बढ़ाने में सहायक हैं, वह इन विचारों को तटस्थ तत्त्ववादी की भांति विश्लेषण करके और विचार करके दूर नहीं फेंक देगा बल्कि अपने अनुध्यात भविष्य के निर्माण में इनसे किस प्रकार सहायता ली जा सकती है यही सोचेगा। मार्क्सवादी के लिये कोई सत्य लोहे की मोटी दीवारों से घिरा नहीं है और इसीलिये वह संसार के प्रत्येक स्टेज में अर्जित ज्ञान को अपने काम में लाने से नहीं हिचकता। नीति को अवस्थाएं रूप देती हैं। जो लोग इस देश में प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे हैं उन्हें अपने देश के संचित ज्ञान की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आज नहीं तो कल उन्हें उस विशाल ज्ञानराशि के संरक्षण और आलोचन का भार अपने कंधे पर लेना होगा। हजारों वर्ष की समृद्ध ज्ञानराशि को फेंक देना बुद्धिमानी नहीं है। दुनिया की अन्य सभी वस्तुओं को फेंक देने से भार हल्का हो सकता है पर ज्ञान के फेंकने से भार बढ़ जाता है।

प्रगतिशील कही जानेवाली सब रचनाओं की तो मैं नहीं कहता—उनमें बहुतेरी ग्राम्य, अश्लील, जुगुप्सित और रसाभासमूलक हैं—पर चुनी हुई नमूने के तौर पर संगृहीत कविताओं और कहानियों तथा नाटकों को देखकर मैं कह सकता हूं कि वे अपनी प्राचीन परंपरा के स्वाभाविक विकास के रूप में समझाई जा सकती हैं। दो बातें मान लेने से वे इस देश के लिये भी ग्राह्य बनाई जा सकती हैं—ज्ञान और सौंदर्य का चिरंतन रूप और सहृदय के वासना-रूपमें स्थित रस का उद्बोध। मैं ठीक नहीं जानता कि आधुनिक साहित्य-मीमांसक इन बातों को स्वीकार करेंगे या नहीं पर मेरा अपना विश्वास है कि एक समय आएगा जब भारतवर्ष के सभी क्षेत्रों पर समाजवाद के किसी न किसी रूप का आधिपत्य होगा। उस दिन के लिये हमें अभी से तैयारी करनी होगी। आज से ही हमारे प्रगतिशील

तरुण साहित्यकारों को यह याद रखना होगा कि किसी दिन ऐसे सैकड़ों मतवादों और तत्त्व-चिन्ताओं को उन्हें आत्म-निरपेक्ष भाव से अध्ययन मनन संपादन और विवेचन करना होगा जो उनके आज के प्रचारित मतवाद के विरुद्ध पड़ेंगी। आज का तरुण आलोचक जिस मत को बिना समझे ही मज़ाक का विषय बना रहा है, कल उसी मत की संरक्षा का भार उसीपर आनेवाला है। दुनिया जैसी आज है वैसी ही नहीं बनी रहेगी, शास्त्रों की जो ढीलमढाल संरक्षण-व्यवस्था आज जारी है वह शीघ्र ही खत्म हो जायगी और तरुण साहित्यकार की गैर-जवाबदेह मस्ती भी कपूर की भाँति उड़ जायगी। उस दिन जो प्राचीन संचित ज्ञाननिधि प्रकट होगी वह थोड़े से बुद्धि-विलासियों के मनोविनोद का साधन नहीं होगी, वह बृहत्तर मानव-जीवन की कर्मविधि को रूप देगी। उस दिन निश्चित है कि नया तत्त्वज्ञान उससे समृद्ध होगा और कुछ आश्चर्य नहीं यदि वह थोड़ा परिवर्तित भी हो जाय। यदि संसार का कोई वस्तु स्थितिशील नहीं है, सभी परिवर्तन-शील हैं, तो ऊपर लिखे हुए प्रगतिसूत्र ही क्यों स्थिर होंगे। मार्क्स का तत्त्वज्ञान भी तो कोई स्थिर और शाश्वत वस्तु नहीं है। यदि इतनी-सी बात हमारे तरुण साहित्यकार याद रखें तो उनकी रचनाएं अधिक गंभीर अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण और अधिक प्रभावोत्पादक होंगी। नवीन रचनाओं में जो प्राण है सो कोई अस्वीकार नहीं कर सकता परन्तु मेरा अनुमान है कि यदि किसी दिन इस देश में इन कविताओं ने गहरे तक जड़ जमाया तो दो शर्तें वे किसी-न-किसी रूप में अवश्य मान लेंगी। वे ज्ञान सौन्दर्य और कल्याण के अस्थायी परिवर्तनशील रूप के साथ स्थायी शाश्वत रूप को अस्वीकार नहीं कर सकेंगी और न यही अस्वीकार कर सकेंगी कि उनका काम सहृदय के हृदय में स्थायी-रूप में विद्यमान भावों का उद्‌बोध है। इन दो बातों को मान कर ही वे इस देश में अपना प्रभाव विस्तार कर सकेंगी। मेरा दृढ़ विश्वास है कि वे शीघ्र ही ऐसा प्रभाव प्रसार कर सकेंगी इसीलिये मेरा यह भी विश्वास है कि एक-न-एक रूप में वे इन दोनों बातों को भी मान लेंगी। अपने देश की चिन्ता-परंपरा न तो उथली है न संकीर्ण इसलिये इस नये तत्त्ववाद को उसमें आसानी से खपाया जा सकता है, समृद्ध बनाया जा सकता है और अपने ढंग पर अपनाया जा सकता है।

पुस्तक-परिचय

"भारतवर्ष के अर्थशास्त्रीय मतवादों का द्वन्द्व और उनके समन्वय का प्रयत्न"*

रामपूजन तिवारी

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने भारत की आर्थिक समस्या को सुलझाने के लिये किए गए कतिपय प्रयत्नों को पूरी तरह से छानबीन की है। विवेचना के लिये कोरी सैद्धान्तिकता को ही आधार नहीं माना गया है, प्रत्युत व्यावहारिकता को अपेक्षित भी माना गया है। लेखक ने इस बात की चेष्टा की है कि यह विषय केवल विद्वानों के बीच बहस-मुबाहिसे की चीज़ न रह कर ऐसा हो, जिसका अमली रूप दिया जा सके। हिन्दुस्तान की ग़रीबी और बेकारी इस दर्जे तक पहुंच चुकी है, कि उसकी बराबरी संसार का कोई भी देश नहीं कर सकता। अतएव इस देश के कर्णधारों एवं अर्थशास्त्रज्ञों का ध्यान इस ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही है। यहां की आर्थिक-समस्या के हल के लिये विविध प्रयत्न किए गए हैं, (जिनकी सैद्धान्तिक रूप से इस पुस्तक में पड़ताल की गई है तथा व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की गई है) इनमें दो प्रमुख हैं जो एक दूसरे से बिलकुल विपरीत हैं। उनमें एक का जिसे लेखक ने 'मशीन स्कूल' कहा है, कहना है, कि भारत का औद्योगिक-करण बड़े पैमाने पर होना चाहिए क्योंकि "यह एक स्पष्ट बात है कि यन्त्रों द्वारा उत्पादन का कार्य हाथ के उत्पादन की अपेक्षा अधिक विशिष्ट होता है। आधुनिक कारखाने गृह-उद्योग-धन्धों की अपेक्षा कई गुना ज्यादा उत्पादन कर सकते हैं। बड़े पैमाने पर संयोजित उद्योग-धंधों से धन अभूतपूर्व गति से बढ़ सकता है। इसलिये यंत्रों के द्वारा ही हमारा अभाव बहुलता में परिवर्तित हो सकता है। जितना ही ज्यादा यंत्री-करण हो, उतना ही अच्छा / हमारी बेहद ग़रीबी के लिये बड़े पैमाने पर किया गया उत्पादन ही एकमात्र दवा है" (पृ० २-३)। दूसरेका जिसे लेखक ने "चर्खा स्कूल" कहा है, कहना है कि "इस देश में करोड़ों आदमी बेकार हैं। यह तो एक निर्विवाद बात है। दिहातों में चले जाइए, आप स्वयं इसे देख सकते हैं। अब ये बेकार लोग सिवाय भोजन करने के एक डग भी इधर उधर नहीं जाना चाहते। इसलिये आप उन्हें थोड़ा सूत कात लेने के लिये, थोड़ा कपड़ा बुन लेने के लिये, कुछ तेल पेरने, कुछ सेर धान कूट लेने के लिये, कुछ पन्ने काग़ज़ बना लेने के लिये अथवा कुछ टुकड़े साबुन के तैयार कर लेने के लिये प्रोत्साहित करें तो वे कुछ पैदा कर सकेंगे और उससे राष्ट्रीय धन में थोड़ी वृद्धि हो सकती है। यद्यपि यह वृद्धि अपेक्षाकृत अत्यल्प होगी और यह लज्जाजनक बात होगी कि इतने अधिक लोग इतनी कम मात्रा में उत्पादन करते हैं, फिर भी कुछ नहीं करने के बजाय

* कन्‌फ्लिक्ट आफ इकनामिक आइडिओलोजीज़ इन इन्डिया—ऐन एटेम्पट ऐट रीकन्‌-शिलिएशन (अंग्रेजी)-ले० श्री सुधीर सेन बी. एस सी. (इकनामिक्स) पी एच. डी.; प्रकाशक—विश्व-भारती इकनामिक रिसर्च स्टडीज़, १९४१, मूल्य १)।

कुछ करना बेहतर है, और जब तक हम उन्हें काम में लगाने का दूसरा दूसरा ज़रिया न निकाल सकें तब तक के लिये यह अच्छा है कि वे इन कामों में लगे रहें।" (पृ० ३)

इसी प्रकार की बहुत सी दलीलें दोनों "स्कूल" के विचारकों द्वारा पेश की जाती हैं। यह एक प्रकार से मुश्किल सा हो जाता है, कि किसको ठीक माना जाय, किसको ग़लत। भारतीय अर्थशास्त्रज्ञों द्वारा इसका समाधान कुछ कारणों से पूरी तरह सफल नहीं हो पाता; क्योंकि "जिस विज्ञान का वह जानकार है उसका जन्म पश्चिम में हुआ है और जिन उपादानों पर वह आधारित है वे पश्चिम के देशों से लिए गए हैं"। (पृ० २) इन कठिनाइयों के होते हुए भी लेखक ने बहुत ही सुन्दर ढंग से उपर्युक्त विचारों की विवेचना की है तथा इस बात पर प्रकाश डाला है कि किस प्रकार से दोनों का समन्वय हो सकता है।

पुस्तक में सात अध्याय हैं। पहले में भूमिका-स्वरूप इस समस्या की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। उपर्युक्त दोनों "स्कूलों" के विचारों की छायामात्र दी गई है तथा भारतीय अर्थशास्त्रज्ञ की कठिनाइयों की ओर निर्देश किया गया है।

दूसरे अध्याय में सैद्धान्तिक मतभेदों की ज़िक्र है। 'मेशीन स्कूल' और 'चर्खा स्कूल' के मतानुयायियों की कुछ बातें आ चुकी हैं। 'चर्खा-स्कूल' वालों का कहना है कि बड़े पैमाने पर औद्योगिक-करण के प्रयोग द्वारा हम कुछ दिनों के बाद बेकारी बिलकुल दूर कर देंगे, इस प्रकार का विश्वास ज्यादातर कल्पना-प्रसूत है; क्योंकि "१९३७ ई० में हिन्दुस्तान के सभी कारखानों में १८,०१,०५० मज़दूर काम करते थे। अगर कपड़े के कारखानों को देखा जाय, तो हम पाते हैं कि सिर्फ ४२३ ही कपड़े की मिलें थीं जिनमें ५,६९,००० मज़दूर काम करते थे। यह बिलकुल स्पष्ट है कि औद्योगिक करण के साथ साथ काम में लगे हुए लोगों की संख्या बहुत ज्यादा घट जाती है। दूसरे शब्दों में, यंत्र लोगों को बेकार बनाता है"। (पृ० ४)।

सिर्फ इतना ही कहने से हमारा दायित्व खतम नहीं हो जाता कि ज्यादा से ज्यादा लोग काम में लगे रहें, हमें यह भी देखना होगा कि उत्पादन ज्यादा से ज्यादा हो। काम में लगाए रखना ही हमारा मंतव्य नहीं होना चाहिए, परन्तु इस बात की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए कि लोगों की आम तौर पर आर्थिक उन्नति हो और वह उत्तरोत्तर अग्रसर होती जाय। "दासता तो कोई गर्व करने की वस्तु नहीं है। चर्खा, घानी और ढेंकी से प्रतिदिन कुछ ही पैसे प्राप्त किए जा सकते हैं। उत्पादन करने वाले यंत्र के लिहाज़ से वे किसी काम के नहीं। इसलिये इनका त्याग ही सर्वोत्तम है। ऐसी कोई वजह नहीं दीखती कि कारखानों में सभी लोगों को काम नहीं मिल सके। काम के घंटे कम किए जा सकते हैं। इससे लोगों को अवकाश भी मिलेगा और उनकी आर्थिक दशा भी सुधरेगी (पृ० ४)"। इस प्रकार से दोनों पक्षों की बहुतेरी बातें सुनने को मिलती हैं। अतएव लेखक ने तीसरे अध्याय में इस बात पर ज़ोर दिया है कि इन प्रश्नों को सुलझाने के लिये एक नये दृष्टिकोण से हमें विचार करना होगा। मुख्य प्रश्न यह है कि हमारी ग़रीबी किस प्रकार से दूर हो। कौन-सा उपाय किया जाय कि समाज के सभी लोगों की आर्थिक दशा अच्छी हो? इन प्रश्नों का हल सिर्फ इसीसे नहीं हो सकता कि हम उत्पादन बढ़ाने तथा राष्ट्र के धन की वृद्धि के साधनों पर ही विचार करें, बल्कि हमें वितरण के प्रश्न पर भी उतना ही ध्यान देना होगा। पूंजीवादी देशों की वितरण-प्रणाली अत्यधिक दोषपूर्ण है। परन्तु "हिंदुस्तान

में, जहां कुछ वर्षों से देश के उत्पादन को बढ़ाने के लिये आधुनिक विज्ञान का सहारा लिया गया है, वितरण का प्रश्न गौण है।" यहां की तात्कालिक समस्याओं के निराकरण ने लेखक को इतना अभिभूत कर दिया है, कि वितरण की जटिलता दुनिया को क्षुब्ध किए हुए है, इसे उन्होंने भुला ही सा दिया है। यह बहुत अंश में ठीक है, कि हिन्दुस्तान की अवस्था वर्तमान समय में और पूंजीवादी देशों से भिन्न है। लेकिन हमें बराबर यह बात ध्यान में रखनी होगी कि पूंजीवादी प्रणाली में धन का केन्द्रीकरण होना एक स्वाभाविक सी चीज़ है और जो समस्या इतने विकट रूप में दूसरे पूंजीवादी देशों के सामने उपस्थित है, वह हमारे सामने भी आएगी। उनकी गलतियों, उनके अनुवभों से हमें शिक्षा लेनी होगी और इस प्रकार वितरण के प्रश्न को गौण कहकर भविष्य के लिये टाल देना बुद्धिमत्ता-पूर्ण नहीं होगा। शायद इसी बात को ध्यान में रख कर लेखक ने कहा है कि "सभी अवस्थाओं में एक व्यक्ति द्वारा किए गए उत्पादन कार्यों को समाजिक स्वार्थ के अधीन रखना होगा तथा देश की सरकार को बराबर व्यक्ति पर नियंत्रण रखना होगा, जिससे कि उसकी कार्रवाइयों से समाज क्षतिग्रस्त न होने पाए" (पृ० १२)।

चतुर्थ अध्याय में जनसंख्या एवं रोज़ी के प्रश्न पर विचार किया गया है। आज की दुनिया में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई जनसंख्या तथा औद्योगिक करण और विश्रृंखल वितरण के फलस्वरूप पैदा हुई बेकारी के बीच सामंजस्य स्थापित करने की निरंतर चेष्टा की जा रही है। जो राष्ट्र पर्याप्त उन्नत है और जहां की सरकार जनता के प्रति उत्तरदायित्व-शून्य नहीं है, उसने अधिक से अधिक इन बातों पर ध्यान दिया है। इस दृष्टिकोण से हमें क्या करना चाहिये? हमारे सामने कई-एक बातें आती हैं। एक तो यह कि हमारा देश बहुत बड़ा है और इसकी जनसंख्या दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है। बहुसंख्यक लोग बेकार हैं। कारीगरों का अभाव-सा ही है। किसानों की एक बड़ी तायदाद ज़मीन से चिपटी हुई है और वह भी इतनी ना-काफ़ी है जिससे साल भर उसका भरण पोषण नहीं हो पाता। इसके साथ ही साथ हमारे यहां पूरी तरह से औद्योगिक करण बहुत से क्षेत्रों में होने को बाक़ी है। ऐसी हालत में नये क्षेत्रों में उद्योग-धन्धों का प्रसार बेकारी को बढ़ाएगा नहीं, बल्कि उसे घटाने में ही योग देगा। अतएव, "अगर कहा जाय तो हमारी समस्या बेकारी की नहीं है वरन् रोज़ी देने की है"। बड़े पैमाने पर होनेवाले उद्योग धन्धों को लेखक ने दो भागों में विभक्त किया है। पहला रोज़ी लगानेवाला और दूसरा रोज़ी छीननेवाला। पांचवे अध्याय में इसी दृष्टिकोण से विचार किया गया है। पहली श्रेणी में ताता कम्पनी को रख सकते हैं, जिससे बहुत से लोगों का रोज़गार और राष्ट्रीय-सम्पत्ति बढ़ी है। दूसरी श्रेणी में चावल कूटनेवाली मिलें हैं, जिसका नतीजा हुआ है कि ढेंकी बेकार हो गई है और बहुत से लोगों का रोज़गार भी छिन गया है। लेकिन इस विभाजन का यह मतलब नहीं है, कि इनमें एक दूसरेसे कोई संबंध ही नहीं है। "एक ऐसे देश में जहां की जनसंख्या खूब बढ़ी हुई है और जहां पर हट्टे-कट्टे बेकार लोगों की कमी नहीं है; वहां किसी प्रकार से भी संदेह की गुंजाइश नहीं रह जाती कि रोज़ी लगानेवाले उद्योग-धंधे रोज़ी छीननेवाले उद्योग-धंधों से कहीं श्रेयस्कर हैं (पृ० २३)।" "स्पष्टतया यों कहा जा सकता है कि अगर तेल पेरनेवाली, चावल कूटनेवाली तथा कपड़ा की मिलों के कुछ विभागों में लगी हुई पूंजी को हटाकर जस्ता, रासायनिक पदार्थ, यंत्र, रेल की इंजन, मोटर, नौ-निर्माण अथवा

पानी द्वारा उत्पन्न होनेवाली बिजली के कारखानों में लगाई जाय और उनकी उन्नति की जाय" तो समाज कहीं ज्यादा लाभान्वित होगा। देश की मौजूदा परिस्थिति में तथा यहां के लोगों की मनोवृत्ति और उनकी परंपरा को देखकर यह कहा जा सकता है कि चाहे जितने भी कल-कारखाने खोले जाएँ, जितनी भी औद्योगिक-करण की कोशिश की जाय, यहां के किसान लोग आधे पेट खाते रहने पर भी अपनी ज़मीन को बिलकुल ही छोड़कर कोरा मज़दूर बनना पसंद नहीं करेंगे। अतएव अगर हमें लोगों की आर्थिक उन्नति करनी है और उद्योग-धंधों का प्रसार करना है, तो "छोटे छोटे कारखानों की स्थापना उन जगहों पर करनी होगी, जहां आसपास के बेकार लोग रोज़ी पा सकेंगे।" इसके अलावे दोनों प्रकार के उद्योग-धंधों को उपयुक्त रूप से प्रोत्साहन देना भी आवश्यक है (पृ० ३६)। लेकिन लेखक इस बात को बताना भूल गए हैं कि कारखानों की स्थापना करेगा कौन? जहां पर व्यक्तिगत स्वार्थ और शोषण की ही प्रधानता है, वहां इस प्रकार की योजना कैसे संभव होगी? जहां वैयक्तिक-संपत्ति की ओर उंगली भी नहीं उठाई जा सकती वहां किस प्रकार से कोई भी सरकार किसीको ऐसा करने के लिये बाध्य करेगी?

छठे अध्याय में विभिन्न विचार पद्धतियों की एक बार फिर से विवेचना की गई है। 'मेशीन स्कूल' तथा 'चर्खा-स्कूल' वालों ने दुर्भाग्य-वश इस प्रकार की दलीलें पेश की हैं जिन्हें वे अकाट्य समझते हैं। पहले पक्ष के इस कथन में सत्य का अंश है कि लोहा, कोयला, हवाई जहाज, तथा बिजली के कारखाने की उन्नति देश के लिये अत्यावश्यक है,। इसके साथ ही दूसरे का यह कथन भी बहुत दूर तक ठीक है कि "स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहने पर, ऐसा कोई क़दम नहीं उठाना चाहिए कि लोग और ज्यादा बेरोज़गार हो जांय, यद्यपि उनकी आमदनी बिलकुल ही नगण्य है (पृ० ४२)। " 'चर्खा-स्कूल' वालों की ग़रीब जनता को रोटी पहुंचाने की तीव्र आकांक्षा अत्यन्त ही प्रशंसनीय है, परन्तु जनता की आर्थिक अवस्था और ऊंचे स्तर पर लाने की भी अत्यधिक आवश्यकता है, इस ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती" (पृ० ४२)। अतएव उनका यह समझना कि रचनात्मक-कार्यक्रम सर्वदा सभी काल के लिये उपयुक्त है, ठीक नहीं जंचता। इस दृष्टिकोण से तो उन्नतिशील 'मेशीन-स्कूल' का ही कार्य-क्रम अपनाना अच्छा है।

सातवें और अन्तिम अध्याय में संक्षेपतः लेखक ने अपनी राय प्रकट की है। देश का समृद्धिशाली होना तथा जनता की आर्थिक अवस्था का उन्नत होना ही किसी भी प्रकार के प्रयत्न का उद्देश्य हो सकता है। "राष्ट्रीय आर्थिक योजना में तीन बातें होनी चाहिएँ: अन्तिम लक्ष्य क्या है, कहां से शुरुआत होनी चाहिए और किन किन दशाओं से उसे पार होना चाहिए" (पृ० ४४)। योजना की आवश्यकता को सबने स्वीकार किया है, परन्तु उपयुक्त तीनों बातों का ध्यान किसीने भी नहीं रखा यद्यपि किसी भी राष्ट्रीय आर्थिक-योजना में इनको मद्दे नज़र रखना ही होगा।

पुस्तक की विवेचन-शैली हृदयग्राही है। पक्षपात-रहित दृष्टि से लेखक ने प्रतिस्पर्द्धा रखनेवाली विचारधाराओं का सुंदर विश्लेषण किया है। जो सुझाव पेश किए गए हैं वे व्यावहारिकता के बहुत नज़दीक हैं। किंतु उनका यह कथन ठीक नहीं जान पड़ता कि "साम्यवादी अपने गन्तव्य स्थान की पवित्र घोषणा करके संतोष कर लेता है" (पृ० ४४)। और "अपने उद्देश्य तक पहुंचने के साधनों और अवस्थाओं पर अपूर्ण रूप से ही प्रकाश डाल पाया है" (पृ० ४३)।

शायद साम्यवाद को देश की मौजूदा परिस्थिति के अनुकूल नहीं समझ कर ही लेखक ने उसको एक प्रकार से अछूता ही छोड़ दिया है, और यह ठीक भी है। औद्योगिक-करण और गृह-उद्योग-धंधे का समन्वय आज की परिस्थिति में ज़रूरी है। परन्तु आज इतने अनुभवों के बाद भी लोगों के सामने तथा सरकार के सामने भी औद्योगिक-करण तथा व्यापार में अनियन्त्रण एवं अहस्तक्षेप-वाली नीति का ही बोलबाला है। अतएव हमारी समस्याओं के सुलझाव के लिये लेखक ने एक नये दृष्टिकोण को रखकर हमें सोचने का मसाला दिया है। इस दृष्टि से भी पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है।

ऐतिहासिक-जैन-काव्य-संग्रह—सम्पादक अगरचन्द्र नाहटा, भंवरलाल नाहटा; प्रकाशक शङ्करदान शुभैराज नाहटा, ४ जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता।

श्वेताम्बर जैनों में साधुओं की परम्परा के ३२ गच्छ हैं। उनमें से खरतर गच्छ की विभिन्न शाखाओं के, १५ वीं शती से लेकर १९ वीं शती तक के बीचमें होने वाले, साधुओं के सम्बन्ध में प्रशस्ति रूप में लिखी हुई कविताओं या पद्यों का सङ्कलन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। इन कविताओं से खरतर गच्छ की साधु-परम्परा के बारे में बहुत-कुछ जाना जा सकता है। जैन साधुओं के समय, उनके चरित्र तथ वैदुष्य की मोटे तौर पर जानकारी के लिये पुस्तक उपयोगी है। प्राकृत से अप्रभ्रंमुखी होकर भारतीय भाषा किस प्रकार आज की प्रान्तीय भाषाओं में विकसित हुई है, इसकी पड़ताल करने में प्रस्तुत पुस्तक विद्वानों के लिए भी सहायक हो सकती है। बारहवीं शती के बाद भाषा का प्रवाह किस प्रकार बदलता हुआ आधुनिक भाषाओं के समुद्र में अनेकमुखी होकर गिरा है इसके लिये प्रस्तुत पुस्तक की भाषा लक्ष्य या नमूने का काम दे सकती है। अपभ्रंश के इसमें कितने ही विकसित और सुन्दर नमूने हैं। संग्रह में गीतों की संख्या प्रचुर है जो गीतमय छन्दों का विकास टटोलने में उपकारी हो सकती है। दोहा और छप्पय का प्रयोग साधारणतया है पर चौपाई नहीं दिखलाई पड़ती। जान पड़ता है चौपाई का प्रयोग फुटकर कविता लिखने में आम तौर पर चालू न था यद्यपि चौपई का प्रयोग (पृ० ५१,५५, ११९) बहुत जगह इसके लिये हुआ है जिसमें चौपाई से एक ही मात्रा कम है। कवित्त (पृ० १३९, २४८, ४२१) और सवैया (पृ० १७३, १८९, ३११) शब्दों का साधारणतया पद्य-सामान्य के लिए प्रयोग हुआ है। पृ० १७३ पर जो सवैया है वह अविकसित कवित्त (=मनहरण) का है जिसमें लक्षण का समन्वय बड़ा ढीलाढाला है। रीतिकाल के विकसित छन्दों के नाम के साथ इस संग्रह के छन्द नामों से यदि तुलना करें तो स्पष्ट जाना जा सकता है कि देश-काल भेद से छन्दों की रूपरेखा के साथ नामों में भी बहुत कुछ अदल बदल हुआ है। भाषा और छन्द की पड़ताल में इस संग्रह के कितने ही अंश उदाहरण का अच्छा काम दे सकते हैं। विभिन्न शतियों की भाषा में गूंथे गए इन पद्यों का, जैन लोगों के लिये धार्मिक दृष्टि से भी तथा और लोगों के लिये भाषा की दृष्टि से बहुत कुछ मूल्य है। परिशिष्ट में विशेष नामों की सूची और कठिन-शब्दकोश है जो ग्रन्थ की गांठों को सुलझाने में बहुत उपयोगी है।

—शा० भि०

अपनी बात

श्रावणी पूर्णिमा गुरुदेव का अन्तिम आशीर्वाद है

आज से ठीक दो वर्ष पूर्व इसी श्रावणी पूर्णिमा तिथि को गुरुदेव हमें छोड़कर चले गए थे। जब तक वे जीते रहे तब तक उन्होंने हृदय के साथ हृदय और प्राण के साथ प्राण को मिलाने की ही साधना की थी। उनकी वह मिलन-वाणी कितनी आन्तरिक और वेदनापूर्ण थी यह बात हम उनकी जीवितावस्था में नहीं समझ सके। हमारे चैतन्य की ऐसी तामसिकता देखकर मृत्यु के समय भी उस योग (मिलन) की बात ही जाज्वल्यमान कर गए। वे जिस दिन गए उस सारा भारत रक्षा-पूर्णिमा मना रहा था। वह दिन भाई-भाई में और बहन-भाई में रक्षा-सूत्र के द्वारा प्रेम-बंध का दिवस था। आज सारा संसार उन्मत्त की भांति प्रलय विनष्टि की ओर भागा जा रहा है उसे देखते हुए यदि हम गुरुदेव के मिलन-मंत्र को सार्थक कर सकें तभी जगत की रक्षा हो सकती है नहीं तो छल-बल या कौशल से कोई भी बड़ी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती ; वे अपनी मृत्यु के द्वारा उस तिथि को हमारे पास अन्तिम आशीर्वाद के रूप में छोड़ गए हैं। विनाश की ओर भागते हुए संसार के लिये यह आशीर्वाद सार्थक हो, सफल हो, यही हमारी प्रार्थना है।

दूरत्व भी अपेक्षित है

जीवन में हमने गुरुदेव को ठीक ठीक नहीं समझा। ऐसा हो कि हम उन्हें अच्छी तरह समझ सकें। महान् वस्तु को समझने के लिये थोड़ा दूरत्व अपेक्षित है। सूर्य और चंद्र दूर हैं इसीलिये हम उसे समग्र भाव से देख सकते हैं और उनके गोलत्व की धारणा कर सकते हैं। पृथ्वी कुछ कम गोल नहीं है किन्तु अति सामीप्य के कारण उसकी ऊंची नीची और ऊबड़-खाबड़ रूप देख कर न तो हम उसके समग्र रूप को देख पाते हैं न उसके वर्तुलत्व की धारणा ही कर सकते हैं। हमारी जितनी उच्चता है उसी परिमाण में हमारा क्षितिज है। जो जितना ही ऊंचे पर स्थित है उसका क्षितिज भी उतना ही बड़ा है फिर भी वह खंडित तो होता ही है। हममें भी अपनी उच्चता के तारतम्य के अनुसार किसीने कुछ अधिक समझा है और किसीने कुछ कम किंतु किसीने उन्हें समग्र भाव से नहीं समझा। इससे आथर्वण ऋषि की वह बात याद आती है जिसमें कहा गया है : अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति अर्थात् जो समीपवर्ती को जरा दूर हटाकर नहीं देख पाता वह उसके सत्य को देख ही नहीं पाता। गुरुदेव आज परलोक में हैं। समग्रता की जो दृष्टि हमने उनके सारे जीवन में नहीं पाई वही दृष्टि पाने के लिये भगवान् ने उनकी मृत्यु के द्वारा दूरत्व की रचना की है। विधाता का अमोघ विधान बड़ा निष्ठुर होता है। किन्तु वह विधान भी यदि मोघ साबित हो तो दुःख का कोई आरपार नहीं सूझता। भगवान् से आज हम प्रार्थना करते हैं कि मृत्यु के द्वारा उन्होंने जो दूरत्व रचना की है वह आज सार्थक हो। मानव-समाज उनकी महिमामयी वाणी का मर्म ग्रहण करे, उसकी खुचरी दृष्टि दूर हो।

गुरुदेव की विशाल दृष्टि

हमारे शास्त्र में 'सिंहावलोकन' एक शब्द है। समस्त छोटे जन्तु आस-पास थोड़ी दूर तक देखते हैं किन्तु सिंह की दृष्टि आगे और पीछे सुदूर तक प्रसारित होती है। चर्मचक्षु से हम निकटवर्ती को देखते हैं किन्तु योगी अपनी मर्मचक्षु से स्थान और काल को अतिक्रम करके देखते हैं इसीलिये योगी की योगदृष्टि के निकट भूत भविष्यत् और वर्तमान रूप त्रिकाल एक समग्रता के सत्य में और एक सत्य के ऐक्य में बंधे हैं। गुरुदेव महायोगी थे। उनकी मर्मदृष्टि से उन्होंने जो सिंहावलोकन किया था उसमें पूर्व और पश्चिम का कोई विरोध नहीं था, अतीत वर्तमान और अनागत में भी कोई विरुद्धता उन्होंने नहीं देखी। इन दिनों कोई आधुनिकता का गर्व करते हैं तो कोई प्राचीन-पंथी होने को ही श्रेयस्कर मानते हैं। पश्चिमी कवियों में किसीने पश्चिम का जयगान किया है, किसी-किसी ने अपनी श्रेष्ठता के गर्व में ही दिन बिता दिया है। किन्तु गुरुदेव के महावलोकन के निकट ये सभी खंडित हैं और अर्थहीन हैं। समग्रता की दृष्टि से ही उन्होंने सब-कुछको एक ऐक्य के प्राण से प्राणवान् देखा था। उनको इस दृष्टि से देखने से जगत् का सारा वादविवाद और भेद विभेद को लज्जित होना चाहिए था। महाप्रलय के कर्म में प्रवृत्त पाश्चात्य सभ्यता बलदृप्त एवं धनगर्वित लोगों के निकट गुरुदेव की यह महामिलन की वाणी उतने उपयुक्त रूप में समादृत नहीं भी हो सकती है किन्तु हमारे इस हतभाग्य देश में भी यह वाणी यदि उपेक्षित हो तो दुःख की समाप्ति नहीं है।

भारतीय संस्कृति का अभिप्राय

इसी ऐक्य की दृष्टि से उन्होंने भारतवर्ष के इतिहास की ओर ताककर देखा और भारत के इतिहास-विधाता का एक विशेष अभिप्राय वे समझ सके। किसी देश में इतनी जातियों और संस्कृतियों का सम्मिलन नहीं हुआ। यदि संस्कृति के साथ किसी का साक्षात्कार हुआ भी है तो प्रबल ने दुर्बल को मार-पीट कर या खा-पीकर हजम कर लिया है। किन्तु भारतवर्ष में दूसरा ही ढंग रहा है। एक युग के बाद दूसरा युग आया है। एक जाति के बाद दूसरी जाति आई है। सब अपनी अपनी संस्कृति और अपना धर्म लेकर आई हैं और बंधुभाव से एक दूसरे के पार्श्व में रहने लगी हैं। किसीने किसीको निश्चिन्ह नहीं किया। यही हमारे भारतवर्ष की बड़ी भारी समस्या है। इसे जातिभेद और धर्मभेद आदि नाना नामों से किसी-किसीने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये व्यवहृत करने का प्रयत्न किया है। किन्तु लोभ और शक्तिमद से मत्त होकर यदि हम विधाता की इच्छा के विरुद्ध काम करें तो कुछ देर तक कृतकार्य होने पर भी बाद में चल कर समूल ध्वंस होना निश्चित है। गुरुदेव ने यही बात अपने इतिहास की धारा नामक प्रबंध में अच्छी तरह से दिखाया है। इस बात को कह कर ही वे निश्चिन्त नहीं हुए। मृत्युशय्या पर से भी वे अन्तिम कविताओं में अपने मन की वेदना प्रकाश कर गए हैं। विश्वभारती पत्रिका के पाठकों को इन कविताओं से परिचय होगा। प्रथम खंड के प्रथम अंक में ही हमने एक इस प्रकार की कविता छापी है (दे०, वि० भा० प० खंड १ पृ० ३९)।

संस्कृतियों का द्वंद्व

भिन्न भिन्न संस्कृतियों में कुछ विरोध तो उनके विशेष-विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में उद्भूत होने के कारण पैदा हो जाते हैं और अधिकांश मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये गढ़ लेता है। यह मानवता का सबसे बड़ा अभिशाप है। केवल दो संस्कृतियों में ही यह विरोध और द्वंद्व नहीं दिखाई देता ; एक ही संस्कृति में भी प्रबल और दुर्बल के संघर्ष और विरोध का अस्तित्व कम वेदनादायक नहीं होता। किन्तु भय लोभ और मोह वश जब घर के आदमी भी दूसरों के साथ युक्त होकर विधाता के विधान को अतिक्रम करते हैं तो शोचना का कोई कूल-किनारा नहीं दिखता। एक ही संस्कृति में प्रबल जब असहाय दुर्बल को सताने लगते हैं, नाना भांति से निगृहीत और अपमानित करने लगते हैं तो यह बात कोढ़ में खाज की भांति अत्यन्त वीभत्स वेदनादायक हो उठती है। इस अमानुषिक नीचता ने गुरुदेव को जितनी चोट पहुंचाई थी उतनी और किसी बात ने नहीं पहुंचाई। भगवान् को प्रणाम करते-करते भी एक एक बार वे इस वेदना से स्तब्ध होकर उनकी पूजा में अपने इस अन्तर्नाद को ध्वनित कर गए हैं। इसीलिये 'गीतांजलि' में वे अपने देवता के चरणों में संगीत की अंजलि देते-देते वे हठात् रुक गए और देवता के बदले अपने देशवासियों को संबोधन करके सावधान करते हुए कहा है कि हे मेरे हतभाग्य देश, यदि तुमने उन लोगों का सम्मान करना नहीं सीखा जिन्हें अब तक अपमानित करते आ रहे हो तो एक दिन तुम्हें उन्हींके समान अपमानित हो कर रहना पड़ेगा।

गुरुदेव का यथार्थ श्राद्ध

गुरुदेव ने अपने देशवासियों को बारबार याद दिलाई है कि मनुष्य ही विधाता के हाथ का रचित यथार्थ मंदिर है। ईंट पत्थर और काठ के बनाए हुए मंदिर विधाता के इस स्व-निर्मित मंदिर के बराबर नहीं हो सकते। हमारे मंदिरों और देवालयों में काष्ठ-प्रस्तर की मूर्तियां होती हैं पर अपने रचित इस मंदिर में प्राणरूप में वे स्वयं निवास करते हैं। इस मंदिर के देवता की उपेक्षा करके यदि हम कृत्रिम काठ-पत्थर के मंदिरों की पूजा करने लगें तो कभी भी हमारी पूजा सफल नहीं होगी। उन्होंने बताया है कि भगवान् देवालय के रुद्धद्वार गृह में नहीं है न एकान्त में समाधि लगानेवाले के चित्त में ही हैं ; वस्तुतः वे वहां है जहां किसान और मजदूर एड़ी चोटी का पसीना एक करके परिश्रम कर रहे हैं। यदि भगवान् को पाना है तो वहीं जाना होगा। ध्यान, धारणा, फूल-अक्षत सब बेकार हैं। भगवान् को पाने के लिये उसी धूल धक्कड़ में जाना ज़रूरी है (गीतांजलि ११९)। यही उनका सबसे बड़ा संदेश है। आज श्रावणी पूर्णिमा के दिन यदि हम उनके इसी संदेश को सार्थक कर सकें तो हम उनका यथार्थ श्राद्ध कर सकेंगे। इस भारत के महामानव की धारा के तीर पर उन्होंने इसी महती साधना के लिये आर्य और अनार्य हिंदू और मुसलमान, ब्राह्मण और खृष्टान, ज्ञानी और पातकी सब को पुकारा है। आज उस आह्वान का उत्तर देने का सबसे उपयुक्त समय है। जो लोग उनका वार्षिक श्रद्धा करना चाहते हैं वे इस बात को सदा स्मरण रखें तो अच्छा हो।

—क्षितिमोहन सेन

विश्वभारती पत्रिका

कार्तिक, २००० खंड २, अंक ४ अक्टोबर, १९४३

शूद्रधर्म

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मनुष्य जीविका के लिये सुयोग के अनुसार नाना भांति के कार्य करता रहता है। साधारणतः उन कार्यों के साथ धर्म का संबंध नहीं होता, अर्थात् मनुष्य के कर्तव्य को प्रयोजन से अधिक मूल्य नहीं दिया जाता।

भारतवर्ष में एक दिन ऐसा भी बीता है जब धर्म को जीविका के साथ युक्त किया गया था। इससे मनुष्य शान्त होता है। अपनी जीविका के क्षेत्र को उसकी समूची संकीर्णता के साथ मनुष्य सहज ही ग्रहण कर सकता है।

जो लोग अपनी इच्छा के अनुसार जीविका चुन ले सकते हैं उनमें से अधिकांश को भाग्य बाधा देता है। जो मनुष्य राजमंत्री होने का सपना देखता है उसे फर्राश का काम करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में काम के भीतर-भीतर से एक विद्रोह का भाव उसके मन में बढ़ता रहता है जो रुकना नहीं जानता। कठिनाई यह है कि राजा की गृहस्थी में यद्यपि फर्राश का काम भी ज़रूरी है पर सम्मान राजमंत्री के पद का ही है; यहाँ तक कि जिस स्थान पर केवल पद ही है, काम कुछ भी नहीं, वहां भी वह अपने खिताब के बल पर सम्मान का दावा करता है। फर्राश इधर काम में पिसते-पिसते हैरान होता है और मन ही मन सोचता है कि उसके प्रति दैव का अविचार हो रहा है। वह पेट की खातिर निरुपाय होकर दीनता स्वीकार करता ज़रूर है पर उसका क्षोभ नहीं दूर होता।

इच्छा की स्वाधीनता की ओर यदि भाग्य भी भिड़ गया होता और सभी फर्राश अगर राजमंत्री हो जाते तो ऐसा होने पर ऐसी बात नहीं है कि मंत्रणा का काम अच्छा होता

बल्कि फर्राशी का काम एकदम चौपट हो जाता। इस प्रकार स्पष्ट है कि फर्राश का काम यद्यपि बहुत ज़रूरी है पर फर्राश के लिये वह असन्तोष-जनक है। ऐसी अवस्था में बाध्य होकर काम करना अपमानकर है।

वृत्तिभेद को पुरुषानुक्रम से वंश-परंपरा के साथ जोड़कर पक्का करके भारतवर्ष ने इस समस्या का समाधान किया था। यदि इसे राजशासन के द्वारा पक्का बनाया गया होता तो फिर उसमें दासत्व का अपमान रह गया होता और भीतर ही भीतर सुलगनेवाली विद्रोह की चेष्टा कभी शान्त न होती। धर्म के शासन से उसे पक्का बनाया गया। कहा गया कि एक एक जाति का एक-एक कर्म उसके धर्म का ही अंग है।

धर्म हम से त्याग का दावा करता है। उस त्याग में दैन्य नहीं होता, गौरव होता है। हमारे देश में धर्म ने ब्राह्मण और शूद्र सभी को कुछ न कुछ त्याग करने का परामर्श दिया है। ब्राह्मण को भी विभिन्न प्रकार के भोग विलास एवं प्रलोभन को परित्याग करने का उपदेश दिया गया था। किन्तु साथ ही उसे अत्यधिक सम्मान भी मिला था। नहीं तो समाज में उसे अपना कार्य करना असंभव हो जाता। शूद्र ने भी यथेष्ट त्याग ग्रहण किया है पर वह समादर नहीं पा सका। फिर भी, उसे कुछ मिले या न मिले, धर्म के लिये हीनता स्वीकार करने में भी उसका एक प्रकार का आत्मप्रसाद है।

वस्तुतः धर्म की श्रेणी में जीविका-निर्वाह को शामिल करना उसी समय चल सकता है जब अपने प्रयोजन के साथ समाज के प्रयोजन का भी उद्देश्य रहे। ब्राह्मण यदि रूखी रोटी खाकर बाहर का दैन्य स्वीकार करते हुए समाज के आध्यात्मिक आदर्श को समाज के बीच उसके विशुद्ध रूप में रखे, तब उसके द्वारा जीविका-निर्वाह होने पर भी वह जीविका-निर्वाह से कहीं बड़ा है, यही धर्म है। हलवाहा यदि हल न जोते तो समाज एक दिन भी नहीं टिक सकता है। अतएव हलवाहा यदि अपनी जीविका को धर्म कहकर स्वीकार करे तब उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता। फिर भी ऐसी झूठी सान्त्वना उसे कोई नहीं देता कि, हलवाहा और ब्राह्मण दोनों के कार्य, सम्मान में समान हैं। जिन सब कार्यों में मनुष्यों की उच्चतर वृत्ति अभिव्यंजित होती है, स्वभावतः ही मनुष्य-समाज में उसका सम्मान शारीरिक कार्य की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है, यह स्पष्ट है।

जिस देश में जीविका प्राप्ति को धर्म-कर्म में मिलाकर नहीं देखा जाता, उस देश में भी नीची श्रेणी का कार्य बन्द होने पर समाज का सर्वनाश हो जाता है। अतएव वहां भी समाज के अधिकांश मनुष्यों को नीचीश्रेणी के कार्य करने ही होंगे। सुयोग की संकीर्णता के कारण ऐसे कार्य करनेवाले मनुष्यों का अभाव नहीं होता, इसीलिये वहां का समाज टिका हुआ है। आजकल बीच-बीच में जब वहां के श्रमजीवी उन आवश्यक बातों की अवहेलना करके, समाज के निष्कर्मा

या परासक्त (दूसरों पर निर्भर रहनेवाले) या बुद्धिजीवी के सामने आते हैं उस समय समाज में भूडोल उपस्थित हो जाता है। ऐसे समय कहीं कड़े राजशासन के बल पर, और कहीं श्रमजीवियों की इच्छित मज़दूरी के बल पर समाज की रक्षा करने की चेष्टा होती है।

हमारे देश में वृत्तिभेद को धर्मशासन के अन्तर्गत कर इस तरह के असन्तोष एवं विद्रोह-चेष्टा का मूल स्थान नष्ट कर दिया गया है। किन्तु ऐसा करने में जातिगत कर्मधाराओं का उत्कर्ष-साधन हुआ है या नहीं, यह विचारणीय विषय है।

ऐसे सब कार्य जो बाहरी अभ्यास के नहीं हैं, और जो बुद्धिमूलक विशेष क्षमता के द्वारा ही साधित हो सकते हैं, व्यक्तिगत नहीं होकर वंशगत हो ही नहीं सकते। यदि उन्हें वंश-विशेष के साथ आवद्ध कर दिया जाय तब क्रमशः उनके प्राण मरकर बाहर का ठाठ ही बड़ा हो उठता है। ब्राह्मणों की जो साधना आन्तरिक हैं उसके लिए व्यक्तिगत शक्ति एवं साधना आवश्यक है जो सिर्फ आनुष्ठानिक है वही सहज है। आनुष्ठानिक आचार वंशानुक्रम से चल-चल कर उसका अभ्यास पक्का एवं दम्भ प्रबल हो सकता है। किन्तु उसकी असलियत का लोप हो जाने पर आचार अर्थहीन हो जाते हैं, आगे चलकर यही आचार बोझ बनकर जीवन-पथ में विघ्न उपस्थित करते हैं। उपनयन-प्रथा एक समय आर्य-ब्राह्मणों के पक्ष में सत्य वस्तु थी,—उसकी शिक्षा, दीक्षा, ब्रह्मचर्य, गुरु-गृहवास सभी उस समय के भारतवर्षीय आर्यों में प्रचलित उच्च आदर्श प्रभृति के ग्रहण करने के पक्ष में उपयोगी थे। परन्तु, जो उच्च आदर्श आध्यात्मिक हैं, जिसके लिए नियत जागरूक चित्‌शक्ति की आवश्यकता है, वह मृत-वस्तु की तरह कठिन आचार के पैतृक-संदूक में बंदकर रखने का नहीं है, तभी स्वभावतः ही उपनयन प्रथा इस समय प्रहसन बन गई है। क्योंकि उपनयन जिस आदर्श का वाहन एवं चिह्न है, वही आदर्श हट चुका है क्षत्रिय की भी वही दशा है, वह कहां है, यह खोज लेना असंभव है। जो लोग क्षत्रिय कहलाते हैं वे लोग केवल जातकर्म और विवाह आदि के अवसर पर ही कुछ पुराने आचारों का पालन भर करते हैं। इधर, शास्त्र का कहना है,—"स्वधर्मे निधनं श्रेयं परधर्मो भयावहः।" इस कथन का प्रचलित अर्थ यह हो गया है। जिस वर्ण का शास्त्रविहित जो धर्म है उसे उसी धर्म का पालन करना होगा। उपरोक्त कथन का मतलब यह हुआ कि धर्म-अनुशासन का जो अंश अंधभाव से पालन हो सकता है उसे ही प्राणपण से पालन कर जाना होगा उसका कोई प्रयोजन हो या न हो, इससे यदि अकारण ही मनुष्यों की स्वाधीनता नष्ट होती हो तो होती रहे, उसकी क्षति हो तो हो। अन्ध आचारों में अत्याचार अत्यन्त अधिक होता है उसके समीप अच्छे-बुरे का आन्तरिक मूल्य—(ज्ञान) नहीं रहता है।

यही कारण है कि पवित्रता की बाई से पीड़ित स्त्री जगह-जगह स्नान करने के लिए

भटकती फिरती है और अपने से कहीं श्रेष्ठ लोगों को बाह्य पवित्रता के वजन से मापती है और घृणा करने से संकोच नहीं करती। वस्तुतः उसके लिये आन्तरिक साधना का कठिनतर प्रयास अत्यावश्यक है। इसीलिये अहंकार एवं दूसरे के प्रति अवज्ञा से उसका हृदय अपवित्र होता है। इसी कारण आधुनिक समय में जो सब बुद्धि-विचार की जलांजलि देते हुए सामाजिक नेता के मतसे अपने धर्म का पालन करते हैं, उन लोगों का औद्धत्य असह्य हो जाता है, और फिर भी वह कितना निरर्थक होता है।

और फिर भी जातिगत स्वधर्म पालन करना बहुत सरल है जहाँ उस स्वधर्म के बीच चित्त-वृत्ति का स्थान नहीं है। वंश-परम्परा की रीति अनुसार हाँड़ी बनाना, या कोल्हू की घानी से तैल बाहर करना या ऊँची जाति की सेवा करना कठिन नहीं है—क्योंकि उससे मन जितना ही मरता है, कार्य उतना ही सरल हो आता है। इन सब कार्यों में नवीनतर उत्कर्ष साधन करने के लिये चित्त चाहिए। वंश-परम्परा के अनुसार स्वधर्म पालन करने में (एक बड़ा दोष यह है कि ऐसा करने से उस धर्म के अनुकूल) उपयुक्त चित्त भी बाकी नहीं रहजाता, मनुष्य केवल यन्त्र होकर एक ही कार्य की पुनरावृत्ति करते रहता है। जो हो, आज भारतवर्ष में केवल शूद्र लोग ही विशुद्ध भाव से अपने धर्म पर टिके हुए हैं। उन्हें शूद्रत्व में असन्तोष नहीं है। इसीलिये भारतवर्ष के नमक से पली हुई स्वदेश लौटी बुढ़िया अंग्रेज महिलाओं के मुख से बहुत बार सुन चुका हूं कि वे लोग अपने देश में लौटकर भारतवर्ष के नौकरों का अभाव बुरी तरह अनुभव करती हैं। धर्मशासन ने जिन्हें पुश्त-दर-पुश्त से नौकर बनाया है उनके समान भले नौकर पृथ्वी में और कहां मिलेंगे? लाठी और भाड़ू की वर्षा के बाद भी वे भलेमानस स्वधर्म-रक्षा करने में कुंठित नहीं होते। इन्होंने कभी सम्मान का दावा भी नहीं किया, पाया भी नहीं, उन्होंने शूद्रधर्म की विशुद्ध भाव से रक्षा करके ही अपने को कृतार्थ माना है। आज यदि वे विदेशी शिक्षा के कारण बीच-बीच में आत्मविस्मृत हों तो समाज के मालिक लोग उनके आचरण के प्रति क्षोभ प्रकट करते हैं।

स्वधर्मरत शूद्रों की संख्या ही भारतवर्ष में सबसे अधिक है। इस तरह भारतवर्ष को शूद्रधर्म का देश कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। इतिहास में उसके अनेक प्रमाण पाए गए हैं। इसी अति प्रकाण्ड शूद्र धर्म के जड़त्व के भाराकर्षण से भारत के संपूर्ण हिन्दू-संप्रदाय का माथा नीचे हो पड़ा है। बुद्धि द्वारा, ज्ञान द्वारा, चारित्र्यशक्तिद्वारा जो कोई महा सम्पद प्राप्ति की साधना करने चलें वे इस प्रबल शूद्रत्वभार को हटाकर ही कर सकेंगे। उसके बाद इस संपद की रक्षा का भार भी इसी असीम अन्धता के हाथों समर्पण करने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। यही बातें हम लोगों के लिए विचारणीय हैं।

इस शूद्र प्रधान भारतवर्ष की सबसे अधिक दुर्गति के जो चित्र मैंने देखे हैं वह बड़े परिताप का विषय है। आज उसी की कहानी कहने चला हूं।

प्रथम बार जब जापन की राह हाङ्काङ् बन्दरगाह में हमारा जहाज़ रुका, देखा—किनारे पर एक पंजाबी पहरावाले ने अत्यन्त तुच्छ कारण के लिए एक चीनी की चोटी पकड़कर उसे लात मारी। मेरा माथा नीचा हो गया। अपने देश में भी राजभृत्य के चिह्नधारण करनेवाले लोगों के द्वारा स्वदेशवासी व्यक्तियों पर किया गया इस प्रकार का अत्याचार मैंने बहुत देखा था, दूर समुद्र के तट पर भी जाकर यही बात देखी। देश में भी और विदेश में भी ये लोग शूद्रधर्म का पालन करते हैं। मालिक की ओर से इन्होंने चीन को अपमानित करने का भार लिया है। इस विषय में ये लोग कुछ विचार करना नहीं चाहते। क्योंकि ये लोग शूद्रधर्म की हवा में पले हुए मनुष्य हैं। नमक हलाली का जितना गुण है उससे कहीं आगे ये लोग सहज ही बढ़ जाते हैं। इसीमें इनको आनन्द मिलता है और अपनेको गौरवान्वित समझते हैं।

जिस समय अंग्रेज चीन से हाङ्काङ् छीनने के लिए गए थे, उस समय इन्हीं लोगों ने चीन को आघात पहुँचाया था। चीन के हृदय में इनके अस्त्रों के चिह्न अनेक हैं—उसी चीन के हृदय में, जिस चीनने अपने हृदय के बीच भारतवर्ष के बुद्धदेव का पदचिह्न धारण किया था, यह वही इत्सिंग् और हिउयेन संग का चीन है।

आज संसार में चारों ओर युद्ध के काले बादल दीख रहे हैं। इधर प्रशान्त महासागर के तट पर अंग्रेजों के सैन्यवाही जहाज़ों के जाल बिछाए जा रहे हैं। पश्चिम महादेश में जगह जगह ऐसा स्वर सुनाई पड़ रहा है कि एशिया के अस्त्रागार में शक्तिशाली अस्त्र तैयार हो रहे हैं जिनका लक्ष्य यूरोप के मर्म की तरफ है। रक्त निर्गमन से क्लान्त और पीड़ित एशिया भी प्रतिक्षण अस्थिरता का भाव दिखलाता है। पूर्वीय महादेश का पूर्वतम प्रान्त जापान भी जाग उठा है; चीन भी अपने दीवाल के चारों ओर सेंध देने के शब्दों को सुनकर अपने को जगा रहा है। हो सकता है कि एक दिन यह विशाल जाति अपना बँधन तोड़कर उठने की कोशिश करेगी और अपने अफीम के नशे को छोड़कर और अनेकानेक दिनों के आलस्य को त्यागकर अपनी शक्ति प्राप्त कर सकेगी। जो लोग चीन की थैली-झोली में छेद करने में लगे थे—वे लोग चीन के इस जागरण को देखकर यूरोप के विरुद्ध में उसका अपराध ही समझेंगे। उस समय एशिया में इस शूद्र भारतवर्ष का क्या काम होगा? उस समय वह यूरोप के कारखाने के बने हुए शृंखल को कंधे पर ढोकर अपने पुराने मित्र को बिना विचारे बाँधने के लिए अग्रसर होगा। वह मारेगा और मरेगा। क्यों मारेगा और क्यों मरेगा यह बात पूछना उसके धर्म

के खिलाफ है। वह कहेगा—स्वधर्मे हननं श्रेयः, स्वधर्मे निधनं श्रेयः। अंग्रेजी साम्राज्य से वह न तो कहीं सम्मान चाहता है और न पाता ही है—अंग्रेजों का होकर वह कुलीगिरी के बोझ ढोकर मरता है। जिस बोझ से उसका कोई संबंध नहीं कोई परमार्थ नहीं; अंग्रेजों का होकर वह उन दूसरों को मारने दौड़ता है जो उसके शत्रु नहीं हैं, और कार्य सिद्ध होते ही वह फिर मार खाकर तहखाने में घुस जाता है। शूद्रों का यही तो युग-युग की दीक्षा है। उसके काम में स्वार्थ भी नहीं है, सम्मान भी नहीं है, है केवल,—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' यही वाणी। निधन को अभाव नहीं होता किन्तु उससे कहीं बढ़कर मनुष्यों की बड़ी दुर्गति है, जब वह दूसरे के स्वार्थ का वाहन होकर, दूसरे का सर्वनाश करना अनायास ही अपना कर्तव्य समझता है। अतएव इसमें आश्चर्य नहीं यदि दैवयोग से ब्रिटेन भारतवर्ष को खो दे तो वह लंबी सांस लेकर कहेगा कि मैंने अपना सर्वोत्तम भृत्य खो दिया—I miss my best servant !

चीन की सभ्यता और संस्कृति का विकास

तान युन-शान

संसार की सबसे पुरानी सभ्यता—चीन की सभ्यता संसार की सबसे पुरानी सभ्यता है, कम-से-कम उसे संसार की चार अत्यन्त पुरानी सभ्यताओं में से एक तो कह ही सकते हैं। ये चार पुरानी सभ्यताएं हैं, मिश्री, बाबुली भारतीय और चीनी। इनमें प्रथम दो की तो ऐतिहासिक ख्याति ही भर रह गई है पर बाक़ी दोनों अब भी जीवित हैं और संसार के सुधीवृंद का ध्यान आकृष्ट कर रही हैं। अपनी सीमित जानकारी के कारण पश्चिमी पंडित मिश्री और बाबुली सभ्यताओं को ही संसार की प्राचीनतम सभ्यता विज्ञापित करते हैं परन्तु मेरा दावा है कि चीन की सभ्यता इन दोनों से प्राचीन है। यह सभ्यता अनादिकाल से धारावाहिक रूप में चलती आ रही है। मोटे तौर पर इसकी धारणा करने के लिये इसे सात मुख्य कालों में बाँट ले सकते हैं—(१) प्रागैतिहासिक काल से लगभग ३००० वर्ष ईसवी पूर्व तक का **प्रवर्तन और आविष्कार** का काल, (२) हुआङ्-ती अर्थात् पीले सम्राट् के काल से थाङ्-इओ और यू-षुन् के समय (२६७९ ई० पू०—२२०६ ई० पू०) तक का **संस्थापन और सम्पादन** का काल, (३) सान्-ताइ (अर्थात् शिआ, षाङ् और चउ नामक राजकुलों के तीन युग (२२०६ ई० पू०—२५५ ई० पू०) का **विकास और विस्तार** का काल, (४) छिन्, हान् और थाङ् राजकुलों के समय (२५५ ई० पू०—९६० ई०) का **भारतीय संपर्क** का काल, (५) सुङ्, यूआन् और मिङ् राजकुलों के समय में (९६० ई०—१६४३ ई०) का **जागरण-काल**, (६) छिङ् राजकुल के समय में (१६४३ ई०—१९११ ई०) तक **यूरोपीय संपर्क** का काल और प्रजातंत्र की स्थापना के बाद से वर्तमान समय तक (सन् १९११ ई०—) **नव-जागरण** का काल।

अनुश्रुति के अनुसार फान्-कू चीन के जन्मदाता या आदि पुरुष माने जाते हैं। फान्-कू भारतीय देवता ब्रह्मा से मिलते जुलते हुए से हैं। इन्होंने ही विश्व की रचना की और संसार भर पर शासन किया। इनके सात सिर और आठ पैर थे। फान-कू के बाद सान्-हुआङ् या तीन पौराणिक राजाओं का वर्णन आता है जिनके नाम क्रमशः थिआन्-हुआङ्—स्वर्ग के सम्राट, ती-हुआङ्—पृथ्वी के सम्राट और जन्-हुआङ्—मानव सम्राट थे। सान्- हुआङ् के बाद ष-ची या दश युगों का जिक्र है। अभी भी कुछ ग्रन्थ वर्तमान है जिनमें उस

समय की घटनाओं का वर्णन है और जिनमें हर राजा का बहुत लम्बे समय तक शासन करने की बातों का उल्लेख है। पर ये बातें विश्वसनीय नहीं जान पड़तीं।

प्रवर्त्तन और आविष्कार—मानव सभ्यता का विकास लम्बी और निश्चित गति से हुआ है। आदमी ने सबसे पहले रहने का और खाने का प्रश्न हल किया तब कपड़े और अन्य घरेलू औजारों का। बाद में ज्योतिष, ऋतु और समय निर्धारित करने की प्रणाली, ओषधि और यातायात के साधन और फिर लिपि और लिखित साहित्य का जन्म हुआ। इसके बाद लोगों ने सामाजिक शिष्टाचार, संगीत और शासन प्रणाली क़ायम की। सबसे अन्त में आचार-विचार, नैतिकता, धर्म और दर्शन की उत्पत्ति हुई। प्राचीनकाल के चीनी ऐतिहासिक प्रमाणों से जान पड़ता है कि इअउ-छौ ने सबसे पहले मकान का आविष्कार किया और लोगों को सुरक्षित रूप से उसमें रहना सिखाया। सुअइ-जन्‌ने लकड़ी घिसकर अग्नि का आविष्कार किया और लोगों को भोजन बनाना सिखाया। ये सभी आविष्कार दश हजार वर्ष से पहले के हैं। उसके बाद फु-शी का वर्णन है जिन्होंने जाल से मछली पकड़ना और फंदा डालकर जानवर फंसाना और सितार बजाकर गाना सिखाया। इन्होंने विवाह के नियम बनाए और मानव समाज में सर्वप्रथम विवाह की प्रथा प्रचलित की। इन्होंने आठ रेखाचित्रों का आविष्कार किया जिससे आगे चलकर चीनी अक्षरों का निर्माण हुआ। इन्होंने समय नापने की विधि भी निकाली जो पंचांग की आधार बनी। उसके बाद षन्-नुङ् का नाम है। उन्होंने कुदाल और हल का आविष्कार किया तथा लोगों को अन्न उपजाना सिखाया। उन्होंने एक तरह का बाजार कायम किया और लोगों को अपनी चीज़ों का क्रय-विक्रय करना सिखाया ; बहुत सी जड़ी बूटियों की परीक्षा की तथा चिकित्सा-विज्ञान की नीव डाली और पंचांग में भी सुधार किए। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि ये सभी चीजें आज से करीब दश हज़ार वर्ष पहले हो चुकी थीं। उसके बाद भी बहुत से बड़े बड़े महात्माओं ने समय समय पर अपने आविष्कार और अनुसन्धान से संसार को कृतार्थ किया है।

संस्थापन और सम्पादन—चीन का यथार्थ इतिहास ई० सन् के २६९७ वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होता है। उस समय हुआङ्-ती, पीले सम्राट, देश का शासन करते थे। इन्होंने देश को संगठित किया और महान् चीन साम्राज्य की नीव डाली। हुआङ्-ती ने पूरे सौ वर्षों (२६७९-२५९८ ई० पू०) तक देश पर शासन किया। चीन की जनता इन्हें चीनी जाति के निर्माता के रूपमें मानती है। आज भी चीनी जनता अपने को पीले सम्राट की वंशज समझती है और इनके राजत्वकाल के प्रथम वर्ष से ही वहाँ का ऐतिहासिक संबत् गिना जाता है। परन्तु हमलोग इसलिए इन्हें आज याद करते हैं कि सभ्य जीवन की बहुत सी ज़रूरी चीज़ों का इन्होंने

आविष्कार किया है। बहुत से आविष्कारों में से निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं :—(१) टोपी और पोशाक (पहनावा) (२) गाड़ी और नाव (३) ओखली और मूसल (४) धनुष और तीर (५) कम्पास (६) सिक्का (७) कफ़न। मौलिक आविष्कारों के अलावा भी इन्होंने उस काल की प्रचलित बहुत सी चीज़ों में सुधार किया। अपनी प्रतिभा से इन्होंने ज्योतिष शास्त्र, ऋतुओं के निश्चय करने की प्रणाली, सौर मंडल के अध्ययन आदि विषयों के भंडार को काफ़ी भरा।

हुआङ्-ती के राजत्व काल के दो शताब्दी बाद चीन के इतिहास में दो विख्यात सम्राटों का वर्णन आता है ; जिनके नाम थाङ्-इऔ और यू-षुन् थे। पीले सम्राट की नाईं सम्राट इऔ ने भी पूरे सौ वर्षों (२३५७-२२५८ ई० पू०) तक शासन किया। उसके बाद उन्होंने अपनी इच्छा से राजगद्दी छोड़ दी और तब षुन् सम्राट् बनाए गए। षुन् ने ४८ वर्षों (२२५५-२२०८ ई० पू०) तक शासन किया और यू को सम्राट् बनाकर अपनी इच्छा से ही राजगद्दी त्याग दी। इन सम्राटों के गुण और योग्यता की उपमा सूर्य और चन्द्रमा से दी जाती है। इन लोगों ने देश का शासन अपने महान् व्यक्तित्व के जोर पर किया और अन्त में स्वेच्छा से शासनाधिकार अपने ही समान योग्य उत्तराधिकारियों के हाथों में सौंप दिया। महात्मा कानफ़ुसीयस और मेनसीउस ने इन दो सम्राटों को आदर्श शासक और उनकी शासन प्रणाली को अनुकरणीय बताया है। उन लोगों का राजत्वकाल "षान्-जाङ्"—स्वेच्छा से पदत्याग करने का समय—कहलाता है जो चीन के इतिहास का बड़ा ही गौरवमय युग है।

सभ्य जीवन की सभी ज़रूरी चीजें उस समय तक चीनी समाज में स्थापित विकसित और पूर्ण हो चुकी थीं। उनलोगोंने चीनी सभ्यता की भित्ति को बड़ा ही मज़बूत और सुदृढ़ बना दिया। बाद की प्रगतियों और विकास ने तो केवल उस भित्ति को चमकीला और भव्य बनाया है।

लिखित भाषा, प्राचीन ऐतिहासिक वृतान्त तथा अन्य ग्रन्थ सभ्यता के सबसे प्रधान साधन हैं। चीनी लिपि फु-सी द्वारा आविष्कृत हुई और पीले सम्राट् ने उसे पूर्ण किया। अनुश्रुति के अनुसार पीले सम्राट के इतिहास-मंत्री छाङ्-चिए ने राजकीय आज्ञा से लिपि का निर्माण किया। सत्य तो यह है कि छाङ्-चिए ने कोई लिपि नहीं बनाई बल्कि उसने उसे सुधार कर तथा विभक्त कर नए सिरे से सजा कर रखा। लिपि-निर्माण के समय से ही चीन का लिखित ऐतिहासिक वृत्त पाया जाता है। दुनिया की कोई भी लिखित भाषा चीनी भाषा से पुरानी नहीं है। पीले सम्राट् के दरबार में दो इतिहास-मंत्री थे। एक गद्दी की बाईं ओर रहता था और राजा द्वारा दी गई आज्ञाओं और मंत्रियों तथा प्रार्थियों के वक्तव्यों को लिखता था। दूसरा जो दाहिनी

ओर रहता था तारीखवार उस काल की घटित घटनाओं को दर्ज करता था। अभाग्यवश, इस लिखित सामग्री की बहुत सी चीजें, सम्राट छिअन्-षी हुआङ् की काली कारतूतों के कारण, जिसे पुस्तक जलाने में विशेष आनन्द आता था, अप्राप्य हो गईं तथा कुछ तो कालान्तर में यों भी नष्ट हो गईं। हम लोग तो पोथियों के नाम ही जानते हैं क्योंकि अधिकतर पोथियां अप्राप्य हो गई हैं। कुछ पुरानी पोथियां अब भी हैं जैसे ई-चिअङ् या "परिवर्तनों के नियम" जिसमें फु-सी द्वारा निर्मित आठ रेखाचित्रों का वर्णन है तथा २३५७ ई० पू०-२२०६ ई० पू० के बीच की लिखी हुई 'षु-चिअङ्' या "पुस्तकों के नियम" नामक पोथी जिसमें सम्राट थाङ्-इऔ और यू-षुन् का वृतान्त है। शायद वेद को छोड़कर दुनिया में इनसे पुरानी और कोई पुस्तक नहीं है। इन पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ दूसरी पुस्तकें भी हैं जिनमें प्राचीनकाल के ग्राम्य-गीत संगृहीत है। यहां मैं नमूने के तौर पर दो ग्राम्य गीतों को उद्धृत कर रहा हूँ। पहला लगभग २३००-२२०० ई० पू० के सम्राट थाङ्-इऔ के समय का है और दूसरा लगभग उसी काल का सम्राट यू-षुन् द्वारा रचित है।

(१) सूर्य के उदय होने पर मैं उठ जाता हूँ
और सूर्य के अस्त होने पर आराम करता हूँ ;
मैं पानी पीने के लिए कुंआ खोदता हूँ
और भोजन के लिये जमीन जोतता हूँ।
सम्राट (ति) की शक्ति उसके ही पास रहे,
लेकिन मुझे उससे क्या लेना देना है।

(२) ऐ भाग्यवान बादल, फैला दो
अपनी गरिमा, ऊपर से ऊपर ;
ऐ सूर्य और चन्द्र, सदा दिन को
चमकीला और सुन्दर बनाते रहो।

विकास और विस्तार—सान्-ताइ, तीन युग, अर्थात् शिआ, षाङ् और चउ राजकुल के समय (२२०६-२२५ ई० पू०) में ही चीन की सभ्यता उच्च शिखर तक पहुँच चुकी थी। शिआ राजकुल के प्रथम सम्राट् महान् यू ने चीन की नौ बड़ी बड़ी नदियों के मुँह को चौड़ा करवाकर और उनकी धाराओं की गति को समुद्र तक पहुँचाकर भयंकर बाढ़ से होनेवाली क्षति से देश को बचाया। उन्होंने सम्पूर्ण देश को नौ भागों में विभक्त किया और सारे देश से धातु इकट्ठा करवाकर और पिघलाकर उससे नौ बड़ी बड़ी कड़ाही ढलवाई और देश के नौ भागों में से प्रत्येक में एक एक कड़ाही राष्ट्रीय बहुमूल्य वस्तुओं की नाईं रखवाई। षाङ् राजकुल के

समय के पीतल के बर्तनों की सुन्दरता आज भी पश्चिमी राष्ट्रों की जनता का ध्यान आकृष्ट कर लेती है। षाङ्‌ कुल के सम्राटों का नील मरकत निर्मित राजप्रासाद का सुन्दर और स्पष्ट वर्णन आज भी बहुत सी चीनी भाषा की पुस्तकों में पाया जाता है। वह प्रासाद जो आज से ४० शताब्दी पहले था, अगर आज भी वर्तमान रहता तो भारत के मुगल सम्राट्‌ के नील मरकत सिंहासन से कम सुन्दर और मूल्यवान नहीं समझा जाता।

चउ युग चीनी इतिहास का स्वर्ण युग है। जब हमलोग "चउ-ली" नामक पुस्तक को पढ़ते हैं, जिसमें चउ राजकाल के राजकोय नियमों और शासन प्रणाली का वर्णन है, तो अपने पूर्वजों की योग्यता और शक्ति की भूरि भूरि प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। सभ्यता और संस्कृति के हर पहलू में उस समय आश्चर्यजनक उन्नति हुई। इस युग में कितने ही बड़े बड़े महात्मा और सन्त हुए। महात्मा कानफुसीयस और लाओ-चु (लाओ-त्सु) भी इसी काल में हुए तथा मेनसीउस, मअ-त्सु चुआङ्‌-त्सु, इआङ्‌-त्सु और शुअन्‌-त्सु आदि भी। उस समय दर्शनशास्त्र के कम-से-कम दस सम्प्रदाय थे। वह युग स्वतंत्र रूप से विचार करने और अध्ययन करने का था। चीन की संस्कृति उस काल में काफी प्रस्फुटित हुई। चीन का वह युग भारत के वैदिक काल से अशोक के समय तक के युग से मिलता जुलता है।

चउ युग के दो सामाजिक आन्दोलन भी ध्यान देने योग्य हैं। एक तो सामन्तशाही प्रणाली की प्रगति और दूसरा चिअङ्‌-थिआन्‌ प्रणाली का प्रवर्त्तन। सामन्तशाही का प्रारम्भ तो पीले सम्राट्‌ के समय से ही हुआ था। शिआ और षाङ्‌ कुलों के समय में इसकी प्रगति धीमी रही परन्तु चउ युग में यह अपनी पूर्णता को पहुँच गई। सम्पूर्ण देश नौ चउ या प्रान्तों में विभक्त था। हर चउ या प्रान्त कई पाङ्‌ या सामन्त रियासतों में बँटा था। क्षेत्रफल के अनुसार पाँच प्रकार की सामन्त रियासतें थीं। पहला कुअङ्‌ या ड्यूक की रियासत, जिसका क्षेत्र-फल ५०० वर्ग ली* था। दूसरा हुङ्‌ या मर्क्विस को रियासत जिसका क्षेत्रफल ४०० वर्ग ली होता था। तीसरा पअ या अर्ल की रियासत, क्षेत्रफल ३०० वर्ग ली; चौथा त्सु या विस्काउन्ट की रियासत क्षेत्रफल २०० वर्ग ली; और पांचवा नान्‌ या बैरन की रियासत जिसका क्षेत्रफल १०० वर्ग ली था। उपरोक्त पांच प्रकार के रियासतों का सामूहिक नाम "चु-हउ" या सामन्त राजकुमार था। प्रति वर्ष सामन्त राजकुमारों को अपनी अपनी रियासतों के शासन प्रबन्ध सम्बन्धी व्यौरेवार रिपोर्ट केन्द्रीय सरकार को देनी होती थी। केन्द्रीय सरकार हर तीसरे वर्ष इन रियासतों की अच्छी तरह जांच पड़ताल करती थी। चीन की

* ३ली = १ मील

सामन्तशाही पश्चिमी सामन्तशाही प्रणाली की तरह न थी। बल्कि उसका मौलिक आधार जनतंत्रात्मक था।

चिअङ-थिआन् प्रणाली चउ युग का भूमि सम्बन्धी बँटवारे की नीति थी। कुल भूमि राष्ट्र की मानी जाती थी और सम्पूर्ण देश की जनसंख्या में बराबर बराबर बांट दी जाती थी। प्रति वर्ग-ली नौ भागों में बांटी जाती थी और हर भाग में १०० 'मु' जमीन रहती थी। इन ९०० मु जमीन में से आठ परिवारों को १०० मु प्रति परिवार के हिसाब से अपने निजी काम के लिये दे दी जाती थी और बचा हुआ १०० मु जो कुल जमीन के बीच में रहती थी, सार्वजनिक कामों के लिये रखी जाती थी और उसे आसपास के किसान बारी बारी से जोतते और बोते थे। उस सार्वजनिक जमीन की उपज सरकार को राजकीय खर्च चलाने के लिये दी जाती थी। किसानों को अपनी निजी जमीन की अपेक्षा सार्वजनिक जमीन के जोतने-बोने में अधिक ध्यान देना पड़ता था। असल में यह एक प्रकार की समाजवादी प्रथा थी जो पश्चिमी देशों से सर्वथा भिन्न थी। इस प्रथा को चलाने के लिये कभी खून बहाने की ज़रूरत नहीं पड़ी।

आधुनिक संसार वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण गौरवमय समझा जाता है परन्तु इसका प्रारम्भ चीन से ही हुआ है। सान्-ताइ या तीन राजकुलों के प्रथम चरण से ही चीन में 'लू-ई'—छः विद्याओं और "लू-कुअङ"—छः कामों की पढ़ाई होती थी। छः कामों के नाम ये हैं—थु-कुअङ—इमारत बनाने का काम (मेमारी), चिअन् कुअङ धातुओं का काम, ष-कुअङ—राजगीरी, मु-कुअङ—बढ़ईगीरी, षउ-कुअङ—प्राणिविज्ञान या जन्तुविज्ञान, छऔ-कुअङ—वनस्पति शास्त्र या उद्भिद् विज्ञान। छः विद्याओं के नाम ये हैं—ली—शिष्टाचार, यूए—संगीत, षअ—तीरन्दाजी, यू—रथ चलाने की विद्या, षु—लिखना और सुँ—गणित। हर विद्या की कई शाखाएं थीं। राजनैतिक सिद्धान्तों, शासन प्रणाली के संगठन, सैनिक विज्ञान और लड़ाई के दावपेचों की शिक्षा विस्तार से दी जाती थी। उपरोक्त सभी विद्याओं का अध्ययन बड़े वैज्ञानिक और सिलसिलेवार ढंग से होती थी। मेरा विश्वास है कि आधुनिक विज्ञान का वास्तविक प्रारम्भ यहीं से है। विज्ञान के आविष्कारों में से चार प्रसिद्ध आविष्कारों का श्रेय चीन को है जैसे कम्पास, कागज, मुद्रणकला और बारूद। वास्तव में ये ही चीजें वैज्ञानिक युग की अग्रगामिनी हैं।

भारत से सम्पर्क—चीन की सभ्यता अपने जन्मकाल से चीन, हान् और तांग राजकुलों के समय तक स्वतंत्ररूपेण उत्पन्न हुई और बढ़ी तथा विकसित हुई। दूसरे शब्दों में कहें तो वह एकदम चीनी ही भूमि की उपजी देशी चीज़ थी। वह न तो कहीं से उधार ली गई न नकल की गई थी। उसने अबतक चीन के चारों ओर स्थित देशों की जनता को प्रचुर शिक्षा, उपदेश और बौद्धिक विकास की सामग्री दी थी परन्तु उनलोगों से कुछ भी नहीं ली थी। चीन के

ऊपर उसके जंगली पड़ोसियों ने समय समय पर बराबर आक्रमण किया और वे देश के भीतरी भाग में भी घुस आए। परन्तु विशाल और अगाध चीनी सभ्यता के समुद्र ने उन्हें अपनेमें एकदम घुला मिला लिया। प्राचीनकाल में चीन की राजनीति, जैसा कि वहां के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में लिखा है, "मनुष्यमात्र को बच्चों सा प्यार करना, सभी तरह के दस्तकारों के सब वर्गों का स्वागत करना, सभी मनुष्यों के साथ जो दूर देश से आए हैं सद्व्यवहार करना और दूसरे राज्यों के राजकुमारों के साथ प्रेम का सम्बन्ध बनाए रखना था।" पर चीन में आए विदेशियों के साथ वे लोग कैसा व्यवहार करते थे ? जैसा कि एक पुराने धार्मिक पुस्तक में लिखा है— "आगमन के समय उनका स्वागत करो और जाने के समय रक्षार्थ उनके साथ जाओ। उनकी अच्छाइयों की प्रशंसा करो और बुराइयों के प्रति उदार होओ—दूर देश से आए लोगों के साथ व्यवहार करने का यही तरीका है।" दूसरे राज्यों के युवराजों के साथ चीनवाले किस तरह का प्रेम सम्बन्ध रखते थे ? उसी धार्मिक पुस्तक में लिखा है—"जिस कुल का वंश समाप्त हो गया है उसकी पुनः प्रतिष्ठा करो, नष्ट हुई रियासतों का पुनः संगठन करो, उन राज्यों में जहाँ गड़बड़ी मची हुई है शान्ति स्थापित करो और जो राष्ट्र संकट में है उसकी सहायता करो। निश्चित समय पर उनके राजदूतों का स्वागत करो और अपना राजदूत उनके यहाँ भेजो और दूसरे को अधिक देने और उनसे कम लेने की भावना रखो—यही दूसरे राज्यों के युवराजों के साथ प्रेम सम्बन्ध बनाए रखने का तरीका है।" परन्तु उन असभ्य पड़ोसियों ने यह कभी नहीं जाना कि चीन के इस दयापूर्ण व्यवहार का किस प्रकार से बदला दिया जाय। खासकर वे लोग, जो एकदम से उत्तरी छोर पर रहते थे, बराबर देश में डाका डालने और लूटने खसोटने ही आते थे। बाद में उनलोगों से देश की रक्षा करने के लिए छिन् राजकुल (२४६-२०७ ई. पू.) के प्रथम सम्राट् ने महान् चीनी दीवाल का निर्माण कराया। यह "दस हजार ली लम्बी चीनी दीवाल" बहुत लम्बे समय तक दुनिया के इंजीनीयरींग चतुरता का असाधारण काम माना जाता था और लोग इसकी गिनती आश्चर्यजनक चीजों में करते थे।

छिन्, हान् और थाङ् राजकुल (२५५ ई. पू.—सन् ९६० ई.) के समय चीन भारत के सम्पर्क में आया और उसकी सभ्यता और संस्कृति पर भारत की सभ्यता और संस्कृति की काफ़ी गहरी छाप पड़ी। "चौङ-शु-ची-पी", "लिए-शिआन्-चुआन्", "ष-लौ-च," "ची-तु" छिमन्-लु" और "फ़अ-चु-थुङ्-ची" नामक प्राचीन पुस्तकों में चीन राजकुल से भी पहले भारतीय भिक्षुओं के चीन में आने की बातों का छिटफुट ही उल्लेख मिलता है। भारत और चीन के सम्पर्क का वास्तविक ऐतिहासिक प्रमाण चीन में बौद्ध-धर्म के प्रवेश के समय से मिलता है। चीन में बौद्धधर्म के प्रवेश का निश्चित समय हान् राजकुल के सम्राट मिङ् के

राजत्वकाल के यूअङ्-फिङ् दसवें वर्ष (सन ६६ ई.पू०) से माना जाता है जब कि सम्राट् ने अपनी राजधानी लुअ-इआङ् में स्वयं बौद्ध धर्म का राजकीय स्वागत किया था। उसके बाद से अनगिनत भिक्षु और विद्वान भारत में अध्ययन करने आए और भारत के भिक्षु और धर्मप्रचारक चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने पहुंचे। भारत में आए चीनियों में सब से प्रसिद्ध फ़ा-शिआन्, शुआन्-चुआङ् और ई-चिङ् थे। चीन में गए भारतियों में से काश्यप मातंग, कुमारजीव और गुणरत्न बड़े ही प्रसिद्ध हुए। काश्यप मातंग ही पहला भारतीय धर्मप्रचारक था जिसने भगवान् बुद्ध के महान् धर्म का चीन में प्रचार किया और ठीक ढंग से प्रवेश कराया। कुमारजीव और गुणरत्न दो बड़े भारतीय अनुवादक हुए जिन्होंने बौद्ध धर्म के संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। कुमारजीव ने ९४ पुस्तकों का अनुवाद किया जिनमें २७८ छोटी छोटी पुस्तिकाएं हैं। गुणरत्न ने ६४ पुस्तकों का अनुवाद किया उनमें भी २७९ छोटी छोटी पुस्तिकाएं हैं। फ़ा-शिआन् पहला चीनी भिक्षु था जो भारत में अध्ययन करने के लिए आया और काफ़ी सफलता प्राप्त कर चीन लौटा। शुआन्-चुआङ् और ई-चिङ् दो बड़े चीनी अनुवादक हुए जिन्होंने बौद्धधर्म के त्रिपिटक का अनुवाद किया। शुआन्-चुआङ् ने भारत से ६५९ पुस्तकों के ५२० बस्ते लाए थे। उन्होंने ७३ पुस्तकों का अनुवाद किया जिनमें १,३३० छोटी पुस्तिकाएं हैं। उपरोक्त चीजें केवल चीनी संस्कृति के श्लाध्य और गौरवपूर्ण साहस के कार्य ही नहीं हैं बल्कि संसार की सभ्यता के इतिहास का अत्युत्कृष्ट असाधारण काम है। भारत और चीन—इन दोनों देशों के बीच आश्चर्यजनक और गहरी सांस्कृतिक मित्रता स्थापित करने का सारा श्रेय दोनों देशों के महात्माओं और विद्वानों के विशाल कार्य और श्रम को है।

इस प्रथम सम्पर्क के समय से ही चीनी सभ्यता पर भारतीय संस्कृति की इतनी गहरी छाप पड़ी जो शब्दों में नहीं व्यक्त की जा सकती। बौद्ध-धर्म देश में बड़ा ही प्रभावशाली धर्म हो गया तथा राष्ट्रीय धर्म सा माना जाने लगा। उदाहरण के लिए चीन के दो बड़े महात्मा कानफ़्युसीयस और लाओ-त्जु को लीजिए; साधारण जनता भगवान् बुद्ध के नाम को इन दोनों महात्माओं के नाम से अधिक जानती है। आज भी चीन में हर जगह बुद्ध मन्दिर, बिहार और स्तूप दिखाई पड़ते हैं जब कि कानफ्युसीयस और लाओ-त्जु के मन्दिर केवल जिले के प्रधान नगर, प्रान्तीय राजधानियां और बड़े बड़े शहरों में पाए जाते हैं इनके अलावा, भारतीय सभ्यता की छाप बहुत दूर तक चीनी दर्शन, कला, साहित्य, संगीत, नृत्य, और गृह निर्माण कला पर भी पड़ी है। दर्शन शास्त्र को ही लीजिए हान राजकुल के अन्तिमकाल से कानफ्युसीयस और लाओ-त्जु द्वारा प्रचारित विचारधाराओं और भारतीय विचारधाराओं में घनिष्ठ सम्पर्क हो गया। थाङ् राजकुल के समय से चीनी साहित्य के गद्य

और दार्शनिक संलापों में भारतीय साहित्य की शैली तथा भाव दोनों का ही आभास और गंध पाई जाती है। भारतीय सम्पर्क ने चीन की लिखित भाषा की प्रणाली पर भी असर डाला। थाङ् राजकुल के शाउ-उअन् नामक बौद्ध साधु ने संस्कृत शब्दों के आधार पर ३६ अक्षरों की वर्णमाला तैयार की, जिससे चीनी शब्दों की ध्वनि, उच्चारण और लय में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। चीन ने कला की दिशा में भी भारत से बहुत कुछ लिया जैसे स्तूप और मूर्ति बनाने के तरीके, भित्तिचित्र (Fresco) आंकने के तरीके आदि। प्राचीन भारतीय साहित्य का चीनी अनुवाद गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से संसार की सभ्यता के इतिहास में एक उत्कृष्ट और आश्चर्यजनक नमूना है।

इस काल में चीन की अपनी साहित्यकला, चित्रकला और निर्माणकला भी सुन्दरता, महानता और पूर्णता के उच्च शिखर तक पहुँच चुकी थी। छिन् राजकुल के 'अ-फाङ् राज-प्रासाद' और हान् राजकुल के 'उअइ-इअङ् राजप्रासाद' के वृत्तों में वर्णित चीज़ों का हमलोग आज अनुमान भी नहीं कर सकते। कहा जाता है कि शत्रुओं ने "अ-फाङ् राजप्रासाद" में जब आग लगा दी तो तीन महीने तक आग ठंढी नहीं हुई थी। थाङ्-राजकुल के समय की चित्रकला और साहित्य, खासकर पद्य साहित्य चीनी सभ्यता की अद्भुत उपज है। महान् महात्मा-शिल्पी उ तओ-च और प्रसिद्ध कवि-शिल्पी उआङ् मअ-चिए इसी युग में पैदा हुए थे। जो कुछ थोड़ी सी महान् कृतियां इन लोगों की बच रही हैं आज दुनिया के दुर्लभ पदार्थों में गिनी जाती हैं। सुविख्यात कवि ली-प और कवि-सन्त तु-फु भी इसी काल की शोभा बढ़ा रहे थे। इनलोगों के अतिरिक्त अनेकों बड़े बड़े कवि और लेखक जैसे हान् यू और लिअउ चुअङ् यूआन् आदि इसी युग में पैदा हुए। आज से २०० वर्ष से कुछ पहले (१७०७ ई०) चिङ् राजकुल के सम्राट खाङ्-शीने थाङ् राजकुल के समय के सभी पद्यों का संग्रह एक जगह करके "छुआन् थाङ् ष" या थांग युग की कविताओं का पूर्ण संग्रह" नाम से सम्पादन किया। इस पुस्तक में ४२०० कवियों द्वारा रचित ४८,००० कविताएं हैं। पुस्तक ९०० जिल्दों में है।

जागरण—साधारण लोगों को विश्व रहस्यमय जान पड़ता है। यहाँ सत् के साथ असत्, उन्नति के साथ ह्रास, उपचय के साथ अपचय और प्रकाश के साथ अंधकार लगा हुआ है। परन्तु एक आप्त पुरुष के लिए इसमें कुछ भी रहस्य नहीं जान पड़ता। वह तो संसार के रहस्य का प्राकृतिक नियम है। यही विश्व की सापेक्षता का विधान है। जब कोई चीज़ अन्तिम सीमा तक पहुँच जाती है तो उसका विपर्यास होना ज़रूरी हो जाता है। इसलिए संसार की सभी सभ्यताओं का उत्थान और पतन होता है—उनका विकास सीधे रास्ते से नहीं बल्कि आवर्त्तनकारी गति से होता है।

अन्तिम युग में एक तरफ जब कि चीन की सभ्यता पूर्णता की शिखर पर थी दूसरी तरफ उसका स्पष्ट सांस्कृतिक ह्रास प्रारम्भ हो गया था। उस समय मानव जीवन और समाज के विचारकों के दो सम्प्रदाय हो गए जिनके मत एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थे। इन दोनों सम्प्रदायों के कोई खास नाम नहीं थे, इसलिए हमलोग एकको उच्छृंखलवादी और दूसरेको पांडित्याभिमानी रूढ़िवादी कह सकते हैं। पहलेने ताओ धर्म और बौद्ध धर्म की बातों को लिया पर दोनों के समझने में गलती की। उनलोगों का निराशावाद अजीब था परन्तु असल में वे लोग निराशावादी थे नहीं। वे लोग संसार से वैराग्य रखते हुए भी उच्छृङ्खल जीवन बिताने के पक्षपाती थे। उन लोगों में वैराग्य या संन्यास जैसा कोई विचार नहीं था। उन लोगों के कार्य भारतीय लोकायत सम्प्रदाय या चार्वाक से मिलते जुलते से थे परन्तु उनके सिद्धान्त सर्वथा भिन्न थे। दूसरा सम्प्रदाय यूरोपीय पुराने धर्मावलबियों से मिलता जुलता सा था। उन लोगों का प्रधान कार्य प्राचीन धार्मिक पुस्तकों के "एक एक अक्षर और एक एक शब्द से जकड़े रहना था।" वे लोग उन पुस्तकों के असली तत्व और अर्थ के समझने की कोशिश नहीं करते थे इसलिए प्राचीन महात्माओं और ऋषियों के उच्च आदर्श और गम्भीर विवेचनाओं को नहीं समझ सके। इस प्रकार की उच्छृङ्खलता और रूढ़ियाँ न तो अधिक दिनों तक कायम रह सकती हैं न अधिक फैल ही सकती हैं।

इसके बाद प्रतिक्रिया शुरू हुई—यही चीनी सभ्यता का प्रथम जागरण है।

यह जागरण भौतिकता की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक, और राजनैतिकता की अपेक्षा अधिक दार्शनिक था। यह जागरण आन्दोलन "ली-शूए" या सहेतुक धर्मवाद कहलाता था। चीनी संस्कृति और सभ्यता का यह अन्दोलन सुङ् राजकुल से प्रारम्भ होकर मिङ् राजकुल के समय में (९६०—१६४३ ई०) समाप्त हुआ। इस ७०० वर्ष के लम्बे युग में लगभग एक हजार प्रसिद्ध विद्वान हुए जिन्होंने इस अन्दोलन में भाग लिया। ये लोग सहेतुक धर्मवादी कहलाते थे। लेकिन इन सबों में अधिक प्रमुख आठ हुए। उन लोगों के नाम ये हैं :—(१) चंउ तुन्-ई (२) षऔ यूअङ् (३) चाङ्-चाइ (४) छङ् हौ (५) छङ्-ई (६) चु-शी (७) चुचिअउ यूआन् और (८) उआङ् इआङ्-मिङ्। जिस प्रकार गुरु नानक सिक्ख धर्म के संस्थापक थे उसी प्रकार चउ तुन्-ई सहेतुक धर्मवाद के संस्थापक थे। उआंङ् इआङ मीङ् चीनी सहेतुक धर्मवाद का सिक्ख धर्म के गुरु गोविन्दसिंह की तरह अन्तिम गुरु थे। चउ तुन-ई के दो प्रधान पुस्तक पाए जाते हैं जिनमें उनके विचारों और दर्शनों का उल्लेख है। एक का नाम है "थाइ-ची थु षुऔ" या परिपूर्णता और उसके विस्तार का चित्र और दूसरे का "थुङ्-षु" या सामान्य शास्त्र। पहले में उन्होंने विश्व की तत्त्व-मीमांसा की सत्यता की विवेचना की है

और दूसरे में मानव जीवन के दर्शन की व्याख्या। उनके मत के अनुसार विश्व का उद्गम "उ-चो" या अज्ञात पूर्णता से "थाइ-चो" या परिपूर्णता में होता है। 'थाइ-ची' की गति से 'इआङ्' या पुरुष अर्थात् धनात्मकशक्ति पैदा होती है और जब 'थाइ-ची' स्थिर होती है या रहती है उससे 'इअन्' या प्रकृति या ऋणात्मक शक्ति। इन दो शक्तियों के मिलने से पाँच तत्त्वों की पैदाइश होती है :—'चीन्' या धातु, 'मु' या लकड़ी, 'शुइ' या जल, 'हुअ' या अग्नि और 'थु' या पृथ्वी। पुनः इन पञ्चतत्त्वों के मिलने से सम्पूर्ण विश्व का निर्माण होता है। मानव जीवन इसी विश्व का एक अंग है। इसलिए मनुष्य को प्रकृति के साथ ऐक्य रखकर ही नहीं बल्कि अपने जोवन को उसके साथ एक करके रहना चाहिए। 'चउ-तुन् ई' का दर्शन पूर्णरूप से 'परिवर्तनों के कानून' और चीन के प्राचीन ऋषियों के उपदेशों पर आधारित है। लेकिन इन्होंने उन चीजों की व्याख्या और अधिक अच्छे ढंग से तथा ब्योरेवार की है। उआङ् इआङ्-मिङ् के प्रधान सिद्धान्त हैं—(१) सभी मानवीय सहज ज्ञान और सहज प्रवृत्तियाँ सत्य हैं तथा (२) ज्ञान और कर्म एक और अभिन्न वस्तु हैं। उनका कहना है :—"ज्ञान ही कर्म की शुरुआत है और कर्म ही ज्ञान की पूर्णता है या कर्म में ही ज्ञान की समाप्ति है। बिना कर्म के ज्ञान का और बिना ज्ञान के कर्म का अस्तित्व नहीं है।" उनका प्रधान उद्देश्य ज्ञान और कर्म में सामंजस्य स्थापित कर सभी उपदेशों और दर्शनों को प्रति दिन के जीवन में व्यावहारिक रूप देना था। ये चीन के महायोगी कहला सकते हैं।

बहुत प्राचीन समय से ही चीन के महात्माओं और ऋषियों ने तत्त्व-मीमांसा की अपेक्षा आचार-शास्त्र पर अधिक जोर दिया है। कहा जाता है कि कानफ्युसीयस अपने शिष्यों से प्रकृति और विश्व के सम्बन्ध में कभी विवेचना नहीं करते थे। इसलिए अहेतुक धर्मवादियों के इस युग के पहले तक 'तत्त्व मीमांसा' का विकास ठीक ठीक नहीं हो पाया था। लेकिन सहेतुक धर्मवादियों ने केवल विश्व-रहस्य के उद्घाटन और मानव जीवन के दर्शनों की ही गम्भीर विवेचना नहीं की बल्कि प्राचीन महात्माओं और ऋषियों के उपदेशों का पुनरुत्थान कर उन्हें ठीक ठीक समझा और व्यावहारिक रूप दिया। इसलिए सहेतुक धर्मवादियों में से अधिकतर लोग केवल महापंडित और दार्शनिक ही नहीं थे बल्कि महान् व्यक्तित्व रखनेवाले थे। यह युग चीनी मिट्टी के बर्तन और पीतल के बर्तनों पर की हुई कारीगरी के लिए भी प्रसिद्ध है।

यूरोप के साथ सम्पर्क—संसार प्रसिद्ध इटेलियन यात्री मार्को पोलो १३ वीं शती के प्रथमचरण में ही चीन आया हुआ था। वह चीन में बीस वर्षों से अधिक रहा और यूआन् राजकुल का उच्च अफ़सर भी था। दूसरा प्रसिद्ध इटेलियन मिशनरी माट्टिओ रीकी मिङ् राजकुल के समय सन् १५८० ई० में चीन आया। उसने राजधानी पेकिंग में जो इन दिनों

पिपींग (पइफिङ) कहलाता है, प्रथम कैथोलिक गिर्जाघर की स्थापना की। उसने अपने प्रसिद्ध शिष्य शु कुआङ्-ची के साथ मिलकर जो चीन का बड़ा ही प्रसिद्ध विद्वान और उच्च अफ़सर था, ज्योतिष और गणित की कुछ पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीन में यूरोपीय विद्या का प्रवेश यहीं से प्रारम्भ होता है। परन्तु मांचु (छिङ्) राजकुल के पहले तक यूरोपीय सम्पर्क का चीन को अनुभव नहीं हुआ था। मांचु राजकुल के समय में चीन यूरोपीय जनता और सभ्यता के असली सम्पर्क में आया।

चीन का यूरोप के साथ का सम्पर्क भारतीय सम्बन्ध की तरह आनन्ददायक नहीं रहा। जब चीन और भारत एक साथ मिला था तो उनमें प्रेम और सम्मान की भावना थी। भद्र मित्रों की तरह दोनों देशों ने अपने अपने अभिवादन और उपहारों का आदान प्रदान किया था। दोनों के हृदय में एक दूसरे के प्रति कपट और छल का भाव नहीं था और न किसी प्रकार का स्वार्थ ही। दोनों के अभिप्राय और कार्य, वचन और कर्त्तव्य शुद्ध सांस्कृतिक और धार्मिक थे। परन्तु जब यूरोपीय जाति चीन में आई, उसने पहले धर्मप्रचार शुरू किया, उसके बाद व्यापार और अन्त में शोषण कार्य। दूसरे शब्दों में वे लोग पहले अपनी धर्म पुस्तक लेकर बाद में व्यापारिक सामान और अन्त में लड़ाकू जहाज और बन्दूक के साथ आए। इससे चीन और यूरोपीय देशों के बीच कितनी ही लड़ाइयाँ हुई। मांचु राजकुल के अन्तिम शासकों के अयोग्य होने के कारण तथा उनमें बहुत सी गंदगी फैल जाने से चीन को कितनी ही लड़ाइयों में हार खानी पड़ी। इस प्रकार के हार का फल यह हुआ कि चीन को कितने ही असमान सन्धिपत्रों पर हस्ताक्षर करने पड़े, हर्जाने के रूप में भारी रकम देनी पड़ी, कितने इलाके विदेशियों को दे देने पड़े, कितने व्यापारिक बन्दरगाह रिआयतों के साथ विदेशियों के व्यापार के लिए खोल देने पड़े, और सभी करद रियासतों से हाथ धोना पड़ा। फलतः जैसा कि डा० सन यात-सेन ने कहा है चीन का स्थान एक गौण उपनिवेश सा हो गया। भाग्य से या अभाग्य से ये उपरोक्त बातें सदा के लिए समाप्त हो गई और अब चीन और यूरोपीय राष्ट्रों के बीच समान और सम्मानजनक सम्बन्ध प्रारम्भ हो गया है।

चीनी जनता को पहले अपनी सभ्यता का घमण्ड रहता था और वह उसे बड़े सम्मान की दृष्टि से देखती थी। परन्तु यूरोप के साथ उनके घनिष्ठ सम्पर्क ने उसकी सभ्यता की दृढ़ नींव को बड़ी बुरी तरह हिला डाला था।

यूरोपीय देशों के प्रति उनके भाव बिलकुल बदल गए थे। विदेशी विचारों की नकल करने और अपनाने की ओर उनका झुकाव बहुत अधिक हो गया था। उनकी कोशिश बराबर पहले यूरोपीय जहाजों और मशीनगनों की नकल करने की, बाद में यूरोपीय राजनीति और

अर्थशास्त्र सीखने की ओर फिर यूरोपीय विचारों और सिद्धान्तों को अपनाने की ओर रही। परन्तु इन सब कामों का फल कुछ भी अच्छा नहीं रहा। और ऐसे ही समय में नव जागरण आन्दोलन प्रारम्भ हुआ।

नव जागरण—चीनी प्रजातंत्र के पिता स्वर्गीय डा० सन-यात सेन (सुन-ई-शिआन्) की महान् क्रान्ति के साथ साथ नव जागरण आन्दोलन भी प्रारम्भ हुआ। यह आन्दोलन चीन के नेता जेनरलिस्मो चांग काई-शेक (चिआङ्-चिए-ष) के योग्य नेतृत्व में अभी भी प्रगति-पथ पर है। गड़बड़ी और झंझटों के लम्बे युग के बाद चीनी सभ्यता पुनः अपने रास्ते पर आ गई है। वह नव जागरण आन्दोलन जेनरलिस्मो चांग-काई-शेक और मादाम चांग-काई-शेक द्वारा १९ फरवरी, १९३४ से चलाए हुए नव-जीवन अन्दोलन में अंगीभूत हो गया है।

इस नव आन्दोलन का उद्देश्य है चीनी जनता के जीवन को नये ढंग में ढालने के लिये चीनी दर्शन और आचार-शास्त्र को चीनी संस्कृति और सभ्यता का आधार बनाना और उसमें पश्चिमी वैज्ञानिक अच्छाइयों का समावेश करना। क्योंकि चीन का अपना हजारों वर्षों का इतिहास है और इन वर्षों में उसके अनगिनत ऋषियों ने मानव जीवन की समस्या के सम्बन्ध में विवेचना की है और चीनी जनता के लिए वसीयत के रूप में अपने व्यापक अनुभवों का भाण्डागार छोड़ दिया है जो नित्य सत्य के प्रतीक हैं। साथ ही साथ इतिहास के एक लम्बे युग से चीन मतभेद, गड़बड़ी और ह्रास से ग्रसित है। इसलिए पुराने सिद्धान्तों को दृढ़ता के साथ अपनाना और प्राचीन बुद्धि के द्वारा वर्तमान गड़बड़ी और बुराइयों को सुधारना साथ साथ दूसरे जगह की स्वास्थ्यप्रद और रुचिकर चीजों को अपनाकर चीन की वर्तमान परिस्थिति के अनुसार लागू करने के लिये अपना दिमाग खुला रखना ही चीन की उन्नति का सही रास्ता था। ताकि चीनी जनता आनन्दमय और तर्कपूर्ण तथा स्फूर्तिमय नवजीवन प्राप्त कर सके। इस नवजीवन से वह आधुनिक संसार में उचित स्थान प्राप्त कर सकेगी और उन्नतिशील भविष्य का मार्ग भी प्रशस्त कर सकेगी।

इसी नव जागरण का यह फल है कि आज चीनी जनता वीरता, दृढ़ इच्छा, पवित्र उद्देश्य के साथ अत्याचारी आक्रमणकारियों से वर्तमान युद्ध में लोहा ले रही है। लड़ाई समाप्त होने के बाद चीन की यह बहुमुखी प्रगति समय के दौरान में केवल चीन के लिये ही नहीं बल्कि दूसरे देशों के आदमियों के साथ सहयोग स्थापित कर सम्पूर्ण संसार के लिये एक नवीन सभ्यता का निर्माण करेगी।

[अनु०—कृष्णकिंकर सिंह

साहित्य-निर्माण का लक्ष्य

हजारीप्रसाद द्विवेदी

आज चारों ओर से अन्नाभाव, अकाल, महामारी और युद्ध-विग्रह की खबरें आ रही हैं। इन भयंकर क्लेशकर समाचारों को हमने इतना सुना है कि अब संवेदन भी भोथा हो गया है। अब हम पांच लाख मनुष्यों की मृत्यु के समाचारों को इस प्रकार सुनने लगे हैं मानों यह कोई अत्यन्त मामूली-सी बात हो। बार बार आघात खाने के बाद हमारे संवेदन के सुकुमार तंतु जड़-से हो गए हैं प्रतिदिन केवल मृत्यु, केवल हाहाकार, केवल भूख की मार सुनना न जाने किस पुराकृत पाप का परिणाम है। इस समाचारों और घटनाओं की रेलपेल में एक नया समाचार जोड़ भी दिया गया तो विशेष लाभ नहीं, न जोड़ा गया तो भी कोई हानि नहीं। इसीलिये नई बात सुनाने का न तो समय है और न प्रयोजन। परन्तु पुरानी बातों का भी महत्त्व है। जिस दुष्काल में हम वास कर रहे हैं उसमें वर्तमान ही सबसे महत्त्वपूर्ण काल है। हमारी उलझी हुई क्लान्त दृष्टि सामने जो कुछ पड़ा है उसे भेद करके न तो अतीत की ओर जाने का अवकाश पाती है और न भविष्य की ओर बढ़ने की शक्ति। फिर भी यह सत्य है कि आज जो कुछ हो रहा है उसका प्रभाव भी आगामी कल पर अवश्य पड़ेगा। हमारा वर्तमान निश्चय ही बहुत जटिल और कठोर है परन्तु कहीं न कहीं बैठकर हमें इस बात पर विचार करना ही होगा कि क्यों हम ऐसे दुर्भाग्य के शिकार हो रहे हैं। विधाता के नियम बड़े कठोर हैं। पाप का फल भोगना ही पड़ता है। अधर्म किसीको बड़ी देरतक फलता फूलता नहीं रहने देता। शास्त्रकार ने बताया है कि अधर्म से थोड़ी देर तक आदमी फलता फूलता है, फिर कुछ सुख भी भोगता है और थोड़ी देर के लिये अपने शत्रुओं को दबा भी देता है पर अन्त में जड़ मूल के साथ नष्ट हो जाता है—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति।

हम अपनी आंखों के सामने मदगर्वित राष्ट्रनायकों का पतन देख रहे हैं। निरीह जनता के रक्त से लथपथ चरणों का भागना इस बीभत्स हाहाकार के बीच भी कौतुक उत्पन्न किए बिना नहीं रहता। समूची मनुष्यता किसी भारी पाप के प्रायश्चित्त में लगी है। आज यदि हम स्वीकार करते हैं कि हम कष्ट में हैं तो हमें यह भी मानना पड़ेगा विधाता के निष्ठुर नियमों का

प्रहार हमारे ऊपर हो रहा है। हमें धीरभाव से अपने पुराने कार्यों का अध्ययन करना होगा। दूसरों पर दोषारोप करने के पहले हमें अपनी ओर भी देख लेना चाहिए।

मैं समझता हूं साहित्य-परिषदें ऐसी ही जगह हैं जहां हम अपने भूत और भविष्य को सोचने की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक सफल रूप में पाएंगे। मेरा अपना विचार यह है कि साहित्य कोई संकीर्ण बुद्धि-विलास नहीं है। वह मनुष्य के जीवन के सब-कुछ को लेकर ही बनता है। मनुष्य आज हाहाकार के भीतर निरन्न निर्वस्त्र बना हुआ त्राहि त्राहि की पुकार कर रहा है। इस समय साहित्यकार का प्रथम कर्तव्य है उसकी व्यथा का ठीक ठीक निदान और ऐसा प्रयत्न करना जिससे मनुष्य इस वर्तमान दुर्गति के पंक से उद्धार भी पा सके और भविष्य में अधिक शान्ति से रह भी सके। साहित्य की सबसे बड़ी समस्या मानवजीवन है। कविवर रवीन्द्रनाथ ने एक पौराणिक आख्यान को लेकर एक कविता लिखी है। वाल्मीकि को क्रौञ्च-मिथुन के कष्ट से आम्नाय से भिन्न नवीन छन्द रूप सरस्वती का साक्षात्कार हुआ था। यह कहानी सबकी जानी हुई है। वाल्मीकि छन्द तो पा गए थे पर उन्हें विषय नहीं सूझ रहा था। वे उन्मत्त की भाँति घूम रहे थे। छंद जैसा अमूल्य धन पाकर उसके उपयुक्त विषय न पा सकना कितने दुःख की बात है! मैं समझता हूं आप के इस नगर में ऐसे अनेक तरुण साहित्यिक होंगे जिन्हें छन्द तो मिल गया है पर विषय नहीं मिला है। वे उन्मत्त घूम रहे हैं कि नहीं, पता नहीं, पर उन्हें उपयुक्त विषय की खोज में पागल हो जाना चाहिए था! वाल्मीकि हो गए थे। इसी समय नारदमुनि से उनका साक्षात्कार हुआ। नारद ने बताया कि हे ऋषे, तुमने जो अमूल्य छंद पाया है उसको यों ही व्यर्थ मत नष्ट होने दो उससे कुछ काम कर जाओ। वाल्मीकि हैरान। क्या करूं इस छंद को लेकर। नारद ने बताया कि अब तक देवताओं को मनुष्य बनाया जाता रहा है, तुम मनुष्य को देवता बनाओ! मनुष्य को देवता बनाना ही छंद का काम है। वाल्मीकि ने वैसा ही किया था। मैं नहीं जानता कि इस समय ऐसा छान्दस उन्माद किसी युवक में है या नहीं, हो तो उसे नारद का संदेश ध्यान से सुनना चाहिए। साहित्य का सबसे बड़ा उद्देश्य मनुष्य को देवता बनाना है। मनुष्य को देवता बनाने के उद्देश्य से ही हमें काम करना है। हमें उसकी प्रत्येक समस्या के सम्मुखीन होना होगा। साहित्य कोई वाग्विलास का संकीर्ण क्षेत्र नहीं है। मैं इतना कहना भूल रहा हूं कि छन्द पाकर एक प्रकार का उन्माद स्पृहणीय है, उसी उन्माद से वाल्मीकि ग्रस्त थे। वह उन्माद है उपयुक्त विषय पाने की छटपटाहट और उपयुक्त विषय है मानव जीवन को उन्नत करना और देवोपम बना देना। पर एक उन्माद और भी है। शास्त्रकारों ने उसकी भी दवा बता दी है। यह उन्माद स्वयं छंद के गढ़ने का है। कोई विषय नहीं है, या अत्यन्त मामूली बात है उसी पर कविजी छंद का ढंड-

बैठक कर रहे हैं। शब्दों को ऐसा रगेदते हैं कि उनकी जान ही निकल जाती है। वस्तुतः वातग्रस्त लोग इस प्रकार के उन्माद के शिकार हो जाते हैं। एक ऐसे ही कवि से किसी ने पूछा कि 'भई, तू कविता करता है ? तेरे क्या कोई दोस्त-मित्र नहीं है जो तेरे बढ़े हुए बाई के रोग को समझें और तुझे इस काम से अलग रखने का उपाय करें। भई, तू किसी घर के खिड़की दरवाज़े बंद कर उसी में चुपचाप पड़ा रह और गाय का घी पिया कर। इस बात का ध्यान रख कि किसी तरफ़ से वायु न लगने पावे। जिनका वात रोग बढ़ जाता है वे ही तेरे जैसे कवि हो जाते हैं—

काव्यं करोषि किमु ते सुहृदो न सन्ति
ये त्वामुदीर्णपवनं न निवारयन्ति।
गव्यं घृतं पिब निवात-गृहं प्रविश्य
वाताधिका हि पुरुषाः कवयो भवन्ति।

मैं आशा करता हूं कि आज का युवक समुदाय इतना समझदार अवश्य है कि वह केवल छन्द के लिये छन्द नहीं लिखता और यह जानता है कि मनुष्य को हर तरह से उन्नत बनाना, उसे अज्ञान मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही उसका प्रथम कर्तव्य है, गद्य, पद्य, कथा, कहानी, नाटक, चित्र, मूर्ति इत्यादि उसी महान उद्देश्य के साधनमात्र हैं। साहित्य इसलिये बड़ा नहीं है कि उसमें गद्य पद्य छंद कथा कहानी होती हैं बल्कि इसलिये बड़ा है कि मनुष्य को उन्नत और विशाल बनाता है, उसको मोह और कुसंस्कार से मुक्त करता है, उसे धीर और परदुःखकातर बनाता है। तुलसीदास ने ऐसा ही साहित्य लिखा है, कालिदास ने ऐसा ही साहित्य लिखा है और हमारा भी लक्ष्य ऐसा ही साहित्य होना चाहिए। साहित्यकार अपना विषय मनुष्य के संपूर्ण जीवन को बनाता है। वह विधाता की भांति सजीव सृष्टि करता है। पुराने पंडित ने बड़े अफ़सोस के साथ कहा था कि आज अचानक मिले हुए दो चार पदों को जोड़ बटोर कर लोग कवि बन जाते हैं और बड़े बड़े उन कवियों की तुलना में अपने को बैठाने लगते हैं जो सजीव सृष्टि करके मानव जीवन को विशाल और उन्नत बनाते हैं। यदि यही हालत रही तो कौन जाने इस कुटिल कलिकाल में आज या कल कब वह दिन आ जायगा जब घड़ा बनानेवाला कुम्हार त्रिभुवन-विधाता से कलह कर बैठेगा!

हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता
जनः स्पर्द्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा
भवेदद्यश्वो वा किमिह बहुना पापिनि कलौ
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः।

आज सुजला-सुफला बंगभूमि क्षुधा-जर्जर नरकंकालों से भर गई है। अट्टालिकाओं की नगरी के प्रत्येक राजमार्ग बुभुक्षितों के मरे और अधमरे शरीरों से भरे हैं, बच्चे माताओं की गोद में दम तोड़ देते हैं और मरी हुई जननी की छाती पर अधमरे शिशु रेंगते दिखाई देते हैं। समूचा बंगाल आज अन्नाभाव से मरने की तैयारी में है। दरिद्रता भारतवर्ष के किसी प्रदेश में कम नहीं है, पर बंगाल आज सबसे अधिक दुखी है। जो निरन्न निर्वस्त्र स्त्री-पुरुष आज कलकत्ते की सड़कों पर मर रहे हैं वे भिखमंगे नहीं हैं, वे मिहनत मजूरी करके कमाने-खानेवाले ईमानदार गृहस्थ हैं। आज उन्हें मज़दूरी नहीं मिलती और यदि मज़दूरी मिल भी जाती है तो उसके बदले में अन्न नहीं मिल रहा है। उस क्षुधाकातर जनमंडली की सहायता करना मनुष्यता का प्रथम कर्त्तव्य है। मुझे नहीं मालूम कि आप के नगर में इन दुर्गत भाइयों की सहायता के लिये क्या काम हो रहा है। परन्तु इस समारोह के समय इस नग्न सत्य को आपको सुनाए बिना मैं नहीं रह सकता कि इस समय लाख-लाख ईमानदार गृहस्थों का प्राण बचाना हमारा सबसे आवश्यक कर्तव्य हो गया है। यह कार्य राष्ट्रनिर्माण, साहित्य-सृष्टि या आध्यात्मिक चर्चा से बड़ो है ऐसी बात तो मैं नहीं कहता पर इन सबसे अधिक ज़रूरी अवश्य हो गई है। आप आशा है, इस बात में मुझसे एकमत होंगे और यथाशक्ति मानवता के सबसे प्रथम कर्तव्य की बात याद रखेंगे।

मैं जब इस अकाल की बात सोचता हूं तो हैरानी होती है। कहा जाता है कि विज्ञान ने इतनी उन्नति करली है कि अब सारी दुनियां एक बड़े ढेले के बराबर हो गई है। यातायात के साधन इतने प्रचुर और प्रबल हैं कि संसार में अकाल होने की कोई आशंका नहीं हो सकती। ये बातें सत्य हैं परन्तु इन सबसे बड़ा सत्य यह है कि अकाल हमारे सिरपर है। ज़रूर कहीं मूल में ही गलती रह गई है। विज्ञान के प्रथम उन्मेष के समय यूरोप के मनीषियों ने बड़ी बड़ी आशाएं लगाई थीं ; यूटोपिया या रामराज्य के बहुत सपने देखे थे परन्तु जैसे जैसे विज्ञान आगे बढ़ता गया वैसे वैसे मनुष्यता श्रीहीन होती गई है। कुछ थोड़े से लोगों ने समृद्ध जनपदों को चूसकर उन्हें कंकाल-शेष कर दिया है, महामारियों, युद्धों और उन्मत्त वर्ण द्वेष ने मनुष्य-समाज में विष भर दिया है, विज्ञान आज मनुष्य का अमोघ मारक अस्त्र सिद्ध हो रहा है। आज आप अकाल-पीड़ित भाइयों की सहायता अवश्य करें पर यह भूल न जाँय कि यह सामयिक उपचार मात्र है, रोग की औषधि नहीं है। आप लोगों का यह समाज बुद्धिजीवियों और बुद्धिवृत्तिक लोगों का है। निश्चय ही आप सामयिक उपचार से सन्तुष्ट नहीं होंगे। आप अकाल के पुनरावर्ती महारोग का मूल कारण अनुसंधान करना चाहेंगे, लक्षणों को रोग मानकर आप चुप बैठनेवाले नहीं हैं। विज्ञान निश्चय ही दोषी नहीं है, उसका प्रयोग गलत ढंग से हो रहा है। औषध भी

अनुचित स्थान पर और अनुचित ढंग से प्रयुक्त होने पर विष हो जाता है—औषधं युक्तमस्थाने गरलं ननु जायते। इस देश के विचारशील लोगों के लिये इस महारोग का कारण खोजने का समय आ गया है। हमें साहस के साथ समस्या का सामना करना है, हमारी साहित्यिक परिषदें, हमारे तरुण साहित्यकार और हमारे वृद्ध मनीषी यदि आज भी उस मूल कारण को मुस्तैदी से खोजने का संकल्प नहीं करेंगे तो उन्हें संकल्प करने का समय फिर नहीं मिलेगा। हमारे साहित्य से, समाज से, मन से, हृदय से उन सभी बातों को दूर हो जाना चाहिए जो हमें इस विकट समस्या के सम्मुखीन होने में बाधा पहुंचा रही हों। ऐसा नहीं हुआ तो निश्चित जानिए, इससे भी भयंकर अकाल आनेवाले हैं, इससे भी कठोर दुर्गति हमारे भाग्य में है।

शक्तिशाली के पास अगर उदार हृदय और विशाल चरित्रबल न हो तो उसकी शक्ति संसार को नष्टभ्रष्ट करने में ही लगती है। राम और रावण में यही अन्तर था कि यद्यपि शक्ति दोनों में ही थी तो भी राम का हृदय उदार था और चारित्र्य बल बहुत विशाल था जब कि रावण में ये दोनों गुण नहीं थे। एक ने रामराज्य की स्थापना की जो आज भी हमें उत्साह और बल देता है और दूसरे ने रावण-राज्य स्थापित किया था जिसकी स्मृतिमात्र से मनुष्यता कांप उठती है। विज्ञान एक बड़ी भारी शक्ति है, आज तक मनुष्य ने इतने बड़े शक्तिशाली साधन का सहारा नहीं लिया था। जिसके हाथ में यह महान् अस्त्र है उसमें भी उदारता और चरित्रबल होना चाहिए था। परिणाम देखकर हम निस्सन्दिग्ध रूपसे कह सकते हैं कि ये दोनों बातें उन लोगों के पास नहीं हैं जो इस महान् शक्तिशाली अस्त्र का प्रयोग कर रहे हैं। अगर उनमें थोड़ी सी भी उदारता और चरित्रबल होता तो संसार इतना भयंकर नरककुण्ड न बन जाता। पेड़ की पहचान फल से होती है। फल निश्चय ही ज़हरीला है और इसीलिये जिस पेड़ पर यह लगा है उसे हम 'अमृत-कल्प-तरु' नहीं कह सकते। हमें धीर भाव से विवेचना करनी होगी कि क्यों शक्तिशाली लोगों का हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ? और साथ ही हमें यह भी विचार करना होगा कि साहित्य के वे स्रष्टा जो विश्व को सरस स्निग्ध और उदार बनाने का कारबार करते रहे हैं वे क्या अपना कर्तव्य पालन कर सके हैं। क्या साहित्यकारों ने विज्ञान की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर उसके साथ सामंजस्य रखते हुए कदम बढ़ाया है? मेरे चित्त में ये प्रश्न बराबर उठते रहते हैं। मैं जानता हूं कि संसार में ऐसे साहित्यकारों की कमी नहीं है जिन्होंने पुकार पुकारकर कहा है कि विज्ञान के द्वारा प्राप्त शक्ति के साथ मनुष्य की भीतरी शक्तियों के उद्बोधन का सामंजस्य होना चाहिए, जिन्होंने संकीर्ण राष्ट्रीयता और मोहग्रस्त जाति प्रेम को संसार का अभिनव अभिशाप बताया है, जिन्होंने अंधाधुंध बढ़नेवाली अनियंत्रित उत्पादन-व्यवस्था को नाशकारी बताया है परन्तु मैं यह भी जानता हूं कि उनकी आवाज़ ऊंचे सिंहासनों तक नहीं

पहुंची है, उनकी वाणी को शक्तिमदगर्वितों ने उपहास का पात्र समझा है। महापुरुषों ने इसकी परवा नहीं की है। हमारे देश के प्रमुख साहित्यकार स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ऐसी सुतर्कवाणी उच्चारण करनेवालों में अग्रणी थे। उनकी तथा उनके समान अन्यान्य मनीषियों की सतर्कवाणी समय रहते नहीं सुनी गई परन्तु उसका याथार्थ्य आज पदे पदे अनुभूत हो रहा है। इस प्रकार देखा जाता है कि साहित्यकारों की बात सब समय अपना उद्देश्य सिद्ध करने में सफल नहीं हुई है। सत्यों का सत्य यह है कि झूठी हानिकारक और विषैली बातों के प्रचार करने में ससार की शक्तिमदमत्त जातियों ने जितना अधिक प्रयत्न किया है उसका एक हजारवां हिस्सा भी स्वस्थ और उन्नत बनानेवाले साहित्य के प्रचार में नहीं हुआ है। सारी समाज-व्यवस्था कुछ इतनी सड़ी हुई और विषैली हो गई है कि उत्तम साहित्य के प्रचार में सौ सौ बाधाएं अपने आप आ उपस्थित होती हैं। इसीलिये आज साहित्यकार के सामने प्रश्न केवल अच्छी बातें सुनाने का ही नहीं है उस सड़ी हुई समाज व्यवस्था को बदल देने का भी है जो अच्छी बातों को सुनाने में बाधक है। चिलम जब नहीं जल रही है तो क्यों न उसे उलटकर फिर से साजा जाय ?

इसीलिये साहित्यकार आज केवल कल्पलोक का प्राणी बनकर नहीं रह सकता। दीर्घ अनुभव यह बताता है कि उत्तम सृष्टि करना ही सबसे प्रधान कर्तव्य नहीं है। संपूर्ण समाज को इस प्रकार सचेतन बना देना भी परम आवश्यक है जो उस उत्तम रचना को अपने जीवन में उतार सके। साहित्यिक सभाएं यह कार्य कर सकती हैं। वे संपूर्ण जन समाज को उत्तम साहित्य सुनाने की माध्यम बन सकती हैं। इस विशाल देश में शिक्षा की मात्रा बहुत ही कम है। यहां सब कुछ नये सिरे से करना है, यहां के साहित्यिक की जिम्मेदारी कहीं अधिक है। फिर हमने जिस भाषा के साहित्य भण्डार को भरने का व्रत लिया है उसका महत्त्व और भी अधिक है। आज उसे संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनाना है। हम लोग जब हिंदी की सेवा करने की बात कहते हैं तो प्रायः भूल जाते हैं कि यह लाक्षणिक प्रयोग है। हिंदी की सेवा का अर्थ है उस मानव-समाज की सेवा जिसका माध्यम हिंदी है। मनुष्य ही बड़ी चीज़ है। भाषा उसीकी सेवा के लिये है। साहित्य-सृष्टि का भी यही अर्थ है। जो साहित्य अपने आपके लिये ही लिखा जाता है उसकी क्या कीमत है, मैं नहीं जानता। परन्तु जो साहित्य मनुष्य समाज को अज्ञान, रोग, शोक, दारिद्र्य और परमुखापेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करता है वह निश्चय ही अक्षय निधि है। उसी महत्वपूर्ण साहित्य को हम अपनी भाषा में ले आना चाहते हैं। मैं मनुष्य की अतुलनीय शक्ति पर विश्वास रखता हूं। और उसी विश्वास के बल पर यह आशा करता हूं कि हम अपनी भाषा और साहित्य के

द्वारा इस विषम परिस्थिति को अवश्य बदल देंगे।

लोहे की गाड़ी पर बैठ कर कर कई बार मैं गंगा और शोण नद से धौत प्रदेश को पार कर गया हूं, सब समय चित्त की अवस्था एक ही जैसी नहीं रही है। कभी उल्लास और कभी अवसाद लेकर आया हूं परन्तु सारी यात्रा में एक-न-एक बार मुझे ऐसा ज़रूर लगा है कि मैं एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रदेश के भीतर से गुज़र रहा हूं, मानों मेरे चारों ओर बिखरे हुए धूलिकण कुछ-न-कुछ ऐसा संदेश सुनाने को उत्सुक हैं जिन्हें सुनकर मैं आनन्द-विह्वल हो जाऊंगा। शोण नद को देखकर मेरा हृदय बराबर उल्लसित हुआ है। ऐसा एक भी अवसर नहीं आया है जब मैं सोन के पुल पर से गुज़र रहा होऊं और मेरा चित्त एक अननुभूत औत्सुक्य से न भर उठा हो। मुझे इसका यथार्थ कारण नहीं मालूम। परन्तु कोई जननान्तर-सौहृद कोई अज्ञात स्नेहबंध, कोई निगूढ़ औत्सुक्य मुझे अवश्य चंचल कर देता है। मुझे एक ही साथ कादम्बरी के वर्णित अनेकों चित्र याद आ जाते हैं। मेरा भटका हुआ चित्त उस मनोमुग्धकारी दृश्य को देखने के लिये व्याकुल हो उठता है जब कहीं इन प्रदेशों के पश्चिमी भाग में चंद्रमा पद्ममधु से रँगे हुए वृद्ध कलहंस की भांति आकाश गंगा के पुलिन से पश्चिम जलधि की ओर उदास भाव से उतर जाता होगा और समस्त दिङ्मण्डल वृद्ध रंकु मृग की रोमराजि के समान पांडुर हो उठता होगा। फिर धीरे धीरे हाथी के रक्त से रंजित सिंह के सटाभार के या फिर लोहितवर्ण के लाक्षारस के सूत्रों के समान लाल सूर्य किरणें आकाश रूपी वनभूमि से नक्षत्र रूपी फूलों को इस प्रकार झाड़ने लग जाती होंगी मानों पद्मराग मणि की शलाकाओं से बनी हुई झाड़ू हों। आहा कैसा मधुर प्रभात होता होगा वह जब शिशिरबिंदुओं को वहन करता हुआ पद्म वन को प्रकम्पित करता हुआ, परिश्रान्त शबर रमणियों के स्वेद बिंदु से सिंचा हुआ, कम्पमान पल्लवों और लतानिकुञ्जों को नृत्य की शिक्षा देता हुआ, प्रस्फुटित पद्मों का सौभाग्य आहरण करता हुआ मंद मंद संचारी प्राभातिक पवन बहने लगता होगा। बाणभट्ट की अमर लेखनी को पार करने के बाद शोणतट का वह उन्मद पवन समस्त विश्व के सहृदयों का आस्वाद्य हो उठा है। मैं जब कभी इन प्रदेशों के भीतर से गुज़रता हुआ इस और इस जैसे अनेक दृश्यों की बात सोचता हूं तो अकारण उत्सुकता मुझे विह्वल बना देती है। क्यों यह दृश्य इतना मोहक हो गया है, क्यों वह समस्त विश्व की नितान्त अपनी चीज़ बन गया है। मेरा विश्वास है कि ऐसा इस लिये संभव हुआ है कि वह केवल प्रकृति के सौंदर्य पट पर अंकित दृश्य मात्र नहीं है, वह मनुष्य के अतल हृदय-तीर्थ में स्नान करने के कारण अत्यंत पवित्र और महान् हो गया है। मनुष्य का हृदय वह पारस है जो भट लोहे को सोना बना देता है। आप का मैं हृदय से आभारी हूं जो आपने मुझे ऐसा अवसर पाने का गौरव दिया है।

आज मनुष्य दुर्गति के उस बिंदु पर पहुंच गया है जो इतिहास का जाना हुआ नहीं है। सारा जगत् हिंसा के उन्मत्त निष्ठुर नृत्य से संत्रस्त और भीत है। और यह सब किसने किया है? स्वयं मनुष्य ने ही। वर्ड्सवर्थ ने व्यथित होकर कहा था—आदमी ने आदमी को क्या बना रखा है! पास और दूर, समुद्र के इस पार और उस पार, जहां देखिए मनुष्य की दुर्गति का अवसान नहीं है। उस पुञ्जीभूत दुर्गति के भीतर आपने अपने साहित्यिक उत्सव का आयोजन किया है। इसका अर्थ मेरी समझ में यह है कि इस विश्वव्यापी दुर्गति के आमने-सामने खड़े होने का साहस और संकल्प आपमें है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि किसी दिन यदि जगत् दुर्गति के इस दलदल से उद्धार पाने में समर्थ हुआ तो उस पुण्य कार्य के सबसे बड़े सहायक साहित्यकार ही होंगे। वे ही जन-चित्त को उस घिनौने मनोभाव को समझा सकेंगे जो युद्धों विद्वेषों और संघर्षों को खूराक जोगाया करता है, जो संकीर्ण स्वार्थ के कारण लाखों निरीह जीवों के सर्वनाश में उल्लास अनुभव करता है।

हिंदी के ऊपर यह उत्तरदायित्व और भी अधिक है। हिसाब लगाकर देखने वालों ने बताया है कि यह संसार की सबसे अधिक बोली जानेवाली तीन चार भाषाओं में एक है। यह गर्व करने की अपेक्षा चिन्तित होने की बात अधिक है। कई करोड़ लोगों को मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विचार तथा जीविका के साधन बनानेवाली भाषा में साहित्य की कमी बड़ी ही अनर्थकारी बात है। इस बात का सीधा-सा अर्थ यह है कि हिंदी के साहित्यकार कई करोड़ जनसमूह के अग्रगति के लिये जिम्मेवार हैं। वे अगर समय पर नहीं चेतते हैं तो विश्व की विचारशील जनता के सामने उन्हें अपराधी बनना पड़ेगा। हिंदी को यह उत्तरदायित्व विधाता की ओर से मिला है। समय रहते यदि हमने इस उत्तरदायित्व को नहीं संभाला तो कर्ण के बाणों के समान हमारा वरदान अभिशाप बन जायगा। हमें अभी से अपने को दुर्गत मानवता के बचाने के प्रयत्न में लगा देना चाहिए। साहित्य-निर्माण का यही एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए।

यदि एकबार हम ठीक ठीक अनुभव करलें कि हमारा उद्देश्य क्या है तो हमें अपने छोटे मोटे विवादात्मक प्रश्नों को सुलझाने में विशेष कठिनाई नहीं पड़ेगी। मैं समझता हूं आप लोग उन छोटे मोटे—या बड़े बड़े भी—अन्यायों से अवश्य क्षुब्ध होंगे जो आए दिन हिंदी के ऊपर अपनों और परायों द्वारा होते रहते हैं। आपके मन में उन लोगों के प्रति रोष का भाव होगा ही जो आंखों के होते हुए भी अंधे बनकर हिंदी के रूप को विकृत कर रहे हैं। लेकिन फिर एकबार मैं आपको याद दिला दूं कि हिंदी को विकृत करना भी एक लाक्षणिक प्रयोग है। इसका यह अर्थ नहीं समझा जाना चाहिए कि हिंदी में अनुचित शब्दों का अनुचित ढंग से प्रयोग करके

कोई उस भाषा को बिगाड़ता है। वस्तुतः बिगाड़ता यदि है तो उस जनसमूह को जिसकी भाषा हिंदी है। हिंदी में बहुत से दुर्बोध्य विदेशी शब्दों को ठूंसने से और विदेशी व्याकरण से उन्हें परिचालित करने से अहित किसका होता है ? मेरा विचार है कि अहित उस जनसमूह का होता है जिसको उद्देश्य करके वह भाषा सुनाई जाती है और अहित उस उद्देश्य का भी होता है जिसके लिये वह तरीका अख्तियार किया जाता है। हिंदी का कोई क्या बिगाड़ लेगा। वह विरोधों और संघर्षों के भीतर से ही पली है। उसे जन्म के समय ही मार डालने की चेष्टा की गई थी पर वह मरी नहीं। उसने किसी राजशक्ति की उंगली पकड़कर यात्रा नहीं तै की है। वह अपने-आपकी शक्ति से महत्त्वपूर्ण आसन अधिकार करनेवाली शायद अद्वितीय भाषा है। मुझे ठीक ठीक नहीं मालूम कि संसार में ऐसी कोई भाषा है या नहीं जिसके विकास में पद पद पर बाधा पहुंचाई गई हो और फिर भी जो अपार शक्ति संचय कर सकी हो। संसार बहुत बड़ा है उसकी बात न जानना ही अधिक स्वाभाविक है पर मेरा अनुमान है कि भारतवर्ष में इतनी बाधा सहकर भी इतनी शक्ति संचय करनेवाली भाषा एकमात्र हिंदी ही है। आज वह सैकड़ों प्लेटफार्मों से कोड़ियों विद्यालयों से और अनेकानेक प्रेसों से नित्य मुखरित होनेवाली परम शक्तिशाली भाषा है। उसकी जड़ जनता के हृदय में है। वह किसी की कृपा-कोप से बनने बिगड़नेवाली नहीं है। इस सिक्के पर न छापकर या उस स्टेशन से न बोल कर जो लोग उसे परास्त करना चाहते हैं वे खुरपी से पहाड़ खोदने का प्रयास करते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि आपकी परिषद् के प्रत्येक सदस्य का विश्वास है कि हिंदी को कमज़ोर करने की चेष्टा उन बुद्धिमान् समझे जानेवाले मूर्ख लोगों की ओर से हो रही है जो इस मामूली बात को भी नहीं जानते कि भाषा का उद्देश्य परस्पर को ठीक से समझना है और प्रचार करने की भाषा यदि ऐसी हुई जिसे जनता समझ ही न सके तो सबसे पहले वे अपना ही अहित करते हैं। आंख मूंद लेने से दुनिया में अंधेरा नहीं हो जाता।

शायद आप लिपि के प्रश्न पर भी कुछ उद्विग्न होंगे। यदि हम उस बात को याद रखें जो अभी साहित्य-रचना के प्रसंग में हमने विचारी है तो इस प्रश्न का समाधान आसानी से हो जायगा। लिपि क्या है ? जनसाधारण का आपस में तै कर लिया हुआ ध्वनि-चिह्न। भारतवर्ष के सुदीर्घ जीवन में लगभग ढाई हजार वर्षों से लिपि का एक धारावाहिक इतिहास प्राप्त है। उसके पहले भी लिपि थी पर दुर्भाग्यवश कोई पुराना चिह्न हमें नहीं मिला है। आज से लगभग ६ हजार वर्ष पहले की लिपि का निदर्शन सिंध की घाटी में से उद्धार किया गया है पर वह अभी तक पढ़ा नहीं गया है और बीच में उसकी धारा सूख गई है, ऐसा लगता है। इसीलिये मैंने जान बूझकर उसका नाम लिपि के धारावाहिक इतिहास के प्रसंग में नहीं लिया। इस ढाई

हजार वर्षों के सुदीर्घकाल में भारतवर्ष ने यद्यपि एक ही वर्णमाला का व्यवहार किया है पर लिपि-चिह्न बराबर बदलते रहे हैं। फिर तिब्बत से लंका तक और सिंधु देश से लेकर मलय देश, जवद्वीप, सुमात्रा और श्याम देश तक उस वर्णमाला के लिपिचिह्न बहुत बदले हैं। संग्रह किया जाय तो इस दीर्घकाल और विस्तीर्ण देश में व्याप्त लिपि चिह्नों को एक विशाल वाहिनी तैयार हो जायगी। 'क' अक्षर के लिये कम से कम १०० चिह्न मिलेंगे जिनमें एक कोड़ी से अधिक रूप तो आजकल छापे के सांचे में ही ढले मिलेंगे। पंडितों ने देखा है कि इन परिवर्तनों का कारण लिखने में सुभीता पाना रहा है। ताल पत्र पर लिखनेवालों ने अलग ढंग अख्त्यार किया है, लोहे की क़लम से लिखनेवालों ने अलग। फल यह हुआ कि एक ही चिह्न दो तरह का हो गया है। ऐसे ही और भी बहुत से कारणों से मनुष्य ने धीरे धीरे अपने चिह्न बदल लिए हैं। फिर एक और मजेदार बात यह रही है कि भिन्न भिन्न भाषाओं ने अनावश्यक चिह्नों को छोड़ दिया है और आवश्यक चिह्न बना लिए हैं। दक्षिण की कई लिपियों में वर्गों के मध्यवर्ती दो या तीन अक्षर हैं ही नहीं। संस्कृत लिखने के लिये जब पंडितों को उस लिपि की आवश्यकता हुई तो उन्होंने अपने काम के चिह्न बना लिए। संस्कृत के लिये बना ली हुई इस लिपि को ग्रंथ लिपि नाम दे दिया गया है। फिर तेलगु आदि भाषाओं में ह्रस्व एकार ओकार का व्यवहार है जो संस्कृत वर्णमाला में नहीं है, सो उन्होंने ये चिह्न बना लिए हैं। श्याम देश की लिपि देवनागरी का ही एक रूप है पर उसमें संयुक्तवर्ण हैं ही नहीं। उनकी भाषा में इसकी कोई ज़रूरत ही नहीं थी। तिब्बती में महाप्राण वर्ण नही हैं और कई स्वरवर्ण नहीं है। तिब्बती लोगों ने यद्यपि अपनी वर्णमाला पुरानी देवनागरी को ही मान लिया है पर जो चिह्न उनकी भाषा में आवश्यक नहीं थे उन्हें छोड़ दिया है फिर ऐसे भी नए चिह्न बना लिए हैं जो उनकी भाषा में आवश्यक थे। जब उनको संस्कृत लिखने की आवश्यकता होती है तो कुछ नये चिह्न जोड़कर काम चला लेते हैं। इस प्रकार देवनागरी लिपि (या पुरानी ब्राह्मी लिपि) का मनोरंजक इतिहास बताता है कि आवश्यक चिह्नों का बना लेना, अनावश्यक चिह्नों को छोड़ देना और मनुष्य की सुविधा को देखकर चिह्नों में परिवर्तन कर लेना इस देश की चिराचरित प्रथा है। मनुष्य लिपिचिह्नों से बड़ा है। मनुष्य को उन्नत बनाने के लिये ही लिपि चिह्न बनाए गए हैं। यदि पाटियों, तालपत्रों, भूर्जपत्रों और कपड़ों के उपादान भेद से अक्षरों में परिवर्तन हुए हैं तो टाइप-राइटर प्रेस आदि के सुभीते के लिये ज़रूरत पड़ने पर लिपि चिह्न क्यों नहीं बदले जा सकते? सही बात तो यह है कि इन सौ वर्षों में ही हमारे कई चिह्न बदल गए हैं। जो बात हमने अनजान में स्वीकार कर ली है उसे जान-बूझकर सोच समझकर स्वीकार करने में बाधा कहां है?

देवनागरी लिपि की तुलना में कुछ लोगों ने रोमन का नाम लेना शुरू किया है। रोमनलिपि को आजकल बहुत समृद्ध कर लिया गया है। हिंदी के हिमायती कभी कभी भावावेश में आकर ऐसी बातें कह बैठते हैं जो सत्य नहीं हैं। उदाहरण के लिये वे कहते हैं कि संस्कृत के श्लोक रोमन में नहीं लिखे जा सकते या लिखे भी जाँय तो पढ़े नहीं जा सकते। यह बात गलत है। ऋग्वेद तक रोमन में छप चुका है और पाली की समस्त पुस्तकें के सर्वोत्तम संस्करण रोमन लिपि में ही छपे हैं। अभ्यास करने पर उसे भी शुद्ध शुद्ध पढ़ा जा सकता है। उसमें टाइप राइटर प्रेस आदि की सुविधाएं भी बहुत हैं। फिर यह युक्ति भी उपस्थित को जाता है की दुनिया में उसीका अधिक प्रचार है। आजकल दुनिया स्वेज़ नहर के उसी पार समाप्त हो जाती है। रोमन लिपि का प्रचार करने के लिये जो संगठित प्रयत्न हो रहे हैं उसके वावजूद भी ब्राह्मी लिपियों से निकली हुई लिपियों का संसार में जितना प्रचार है वह आज भी कम नहीं है। एकबार संसार के उस भूभाग पर दृष्टि दीजिए जो संसार का सबसे उपजाऊ प्रदेश है—शस्य के लिये भी और ज्ञान के लिये भी—तो आप देखेंगे कि ब्राह्मीलिपि आज भी संसार की महत्त्वपूर्ण लिपि है। तिब्बत से लंका तक और भारत से मलय तक विशाल जन-समूह के लिखने का माध्यम आज भी यही लिपि है। उसकी तुलना में और किसी लिपि का नाम नहीं लिया जा सकता। यह ज़रूर है कि इन लिपियों के अन्तर को मिटाकर एकीकरण का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है और इनके लिखनेवाले राजनीतिक और अन्यान्य दृष्टियों से क्षीण हैं इसलिये इस विशाल जनसमूह की लिपि संसार में अपनी प्रतिष्ठा का दावा उपस्थित नहीं कर सकी है। पर विचारशील लोगों को मालूम हैं कि शुद्धता, सौन्दर्य और सफाई की दृष्टि से ब्राह्मी लिपि के कई रूप अतुलनीय हैं। यदि इनका एकीकरण हो तो यह एक अत्यन्त ज़बर्दस्त शक्ति सिद्ध होगी। परन्तु यहां भी हमें यह भ्रान्त धारणा नहीं बना लेनी चाहिए कि यदि किसी दिन इन चिह्नों के एकीकरण का प्रयास हुआ तो हमारे ही चिह्न स्वीकार किए जायेंगे। यह मोह हमें अग्रसर नहीं होने देगा। हमें किसी भी बात में मोह को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। यदि किसी दिन ब्राह्मी से उत्पन्न लिपियों के एकीकरण का गंभीर प्रयत्न हुआ तो शायद देवनागरी लिपि को प्रधान मानकर ही वह कार्य होगा। क्योंकि देवनागरी लिपि में संस्कृत की पुस्तकें छपती हैं और संस्कृत आजकल अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन-अध्यापन का विषय हो गई है और उसके साथ ही साथ देवनागरी लिपि भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में परिचित हो गई है परन्तु इसके कई चिह्न बदलने पड़ेंगे। इनमें कितने ही नये जोड़ने भी पड़ेंगे। हमें इसके लिये तैयार रहना चाहिए क्योंकि ऐसा होने से करोड़ों मनुष्यों को सुविधा प्राप्त होने की संभावना है।

मैं बराबर ही ऐसा विश्वास करता आया हूं कि हिंदी केवल काव्य नाटक लिखनेवालों की

भाषा नहीं है। उसमें संसार की समस्त चिन्तनराशि आनेवाली है। हमारे इस देश में कभी जो स्थान संस्कृत का था और आज जो स्थान अंग्रेजी को प्राप्त हो गया है उससे भी अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर हिंदी को बैठना है। उसे संसार के समूचे ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनना है। उसका कर्तव्य बहुत है, अपनेको अपने महान् उत्तरदायित्व के योग्य उसे सिद्ध करना होगा। मनुष्य को अज्ञान, मोह और परमुखापेक्षिता से बचाने के महान् उद्देश्य से उसका साहित्य प्रणोदित होना चाहिए। हमें भूल नहीं जाना चाहिए कि हिंदी इसी विराट् उद्देश्य को सामने लेकर ही इस महत्त्वपूर्ण आसन की अधिकारिणी हो सकती है जो उसका उचित प्राप्य है और जिस पद पर विधाता ने उसे स्वयं बैठा दिया है। आप पूछ सकते हैं कि वह प्रतिष्ठित पद क्या है, जिस पर हिंदी आसीन हो चुकी है। वह यही है कि हिन्दी आज भारतवर्ष के हृदय में वर्तमान प्रदेशों की मातृभाषा है; करोड़ों नर-नारियों की आशा-आकांक्षा, अनुराग-विराग और रुदन-हास्य की भाषा है। उसीमें वह शक्ति है जो भारतवर्ष के सार भाग के दुख-सुख को प्रकट कर सकेगी। संक्षेप में, यह भारतीय महाद्वीप की केन्द्रीय भाषा है। भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा कुछ भी हो लेकिन जो बात निर्विवाद है, वह यह है कि भारतवर्ष की केन्द्रीय-भाषा —वह भाषा, जिसका आश्रय लिए बिना कोई आन्दोलन, चाहे वह धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक हो, असफल होने को बाध्य है-- हिन्दी है। उसमें साहित्य लिखने का अर्थ है भारतवर्ष के तीन चौथाई आदमियों की मानसिक शक्ति को उत्तेजित करना, उनके चरित्र का निर्माण करना और भारतवर्ष के भाग्य को विशेष दिशा की ओर ले जाना। हम इसी कार्य के लिये यहां एकत्र हुए हैं। उस भाषा को दृष्टि में रख कर ही साहित्य-निर्माण करना है। अगर यही भाषा राष्ट्र-भाषा बना दी गई, तो हमें खुशी ही होगी, और इसे अगर राष्ट्र-भाषा नहीं माना गया, तो हमें नाराज़ होने की कोई ज़रूरत नहीं रहेगी। मैंने कई बार जो बात कही है उसे फिर दुहरा देता हूं। हमें इस भ्रम का शिकार नहीं होना चाहिए कि सभा-सोसाइटियों का संगठन करके और उनमें पार्टियाँ खड़ी करके हम कुछ कर लेंगे। इससे हल्ला चाहे जितना करलें, साहित्य नहीं बना सकते। साहित्य देश के कोनों में बिखरे हुए लोग अलग-अलग बैठकर लिखते हैं। सभा करके आप उनको सम्मान दे सकते हैं, शक्ति नहीं; प्रोत्साहन दे सकते हैं, प्रतिभा नहीं। मौलिक साहित्य के रचयिता प्रायः सभाओं के संचालक नहीं हुआ करते, इसलिये सभाओं के संगठित करते समय हमलोगों को अपना कर्तव्य भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। हमें साहित्य का निर्माण आज की परिस्थिति को देखकर नहीं करना है। समय बड़ी तेजी से बदल रहा है। आज से दस वर्ष बाद हिन्दी भारतवर्ष की सबसे अधिक साहित्य-शून्य भाषा लगेगी; इसलिए नहीं कि वह अन्यान्य प्रान्तीय भाषाओं से पिछड़ी हुई है, बल्कि

इसलिए कि उसके प्रयोजन अत्यधिक हैं। लाखों वर्गमील में फैले हुए करोड़ों आदमियों की साहित्यिक और वैज्ञानिक पिपासा मिटाने का महान् व्रत उसे लेना है। इतनी बड़ी जिम्मेवारी किसी अन्य भाषा की नहीं है। हमारे अंदर जो कुछ भी गंभीरता है, उसके साथ हमें सोचना होगा कि समय के भागते हुए वेग से हिन्दी की गति का सामंजस्य किस प्रकार होगा।

आप मौलिक रचयिताओं अर्थात् कवियों, औपन्यासिकों और कहानीकारों को नहीं बना सकते ; पर ऐसे बुद्धिमान युवक आपके देश में भरे पड़े हैं, जिन्हें उपयुक्त नेतृत्व और साधन मिलें, तो साहित्य को नाना प्रचार की परिचितिमूलक पुस्तकों से भर सकते हैं। जिस साहित्य में भिन्न संस्कृतियों, इतिहासों, कला-परिचायक ग्रंथों, मनोवैज्ञानिक और मानवविज्ञानादि शास्त्रों की पुस्तकें नहीं हैं, उनमें आज के युग में उपयुक्त हो सकनेवाला कवि या नाटककार हो ही नहीं सकता। ये शास्त्र ही कवि के दिमाग को उर्वर बनाते हैं। प्राचीन साहित्य का मेरुदण्ड पौराणिक कथाएं थीं, आजके साहित्य की रीढ़ विज्ञान और इतिहास है। कविता और नाटक के क्षेत्र को सूना देखकर आह भरनेवाले ठीक उसके कारण को हृदयंगम करते, तो पहले इन विषयों की पुस्तकों के अभाव पर ही दुःख प्रकट करते। अबतक हमारे कवि और अन्य कलाकार इन विषयों का ज्ञान विदेशी भाषा के माध्यम से प्राप्त करते रहे हैं। यही कारण है कि इन विषयों से अपरिचित हिन्दी-भाषी को इनका अर्थ समझ में नहीं आता। आधुनिक कविता को अगर आप हिन्दी में देखना चाहते हैं, तो पहले विज्ञान, संस्कृति, इतिहास, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, समाज-विज्ञान आदि को देखने की इच्छा प्रकट कीजिए।

अपना यह देश कोई नया साहित्यिक प्रयोग करने नहीं निकला है। इसकी साहित्यिक परंपरा अत्यन्त दीर्घ धारावाहिक और गभीर है। साहित्य नाम के अन्तर्गत मनुष्य जो कुछ भी सोच सकता है उस सब का प्रयोग इस देश में सफलतापूर्वक हो चुका है। यह अपनी भाषा का दुर्भाग्य है कि हमारे प्राचीन चिन्तनराशि को उस में संचित नहीं किया गया है। संस्कृत पाली और प्राकृत की उत्तम पुस्तकों के जितने उत्तम अनुवाद अंग्रेजी फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं में हुए हैं उतने हिंदी में नहीं हुए। परन्तु दुर्भाग्य लाक्षणिक प्रयोग है और यह वस्तुतः उस विशाल मानव समाज का दुर्भाग्य है जो उस भाषा के ज़रिये ही ज्ञान अर्जन करता है। यह विशाल साहित्य अपनी भाषाओं में यदि अनूदित होता तो हमारा साहित्यिक सहज ही सैकड़ों प्रकार के अपप्रचारों और हीन भावनाओं का शिकार होने से बच जाता जो सम्पूर्ण समाज को दुर्बल और परमुखापेक्षी बना रहो हैं। भिन्न भिन्न स्वार्थ के पोषक प्रचारक इस देश की अतिमात्र विशेषताओं का डंका प्रायः पीटा करते हैं। इतिहास को कभी भौगोलिक व्याख्या के भीतर से कभी

जातिगत (Racial) और कभी धर्मगत विशेषताओं के भीतर से प्रतिफलित करके समझाया जाता है कि हिंदुस्तानी जैसे हैं उन्हें वैसा होना ही है और उसी रूप में बने रहना ही उनके लिये श्रेयस्कर है। इतिहास की जो अभद्र व्याख्या इन भिन्न भिन्न विशेषताओं के भीतर से देखने वाले प्रचारकों ने की है वह हमारे रोम रोम में व्याप्त होने लगी है। अगर इस ज़हर को दूर करना है तो प्राचीन ग्रंथों के देशी प्रामाणिक संस्करण और अनुवाद करने के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। लेकिन अपनी भाषा में प्राचीन ग्रंथों को सिर्फ हमें इस लिये नहीं भरना है कि हमें दूसरे स्वार्थी लोगों के अपप्रचार के प्रभाव से मुक्त होना है। विदेशी पंडितों ने अपूर्व लगन और निष्ठा के साथ हमारे प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन मनन और सम्पादन किया है। हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए परन्तु यह बात भूल नहीं जाना चाहिए कि अधिकांश विदेशी पंडितों के लिये हमारे प्राचीन शास्त्र नुमाइशी वस्तुओं के समान है। उनमें उनका जो सम्मान है उसे अंग्रेजी के 'म्यूजियम इन्टरेस्ट' शब्द से ही समझाया जा सकता है। नुमायश में रखी हुई चीज़ों को हम प्रशंसा और आदर की दृष्टि से देखते हैं पर निश्चित जानते हैं कि हम अपने जीवनमें उनका व्यवहार नहीं कर सकते। किसी मुग़ल सम्राट् का चोगा किसी प्रदर्शिनी में दिख जाय तो हम प्रशंसा उसकी जितनी करें हम निश्चित जानेंगे कि उसको हमें धारण नहीं करना है। परन्तु भारतीय शास्त्र हमारे देशवासियों के लिये प्रदर्शिनी की वस्तु नहीं हैं। वे हमारे रक्त में मिले हुए हैं। भारतवर्ष आज भी उसकी व्यवस्था पर चलता है और उनसे प्रेरणा पाता है। इसीलिये हमें इन ग्रंथों को अपने ढंग से संपादन करके छापना है, इनके ऐसे अनुवाद प्रकाशित करना है जो पुरानी अनुश्रुति से विच्छिन्न और असंबद्ध भी न हों और आधुनिक ज्ञान के आलोक में देख लिए गए हों। यह बड़ा विशाल कार्य है। संस्कृत भारतवर्ष की अपूर्व महिमशालिनी भाषा है। वह हजारों वर्ष के दीर्घ काल में और लाखों वर्गमील में फैले हुए मानव समाज के सर्वोत्तम मस्तिष्कों में विहार करने वाली भाषा है। उसका साहित्य विपुल है, उसकी साधना गहन है और उसका उद्देश्य साधु है। उस भाषा को हिंदी माध्यम से समझने का प्रयत्न करना भी एक तपस्या है। उस तपस्या के लिये संयम और आत्मबल की आवश्यकता है। हमें अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर गंभीरतापूर्वक उसके अध्ययन में जुट जाना चाहिए। हिंदी को संस्कृत से विच्छिन्न करके देखने वाले उसकी अधिकांश महिमा से अपरिचित रह जाते हैं। महान् कार्य के लिये विशाल हृदय होना चाहिए। हिंदी का साहित्य-निर्माण सचमुच महान् कार्य है।

मैं मानता हूं कि इस देश में इसी देश की सर्वाधिक पूज्य और समृद्ध भाषा की स्तुति करना कुछ समझ में न आनेवाली-सी बात है, परन्तु दुर्दैव ने आज हमारी मनोवृत्ति ऐसी बना दी है कि हमें संस्कृत की महिमा सिद्ध करने के लिये भी प्रमाण संग्रह करने पड़ते हैं। बुद्धिमान्

व्यक्ति यदि ध्यानपूर्वक हमारे पिछले हजारों वर्ष के इतिहास को देखें तो निश्चित रूप से स्वीकार करेंगे कि यद्यपि धर्मोपदेश और काव्य रचना के लिये कभी कभी भिन्न भिन्न भाषाओं का भी व्यवहार हुआ है परन्तु सब मिलाकर पिछले कई सहस्राब्दकों तक भारतवर्ष के सर्वोत्तम को—उसके ज्ञान और विज्ञान को, उसके दर्शन और अध्यात्म को, उसके ज्योतिष और चिकित्सा को, उसकी राजनीति और व्यवहार को, उसके कोष और व्याकरण को, उसकी संपूर्ण गुरुत्वपूर्ण चिन्ताराशि को—इसी भाषा ने वहन किया है। विदेशी लोगों के झुण्ड बराबर इस देश में आते रहे हैं और उन्होंने भी बड़ी ही जल्दी सीख लिया है कि संस्कृत ही उनके काम की भाषा हो सकती है। यह आश्चर्य की बात बताई जाती है कि संस्कृत भाषा का सबसे पुराना शिलालेख जो सन् ईसवी के लगभग सौ डेढ़-सौ वर्ष बाद खुदवाया गया था, गिरनार में शक महाक्षत्रप रुद्रदामा का है। इस शिलालेख ने उस भ्रम का निराकरण कर दिया है जो ऐतिहासिक पंडितों द्वारा प्रचारित किया गया था कि संस्कृत का अभ्युत्थान बहुत शताब्दियों बाद गुप्त सम्राटों द्वारा हुआ था। इसमें कोई संदेह नहीं कि संस्कृत की अभिवृद्धि में गुप्त सम्राटों का बहुत हाथ था परन्तु यह नितान्त गलत बात है कि उनके पहले कुछ दिनों तक उसका वेग रुद्ध हो गया था। इस प्रकार संस्कृत इस देश की अपूर्व महिमामयी भाषा है। हिंदी उसके भाण्डार को संपूर्ण रूप से जब तक अपने स्वायत्त नहीं कर लेती तब तक वह सूनी ही दिखेगी। यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि अपने उत्तमोत्तम ग्रंथों का संपादन-प्रकाशन यदि हम उसी निष्ठा और लगन से न कर सके जिससे विदेशी पंडितों ने किया है तो अन्तर्राष्ट्रीय सभा में हम हीन सिद्ध होंगे।*

* आरा में हरप्रसाद जैनकालेज की साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से दिए हुए भाषण से।

चतुरग

(शेषांश)

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

श्रीविलास

१

यहां किसी समय एक नीलकोठी थी। उसका सब कुछ टूट-फूट गया है, केवल कुछ-एक कमरे भर बाक़ी हैं। दामिनी का मृतदेह दाह करके देश लौटते समय मुझे यह स्थान पसंद आ गया, इसीसे कुछ दिन यहां टिक गया।

नदी से लेकर कोठी तक जो रास्ता आता था उसके दोनों ओर शीशम के पेड़ों की क़तार है। बाग़ टूटे हुए बाहरी फाटक के दो खंभे और चहार दीवारी का कुछ हिस्सा अब भी अवशिष्ट है लेकिन बाग़ अब नहीं है। रहने के नाम एक कोने में कोठी के किसी मुसलमान गुमाश्ते की क़ब्र है; उसकी हर दरार में से झुंड के झुंड आक और भांट (भांडीरक) फूलों के पौधे उठ रहे हैं,—एकदम फूलों से लदे; सोहाग रात में कोहबर-घट के भीतर वर का साली की तरह मृत्यु के कान मलकर दक्षिण पवन में ये पौधे हंस-हंस-कर मानो लोटपोट हो रहे हैं। पोखर की पार टूट जाने से पानी सूख गया है; उसकी तली में धनिया के साथ चने की मिलावट करके किसानों ने खेती की है; सुबह के समय जब मैं सीलखाई हुई ईंटों के टीले पर शीशम की छाया-तले बैठा रहता हूं उस समय धनिया के फूलों की खुशबू से दिमाग़ गनगना उठता है।

बैठा-बैठा सोचता हूं: यह नील की कोठी जो आज मरे ढोरों के गढ़े की गाय की ठठरी की तरह पड़ी हुई है, वह किसी दिन सजीव थी। उसने अपने चारों ओर सुख-दुःख की जो लहरें उठाई थीं, उसका तूफ़ान किसी काल में भी शांत नहीं होगा—ऐसा ही उस दिन सोचा था। कोठी के जिस प्रचंड साहिब ने यहीं पर बैठे-बैठे हज़ारों ग़रीब खेतिहरों का खून नीलाकर डाला होगा उसके सामने में एक सामान्य बंगाली लड़का भला क्या हस्ती रख सकता हूं। किंतु धरती ने अपना सब्ज़ रंग का आंचल कमर में खोंसकर तत्पर गृहिणी के समान अनायास ही उस साहिब समेत की उस समूची नीलकोठी और बाक़ी सब कुछ

को खूब अच्छी तरह मिट्टी लगाकर मांज-घिसकर निखार दिया है ; यहां वहां जो एकाध पुराना दाग दिखाई पड़ता है वह भी और एक लीप-पोत पड़ते ही बिल्कुल साफ़ हो जाएगा।

बात पुरानी है, मैं उसकी पुनरुक्ति करने नहीं बैठा। मेरा मन कहता है, अजी नहीं, भोर पर भोर यह केवल काल का आंगन लीपना मात्र नहीं है। नीलकोठी का वह साहब और उसकी नीलकोठी की विभीषिका तनिक-से धूलि चिह्न की तरह पुँछ गई है सही—किन्तु मेरी दामिनी !

मुझे मालूम है, मेरी बात कोई नहीं मानेगा। शंकराचार्य का मोहमुद्गर किसीको रिहाई नहीं देता। मायामयमिदमखिलं···इत्यादि इत्यादि। किन्तु शंकराचार्य थे संन्यासी—का तव कान्ता कस्ते पुत्रः—यह सब उन्होंने कहा अवश्य था लेकिन उसका अर्थ उन्होंने नहीं समझा था। मैं संन्यासी नहीं हूं इसीलिये अच्छी तरह जानता हूं कि दामिनी पद्मपत्र पर की ओस की बूंद नहीं थी।

किंतु सुनता हूं गृही लोग भी ऐसी ही वैराग्य की बातें कहा करते हैं। सो कहते होंगे। वे लोग केवलमात्र गृही हैं—गृहिणी को वे खो देते हैं। उनका गृह भी माया ही है, गृहिणी भी वही। वे सब हाथ की गढ़ी हुई चीजें हैं, झाड़ू फिरते ही साफ़ हो जाती हैं।

मुझे तो गृही होने का समय नहीं मिला ; और संन्यासी होना मेरी प्रकृति में ही नहीं है—यही गनीमत है। इसीसे मैंने जिसे अपने निकट पाया वह गृहिणी नहीं हुई, वह माया नही हुई, वह सत्य ही बनी रही, वह अंत तक दामिनी थी। उसे छाया कह सके—ऐसा साहस किसे है ! दामिनी को यदि मैं केवल घर की गृहिणी के रूप में ही जानता तो बहुत-सी बातें नहीं लिखता। मैंने उसे उस संबंध की अपेक्षा कहीं बड़ी और सत्य वस्तु के रूप में जाना है, इसीसे सारी बातें खुलासा करके लिख सका हूं, लोग जो चाहे कहें।

माया के जगत् में मनुष्य जिस तरह दिन काटा करता है उसी तरह दामिनी के साथ भी यदि मैं पूरी तरह घर-गिरिस्ती कर पाता तो तेल मलकर स्नान करके आहारान्ते पान चबाकर निश्चित रहा करता ; तब दामिनी की मृत्यु के पश्चात् निश्वास फेंककर कहता, संसारोऽयमतीव विचित्रः ; और संसार के वैचित्र्य की एक बार फिर से परीक्षा करने के विचार से किसी बुआ अथवा मौसी का अनुरोध शिरोधार्य कर लेता। किंतु पुराने जूते के जोड़े में जिस तरह पांव सहज ही चला जाता है उस तरह अति सहज भाव से मैंने संसार में प्रवेश नहीं किया था। शुरू से ही सुख की प्रत्याशा छोड़ चुका था। नहीं, यह बात सही नहीं है,—सुख की प्रत्याशा छोड़ दूं इतना बड़ा अमानुष मैं नहीं हूं। सुख की आशा अवश्य करता था। किंतु सुख का दावा करने का अधिकार मैंने नहीं रख छोड़ा था।

क्यों नहीं रख छोड़ा था ? उसका कारण यह है कि मैंने ही दामिनी को ब्याह के लिये राज़ी किया था। किसी रंगीन रेशमी परिधेय के घूँघट-तले शाहाना रागिनी की तान पर तो हमारी शुभदृष्टि हुई नहीं थी। दिन के उजाले में सब कुछ देख-सुनकर और जान-बूझकर ही मैंने यह कार्य किया था।

लीलानन्द स्वामी को छोड़कर जब चला आया तब नून-तेल-लकड़ी की बात सोचने का अवसर आया। इतने दिन जहां जाता वहीं खूब ठांसकर गुरु का प्रसाद पाता, भूख की अपेक्षा अजीर्ण की पीड़ा ने ही अधिक भुगाया था। दुनिया में मनुष्य को घर बनाना पड़ता है, उसकी रखवाली करनी होती है और कम-से-कम घर भाड़ा लेने होता है, यह सब बातें हम भूल चुके थे; हम केवल यही जानते थे कि घर में बास किया जाता है। हम ने यह नहीं सोचा कि गृहस्थ कहां हाथ पैर सिकोड़कर ज़रा सी जगह कर लेगा लेकिन यह चिन्ता गृहस्थ के ही मगज़ में भरी रहती थी कि हम कहां इत्मीनान से हाथ पैर फैलाकर आराम करते रहेंगे।

उस समय याद आया कि बड़े चाचा ने अपने (विल) वसीयतनामे में अपना मकान शचीश के नाम ही लिख दिया था। वसीयतनामा अगर शचीश के हाथों में होता तो अब तक भाव के स्रोत में रस के तरंग से टकराकर न जाने कब कागज़ की नाव की तरह डूब गया होता। लेकिन वह मेरे ही हाथ में था—मैं ही एकज़ीक्यूटर था। विल में कुछ शर्तें थीं, उनके पालन का भार मेरे ऊपर था। प्रधान तीन शर्तें इस प्रकार थीं, इस घर में कभी पूजापाठ नहीं हो सकेगा, निचले तल्ले में मुहल्ले के मुसलमान और चमारोंके लड़कों के लिये नाइटस्कूल चलता रहेगा, और शचीश की मृत्युके बाद सारा मकान इनकी ही शिक्षा और उन्नति के लिये दान कर देना होगा। पुण्य पर बड़े चाचा का संसार में सब से अधिक क्रोध था; वे दुनियादारी की अपेक्षा इसे ज्यादा गंदी चीज मानते थे, बगल के मकान में जो पुण्य की घोरतर हवा बह रही थी उसीको निरस्त करने के लिये उन्होंने यह व्यवस्था की थीं अंग्रेजी में वे इसे 'सैनेटरी प्रिकाशन्स' कहा करते थे। मैं ने शचीश से कहा, चलो अब उस कलकत्तेवाले मकान में। शचीश बोला, अब भी उसके लिये अच्छी तरह तैय्यार नहीं हो सका हूं। मैं उसकी बात समझ नहीं सका। उसने कहा, एक दिन बुद्धि का भरोसा था, देखा उस (बुद्धि) पर जीवन का सारा भार नहीं टिक सकता। और एक दिन रस पर भरोसा किया, देखा, वहां तला नाम की चीज़ ही नहीं है। बुद्धि भी मेरी निजी है और रस भी। अपने ही ऊपर खड़ा होना संभव नहीं। कोई आश्रय पाए बिना मैं शहर में लौटने की हिम्मत नहीं करता।

मैं ने पूछा, क्या करना होगा, बताओ।

शचीश ने कहा, तुम दोनों जाओ। मैं कुछ दिनों अकेला ही घूमंगा। ऐसा लगता

है मानो एक किनारा देख रहा हूं। इस समय यदि उसकी दिशा भूल जाऊँ तो फिर खोज नहीं पाँऊगा।

ओट में आकर दामिनी ने मुझसे कहा, सो नहीं हो सकता। अकेले घूमेंगे तो इनकी देख भाल कौन करेगा? वह जो एकबार अकेले निकले थे कैसा चेहरा लेकर लौटे थे! वह बात याद आने पर मुझे डर लगता है।

सच बताऊं? दामिनी के इस उद्वेग से मेरे चित्त में क्रोध का एक बर्र डँस गया—जलन होने लगी। बड़े चाचा की मृत्यु के बाद शचीश तो प्रायः दो वर्ष तक अकेला ही घूमता रहा—मर तो नहीं गया। मन का भाव दबा नहीं रह सका—ज़रा कड़ुआपन के साथ ही कह गया।

दामिनी बोली, श्रीविलास बाबू, आदमी के मरने में बहुत समय लगता है, यह बात मुझे मालूम है। किंतु जब हम लोग हुई हैं तो फिर थोड़ी भी तकलीफ़ क्यों होने दें।

हमलोग! बहुवचन का कम से कम आधा हिस्सा इस अभागे श्रीविलास का है। पृथ्वी में एक श्रेणी के आदमियों को दुःख से बचाने के लिये और एक श्रेणी को दुःख पाना ही होगा। इन्हीं दो जाति के आदमियों को लेकर दुनिया है। दामिनी ने समझ लिया है कि मैं किस श्रेणी का आदमी हूं। जो हो, दल में ले लिया यही मेरा सुख है।

जाकर शचीश से कहा, हर्ज क्या है, इस समय शहर में नहीं ही गए। नदी किनारे वह जो खंडहर है वहीं कुछ दिन बिताया जाय। अफ़वाह है कि उसमें भूत का उत्पात होता है, इसी लिये आदमी के उत्पात की संभावना नहीं है।

शचीश ने कहा, और तुम दोनों?

मैं ने कहा, हम दोनों भूत की तरह ही जहां तक संभव होगा अपनेको छिपाकर रखेंगे।

शचीश ने दामिनी के मुंह की ओर एक बार देखा। उस दृष्टि में शायद थोड़ा भय था।

दामिनी ने हाथ जोड़ कर कहा,—तुम मेरे गुरु हो। मैं जितनी भी पापिष्ठा क्यों न होऊँ मुझे सेवा करने का अधिकार देना।

२

जो कहो, मैं शचीश की इस साधाना की व्याकुलता को समझ नहीं सकता। एक दिन तो इस चीज़ को हंस कर उड़ा दिया था, इस समय, और चाहे जो हो हंसी बंद हो गई है। यह उल्कामुख का प्रकाश नहीं है, साक्षात् अग्नि है। शचीश में जब इसकी जलन देखी थी, तो उसे

लेकर बड़े चाचा की चेलागिरी करने का साहस नहीं हुआ था। किस भूत के विश्वास से इसका आरंभ हुआ था और जिस अद्भुत के विश्वास से इसका अंत होगा, इस बहस को लेकर हर्बर्ट स्पेन्सर के साथ मुक़ाबला करने से क्या फ़ायदा है ? स्पष्ट ही देख रहा हूं कि शचीश जल रहा है, उसका जीवन इस सिरे से लेकर उस सिरे तक जल कर लाल हो गया है।

इतने दिन वह नाच कर, गाकर, रोकर, गुरु की सेवा कर के दिन रात अस्थिर था, यह भी एक प्रकार से अच्छा ही था। मन की सारी चेष्टा को प्रत्येक मुहूर्त में फूंक कर वह अपने आपको दिवालिया कर लेता। अब वह स्थिर होकर बैठ गया है, मन को दबा रखने का कोई उपाय नहीं रह गया है। भाव-संभोग में डूब जाने का अवकाश नहीं हैं, इस समय तो उपलब्धि में प्रतिष्ठित होने के लिये भीतर भीतर ऐसी लड़ाई चल रही है कि उसका मुंह देखकर डर लगता है।

मैं एक दिन अपनेको रोक नहीं सका, बोला, देखो शचीश, मुझे ऐसा लगता है कि तुम्हें एक गुरु की आवश्यकता है जिसके ऊपर निर्भर करके तुम्हारी साधना सहज होगी।

शचीश चिढ़कर बोल उठा, चुप रहो, गंदी बात है ; चुप रहो,—सहज को किसकी ज़रूरत है ? धोखा देना ही सहज है, सत्य कठिन है।

मैं डरता डरता बोला, सत्य को पाने के लिये ही तो रास्ता दिखाने—

शचीश अधीर होकर बोला, अजी यह तुम्हारे भूगोल विवरण का सत्य नहीं है—मेरे अंतर्यामी का आना जाना सिर्फ मेरे ही रास्ते से होता है—गुरु का रास्ता गुरु के ही आंगन में जाने का रास्ता है।

इस एक शचीश के मुंह से कितनी बार कितनी उलटी बातें सुनी गईं। मैं श्रीविलास, बड़े चाचा का चेला हूं सही, किंतु उन्हें गुरु कहने पर वे मुझे चैला लेकर मारने दौड़ते, उसी मुझसे शचीश ने गुरु का पैर दबवा लिया, फिर दो दिन जाते न जाते उसी मुझसे यह वक्तृता! मुझे हंसने का साहस नहीं हुआ, गंभीर हो रहा।

शचीश बोला, आज मैं स्पष्ट समझ रहा हूं 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' का अर्थ क्या है। और सभी चीजें दूसरे के हाथ से ली जा सकती हैं परंतु धर्म यदि अपना न हो तो वह मारता ही है बचाता नहीं। मेरे भगवान् दूसरे के हाथ से पाई हुई भीख नहीं है। यदि उन्हें पाऊँ तो मैं ही उन्हें पाऊँगा नहीं तो 'निधनं श्रेयः'।

बहस करना मेरा स्वभाव है, मैं सहज ही छोड़ने का पात्र नहीं हूँ ; बोला, जो कवि होता है वह मन के भीतर से कविता पाता है जो नहीं होता वह दूसरे से कविता ग्रहण करता है।

शचीश ज़रा भी झेंपे बिना बोला, मैं कवि हूँ।

बस—सब खतम हो गया, मैं चला आया ।

शचीश का खाना सोना कुछ भी ठीक नहीं, कहां रहता है इसका भी होश नहीं। शरीर प्रतिदिन अत्यधिक शान दी हुई छुरी के समान सूक्ष्म होता गया। देखने से मालूम होता, अब नहीं सह सकेगा। तो भी मैं उसे छेड़ने का साहस नहीं करता। किन्तु दामिनी नहीं सह पाती। भगवान् पर वह कठिन क्रोध करती—जो उनकी भक्ति नहीं करता उसीसे वे छके रहते हैं और भक्त पर सबका बदला चुका लेते हैं! यह भी भला कोई न्याय है! लीलानंद स्वामी पर क्रोध करके दामिनी बीच बीच में खूब जना देता थी परन्तु भगवान् का ठिकाना पाने का कोई उपाय नहीं था!

तो भी शचीश को यथा समय स्नान भोजन कराने की चेष्टा से बाज़ न आती। इस निराले मनुष्य को नियम में बांधने के लिये वह कितनी तरह का फंदा रचती इसका कोई हिसाब न था।

बहुत दिन तक शचीश ने इसका कोई स्पष्ट प्रतिवाद नहीं किया। एक दिन सबेरे ही नदी पार करके वह उस पार रेती पर चला गया। सूर्य्य मध्य आकाश में आया, फिर पश्चिम की ओर झुका पर शचीश दिखाई नहीं दिया। दामिनी निराहार बैठी इन्तज़ार करती रही। आखिरकार न रह सकी, भोजन की थाली लेकर घुटने भर जल पार करके वह उस पार उपस्थित हुई।

चारों ओर धू धू कर रहा है—जीवजन्तु का चिन्ह भी नहीं है। धूप जिस प्रकार निष्ठुर है, बालू की तरंगें भी वैसी ही हैं। वे मानो शून्यता के पहरेदार हैं, जो हाथ पैर समेट कर बैठे हुए हैं।

जहां किसी पुकार का कोई जवाब नहीं, किसी प्रश्न का कोई उत्तर नहीं, ऐसी एक सीमाहीन, विवर्ण सफेदी के बीच खड़ी होने पर दामिनी का हृदय बैठ गया मानो यहां का सब कुछ मिटकर एकदम मूल की उस सफेदी में पहुँच गए हैं! पैरों के नीचे पड़ा हुआ है सिर्फ एक 'ना'; उसमें न तो शब्द है, न गति; न रक्त की लालिमा है, न पेड़ पौधों की हरियाली; न आकाश की नीलिमा है, न मिट्टी का गेरुआपन। जैसे एक मुर्दे के सिरपर प्रकांड ओष्ठहीन हंसी हो, जैसे दयाहीन तप्त आकाश के पास एक विपुल शुष्क जिह्वा तृष्णा का एक विशाल दरख्वास्त पेश किए हो।

दामिनी सोच रही थी कि वह किधर जाय। ठीक उसी समय अचानक बालू के ऊपर पैर का चिन्ह दिखाई पड़ा। उन चिन्हों को देखती हुई वह जहां पहुँची, वहां पानी का एक गड्ढा सा था। उसके किनारे किनारे भीगी मिट्टी पर असंख्य पक्षियों के पैर के निशान थे।

वहीं बालू की कछार की छाया में शचीश बैठा था सामने का पानी घने नील रंग का दिखाई दे रहा था, किनारे किनारे चंचल पंकफोड़ (Snipe) पक्षी पूंछ नचा-नचाकर अपने गंगा-यमुनी पंखों की झलक दिखा रहा है। कुछ दूर चकवा-चकई का दल कोलाहल कर रहा है, और किसी प्रकार भी पीठ के पंखों को पूरी तौर पर मन माफिक साफ नहीं कर पा रहा है। दामिनी ज्यों ही कछार पर पहुँची कि वे पंख फैलाकर आवाज़ करते हुए उड़ गए।

दामिनी को देखकर शचीश बोल उठा, यहां क्यों।

दामिनी बोली, खाना ले आई हूँ।

शचीश ने कहा, नहीं खाऊंगा।

दामिनी बोली, बहुत देर हो गई है।

शचीश ने केवल इतना ही कहा, ना।

दामिनी बोली, न हो, थोड़ा मैं बैठती हूं। तुम थोड़ी देर बाद—

शचीश बीच ही में बोल उठा, अहा, क्यों मुझे तुम—

अचानक दामिनी का मुंह देखकर वह रुक गया। दामिनी कुछ बोली नहीं। थाली लेकर उठी और चली गई। चारों ओर का शून्य बालू रात में बाघ की आँखों की तरह झकझक करने लगा।

दामिनी की आँखों में जितनी आसानी से आग जलती है उतनी आसानी से पानी नहीं झड़ता, किंतु उस दिन उसे देखा कि पैर फैला कर वह ज़मीन पर बैठी है, आँखों से पानी झड़ रहा है। मुझे देखकर उसकी रुलाई मानो बांध तोड़कर फट पड़ी। हृदय में मुझे कैसा कैसा लगने लगा। मैं एक किनारे बैठ गया।

जब वह थोड़ी स्वस्थ हुई तो मैंने उससे कहा, शचीश के शरीर के लिये तुम इतनी चिंता क्यों करती हो।

दामिनी बोली, और किस बात के लिये चिंता करूं बताओ? और सब बातों में तो वे अपनी चिंता आप ही कर रहे है। मैं क्या उसका कुछ भी समझती हूं या उस विषय में कुछ कर सकती हूं?

मैं ने कहा, देखो, मनुष्य का मन जब अत्यन्त जोर से कुछ-एक पर जाकर टकराता है तो अपने आप उसके शरीर के सब प्रयोजन कम हो जाते हैं, इसीलिये बड़े भारी दुःख या बड़े भारी आनन्द में भूख प्यास नहीं लगती। इस समय शचीश के मन की जैसी अवस्था है, उसमें यदि उसके शरीर की ओर ध्यान न भी दो तो कोई हानि नहीं होगी।

दामिनी बोली, मैं जो स्त्री हूं—उस शरीर को ही तो देह और प्राण दे कर गढ़ना

हमारा स्वधर्म है। वह स्त्रियों की एकदम निजी कृति है, इसी लिये जब हम देखती हैं कि शरीर कष्ट पा रहा है, तो इतनी आसानी से हमारा मन रो उठता है।

मैं ने कहा, इसीलिये जो लोग मन लेकर ही माते रहते हैं, वे शरीर के अभिभावक तुमलोगों को आँखों से देख ही नहीं सकते। दामिनी तृप्त हो कर बोल उठी, और नहीं तो क्या! वे फिर इस प्रकार देखते हैं कि वह एक अद्भुत चीज़ हो जाती है। मन ही मन मैंने कहा, उसी अद्भुतता के ऊपर तुम्हारे लोभ की कोई सीमा नहीं है।—अरे ओ श्रीबिलास, ऐसा पुण्य कर कि तू भी अगले जन्म में इन्हीं अद्भुतों के दल में पैदा हो सके!

३

उस दिन नदी की रेती पर शचीश ने दामिनी को एक ऐसी सख्त चोट पहुंचाई कि जिसका यह परिणाम हुआ कि दामिनी की उस कातर दृष्टि को शचीश अपने मन से हटा नहीं सका। इस के बाद कुछ दिन तक वह दामिनी के ऊपर ज़रा विशेष यत्न दिखाकर अनुताप का व्रत पालन करने लगा। बहुत दिनों तक तो उसने हमलोगों के साथ अच्छी तरह बात ही नहीं की, बाद में वह दामिनी को नज़दीक बुला बुला कर उसके साथ बातचीत करने लगा। बातचीत का विषय वे बातें थीं, जिन्हें शचीश ने अनेक चिंतन और ध्यान के बाद पाया था।

दामिनी शचीश की उदासीनता से नहीं डरती थी, जितना उसके इस यत्न से डरने लगी। वह जानती थी कि इतना बर्दाश्त नहीं हो सकेगा क्योंकि इसका दाम बहुत ज्यादा था। एक दिन ज्योंही हिसाब की ओर नज़र पड़ेगी और शचीश देखेगा कि खर्च बहुत ज्यादा पड़ रहा है उसी दिन खतरा उपस्थित हो जायगा। शचीश अत्यन्त भले लड़के की तरह नियमित रूप से स्नानाहार किया करता इससे दामिनी की छाती धुकफुक करती रहती, न जाने कैसी एक लज्जा उसे अनुभव होती। शचीश यदि अवज्ञा करता तो मानो वह बच जाती। वह मन ही मन कहती उस दिन तुमने मुझे जो दूर कर दिया था सो अच्छा ही किया था। मेरे प्रति जो तुम्हारा यह यत्न है वह अपने आपको दंड देना है। यह मैं सहूंगी कैसे?—दामिनी ने सोचा, दूर हो, खाक पत्थर, देखती हूं यहां भी मुझे स्त्रियों को सखी बना कर मुहल्ले में घूमना पड़ेगा।

एक दिन रात को अचानक आवाज़ आई, गंदी बात, दामिनी!—इस समय रात के एक बजे हैं या दो इस बात का ख्याल शचीश के मन में आया ही नहीं। मुझे ठीक मालूम नहीं कि रात को शचीश कौन-सा कांड रचता है—किंतु इतना निश्चित है कि उस के उत्पात से इस भुतहे मकान के भूत परेशान हो गए हैं।

हम नींद से धड़फड़ा कर जगे और बाहर निकल आए। देखा, शचीश घर के सामने वाले चबूतरे पर अंधेरे में खड़ा है। वह बोल उठा, मैंने अच्छी तरह समझ लिया है, मन में ज़रा भी संदेह नहीं है।

दामिनी धीरे धीरे चबूतरे पर बैठ गई। शचीश ने भी अनमने भाव से उसका अनुकरण किया। मैं भी बैठ गया।

शचीश बोला, जिस ओर मुंह करके वे मेरी ओर आ रहे हैं उसी ओर मुंह करके यदि मैं भी चलता रहूं तो उनके पास से बराबर दूर होता जाऊँगा। मैं ठीक यदि उल्टी ओर मुंह करके चलूं तभी तो उनसे मिलन होगा।

मैं चुपचाप उसकी जलती हुई आंखों की ओर ताकता रहा। उसने जो कुछ कहा वह रेखागणित के हिसाब से तो ठीक है, लेकिन मामला क्या है?

शचीश कहता गया, वे रूप को प्यार करते हैं इसी लिये निरंतर रूप की ओर उतरते आ रहे हैं। हमलोग तो सिर्फ रूप लेकर नहीं जीते इसीलिये अरूपकी ओर हमें दौड़ना पड़ता है। वे मुक्त हैं इसलिये उनकी लीला बंधन में है, हम बद्ध हैं इसलिये हमारा आनंद मुक्ति में है। यह बात हम नहीं समझते इसलिये नाना भांति के दुःख पाते रहते हैं।

ताराएं जिस प्रकार निस्तब्ध थीं, हमलोग भी उसी प्रकार निस्तब्ध बने रहे। शचीश बोला, दामिनी, तुम नहीं समझ सकतीं? गान जो करता है वह आनंद की ओर से रागिनी की ओर आता है और गान जो सुनता है वह रागिनी की ओर से आनंद की ओर जाता है। एक आता है मुक्ति की ओर से बंधन में दूसरा जाता है बंधन की ओर से मुक्ति में, तभी तो दोनों पक्ष का मिलन होता है। वे गा रहे हैं और हम सुन रहे हैं। वे बांधते बांधते सुनाते हैं हम खोलते खोलते सुनते हैं।

दामिनी शचीश की बात समझ सकी या नहीं, नहीं मालूम, लेकिन शचीश को वह समझ सकी। गोदी में हाथ जोड़कर चुपचाप बैठी रही।

शचीश बोला, अब तक मैं अन्धकार के कोने में चुपचाप बैठकर उस उस्ताद का गान सुन रहा था, सुनते सुनते अचानक सब समझ गया। अधिक नहीं रुक सका इसलिये तुमलोगों को बुलाया। इतने दिनों तक मैंने उन्हें अपने ढंग पर बनाने का प्रयत्न करके केवल धोखा खाया। ओ मेरे प्रलय! मैं अपने आपको तुम्हारे भीतर चूर्ण विचूर्ण करता रहूंगा— दीर्घ काल तक! बंधन मेरा नहीं है इसलिये मैं किसी बंधन को पकड़के रोक नहीं सकता— और बंधन तुम्हारा ही है इसीलिये अनंत काल में तुम सृष्टि के बंधन को छोड़ नहीं सकते। रहो, तुम मेरा रूप लेकर ही रहो, मैं तुम्हारे अरूप में डुबकी लगाता हूं। हे

असीम, तुम मेरे हो, तुम मेरे हो—यही कहते कहते शचीश अंधकार में नदी की कछार की ओर चला गया।

४

उसी रात के बाद शचीश ने फिर पुराना ढंग अख्तियार किया, उसके नहाने खाने का ठीक ठिकाना नहीं रहा। कब उसके मन की तरंगें आलोक की ओर उठती हैं और कब अंधकार की ओर उतरती हैं यह बात मैं नहीं समझ पाता। ऐसे आदमी को भले आदमी के लड़के की तरह खिला पिला कर स्वस्थ रखने का भार जिसने लिया है भगवान् उसका सहायक हो।

उस दिन वायुमंडल दिन भर गुम सुम बना रहा। रात को ज़ोर की एक आंधी आई। हम तीनों तीन घर में सोते थे। सामने के बरामदे में मिट्टी के तेल की एक ढिबरी जलती रहती थी। वह बुझ गई। नदी में उथल पुथल मच गया। आकाश फाड़कर मूसलधार वृष्टि होने लगी। नदी के तरंगों को छल छल-ध्वनि और आकाश के जल की झरझर-ध्वनियों ने ऊपर और नीचे मिलकर प्रलय की रंगभूमि में झमाझम करताल बजाना शुरू किया। घने अंधकार के गर्भ में न जाने क्या हिल डुल रहा है मैं कुछ भी देख नहीं पा रहा हूं, और फिर भी उसकी नाना भांति की आवाज़ से सारा आकाश अंधे बालक की तरह मारे डर के ठंडा हो रहा है। बांस-वन में मानो किसी विधवा प्रेतिनी की रुलाई सुनाई दे रही है, आम के बगीचे में शाखाओं और टहनियों का झपाझप शब्द हो रहा है, दूर पर बीच बीच में नदी का किनारा टूट टूटकर धमाधम आवाज़ कर रहा है और हमारे पुराने मकान के हाड़ पांजर के भीतर से बार बार हवा की तीक्ष्ण छुरी भोंककर वह प्रचण्ड आंधी एक उन्मत्त जन्तु की भांति केवल चीत्कार कर रही है।

ऐसी रात में हमारे मन की खिड़कियों और दरवाज़ों की सिटकिनियां खुल जाती हैं, आंधी भीतर घुस आती है, अच्छे अच्छे असबाबों को उलट देती है, पर्दों में से कौन किस तरह फटफटा कर उड़ जाता है, इसका कुछ ठिकाना नहीं। मुझे नींद आ रही थी। बिछौने पर पड़ा पड़ा क्या क्या सोच रहा था सो सब लिख कर क्या होगा। इस इतिहास में वे सब ज़रूरी नहीं।

इसी समय शचीश एक बार अपने घर के अंधकार में बोल उठा, कौन है?

उत्तर में उसने सुना, मैं हूं दामिनी। तुम्हारी खिड़की खुली हुई है, घर में पानीकी छींटें आ रही हैं। बंद कर दूं।

बंद करते करते उसने देखा शचीश बिछौने से उठ पड़ा है। क्षण भर के लिये उसके मन में दुविधा सी मालूम हुई फिर तेजी से घर से बाहर निकल गया। बिजली चमकने लगी और एक दबा हुआ वज्र गड़गड़ा उठा।

दामिनी देर तक अपने घर के चौखट पर बैठी रही कोई लौटा नहीं। हवा के झोंके से अधैर्य क्रमशः बढ़ता गया।

दामिनी अधिक नहीं रुक सकी बाहर निकल पड़ी। हवा में खड़ा होना भी मुश्किल था। ऐसा लगता था कि देवता के प्यादे उसे डांटते हुए धकेलते लिए जा रहे हैं। अंधकार आज जंगम हो उठा है। वर्षा का पानी आकाश के सभी फांकों को भरने में प्राणों की बाजी लगाए है। इसी प्रकार विश्व-ब्रह्मांड को डुबा कर रो सकती तो दामिनी के प्राण बच जाते।

अचानक एक बिजली की कौंध ने अंधकार को आकाश के एक किनारे से दूसरे किनारे तक तड़तड़ाहट के साथ तोड़ दिया। उस क्षणिक आलोक में दामिनी ने देखा कि शचीश नदी के किनारे खड़ा है। दामिनी अपनी सारी शक्ति लगाकर एक दौड़ में एकदम उसके पास पहुंच गई। हवा के चीत्कार की आवाज़ को दबाकर बोल उठी,—यह तुम्हारा पैर छूकर कहती हूं मैंने तुम्हारे निकट कोई अपराध नहीं किया है। क्यों तब इस तरह दंड दे रहे हो? शचीश चुपचाप खड़ा रहा।

दामिनी बोली मुझे लात मारकर नदी में फेंक देना चाहो तो फेंक दो, लेकिन तुम घर लौट चलो।

शचीश घर लौट आया। भीतर आकर बोला जिसे मैं खोज रहा हूं, उसकी मुझे सख्त ज़रूरत है—और किसी बात की ज़रूरत नहीं। दामिनी, तुम मेरे ऊपर दया करो मुझे छोड़ कर चली जाओ।

दामिनी थोड़ी देर तक चुपचाप खड़ी रही फिर बोली, यही सही, मैं जाऊंगी।

५

बाद में मैंने दामिनी से शुरू से अंत तक सारा दास्तान सुना है। किंतु उस दिन कुछ नहीं जानता था। इसीलिये बिछौने पर से जब देखा कि ये दोनों अपने अपने घर की ओर चले गए तो लगा कि मेरा दुर्भाग्य छाती पर चढ़ बैठा है और मेरा गला घोंट रहा है। धड़फड़ाकर उठ बैठा। उस रात को फिर नींद नहीं आई।

दूसरे दिन सबेरे दामिनी का चेहरा कैसा हो गया था! कल रात को आंधी के तांडव-

नृत्यने दुनियां में इस स्त्री के ऊपर ही मानो अपना सारा पदचिह्न रख छोड़ा है। इतिहास पूरी तरह से न जानकर भी शचीश के ऊपर मुझे गुस्सा होने लगा।

दामिनी ने मुझसे कहा, श्रीविलासबाबू, तुम मुझे कलकत्ता पहुंचा दो। चलो।

दामिनी के लिये यह कितनी कठिन बात है सो मैं खूब जानता हूं। किंतु मैंने उससे कुछ पूछा नहीं। एक कठिन पीड़ा के भीतर भी मैंने आराम पाया। दामिनी का यहां से जाना ही अच्छा। पहाड़ से टकरा टकराकर नाव का धुर्रा ही उड़ गया है!

बिदा लेते समय शचीश को प्रणाम करती हुई दामिनी बोली, मैंने अनेक अपराध किए हैं, माफ़ करना।

शचीश मिट्टी की ओर आँख झुकाए हुए बोला, मैंने भी अनेक अपराध किए हैं सब धो पोंछकर क्षमा चाहूंगा।

दामिनी में प्रलय की एक आग जल रही है। कलकत्ते के रास्ते आते आते मैं उसे खूब समझ सका। उसीका ताप लगने से जिस दिन मेरा मन भी ज्यादा गर्म हो उठा था उस दिन मैंने शचीश को लक्ष्य करके कुछ कड़ी बातें कह दी थीं। दामिनी ने गुस्से में कहा, देखो उनके संबंध में मेरे सामने तुम ऐसी बातें मत कहो। उन्होंने मुझे कैसा बचाया है तुम उस बारे में क्या जानते हो! तुम केवल मेरे ही दुःख की ओर देखते हो, मुझे बचाने के लिये उन्होंने जो दुःख पाया है उस ओर शायद तुम्हारी दृष्टि ही नहीं है। सुन्दर को मारने गया था इसीलिये असुन्दर ने छाती मे लात खाया है। बहुत अच्छा हुआ है, ठीक हुआ है, खूब हुआ है!—कह कर दामिनी अपनी छाती पर दमादम मुक्का मारने लगी। मैंने ज़ोर से उसका हाथ पकड़ लिया।

कलकत्ते में सन्ध्या समय हम दोनों पहुंचे और उसी समय दामिनी को उसकी एक मौसी के घर पहुँचाकर मैं एक परिचित मेस में चला आया। हमारे पहिचाने हुए लोग मुझे देखकर चौंक उठे, बोले, यह क्या? तुम बीमार हो क्या?

दूसरे दिन प्रथम डाक से ही दामिनी की चिट्ठी मिली, मुझे ले चलो यहां मेरे लिये जगह नहीं है।

मौसी दामिनी को घर में नहीं रखेंगी। सुना है कि हम लोगों की निंदा का ढिंढोरा सारे शहर में पिट गया है। दल के छोड़ने के थोड़े ही दिनों बाद साप्ताहिक अखबारों के दुर्गापूजा अंक निकले हैं; इसके लिये हमारा हाड़ काठ तैयार था, रक्तपात की कोई कमी नहीं की गई शास्त्र में स्त्री-पशु की बलि निषिद्ध है किंतु जहां तक मनुष्य का सवाल है उसीको लेकर उल्लास सबसे अधिक होता है! अखबारो में दामिनी का नाम साफ़ साफ़ नहीं था,

परंतु इस बात में पूरा कौशल दिखलाया गया था कि उसका बदनाम बे-साफ़ न हो। इसीलिये दूर के रिश्ते की मौसी का मकान दामिनी के लिये काफ़ी सँकरा साबित हुआ।

इस बीच दामिनी के मां-बाप मर गए हैं, परंतु भाइयों में से कोई कोई बचे हैं ऐसा ही मेरा जाना हुआ है। उनका पता मैंने दामिनी से पूछा उसने गर्दन हिलाकर जवाब दिया, वे बहुत गरीब हैं।

असली बात यह है कि दामिनी उन्हें कठिनाई में नहीं डालना चाहती। डर था कहीं भाईलोग भी जवाब न दे बैठें—यहां स्थान नहीं है। वह उस चोट को बर्दाश्त नहीं कर सकेगी। मैंने पूछा, तो फिर कहां जाओगी ?

दामिनी बोली, लीलानंद स्वामी के पास।

लीलानन्द स्वामी ! थोड़ी देर तक मेरे मुंह से बात ही नहीं निकली। अदृष्ट की यह कैसी दारुण लीला है !

बोला, स्वामी जी क्या तुम्हें स्वीकार करेंगे ?

दामिनी बोली, प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार करेंगे।

दामिनी आदमी पहचानती है। जो लोग दल-चर जाति के मनुष्य हैं वे मनुष्य को पाकर सत्य को पाने की अपेक्षा ज्यादा प्रसन्न होते हैं। लीलानंद स्वामी के यहां दामिनी को जगह की कमी नहीं होगी यह ठीक है—लेकिन—

ठीक ऐसे ही संकट के समय में बोला, दामिनी एक रास्ता है यदि अभय दो तो कह डालूं।

दामिनी बोली, कहो, सुनूं।

मैं बोला, यदि मेरे जैसे आदमी के साथ विवाह करना संभव हो सके —

दामिनी मुझे रोक कर बोली, यह कैसी बात कह रहे हो, श्रीविलास बाबू ? पागल हो गए हो क्या ?

मैं बोला, मान लो पागल ही हो गया हूँ। पागल होने से बहुत-सी कठिन बातों का फ़ैसला सहज ही कर देने की शक्ति आती है। पागलपन अरब के सहस्र-रजनीचरित्र का वह जूता है जिसे पैर में देने से दुनियां की हज़ार हज़ार बेकार बातों को अनायास ही पार कर लिया जा सकता है।

बेकार बातें ? किसे तुम बेकार बात कहते हो ?

यही ; जैसे, लोग क्या कहेंगे, आगे क्या होगा, इत्यादि इत्यादि।

दामिनी बोली, और कामकी बात क्या है ?

मैं बोला, तुम किसे काम की बात कहती हो ?

यही जैसे मेरे साथ विवाह करने पर तुम्हारी दशा क्या होगी ?

यही यदि काम की बात हो तो मैं निश्चिन्त हूं, क्योंकि मेरी दशा इस समय जो है उससे खराब नहीं होगी। दशा को अगर पूरी तरह से जगह बदलवा सकता तो बच जाता, कम से कम करवट बदलने में भी थोड़ा आराम मिलता है।

मेरे मनोभाव के संबंध में दामिनी ने किसी प्रकार खबर पाई ही न हो यह बात मैं विश्वास नहीं करता। लेकिन इतने दिनों तक उसके लिये वह ज़रूरी खबर नहीं थी—कम से कम किसी प्रकार का जवाब देना निष्प्रयोजन था। इतने दिनों बाद जवाब का एक दावा उपस्थित हुआ।

दामिनी चुपचाप सोचने लगी। मैंने कहा, दामिनी मैं संसार के अत्यन्त साधारण आदमियों में से एक हूं—यहां तक कि उस से भी कम हूं, मैं अत्यंत तुच्छ हूं। मेरे साथ विवाह करना भी जैसा है, नहीं करना भी वैसा ही है, अतएव तुम्हारे लिये चिंता की कुछ भी बात नहीं है।

दामिनी की आंखें छलछला आईं। बोली, तुम यदि साधारण मनुष्य होते तो मैं कुछ भी नहीं सोचती।

और भी थोड़ी देर सोचकर दामिनी बोली, तुम तो मुझे जानते हो।

मैंने कहा, तुम तो मुझे जानती हो।

इसी प्रकार बात शुरू की गई। जो सब बातें मुंह से नहीं कही गईं उन्हीं का परिमाण ज्यादा था। पहले ही कह चुका हूं एक दिन अपनी अंगरेज़ी वक्तृता से मैंने अनेकों का चित्त वश में कर लिया था। इतने दिनों का व्यवधान पाकर उनमें से बहुतों का नशा टूट चुका है। किंतु नरेन अब भी मुझे वर्तमान युग का दैव-लब्ध पदार्थ ही मानता था। उसके घर में किरायेदार के आने में लगभग डेढ़ महीने की देरी थी। बहरहाल, हमने वहीं आश्रय लिया। पहले दिन मेरा प्रस्ताव पहिया तोड़ कर जो मौन के गड्ढे में गिरा, सो मालूम हुआ कि वह अटक गया ; कम से कम उसे बाहर खींच लाने के लिये बहुत मरम्मत और हांई-हूंई की ज़रूरत है किंतु मन की सृष्टि ही इस लिये हुई है कि वह अचिंतनीय परिहास से मनोविज्ञान को धोखा देता रहे। सृष्टिकर्त्ता के उस आनन्द का वह उच्चहास्य इस बार के फागुन में इस भाड़े के मकान की दीवालों में बार बार ध्वनित होने लगा।

मैं जो एक-कुछ हूं यह बात इतने दिनों तक लक्ष्य करने की फुरसत दामिनी को थी ही नहीं, शायद और किसी ओर से उसकी आंखों को ज्यादा प्रकाश दिखाई पड़ा था। इस बार उसकी दुनिया संकीर्ण हो कर उतनी ही सी जगह में जा रुकी जहां सिर्फ मैं ही अकेला था इसी

लिये मुझे पूरी आंखों देखने के सिवाय कोई उपाय नहीं था। मेरा भाग्य अच्छा है, इसीलिये ठीक इसी समय दामिनी ने मानो मुझे पहिली बार देखा।

अनेक नदी, पर्वत और समुद्र के किनारे दामिनी के बगल में घूमता रहा हूं, साथ साथ खोल, करताल की आंधी से, रस के तान से हवा में आग लगती रही है; "चरनों में तिहारे परान में मेरे लगी यह प्रेम की फांसी!"

—इस पद की शिखा नये नये अक्षरों की चिनगारी बरसाती रही है परंतु फिर भी पर्दा जल नहीं गया।

किंतु कलकत्ते की इस गली में क्या हो गया। एक दूसरे से सटे हुए ये मकान पारिजात के फूलों की तरह मानो फूट उठे हैं। विधाता की बहादुरी ही कहनी चाहिये। इन ईंट काठों को उन्होंने अपने गान का सुर बनादिया है। और मेरे जैसे सामान्य मनुष्य को न जाने कौन सी पारसमणि छुला दी है कि मैं एक मुहूर्त्त में असामान्य हो गया हूं।

जब ओट बना रहता है तो अनंतकाल का व्यवधान रहता है, परंतु जब वह टूट जाता है तो एक क्षणका। देरी नहीं हुई दामिनी बोली, मैं एक स्वप्न में थी, केवल एक धक्के की अपेक्षा थी। मेरे उस-तुम और इस-तुम के बीच में एक तंद्रा उपस्थित हुई थी। अपने गुरु को मैं बारंबार प्रणाम करती हूं उन्होंने मेरी खुमारी तोड़ दी है।

मैंने दामिनी से कहा, दामिनी तुम मेरे मुंह की ओर इतना मत देखो। विधाता की यह सृष्टि जो सुदृश्य नहीं है सो यह बात तुमने पहले ही आविष्कार किया था। उस समय तो सह लिया था लेकिन अब सहन करना मुश्किल होगा।

दामिनी बोली, विधाता की यह सृष्टि जो सुदृश्य है यही बात आविष्कार कर रही हूं। मैंने कहा, इतिहास में तुम्हारा नाम अमर रहेगा। उत्तर मेरु के बीच में जो दुस्साहसी अपना झंडा गाड़ आएगा उसकी कीर्ति भी इसके सामने तुच्छ होगी। यह तो दुस्साध्य-साधन नहीं है असाध्य-साधन है।

इसके पहले मैंने कभी यह बात निःसंशय भाव से नहीं समझा था कि फागुन का महीना इतना छोटा होता है। केवल तीस दिन—और दिन भी चौबीस घंटे से एक मिनट भी ज्यादा नहीं।

विधाता के हाथ में अनंत काल है तथापि ऐसे भद्दे ढंग की कंजूसी क्यों करते हैं, मुझे समझ में नहीं आता।

दामिनी बोली, तुम जो यह पागलपन करने जा रहे हो तुम्हारे घर के आदमी—

मैं बोला, वे मेरे सुहृद हैं। इस बार मुझे घर से दूर कर देंगे।

इसके बाद ?

इसके बाद तुम और हम दोनों मिल कर नींव से शुरू कर के एकदम नया घर बनाएंगे—वह सिर्फ हमीं दोनों को सृष्टि होगी।

दामिनी बोली, ओर उस घर की गृहिणी को भी एकदम शुरू से ही बना लेना पड़ेगा। वह भी तुम्हारे ही हाथ की सृष्टि हो, पुराने ज़माने का टूटा फूटा कुछ भी उसमें न रहे।

चैत के महीने में दिन तय करके ब्याह का बंदोबस्त किया गया। दामिनी ने हठ किया, शचीश को बुलाना होगा।

मैंने कहा, क्यों ?

वही कन्यादान करेंगे।

वह पगला इस समय कहां घूम रहा है इसका कोई ठोक नहीं। चिट्ठी पर चिट्ठी लिखता हूं जवाब नदारद ज़रूर इस समय भी उसी भुतहे मकान में रहता है नहीं तो चिट्ठी लौट आती। लेकिन इस बात में संदेह ही है कि वह किसी की चिट्ठी खोल कर पढ़ता भी है या नहीं।

मैंने कहा, दामिनी, तुम्हें स्वयं जाकर निमंत्रण कर आना होगा, "पत्र के द्वारा निमंत्रण करने का अपराध क्षमा करेंगे"—यह विधि वहां न चलेगी। अकेला ही जा सकता लेकिन मैं डरपोक आदमी हूं। खूब संभव होगा इस समय तक वह नदी के उस पार जाकर चक्रवाकों के पीठ पर के पंख साफ कर रहा है और उनकी देख-भाल कर रहा है। वहां तुम्हें छोड़ और किसीको जाने की हिम्मत नही है।

दामिनी ने हँसकर कहा, मैंने प्रतिज्ञा की थी कि फिर कभी वहां नहीं जाऊँगा।

मैंने जवाब दिया, भोजन लेकर नहीं जाओगी यही प्रतिज्ञा है—भोजन का निमंत्रण लेकर क्यों नहीं जाओगी ?

इस बार किसी प्रकार की दुर्घटना नहीं घटी। हम दोनों शचीश के दोनों हाथ पकड़ कर कलकत्ते में गिरफ्तार कर लाए। बच्चा खेलने की चीज़ पाकर जिस प्रकार प्रसन्न हो जाता है शचीश भी हमारे विवाह का नाम लेकर उसी प्रकार प्रसन्न हो उठा। हमने सोचा था सारा काम चुपके से कर जांएगे परन्तु शचीश किसी प्रकार ऐसा करने देने को राजी नहीं हुआ विशेष कर बड़े चाचा के उस मुसलमान मुहल्लेवालों को जब खबर मिली तो उन्होंने इतना हल्ला मचाया कि मुहल्लेवालों ने सोचा कि काबुल के अमीर आ गए हैं या कम से कम हैदराबाद के निज़ाम तो होंगे ही।

अखबारों में और भी धूम मची। दूसरी बार की पूजा के अंक में जोड़ा बलि दी गई।

हम इसके लिये शाप नहीं देंगे। जगदम्बा सम्पादकों की थैली भरें और ऐसा हो कि पाठकों के नर-रक्त की नदी में कम से कम इस बार कोई विघ्न न पड़े।

शचीश बोला गन्दी बात है, तुम लोग मेरे मकान पर भोग करो।

मैंने कहा, तुम भी हमारे साथ आ जुटो, फिर हम काम में लग जायें।

शचीश बोला नहीं, मेरा काम अन्यत्र है।

दामिनी बोली हमारा बहू-भात का निमंत्रण स्वीकार किए बिना नहीं जा सकते।

बहू-भात के निमंत्रण में निमंत्रितों की संख्या अधिक नहीं थी। था सिर्फ वही शचीश।

शचीश ने तो कहा कि हमारे मकान को भोग करो किन्तु यह हमीं जानते हैं कि वह भोग कैसा है।

हरिमोहन ने उस मकान को दखल कर लिया है और किरायादार बैठा दिया है। वे स्वयं व्यवहार करते लेकिन पारलौकिक नफा नुकसान के संबंध में जो लोग मंत्री हैं उन्होंने यह अच्छा नहीं समझा—उस मकान में प्लेग से एक मुसलमान भाग गया है। जो किरायादार आएगा उसे भी तो एक—लेकिन यह बात उसके निकट दबा देने से ही काम चल जाएगा।

मकान किस प्रकार हरिमोहन के हाथ से उद्धार किया गया इसकी कहानी लम्बी है। मेरे प्रधान सहायक मुहल्ले के मुसलमान थे। और कुछ तो नहीं सिर्फ जगमोहन का वसीयतनामा उन्हें एकबार दिखा दिया था। उसके बाद मुझे वकीलों के घर दौड़-धूप नहीं करनी पड़ी।

अब तक घर से मैं बराबर कुछ न कुछ सहायता पाता रहा अब वह बन्द हो गई। हम दोनों मिल कर बिना सहायता के ही गृहस्थी चलाने लगे। कुछ कष्ट नहीं, हमें आनन्द मिलता था। मैं रायचन्द प्रेमचन्द मार्का धारी था। प्रोफेसरी सहज ही जुट गयी। इसके ऊपर एकज़ामीन पास करने का पेटेण्ट औषध आविष्कार किया—पाठ्य-पुस्तकों के मोटे-मोटे नोट-बुक। हमलोगों का अभाव थोड़ा ही था इतना करने की जरूरत नहीं थी। किन्तु दामिनी ने कहा कि यह भी हमीलोगों को देखना चाहिये कि शचीश को जीविका के लिये कुछ चिन्ता नहीं करनी पड़े। और एक बात दामिनी ने मुझे बतायी नहीं,—मैंने भी उससे नहीं कहा, चुपचाप ही काम करना पड़ा। दामिनी की दोनों भतीजियों को सत्पात्र के साथ विवाह देना और कई भतीजों को पढ़ा-सुना कर आदमी बनाने में जो खर्च लगेगा उसे दामिनी के भाई दे नहीं सकते थे। वे हमें घर में प्रवेश करने नहीं देते थे—किन्तु आर्थिक सहायता नामक वस्तु की न जाति है न चीज़, विशेष कर के ऐसे समय जब ग्रहण करने मात्र की जरूरत हो स्वीकार करना निष्प्रयोजन हो।

इसीलिये मुझे अन्य कामों के ऊपर एक अंग्रेजी अखबार का सहकारी संपादक भी होना पड़ा।

मैंने दामिनी को बताए बिना एक उड़िया ब्राह्मण, बेहरा और एक नौकर का बन्दोबस्त किया। दामिनी ने भी मुझे बताए बिना दूसरे दिन सबको बिदा कर दिया। मेरे एतराज़ करने पर वह बोली तुम लोग केवल उल्टा समझ कर दया करते हो। तुम बाहर काम करके हैरान भी होगे और मैं घर पर काम ही न कर सकूं तो मेरे दुःख और लज्जा को ढोएगा ही कौन ?

बाहर मेरे काम का और भीतर दामिनी के काम का गंगा-जमुनी स्रोत मिल गया। इसके ऊपर दामिनी ने मुहल्ले की छोटी-छोटी मुसलमान लड़कियों को सिलाई का काम सिखाने लग गई। मुझसे वह किसी प्रकार हार नहीं मानेगी यही उसका प्रण था।

कलकत्ते का यह शहर ही वृन्दावन है और यह प्राणों की बाज़ी रख कर काम करना ही वंशी की तान है। इस बातको ठीक स्वर में गा सकूं ऐसी कवित्व-शक्ति मेरे पास नहीं। किन्तु जो दिन गए वे चल कर भी नहीं गए दौड़ कर भी नहीं गए एकदम नाचते-नाचते चले गए।

और एक फागुन कट गया। उसके बाद फिर नहीं कटा।

उस बार गुहा से लौट आने के बाद से दामिनी की छाती में एक प्रकार की पीड़ा हुई थी। दामिनी ने उसकी बात किसीको बताई नहीं थी, जब बहुत बढ़ गई तो पूछने पर उसने बताया कि यह व्यथा मेरा गोपन ऐश्वर्य है, यह मेरी पारसमणि है। यही उपहार लेकर मैं तुम्हारे पास आ सकी हूं, नहीं तो मैं क्या तुम्हारे योग्य थी। एक एक डाक्टर ने इस बीमारी का एक एक नाम बताया। किसीके प्रेस्क्रिपशन से किसीका मत नहीं मिला। आखिरकार विजीट और दवाई खाने के बिल की आग में मेरे संचित स्वर्ण को राख बनाकर उन्होंने लंकाकाण्ड की लीला समाप्त की और उत्तरकाण्ड की सलाह दी कि हवा बदलनी होगी। उस समय हवा के सिवाय मेरे पास और कोई वस्तु बाकी ही नहीं थी।

दामिनी बोली जहां से मैं इस पीड़ा को ले आई हूं उसी समुद्र के किनारे ले चलो वहां हवा का अभाव नहीं है।

जिस दिन माघ की पूर्णिमा फाल्गुन (सौर) में पड़ी, ज्वार से भरे-भरे आंसू की वेदना से सारा समुद्र फूल उठने लगा उस दिन दामिनी ने मेरे पैर की धूलि ली और बोली साध नहीं मिटी, ऐसा हो कि अगले जन्म में फिर तुम्हें पा सकूं।

चीन में शिक्षा-विषयक नया प्रयत्न

कृष्णकिंकर सिंह

अब तक युद्ध-विग्रह शिक्षा के क्षेत्र में बाधक ही सिद्ध होते रहे हैं। किन्तु चीन में युद्ध को उद्देश्य कर के और उसी के कारण एक नवीन शिक्षा व्यवस्था का जन्म हुआ है जो एक ही साथ मनोरंजक भी है और स्फूर्तिप्रद भी। जापान ने चीन की शिक्षा व्यवस्था को बुरी तरह बरबादकर दिया है। बड़े बड़े शिक्षा केन्द्र सैनिक अड्डे बन गए हैं। अपनी स्वाधीनता के लिये युयुत्सु चीनियों ने बिल्कुल नये ढंग से इस व्यवस्था को जीवन दिया है। शिक्षा के प्रचार के लिये सब से पहला काम जो शिक्षा विभाग के सामने था वह था जापानियों द्वारा नष्ट भ्रष्ट किए गए विश्वविद्यालयों और कालेजों को स्थानान्तरित कर उन्हें नये सिरे से स्थापित और संगठित करना तथा युद्धकालीन आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए नये नये शिक्षालयों की भी स्थापना करना। चीन में युद्ध के पहले कालेजों और विश्वविद्यालयों का बंटवारा भौगोलिक आधार पर एकदम नहीं था। परन्तु इस बार सरकार ने भौगोलिक आधार पर देश के समस्त भीतरी भागों में विश्वविद्यालय और कालेजों का बंटवारा कर पुरानी गलती को सुधारने की कोशिश की। ऐसा करने का एक दूसरा भी कारण था। वह यह था कि स्थानान्तरित कर अगर बहुत से कालेजों और विश्वविद्यालयों को एक जगह स्थापित किया गया और उन स्थानों पर पुनः जापानी आक्रमण हुए तो फिर काफी क्षति उठानी पड़ेगी। युद्ध छिड़ने के बाद ही सरकार ने शिक्षालयों का स्थानान्तरित करना प्रारम्भ कर दिया। पहला स्थान परिवर्तन १९३७ ई० के अगस्त-सितम्बर में पिपींग, थियेनत्सीन और पौतिंग से हुआ। इन सब शहरों में स्थित शिक्षालयों के छात्र और अध्यापक सभी बचे खुचे सामान के साथ ८०० मील चलकर होनान प्रान्त के चांगशा नामक स्थान में आए। इस स्थान पर कार्य प्रारम्भ ही हुआ था कि यहाँ भी जापानी हमले शुरू हो गए और पुनः सभी सामान के साथ छात्रों और अध्यापकों को ६००, ७०० मील चलकर यूनान प्रान्त के कुमिंग शहर में आना पड़ा। इस प्रकार १५०० मील की यात्रा के बाद तीन विश्वविद्यालयों—राष्ट्रीय छीगहुआ विश्वविद्यालय, राष्ट्रीय पेकिंग विश्वविद्यालय और राष्ट्रीय नानकिंग विश्वविद्यालय—का काम सम्मिलित रूप में दक्षिण-पश्चिम राष्ट्रीय सम्मिलित विश्वविद्यालय के नाम से चल रहा है। पिपींग के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, नार्मल विश्वविद्यालय, पियांग का इंजीनियरींग कालेज ५५० मील देश के भीतरी हिस्से में शेंसी

प्रान्त के सियान नामक स्थान पर लाए गए। सियान पर भी जापानियों ने गोलेबारी शुरूकर दी अतः पुनः शांसी प्रान्त के ही हांचुंग और हांचुंग से चैंगकू नामक शहरों में स्थानान्तरित किए गए जहाँ अब ये उत्तर-पश्चिम राष्ट्रीय संयुक्त विश्वविद्यालय के नाम से कार्यकर रहे हैं। दूसरा स्थान परिवर्तन १९३७ के नम्बर-दिसम्बर में हुआ जब कि शंघाई, सुचौ, नानकिंग, हांगचौ आदि शहर जापान के कब्जे में चले गए। इन शहरों के कालेजों और विश्वविद्यालयों को भी देश के भीतरी भाग में जाना पड़ा। नानकिंग राष्ट्रीय केन्द्रीय विश्वविद्यालय के छात्र और अध्यापक १२०० मील यांगटीज़ नदी की तराई में चलकर चुंकिंग के पास शायिंगपा नामक स्थानपर आए और अपना काम प्रारम्भ किया। इस विश्वविद्यालय का चिकित्सा तथा दन्त विभाग पश्चिमी चीन युनियन विश्वविद्यालय की देखरेख में चेंगतू चला गया। फिर गिंनलिंग महिला कालेज, शंघाई का शंघाई स्थित क्वांगहुआ कालेज और छिनान से चेलू विश्वविद्यालय भी चेंगतू चले आए और यहाँ के पश्चिम चीन यूनियन विश्वविद्यालय के साथ मिलकर संयुक्त विश्वविद्यालय के नाम से कार्य चालू किया। कैंटन, वुचांग और हांको के पतन के बाद पुनः एकबार इन शहरों और क्षेत्रों में स्थित कालेजों और विश्वविद्यालयों का स्थान परिवर्तन हुआ। राष्ट्रीय सन यातसेन विश्वविद्यालय के १३०० छात्र अपने बहुत से अध्यापकों के साथ २००० मील की यात्रा करके पहले क्वांगतुंग प्रान्त के दक्षिण पश्चिम लोतिंग नामक स्थान पर आए। वहां से पुनः दक्षिणी क्वांगसी प्रान्त के लुंगचौ नामक स्थानपर और बाद में युनान प्रान्त के चेङ्किआङ् नामक स्थानपर चले आए। १९४० में यह विश्वविद्यालय पुनः क्वांगतुंग प्रान्त के शाओक्वान के पास के एक स्थान में चला गया और इसके कुछ कालेज किआंसी सीमा के पास नानछिउङ् भेज दिए गए। वाइचौ शहर के चीनो विश्वविद्यालय का स्थान परिवर्तन पहले लोतिंग फिर वहां से लुंगचौ और अन्त में चेङ्किआङ् नामक स्थानपर हुआ। वुचांग का चुंगहुआ कालेज, आर्टकालेज और केन्द्रीय राजनीति कालेज; नानकिंग का राष्ट्रीय फार्मेसी स्कूल आदि चुंकिंग में और नानचांग का चुंगचेंग मेडिकल स्कूल, पिपींग का कला विद्यालय युनान प्रान्त के कुमिंग के पास चले गए। शंघाई स्थित तुंगची विश्वविद्यालय ३००० मील की यात्राकर कुमिंग आया और पुनः पश्चिमी सेच्वान प्रान्त में चला गया। शंघाई स्थित तासिया विश्वविद्यालय, येल स्थित सिआंया मेडिकल कालेज आदि क्वेइयांग लाए गए। हांगक्वांग और लिंगनान विश्वविद्यालयों ने कईबार स्थान परिवर्तन किए। पिपींग का चौयांग कालेज चेंगतु में, सेच्वान का राष्ट्रीय विश्वविद्यालय अमेई चले गए। हांगचो का राष्ट्रीय चेकियांग विश्वविद्यालय पहले चिएनसा में फिर किआंसी प्रान्त के मध्यस्थित ताइ-हो और बाद में क्वांगसी प्रान्त के मिशान नामक स्थानपर लाया गया। चीन के अर्थ-मंत्री डा० एच. एच. कुंग द्वारा स्थापित ओवरलिन विद्यालय पहले दक्षिणी शांसी प्रान्त के युनचेंग नामक स्थानपर लाया

गया। जापानियों ने यहां भी गोले बर्षाने शुरू किए और पुनः उसे वहां से उठाकर कैंगतु के पास के एक गांव में लाकर नए सिरे से काम प्रारम्भ किया गया। चीन के शिक्षा केन्द्रों को उत्तर और पूर्व से हटा कर दक्षिण पश्चिम में ले आने के दो कारण थे। एक तो युद्ध-क्षेत्र से उन्हें दूर रखना दूसरे जापानी गोले के शिकार से उन्हें बचाना। इसीप्रकार स्थानान्तरित शिक्षण संस्थाओं का संगठन भी दो तरह से किया गया। एक तो उन्हें सारे देश में भौगोलिक आधार पर स्थापितकर और दूसरे आर्थिक और काम की सहूलियत के लिए तथा सभी कालेजों आदि का स्टैन्डर्ड समान रखने के लिए एक ही तरह के कई कालेजों और विश्वविद्यालयों को एक साथ मिलाकर। इस प्रकार विश्वविद्यालय और कालेज जो एक साथ मिलाए गए हैं उनका जिक्र उपर हो चुका है।

इस स्थान परिवर्तन में छात्र छात्राओं को असीम मुसीबतों का सामना करना पड़ा। परिवार के लोगों से बिछुड़ जाना, दूर-दूर के पथरीले और बीहड़ रास्तों से पैदल यात्रा, उसमें भी सामान ढोकर ले जाना, भोजन और आराम का ठीक प्रबन्ध नहीं; शत्रुओं द्वारा पीछे से खदेड़कर बम बर्षाना, देश के भीतरी भाग में आने पर भी खाने, रहने, स्नान करने, रुपये पैसे की कमी, छोटे छोटे अस्वास्थ्यकर सराय में रहना—ये सभी बातें ऐसी हैं जिन्हें सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इस परिवर्तन से जहां एक तरफ़ बहुत से लड़के ठीक तरह से नहीं पढ़ने के कारण पिछड़ गए, कितने तो शारीरिक और आर्थिक कारणों से रास्ते में ही छूट गए तथा और भी दूसरी हानियां उठानी पड़ीं वहाँ दूसरी ओर उन्हें जीवन का सच्चा अनुभव हुआ। विभिन्न प्रान्तों के छात्र-छात्राओं का आपसी संपर्क बढ़ा, मुसीबतों और कठिनाइयों से मोर्चा लेने का अनुभव बढ़ा, प्राचीन रूढ़ियों और बन्धनों की कड़ी ढीली हो गई, ऊँच नीच, गरीब अमीर, जाति पाँति धर्मआदि का बंधन टूट गया तथा जीवन के हर पहलू को देखने का नवीन तथा विस्तृत दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। सैकड़ों मील की पैदल यात्रा ने विद्यार्थियों को व्यावहारिक रूप से भूशास्त्र और प्राणिविज्ञान की बातें सीखने का मौका दिया। छात्र-छात्राओं का आपसी सहयोग तथा सम्पर्क, जो अबतक समाज में बुरा माना जाता था, दिनोंदिन बढ़ने लगा। अन्तर्प्रान्तीय और अन्तर्जातीय विवाह की प्रथा चल पड़ी। सादगी और मितव्ययिता से रहने की आदत बढ़ी। मुसीबतों और कठिनाइयों ने चीन के छात्र छात्राओं को सच्चे नागरिक बनने में बड़ी सहायता की। आज चीन के कालेज और विश्वविद्यालय बड़ी बड़ी अट्टालिकाओं और भव्य इमारतों में नहीं हैं। उनके लिए फूस या टीन की झोपड़ी भी काफ़ी संख्या में नहीं मिलती। इन झोपड़ियों में ही आज चीन के ज्ञान का प्रदीप जल रहा है। विद्यार्थियों के छात्रावास भी फूस के ही हैं। पर फूस की झोपड़ी भी काफी नहीं है—एक एक

कोठरी में ४०-४० तक विद्यार्थी रहते हैं। पढ़ने के लिए मिट्टी तेल का दीपक जलाते—पर मिट्टी का तेल भी कठिनाई से मिलता है। अनुसन्धानशालाओं में नल, गैस बिजली, भाप, रासायनिक तथा दूसरी चीज़ों के अभाव में देशी चीज़ों से काम निकालने का शोध कार्य जारी रखा गया है। पाठ्य पुस्तकों के अभाव में नोट, टाइप किए हुए लेकचर से ही काम चलाया जाता है। इस प्रकार सभी साधनों से हीन कालेज और विश्वविद्यालय तथा वहां के छात्र आज भी मुस्तैदी के साथ शिक्षा प्राप्त करने में लगे हुए हैं।

युद्ध के पहले चीन में १०८ ऊँची शिक्षा प्राप्त करने के शिक्षालय थे। युद्ध छिड़ने पर १९३७-३८ में घटकर ९१ ही रह गए। परन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है चीन की सरकार ने पुराने विश्वविद्यालयों और कालेजों का स्थानान्तरित कर उनका संगठन किया और नये नये विद्यालयों की भी स्थापना की। सन् १९४१-४२ में कालेजों और विश्वविद्यालयों की संख्या स्वतंत्र चीन में १३२ हो गई जिनमें ८१ सरकारी और ५१ गैर सरकारी हैं। फैकल्टी मेम्बरों, प्रोफेसरों तथा अन्य कर्मचारियों की संख्या युद्ध के पहले ७५६० थी, युद्ध छिड़ने पर ५६५७ हो गई परन्तु १९४१-४२ में पुनः बढ़कर ८६६६ तक पहुँच गई। विद्यार्थियों और स्नातकों की संख्या में भी वृद्धि हुई। युद्ध के पहले चीन के कालेजों और विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों और स्नातकों की संख्या क्रमशः ४१९२२ और ९१५४ थी, युद्ध छिड़ने पर १९३७-३८ में घटकर क्रमशः ३११८८ और ५१३७ हो गई। परन्तु १९३८-३९ से पुनः बढ़ना प्रारम्भ हुआ और १९४१-४२ में क्रमशः ५९४५७ और ८०३५ तक पहुँच गई। युद्ध सम्बन्धी भारी बजट के बावजूद भी चीन सरकार ने शिक्षा विभाग के बजट में काफी वृद्धि की है। युद्ध के पहले (१९३६-३७ ई०) कालेजों और विश्वविद्यालयों का वार्षिक खर्च ३९२७५३८६ डालर था। १९३७-३८ में ३०४३१५५६ डालर हो गया परन्तु तुरंत वृद्धि शुरू हुई और १९४१-४२ में खर्च बढ़कर ९११९६५५० डालर तक पहुँच गया। ये आंकड़े इस बात के द्योतक हैं कि युद्ध के संकट काल में भी उच्ची शिक्षाओं की ओर सरकार ने कितना ध्यान दिया है और उनमें कितनी प्रगति हुई है। यह प्रगति चीन के भविष्य की सफलता की निशानी है।

युद्ध के पहले तक चीन के शिक्षा-करीकुलम में चीन की वास्तविक समस्याओं की शिक्षा *तथा उन्हें हल करने के उपाय का कतई समावेश नहीं रहता था।* पर युद्धकालीन शिक्षा योजना में इस बात पर तथा युद्ध की ज़रूरतों को पूरा करने की शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाता है। स्नातकों को आगे पढ़ने तथा अनुसन्धान आदि कार्य करने के लिये २० विश्वविद्यालयों में विभिन्न विषयों के ७६ अनुसन्धान विभाग खोले गए हैं। उच्ची शिक्षा देने, अनुसन्धान कार्य

आदि बढ़ाने के लिये कई संस्थाओं का संगठन किया गया है—जैसे सम्पादन-अनुवाद राष्ट्रीय संस्था, ऊँची शिक्षा की राष्ट्रीय परिषद् आदि। हर तरह की कठिनाइयों के होते हुए भी सम्पादन-अनुवाद राष्ट्रीय संस्था का काम सराहनीय है। इसने अपने हाथ में इनसाइक्लोपिडीया ब्रीटेनिका के अनुवाद का काम लिया है। इस वर्ष के अन्त तक ज्योतिष, पदार्थ विज्ञान, दर्शन, शिक्षा, राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र के ७६ विषयों का अनुवाद हो जाएगा। अनुवाद का कार्य बड़ी तेज रफ्तार से चल रहा है। अनुवाद के अलावे इस संस्था ने चीनी शिक्षा-इनसाइक्लोपिडीया के सम्पादन का भार भी उठाया है। इस बृहत् पुस्तक में २५०० लेख, ४०००००० शब्दों के होंगे। ३१ मार्च १९४३ के पहले तक १००० लेख पूरे हो चुके हैं। यह संस्था चीनी शिक्षा वार्षिक पुस्तक भी प्रकाशित करती है। कोष, वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दों की तालिका, नकशा, चार्ट, पुस्तिका और सर्वसाधारण के पढ़ने को अन्य चीजों का भी प्रकाशन करती है। युद्धकाल में ही इसने अबतक उपरोक्त विषयों की १३९ पुस्तकों आदि का प्रकाशन किया है। १९४२ में सरकार ने इस संस्था पर ५०००,००० डालर खर्च किए।

चीन के अनुसन्धान सम्बन्धी कार्य की सबसे बड़ी और अच्छी संस्था एकेडेमीआ-सेनीका है। यह संस्था संसार-प्रसिद्ध है और दूसरे देशों के विद्वान भी इस संस्था में रहकर काम करने में गर्व अनुभव करते हैं। इस संस्था के दस विभाग हैं :—(१) इतिहास और भाषा-विज्ञान (२) सामाजिक विज्ञान (३) मनोविज्ञान (४) वायुविज्ञान (५) भूगर्भविज्ञान (६) पदार्थविज्ञान (७) ज्योतिष (८) रसायन-विज्ञान (९) इनजीनियरींग और (१०) प्राणिविज्ञान और वनस्पति विज्ञान। इसके अलावा एक राष्ट्रीय अनुसन्धान परिषद् है जो सारे देश में अलग अलग होनेवाले वैज्ञानिक (जिसमें इतिहास और सामाजिक विज्ञान भी हैं) अनुसन्धानों में सामंजस्य स्थापित करती है। हर विभाग अपने तईं बहुत बड़ा तथा देश के कई भागों में स्थित है। युद्ध काल में इस संस्था द्वारा किए गए कामों का उल्लेख करना इस छोटे से लेख में असम्भव है। पर इतना ही जान लेना यहाँ काफी है कि हर विभाग ने युद्धकाल में बड़ी प्रगति की है और उनके क्षेत्र बहुत ही विस्तृत हो गए हैं, जो चीन के लिए गौरव की चीज़ है। इसके अपने दो अलग मैगजीन भी हैं—बुलेटीन आफ एकाडेमीका और साइन्स रेकर्ड। पहला अंगरेजी में और दूसरा चीनी भाषा में प्रकाशित होता है। इसके अलावा और भी शिक्षा-सम्बन्धी कार्य हो रहे हैं—जैसे समाजिक प्रगति विभाग का चीन के ग्रामीण गीतों का संग्रह करना, राष्ट्रीय सेच्वान विश्वविद्यालय का प्राचीन चीनी साहित्य के प्रिन्ट और ब्लाकों का मुद्रण कराना, "चीन के चौबीस राजवंशों का इतिहास" नामक पुरानी चीनी भाषा की पुस्तक को आधुनिक चीनी भाषा में अनुवाद करना आदि।

दूसरे देशों से सांस्कृतिक सम्बन्ध बनाए रखना आधुनिक युग में एकदम 'ज़रूरी हो गया है तथा शिक्षा का वह एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस काम के लिए शिक्षा-विभाग ने १९४० में "सांस्कृतिक सम्बन्ध विभाग" की स्थापना की। इस विभाग का प्रमुख काम चीन और दूसरे देशों के बीच सांस्कृतिक सहयोग स्थापित करना है। इस विभाग के कार्य तीन क्षेत्रों में विभक्त हैं—पहला सहयोग और प्रचार के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक कामों को करना, दूसरा सभी राष्ट्रों के साथ विद्यार्थियों का आदान प्रदान करना और अपने देश के विद्यार्थियों को दूसरे देश में ऊँची शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजना और तीसरा प्रवासी चीनी विद्यार्थियों की ऊँची शिक्षा का प्रबन्ध करना। इस विभाग ने अबतक दूसरे देशों से प्रोफेसरों, व्याख्यान देनेवालों, विद्यार्थियों, किताबों, मैगजीन, फिल्म और कला सम्बन्धी चीजों का आदान प्रदान किया है। इस विभाग ने विभिन्न १६ देशों में प्रवासी चीनी विद्यार्थियों की शिक्षा के लिये ३१६ शिक्षालयों का संगठन किया है। "अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तकमाला" नाम से किताबों का प्रकाशन किया है जिसमें प्रायः सभी विषयों की अनुवादित और मूल पुस्तकें हैं। चीन ने युद्धकाल में विभिन्न देशों में अपने मिशन भी भेजे हैं। भारत में ही दो बार चीन के मिशन आए। पहला १९३९ में चीन राजकीय यूआन् के सभापति ताई-ची-तौ की अध्यक्षता में "चाइना गुडविल मिशन" और दूसरा १९४३ में चीन के शिक्षा उपमंत्री कू-यू-सिउ की अध्यक्षता में "चीन शिक्षा सांस्कृतिक मिशन"। युद्ध के समय भी चीन दूसरे देशों से सांस्कृतिक एकता कायम करने के सभी उपयुक्त साधनों का प्रयोग कर शिक्षा की प्रगति को आगे बढ़ा रहा है।

युद्धकाल में भी चीन अपने यहाँ के विद्यार्थियों को ऊँची शिक्षा प्राप्त करने के लिए बाहर भेजता है। परन्तु युद्ध के पहले सभी प्रकार के विद्यार्थी बाहर जा सकते थे लेकिन इन दिनों सरकार उन्हीं विद्यार्थियों को यात्रा-प्रवेशपत्र (pass-port) देती है जो बाहर जाकर युद्ध सम्बन्धी विषयों का अध्ययन करना चाहते हैं जैसे विज्ञान, इंजीनियरिंग, चिकित्सा विज्ञान, सैनिक विज्ञान तथा युद्ध से सम्बन्ध रखनेवाले और विषय। साथ साथ बाहरजाकर पढ़नेवाले की योग्यता पर भी सरकार ने कुछ प्रतिबन्ध रखा है। युद्ध सम्बन्धी विषयों के अध्ययन करनेवालों को भी उसी दशा में यात्रा-प्रवेश-पत्र दिया जाता है अगर वे सरकारी या सरकार द्वारा स्वीकृत गैर-सरकारी विश्वविद्यालयों से स्नातक होने के बाद २ वर्षों तक अनुसन्धान या सरकारी कार्य योग्य पूर्वक कर चुके होते हैं या सरकारी या सरकार-स्वीकृत औद्योगिक शिक्षालयों से स्नातक होने के बाद ४ वर्षों तक योग्यतापूर्वक अनुसन्धान या सरकारी कार्य पूरा कर लिए होते हैं। अन्य विषयों के सभी विद्यार्थी जो तीन या तीन से अधिक वर्षों तक बाहर में रहकर पढ़ चुके थे चीनी सरकार की आज्ञा से सितम्बर १९३८ तक चीन लौट आए। इसलिये आज विदेशों

में युद्ध, राष्ट्रीय रक्षा, चिकित्सा, विज्ञान सम्बन्धी विषयों के पढ़नेवाले ही चीनी विद्यार्थी हैं। जुलाई १९३९ से अक्तूबर १९४२ तक ६६५ लड़कों को बाहर जाकर पढ़ने की इजाजत दी गई। युद्धकाल के पहले से यह संख्या बहुत कम है इसका कारण एक तो आर्थिक और दूसरे यात्रा-प्रवेश-पत्र पर प्रतिबन्ध लग जाना है। प्रवासी चीनी विद्यार्थियों की शिक्षा के लिये सरकार ने काफी ध्यान दिया है। यह काम शिक्षा विभाग के सांस्कृतिक सम्बन्ध-विभाग, प्रबन्धकारिणी यूआन के प्रवासी कार्य कमीशन और माध्यमिक शिक्षा के प्रवासी चीनी शिक्षा कमीशन की संयुक्त देखरेख में चल रहा है। १९४० में इस कार्य के लिये २००,००० डालर का बजट था ; १९४१ की जनवरी में पुनः ९०००००० डालर दिया गया। संसार के ४५ देशों में स्थित ८५०००००० प्रवासी चीनी जनता की शिक्षा के लिये इस समय विभिन्न देशों में स्थित १ कालेज, ८ नार्मल स्कूल, ११७ माध्यमिक स्कूल ४ व्यावसायिक स्कूल २४४७ प्राइमरी स्कूल हैं। ५३६ स्कूलों की रिपोर्ट नहीं मिली है। चीन में आकर जो प्रवासी विद्यार्थी पढ़ना चाहें उनके लिये विश्वविद्यालयों, कालेजों और स्कूलों के द्वार खुले हैं। योग्यतानुसार वे वहां भर्ती कर लिए जाते हैं तथा उन्हें पढ़ने को भी काफी सुविधा प्रदान की जाती है। इस समय चीन में खासकर प्रवासी विद्यार्थियों के पढ़ने के लिये तीन माध्यमिक स्कूल और दो नार्मल स्कूल हैं।

कालेजों और विश्वविद्यालयों की भाँति, युद्ध काल के पहले, माध्यमिक स्कूलों का भी बंटवारा भौगोलिक आधार पर नहीं था। परन्तु युद्ध के बाद आर्थिक और आवागमन सम्बन्धी सुविधाओं की दृष्टि से पहले भौगोलिक आधार पर माध्यमिक स्कूलों का बँटवारा किया गया। करीकुलम में युद्ध सम्बन्धी ज़रूरतों के अनुसार शिक्षा देनेपर अधिक जोर दिया गया है और इसी दृष्टि से टेक्स्ट बुक का भी प्रकाशन हुआ है। माध्यमिक शिक्षा का कोर्स छः वर्षों का है। इसके बाद ही लड़के कालेजों में भर्ती हो सकते हैं। माध्यमिक शिक्षा में नैतिक शिक्षा का भी समावेश किया गया है। शिक्षकों को इस बातपर पूरा ध्यान देना होता है। नैतिक शिक्षा में चार बातों की प्रधानता है—शुद्ध आचरण, न्यायनिष्ठा, ईमानदारी और आत्मसम्मान। माध्यमिक स्कूलों में वैज्ञानिक शिक्षा के लिये काफी यंत्र रखे गए हैं। ये शिक्षालय दो तरह के हैं—सरकारी और सरकार-स्वीकृत गैर सरकारी। युद्ध के पहले सभी माध्यमिक स्कूल प्रान्तीय सरकार के अधीन थे। परन्तु युद्ध छिड़ने के बाद से केन्द्रीय सरकार ने भी माध्यमिक शिक्षालयों की स्थापना की है। इस समय चीन में केन्द्रीय सरकार के २५ राष्ट्रीय माध्यमिक स्कूल हैं। हर स्कूल में औसतन १००० से १५०० तक लड़के हैं। शिक्षा विभाग ने और दूसरे सरकारी विभागों के सहयोग से व्यावसायिक शिक्षा स्कूल का कार्य ठीक तरह से चलाने के लिये केन्द्रीय पुनर्निर्माण

और-शिक्षण सामंजस्य कमेटी का संगठन किया है। व्यावसायिक शिक्षा चीन की युद्धकालीन शिक्षा प्रगति की विशेषता है। व्यावहारिक शिक्षा की ओर लोगों की जो अभिरुचि इस लड़ाई के समय हुई है वह चीन के भविष्यकाल की शिक्षा के लिये बड़ी लाभदायक होगी। इस शिक्षा का उद्देश्य देश के पेशे और उद्योग को सुदृढ़ भित्ति पर खड़ा करने का है। कई विश्वविद्यालयों में भी इस विषय की शिक्षा के लिये खास क्लासों का प्रबन्ध किया गया है। इधर चीनी विद्यार्थियों की प्रवृत्ति अधिकतर विज्ञान और व्यावसायिक शिक्षा की ओर हो गई है। सन् १९३९ ई० में जितने लड़के प्रवेश परीक्षा में बैठे उसमें ५९.४ फी सदी लड़के विज्ञान और इंजीनियरींग के थे। माध्यमिक स्कूल के प्रथम तीन वर्ष में और विषयों की शिक्षा के साथ साथ लकड़ी के काम, बागवानी और कृषि की प्राथमिक शिक्षा दी जाती है और पिछले तीन वर्षों में ढलाई के काम, लोहारी के काम आदि सिखाए जाते हैं। नार्मल स्कूल (अध्ययन कार्य सिखाने के स्कूल) पर सरकार बहुत ध्यान देती है। ये स्कूल कई प्रकार के होते हैं, जैसे ऊँची शिक्षा के नार्मल स्कूल, साधारण नार्मल स्कूल, कीन्डरगार्टन शिक्षकों के नार्मल स्कूल, ग्रामीण नार्मल स्कूल आदि। युद्ध छिड़ने के बाद से सरकार ने युद्धकालीन शिक्षा के व्यावहारिक पहलू को बढ़ाने के लिये भिन्न भिन्न तरह के नार्मल स्कूलों के लिये भिन्न भिन्न व्यवस्था की है। गैरसरकारी नार्मल स्कूलों की स्थापना नहीं हो सकती है। नार्मल स्कूलों और कालेजों का प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार ने अपने हाथों में रखा है। इन स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थियों को बड़ी ही कड़ी और सावधानी से तथा निःशुल्क शिक्षा दी जाती है। नार्मल स्कूल की पढ़ाई, उसके संगठन, पास होने के बाद स्नातकों की नौकरी आदि के सम्बन्ध में सरकार ने बड़ा ही सुधार किया है। इस समय चीन में माध्यमिक स्कूलों की संख्या २८१८ है; जिनमें १८४९ राष्ट्रीय, प्रान्तीय या गैरसरकारी शिक्षा स्कूल, ३८३ नार्मल स्कूल और ३३९ व्यावसायिक स्कूल हैं। युद्ध के पहले इन तीन प्रकार के शिक्षालयों में विद्यार्थियों की संख्या क्रमशः ४८२५२२, ८७९०२ और ५६८२२२ थी। १९४२ में माध्यमिक शिक्षा स्कूलों के विद्यार्थियों की संख्या तो बढ़कर ६४२६८८ हो गई परन्तु नार्मल स्कूलों और व्यावसायिक शिक्षा के स्कूलों के छात्रों की संख्या कुछ कम हो गई। युद्ध के पहले सरकार का तीनों प्रकार के स्कूलों पर वार्षिक खर्च क्रमशः ४१४५३७६०, १०८५१२२४ और ८७३०५९१ डालर का था परन्तु १९४२ में खर्च बढ़कर क्रमशः ५३१३८७५३, १५५५०१६४ और ११०१५००२ डालर हो गया।

अनिवार्य प्राईमरी शिक्षा योजना को युद्ध के कारण स्थगित कर देना पड़ा था। इस समय प्राईमरी शिक्षा की, जिसे जन शिक्षा भी कहते हैं, दूसरी योजना चल रही है जिसका क्षेत्र बच्चों से लेकर निरक्षर सयाने स्त्री पुरुषों तक है। यह योजना ५ वर्षों की है और १९४० में लागू

की गई है। इस योजना से यह आशा की जाती है कि ५ वर्षों के अन्दर सम्पूर्ण चीन के ८०००० पौ में कम से कम ८०००० स्कूल हो जाएंगे। (एक पौ में ६ से १५ तक चिआ और एक चिआ में ६से १५ परिवार होते हैं। एक ग्राम में ६से १५ तक पौ होते हैं।) इसके अलावा आज के वर्तमान प्राईमरी स्कूल तो रहेंगे ही। बच्चों के कीन्डरगार्टन से भी शिक्षा देने का प्रबन्ध है। वर्तमान काल में देश के ४२ फी सदी बच्चे (छः से बारह वर्षों की उम्र तक के) स्कूलों में हैं। सन् १९४२ की शिक्षा रिपोर्ट से जान पड़ता है कि चीन के २८३५५ ग्राम के ३७७३५८ पौ में १८५१० विकसनशील स्कूल, १३८०७३ जन स्कूल और ७५७६२ दूसरे तरह के स्कूल—कुल २३२१९५ प्राईमरी स्कूल हैं। जिनमें १६५५८३८० बच्चे, ५९६६५०४ सयाने स्त्री पुरुष अर्थात् कुल २२५२४८८४ विद्यार्थी पढ़ते हैं। केवल कुआंतुंग प्रान्त के ६६ स्वतंत्र जिले के ७० फी सदी स्कूल जाने योग्य उम्र के लड़के, पाठशालाओं में पढ़ रहे हैं। निरक्षरता-निवारण-योजना के अनुसार इसी प्रान्त के ३५००००० युवक और १४७४५२५६ सयाने निरक्षर आदमी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रान्त में स्कूलों की संख्या १५३८९ है। गुरिल्ला युद्धवाले क्षेत्र में भी ७२१० प्राथमिक स्कूल हैं जिनमें ५ लाख लड़के पढ़ रहे हैं। सन १९४२ ई० में इस प्रान्त की सरकार ने १९३८ की प्रान्तीय शिक्षा बजट से नौगुने अधिक शिक्षा पर खर्च किया। क्वांसी प्रान्त के सार्वजनिक कर्मचारियों को अंगरेजी, इतिहास, राष्ट्रीय भाषा, आधुनिक खबरों आदि की प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य है। यह कोर्स छः महीने का होता है।

वर्तमान काल में किसी देश की उन्नति के लिये औद्योगिक शिक्षा बहुत ज़रूरी है। यह ज़रूरत युद्ध के समय और बढ़ जाती है। चीन की सरकार ने इस ओर बड़ी ही तीव्रगति से कदम बढ़ाया है। इस काम में छात्रों का उन्हें काफी सहयोग प्राप्त हुआ है। चीन के औद्योगिक स्कूल तीन श्रेणी में विभक्त हैं। प्राथमिक, माध्यमिक और ऊँच। प्रत्येक का पाठ्य क्रम ६-६ वर्षों का होता है। प्राथमिक और माध्यमिक स्कूल से सनद पानेवाले छात्र छोटे छोटे उद्योग धन्धों, कारखानों तथा घरेलू उद्योगों के जानकार होते हैं जब कि कालेज से सनद पानेवाले छात्र चीन के प्रथम श्रेणी के इंजीनीयर, गृहनिर्माता तथा अन्य अन्य विषयों के विशेषज्ञ होते हैं। इनके अलावा ऐसे भी स्कूल हैं जहाँ फुटकल उद्योग धन्धों की शिक्षा थोड़े समय में दी जाती है। इन दिनों प्राथमिक और माध्यमिक औद्योगिक शिक्षा पर काफी ध्यान दिया जाता है। इन स्कूलों के विद्यार्थियों को मिट्टी के बर्तन, चीनी और कागज बनाने, साधारण खेती बारी करने, चमड़े का काम करने, छपाई, टेलीफोन, मोटर मिस्त्री, सर्वे आदि के कामों की शिक्षा दी जाती है। इन स्कूलों के विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति भी दी जाती है। युद्ध के पहले औद्योगिक स्कूलों की संख्या

४९४ थीं जिनमें ५६८२२ छात्र थे। जापानी हमले से बहुत स्कूलों को हानि पहुँची और बहुत से देश के भीतरी भाग में स्थानान्तरित किए गए। सन् १९४०-४१ ई० तक सरकार ने २८७ औद्योगिक स्कूलों की स्थापना की है जिनमें ३८९७७ विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। औद्योगिक कालेजों में कृषि, जंगलात, पशुपालन, सिविल और यांत्रिक इंजीनियरी, खान खुदाई, रासायनिक इंजीनियरी आदि बड़े कामों के साथ साथ कताई, बुनाई, मिट्टी के बर्तन बनाने आदि के कामों की भी शिक्षा दी जाती है। इस समय चीन में २५ इंजीनियरींग कालेज हैं। ये या तो विश्व-विद्यालय में हैं या स्वतंत्र रूप से कायम हैं। इन २५ कालेजों में, २२ गृहनिर्माण के, ११ यांत्रिक इंजीनियरी के, १२ बिजली इंजीनियरी के, १० रासायनिक इंजीनियरी के ३ तामीरात के, ३ पानी जमा करके रखने की इंजीनियरी के, ३ हवाई शिक्षा के, ७ खान खुदाई के १ सर्वे का, २ कपड़ा बुनाई के १ पत्रों और बिजली के तथा १ खेती की सिंचाई के कुल—७६ विभाग हैं। इंजीनियरी शिक्षा पानेवाले छात्रों को छात्रवृत्ति भी दी जाती है। गैरसरकारी इंजीनियरींग कालेज को सरकार आर्थिक सहायता भी देती है। स्नातक होने के बाद योग्य विद्यार्थियों को प्रतियोगिता परीक्षा द्वारा सरकार शिक्षा पाने के लिये विदेश भी भेजती है। (बशर्ते वह विदेश में जाकर पढ़ने की सभी कानूनी धाराओं को पूराकर चुका हो।) इस साल भी विभिन्न कालेजों और विश्वविद्यालयों के ३१ इंजीनियरी के छात्रों को शिक्षा विभाग व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये इंगलैंड भेज रही है। सन् १९३७ ई० में कृषि और जंगलात की शिक्षा पानेवाले १८०२ और इंजीनियरी के ५७६८ विद्यार्थी थे; जिनमें सनद पानेवाले विद्यार्थियों की संख्या दोनों बिषयों में क्रमशः २८२ और ८६९ थी। परन्तु सन् १९४२ ई० इन्हीं दोनों विषयों की शिक्षा पानेवाले विद्यार्थियों की संख्या क्रमशः ३६७५ और ११२२६ हो गई जिनमें क्रमशः ६०४ और १८०१ विद्यार्थी स्नातक हुए। सन् १९४० में १२०८ इंजीनियरी के विद्यार्थियों को सनद मिली थी। सनद प्राप्त होने के बाद इन लोगों को सरकारी या गैरसरकारी स्थानों में काम मिल ही जाता है। चीन ने आद्योगिक शिक्षा की दिशा में कितने आविष्कार और सुधार भी किए हैं। सन् १९३२-३७ ई० के बीच जहाँ आविष्कारों के १३२ एकाधिकार दिए गए थे वहाँ सन् १९३८-४१ ई० के बीच १३५ दिए गए। आविष्कार करनेवालों को सरकार पुरष्कार भी देती है। इस युद्धकाल में चीन के पुनर्निर्माण और युद्ध के लिये इन औद्योगिक शिक्षालयों के छात्रों और स्नातकों के आश्चर्यजनक कार्य किसीसे कम नहीं है। उपरोक्त शिक्षालयों के अलावा युद्धकाल में कितने ही व्यापारिक स्कूल की भी स्थापना हुई है जहाँ छोटे छोटे कार्यों की शिक्षा दी जाती है। चुंकिंग में इस प्रकार के ५० स्कूल हैं। कमरसीयल स्कूल की ओर इन दिनों लोगों का ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ है। चुकिंग के आसपास ही १०

कमरसीयल स्कूल हैं, जिनमें मुनीमी, शार्टहैंड आदि की शिक्षा दी जाती है। दक्षिण-पश्चिम ट्रान्सपोर्टेशन कम्पनी और सरकारी यातायात विभाग ने हजारों आदमियों को मोटर ड्राइवरी की शिक्षा देकर देश के यातायात को ठीक रखा है। चुकिंग नव जीवन आन्दोलन की महिला परामर्शदात्री कमिटी, यंग वीमेन क्रीसचिएन एसोसीएसन और सरकारी अर्थ विभाग ने सिलाई, कसीदा कढ़ाई, दर्जीगिरी, सूई के काम आदि की शिक्षा के खास क्लास खोल रखे हैं। शिक्षा विभाग ने भी शारीरिक शिक्षा, औषध बनाने की शिक्षा, धाई के काम की शिक्षा, नर्स ट्रेनिंग, कागज बनाने, छापने, नाविक स्कूल, नाट्य स्कूल, चित्रकला, संगीत आदि के खास क्लास का प्रबन्ध किया है। चीनी ग्राम सुधार विद्यालय में ग्रामीण समस्याओं, कृषि आदि की भी शिक्षा दी जाती है। औद्योगिक शिक्षा की प्रगति बड़े जोरों से हुई है।

सामाजिक शिक्षा की दिशा में भी चीन ने अपना पाँव बढ़ाया है। इस शिक्षा का उद्देश्य चीन से निरक्षरता निवारण करना और जनता की बौद्धिक शक्ति का विकास करना है। इस शिक्षा के द्वारा लोगों में इतनी योग्यता तो निश्चय ही पैदा कर देना है कि वे साधारण तौर से लिख पढ़ सकें, नागरिक जीवन की बाहरी बातों का ज्ञान प्राप्त कर सकें और सार्वजनिक जीवन बिताने का ढंग जान सकें। इसके कार्यक्रम नौ भागों में विभक्त हैं—(१) निरक्षर सयानों के लिये अतिरिक्त शिक्षा का प्रबन्ध करना (२) सामाजिक शिक्षालय की स्थापना करना (३) इसी प्रकार के स्कूलों में सामाजिक शिक्षा के खास क्लासों का प्रबन्ध करना (४) सार्वजनिक अध्ययन सामग्री का प्रबन्ध करना (५) संगीत शिक्षा का प्रचार (६) नाट्य शिक्षा (७) रेडियो तथा दृष्टि शिक्षा का प्रबन्ध करना (८) चलते फिरते पुस्तकालय का संगठन करना और (९) सामाजिक शिक्षा के योग्य व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करना। इस प्रत्येक कार्यक्रम में काफी प्रगति हुई है।

स्त्री शिक्षा पर भी जोर दिया गया है। सहशिक्षा पहले चीन में बुरी समझी जाती थी; परन्तु यह धारणा धीरे धीरे बदल रही है। कालेजों और विश्वविद्यालयों में सहशिक्षा का प्रबन्ध है। लड़कियों के माध्यमिक स्कूल अलग हैं। कितने माध्यमिक स्कूलों में लड़के लड़कियों के क्लास अलग अलग होते हैं। प्राईमरी और किन्डरगार्टन की शिक्षा एक ही साथ होती है। इनके अलावा लड़कियों के लिए अलग अलग विषयों के ४ कालेज हैं। इस समय ऊँची शिक्षा प्राप्त करनेवाली लड़कियों की संख्या ११०५८ और माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करनेवाली की १३९०६१ है। सयाने लोगों की शिक्षा योजना के अनुसार स्त्रियों के बीच से भी निरक्षरता भगाने का प्रबन्ध किया गया है। इसी शिक्षा का फल है कि आज के युद्ध में चीनी स्त्रियाँ भी चीनी पुरुषों से कंधे भिड़ाकर बहादुरी और योग्यता के साथ हर विभाग के कामों को कर रही हैं।

लड़ाई के मोर्चे पर अस्त्रशस्त्रों और सिपाहियों की जितनी ज़रूरत होती है मोर्चे के पीछे डाक्टरों और नर्सों की भी उतनी ही ज़रूरत होती है। चीन के शिक्षा विभाग ने मेडिकल शिक्षा की उन्नति के लिये शिक्षा-विभाग के अन्दर ही मेडिकल शिक्षा कमीशन का संगठन किया है। उसीकी देखरेख में मेडिकल शिक्षा का सारा कार्यक्रम चलता है। इस कमीशन के अन्दर मैडिकल शिक्षा सम्बन्धी ७ विभाग हैं। कमीशन की पंचवर्षीय योजना चल रही है। प्रथम ढाई वर्षों में वर्तमान मैडिकल शिक्षालयों को समान सतह (equal standard) पर लाया जायगा और मैडिकल शिक्षा देने के लिये योग्य अध्यापकों की ट्रेनिंग होगी। पिछले ढाई वर्षों में और अधिक मैडिकल शिक्षालयों की स्थापना होगी और अधिक संख्या में विद्यार्थी भर्ती किए जाएंगे। इस समय चीन में १० राष्ट्रीय, ४ प्रान्तीय और ८ गैरसरकारी मैडिकल कालेज; ५ प्रान्तीय मैडिकल स्कूल, २ राष्ट्रीय १ प्रान्तीय और २ गैरसरकारी दवाई बनाने की शिक्षा देने के स्कुल, २ राष्ट्रीय और १ गैरसरकारी दन्तरोगों का शिक्षालय, २ राष्ट्रीय और २० प्रान्तीय और गैरसरकारी धात्री विद्या के शिक्षालय, ३ राष्ट्रीय ९ प्रान्तीय और ३०२ गैरसरकारी सेवा-सुश्रूषा सिखान के स्कूल हैं अर्थात् जहा नर्स की शिक्षा होती है। मैडिकल शिक्षा पर सरकार ३०००००० डालर से अधिक सालाना खर्च करती है। युद्ध में चीनी डाक्टर बड़ी ही तत्परता से अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं।

चीन के सम्पूर्ण सीमान्त जातियों की शिक्षा का नाम मंगोल-तिब्बती शिक्षा है। इसके लिये शिक्षा विभाग के अन्दर मंगोल-तिब्बती शिक्षा विभाग है। इस विभाग का उद्देश्य चीन की भिन्न जातियों की संस्कृति के बीच एकता स्थापित करना, प्राइमरी शिक्षा, नागरिक शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा आदि का प्रचार करना तथा सीमान्त जातियों की संस्कृति आदि का संरक्षण करना है। सीमाप्रान्तों में माध्यमिक शिक्षा, ऊँची शिक्षा और सामाजिक शिक्षा का भी प्रबन्ध है। पश्चिमी युनान प्रान्त के ताली नार्मल स्कूल के २०० विद्यार्थियों ने स्नातक होने के बाद सीमान्त जातियों के बीच शिक्षा प्रचार करने की प्रतिज्ञा की है। इस स्कूल में लोलो, मोसु, लीसु, पाई, काचोन आदि सीमान्त जातियों के बच्चे अपनी जाति के नायक द्वारा भेजे गए हैं। ताकि पढ़कर ये लोग अपनी जाति का उत्थान कर सकें। ये सभी जातियां बड़ी खूँखार होती हैं और आपस में ही लड़ा भिड़ा करती हैं। परन्तु उन जातियों के बच्चे, जो स्कूल में पढ़ रहे हैं, एक साथ रहकर आपसी सहयोग और मेलजोल सीखते हैं। यहां उनका दृष्टिकोण विस्तृत होता है। वे चीनी भाषा का ज्ञान प्राप्त करते और अपनी जाति के गीत आचार-व्यवहार, खेलकूद, इतिहास, धर्म, संस्कृति आदि एक दूसरे को बताते हैं। सीमान्त जातियों के लिए ताली नार्मल स्कूल में एक बड़ा पुस्तकालय भी है जहां १०००

भिन्न भिन्न चीजों जैसे चित्रकला, वाद्ययंत्र, पाई, भासु, काचीन, बर्मी, तिब्बती आदि सीमान्त भाषाओं के साहित्य का संग्रह है। सीमान्त जातियों में शिक्षा-प्रगति जोरों से हो रही है। यहां शिक्षा देने के लिये वर्त्तमान समय में ५० राष्ट्रीय नार्मल स्कूल और ४ व्यवसायिक शिक्षा स्कूल हैं। ८ प्रान्तों में सीमान्त जातियों के लिये सन् १९३६-३७ ई० में प्राइमरी स्कूलों और माध्यमिक स्कूलों की संख्या क्रमशः ४२७६८ और ३०० थी जिनमें क्रमशः २७२२५०८ और ४८४८१ लड़के पढ़ते थे। परन्तु सन् १९४०-४१ ई० में उन्हीं सात प्रान्तों में प्राइमरी स्कूल की संख्या ४४४०१ हो गई (एक प्रान्त सिकियांग की रिपोर्ट प्राप्त नहीं हुई है) और जिनमें ३०१८४८३ लड़के भर्ती हुए। उन्हीं आठ प्रान्तों में माध्यमिक स्कूल की संख्या बढ़कर ४८१ हो गई जिनमें १०२८०७ लड़के पढ़ने लगे। इसके अलावा दूसरे प्रकार के स्कूलों में भी सीमान्त शिक्षा कोर्स की पढ़ाई होती है।

शारीरिक शिक्षा पर भी काफी ध्यान दिया गया है। शारीरिक शिक्षा में शरीर और मन दोनों शामिल हैं। इस काम की देखभाल शारीरिक शिक्षा कमीशन करती है। छः वर्ष से बारह वर्ष की उम्र तक के हर नागरिक के लिये यह शिक्षा अनिवार्य है। इस विषय के योग्य शिक्षक बनाने के लिये ट्रेनिंग स्कूल की स्थापना की गई है जिसमें ७१३ आदमी, जिनमें ५२ स्त्रियां भी हैं, स्नातक हो चुके हैं। और ५२४ आदमी इस विषय की शिक्षा पा रहे हैं। कमीशन ने स्कूलों और कालेजों में सैनिक ड्रील, स्काउट अन्दोलन चलाने, शारीरिक शिक्षा स्कूल कायम करने, विद्यार्थियों की शारीरिक जांच करने, प्रतियोगिता का प्रबन्ध करने आदि कुछ कामों को अपने हाथों में लिया है। स्काउट आन्दोलन खूब चल पड़ा है। शारीरिक शिक्षा के साथ साथ स्वास्थ्य शिक्षा भी दी जाती है। इस दिशा में नवजीवन अन्दोलन ने भी काफी काम किया है। इस का यह फल हुआ है कि चीन में छुआछूत से फैलनेवाली बीमारियाँ बहुत कम हो गई हैं, और मृत्यु संख्या घट गई है। इस समय चीन में बहुत से दवाखाने आदि भी खुल गए हैं। सम्पूर्ण देश में स्वास्थ्य सम्बन्धी बातों पर लोगों ने ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया है।

युद्ध छिड़ने के बाद से सैनिक शिक्षा का महत्व और बढ़ गया है तथा उसपर काफी ध्यान भी दिया जाने लगा है। सैनिक शिक्षा, स्कूल और कालेजों में अनिवार्य कर दी गई है विद्यार्थियों को सैनिक विज्ञान सम्बन्धी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती है। व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार की ट्रेनिंग का प्रबन्ध है। माध्यमिक स्कूलों में सैनिक शिक्षा की आधारभूत बातों का ज्ञान विद्यार्थियों को कराया जाता है, परन्तु कालेजों में दस्ते के रूप में सिपाहियों के समान कड़ी शिक्षा दी जाती है। विद्यार्थियों को

हवाई हमले के बचाव, पुलिसकार्य, सहायताकार्य, खाद्यप्रबन्ध, सामूहिक संगठन, यातायात के प्रबन्ध आदि करने का अच्छा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। लड़कियों को तात्कालिक चिकित्सा और नर्स के कामों की शिक्षा दी जाती है।

समाज का आधार नैतिक बल है और युद्ध के समय सैनिक शक्ति की नाईं नैतिक शक्ति की भी बड़ी आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिये चीन ही है—सामरिक शक्ति परिमित होने पर भी नैतिक शक्ति के बलपर जापान से—आधुनिक हथियारों से लैस निर्दय आक्रमणकारियों को छः वर्षों से लोहे का चना चबवा रहा है। युद्ध के समय चीन में नैतिक शिक्षापर बड़ा ध्यान रखा गया है। "युगों से चीनी नीतिशास्त्र के आधार—देश भक्ति, भ्रातृभाव, पुत्रवत् स्नेह, हितैषिता, विश्वास, नेकी, शान्ति और सामंजस्य—इन प्रधान आठ गुणों पर 'जनता के तीन सिद्धान्त' की नई नैतिक भावधारा बनी है," जो प्राचीन और नवीन की मांगपूर्ति करता हुआ चीनी नैतिक शिक्षा का आधार है। इसका उद्देश्य ईमानदार और योग्य व्यक्तिओं को मानव-समाज की भलाई के लिए तैयार करना है। नैतिक शिक्षा का प्रबन्ध नैतिक शिक्षा-कमीशन के अधीन है। एक योजना चलाई गई है जिसके अनुसार १ शिक्षक १० से १५ विद्यार्थियों के नैतिक शिक्षा की जिम्मेवारी उस शिक्षालय के प्रधान के ऊपर है। माध्यमिक और प्राइमारी स्कूल के विद्यार्थियों की नैतिक शिक्षा का देखभाल अनुशासन-डाइरेक्टर करते हैं। नैतिक शिक्षापर अधिक ध्यान देने का आन्दोलन जेनरलिस्मो चांग काइ शेक और प्रधान शिक्षामंत्री ने प्रारम्भ किया है।

जीवन में संगीत का बड़ा महत्व है, इसलिए सभी उन्नतिशील राष्ट्र संगीत शिक्षा को प्रोत्साहन देते हैं। चीन सरकार ने इस ओर भी ध्यान दिया है। चीन में एक संगीत शिक्षा कमीशन है जिसमें एक सभापति, शिक्षा विभाग के उच्च चार विभागों के ९- सबसे प्रधान आदमी कई कवि और संगीतज्ञ हैं जो चीनी और पश्चिमी देशों के संगीत की जानकारी रखते हैं। इस कमीशन के अधीन चार विभाग हैं—संगीत शिक्षण, सम्पादन, अनुसन्धान और सामाजिक। शिक्षण विभाग स्कूलों में संगीत शिक्षा का प्रबन्ध करता है। इस विभाग ने वाद्ययंत्रों के साथ संगीत शिक्षा, संगीत शिक्षकों के ट्रेनिंग आदि का प्रबन्ध किया है। सम्पादन विभाग ने अबतक विभिन्न विषयों की आठ संगीत-पुस्तकों का प्रकाशन किया है जिनमें युद्ध संबंधी संगीत भी शामिल हैं। एक पत्रिका भी निकलती है। अनुसन्धान विभाग प्राचीन कबीलों के संगीत का अनुसन्धान और संग्रह करता है। यह विभाग चीन के सभी राजकुलों के समय की प्रकाशित संगीत-पुस्तकों की सूची तैयार कर रहा है। 'चीनी संगीत की भूमिका' नामक पुस्तक लिखने के लिये संगीतज्ञों तथा विद्वानों की एक कमिटी ही बनाई गई है। सामाजिक

विभाग आम जनता के बीच संगीत का प्रचार करता है। इस काम के लिये संगीतदल देश में घूम घूम कर देशभक्ति के संगीत की शिक्षा देता है। यह विभाग प्रति सप्ताह ढाई घंटे देश-भक्ति के गीत और कलापूर्ण संगीत ब्राडकास्ट भी करता है। संगीत शिक्षा की उन्नति और अधिक संगीतज्ञ प्राप्त करने के लिये सरकार ने चुंकिंग में राष्ट्रीय संगीत विद्यालय की स्थापना की है। फुकिएन प्रान्तीय संगीत स्कूल भी राष्ट्रीय स्कूल के रूप में परिणत कर दिया गया है। चीन के ये ही दो बड़े संगीत शिक्षालय हैं।

लड़ाई के मोर्चे पर सैनिकों को बौद्धिक खुराक की भी बड़ी आवश्यकता होती है। उन्हें वर्तमान काल की लड़ाई के कायदे कानून, दूसरे मोर्चे की खबरों, दूसरे राष्ट्रों की सैनिक कार्रवाईयों आदि को जानने की बड़ी उत्सुकता रहती है तथा उन्हें इन समाचारों से अवगत कराना भी ज़रूरी होता है साथ साथ उनके मनोविनोद के लिये शिक्षाप्रद किताबों, पत्र पत्रिकाओं आदि का मोर्चेपर भेजना अत्यन्त आवश्यक है। राजनैतिक ट्रेनिंग बोर्ड की तरफ से राष्ट्रीय युद्ध सहायक संघ इस काम को कर रहा है। इस संघ ने नागरिक जनता, सरकारी और गैरसरकारी संस्थाओं से पुरानी-पुस्तकें, पत्र पत्रिकाएं आदि मांगकर उन्हें मोर्चेपर भेजा है। युद्ध के समय पढ़ने लिखने आदि के सामान की कमी, छपाई आदि की असुविधा के कारण सरकार सैनिकों की शिक्षा के लिये अधिक काम नहीं कर सकी। फिर लड़ाई के मोर्चे के विस्तार के साथ यह काम और कठिन हो गया। १९४१ में सरकार ने इस कार्य के लिये ७०००० डालर खर्च किए। इस समय सैनिकों की शिक्षा के लिये ११ नाटक दल, ११ अवाक् चित्र पट दिखाने के सेट, ५० अखबार तथा ३०००० राजनैतिक कार्यकर्ता लगे हुए हैं।

चीन में सार्वजनिक राष्ट्रीय कानून लागू किया गया है। इसके अनुसार हर विद्यार्थी को छुट्टी का समय राजनैतिक, सामाजिक बातों का प्रचार कर जनता को शिक्षित करने में बिताना पड़ता है। इस शिक्षा में कुओमिंतांङ् नवयुवक दल ने बड़ा कार्य किया है। गर्मी की छुट्टी में ग्रीष्म केम्प की स्थापना की जाती है और वहां विद्यार्थियों को पार्टी के काम और सामाजिक, शिक्षा सम्बन्धी आदि बातों की ट्रेनिंग दी जाती है। शिक्षा के लिये पुस्तक, पत्र पत्रिकाएं आदि का होना अत्यन्त जरूरी है। पर युद्ध के कारण बाहर से कागज का आना बन्द होने से तथा छपाई के सामानों के अभाव में बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ रही हैं। सरकार ने हाथ से कागज बनाने के उद्योग कोप्रोत्साहन दिया है, साथ साथ स्वतन्त्र चीन के भीतरी भागों में १४ कागज बनाने के कारखानों की स्थापना की है जब कि उन्हीं भागों में युद्ध के पहले केवल ३ ही कारखाने थे। प्रकाशन कार्य को भी प्रोत्साहन दिया गया है। इस कार्य के लिए सरकार ने ४००००० डालर की मंजरी दी है। शिक्षा विभाग ने इस बात की भी कोशिश की है कि सब जगह पाठ्य

पुस्तकों का मूल्य समान रहे। सब से अधिक अभाव विज्ञान और इंजीनियरींग की पुस्तकों की है। चीन में इनदिनों कला, इंजीनियरिंग और व्यवसाय सम्बन्धी विषयों के पढ़ने की ओर विद्यार्थियों की अधिक रुचि है। विज्ञान और कृषि सम्बन्धी विषयों के पढ़नेवालों की संख्या घट रही है। इसका एक प्रधान कारण यह भी है कि इन दोनों विषयों के पढ़ाने के अच्छे सामानों का अभाव है। साथ साथ बृटिश औद्योगिक संस्थाओं द्वारा १२ चीनी विद्यार्थियों को इंजीनियरिंग में विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिये छात्रवृत्ति देना, युद्ध के बाद पुनर्निमाण कार्यों में इंजीनियरिंग सीखे लोगों के अधिक ज़रूरत की भावना, आदि ने विद्यार्थियों की रुचि इस ओर अधिक बढ़ा दी है।

उपरोक्त कुछ पंक्तियों में युद्धकालीन चीनी शिक्षा प्रगति का संक्षेप में ब्योरा दिया गया है। आज चीनी शिक्षा, "शिक्षा और राष्ट्रनिर्माण के बीच, संस्कृति और राष्ट्रीय बचाव कार्यक्रम के बीच, परिवार और शिक्षालय के बीच, सिद्धान्त और व्यावहारिकता के बीच, सामंजस्य स्थापित करती है।" यह प्रगति बौद्धिक, शारीरिक और नैतिक तीनों क्षेत्रों में समान रूप से हो रही है और आशा की जाती है कि यह ज्ञान की ज्योति अधिक से अधिक आलोकित होती रहेगी।
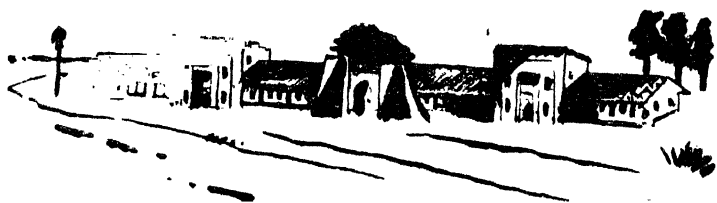
सृष्टि-पथ

मूल-लेखक—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनु०—सुधीन्द्र

तुमने स्वयं निज सृष्टिपथ है कर रखा आकीर्ण

एक विचित्र छलना-जाल से

छलनामयी !

निज निपुण कर से हैं

अनृत विश्वास के ये जाल फैलाए

तुम्हींने सरल जीवन में।

इसी अपने प्रवंचन से दिए हैं

कर अनेक महत्त्व चिह्नित,

और उसके लिये रहने दीं न गोपन रात्रि भी तो।

ज्योतिमय तारक तुम्हारा

पथ दिखाता जो-कि

अन्तर का वही पथ है,

वही चिर स्वच्छ पथ है,

शुचि-सहज विश्वास से

करता उसे वह चिर समुज्ज्वल।

बना बाहर से कुटिल, ऋजु किन्तु अन्तर में वही,

है बस यही उसका सुगौरव

लोक कहता है उसे यद्यपि विडम्बित

सत्य को पाता वही है

जो कि आत्मालोक से है धौत अन्तर में निरन्तर ।

कर नहीं सकता उसे कोई प्रवंचित

वही जाता है लिए अन्तिम पुरस्कृति

कोष में अपने ।

सके जो सह यही छलना बिना आयास के वह

प्राप्त कर लेता तुम्हारे हाथ से

चिर शान्ति का अधिकार अक्षय ।।

विचारों का मधुमय उत्स शब्द और अर्थ

वासुदेवशरण अग्रवाल

शब्द है। शब्द के पीछे उसका सत्य स्वरूप अर्थ है। शब्द रटो, केवल अल्प फल है। शब्द के साथ उसके अर्थ से टक्कर लेनेका ऋजु प्रयत्न करो, महती संप्राप्ति है। उससे रस का अनुभव होगा। रस का स्वाद लेना योग है। रस योगियों का भाग है। योगी अर्थ के साथ जूझते हैं, पंडित शब्द के साथ। इसलिये पंडितों के भाग में तक्र ही आया।• योगी रस पी रहे हैं पंडित छाछ पीकर रह गए। पंडित के सामने शब्द आया—सविता। शब्द की बाहरी परिधि में घूम-घाम कर पंडित ने संतोष माना। सविता कहाँ है, क्या है, इस अर्थ को जिसने बूझा वह योग की ओर बढ़ा। मन को अर्थ के साथ बार-बार टकराओ। बिजली की परस्पर चटचटाती हुई ऋण-धन जिह्वाओं की तरह शब्द को अर्थ की सन्निधि में लाकर स्फुरित करो। वहीं अमृत स्वाद, रस और आनन्द है।

शब्द ईंधन की तरह भारी है। अर्थ अग्नि के समान फूल की तरह हल्का। शब्द पृथिवी की ओर गिरता है, अर्थ आकाश की ओर उठकर तैरता है। शब्द भूमि का सरीसृप है, अर्थ आकाश का व्योमविहारी गरुड़ है। शब्द परिमित, अर्थ अपरिमित है। शब्दमूर्त्त, अर्थ अमूर्त्त है। शब्द निरुक्त, अर्थ अनिरुक्त है। शब्द कहने में आगया, अर्थ कथन से परे अनुभव या दर्शन चाहता है। शब्द जब अर्थ की ज्योति से चमकता है तब उसके सान्निध्य में अर्थ की धाराएँ छूटती हैं। जन्म भर शब्द की सेवा की तो 'डुकृञ् करणे' ही हाथ रहा। एक मुहूर्त्त के लिये भी अर्थ का दर्शन मिल गया तो जन्म-जन्म के कल्मष भक् से उड़ गए।

शब्द के द्वार पर सुनसान है। अर्थ के आँगन में अमृत भावों की कल्लोल है, आनन्द का अमृत गद्गद् भाव है। शब्द के नेत्र बाहर की ओर हैं। अर्थ की दृष्टि अन्तर की ओर होती है। अर्थ के पास पहुँचकर आनन्द के आंसुओं की झड़ी लग जाती है। शब्द दशग्रीव रावण की तरह परिमित सिरवाला है। अर्थ सहस्र शीर्षशेष की तरह अनन्त विस्तारी है। शब्द होकर भी नहीं रहता, अर्थ विश्वभुवन का अभिभव करता है। शब्द दो-चार पग रेंगता है, अर्थ सुपर्ण की तरह दूरंगम है। शब्द कुम्भकर्ण की तरह महा निद्रालु है, अर्थ लक्ष्मण की तरह जागरणशील है। अर्थ का प्रजागर जिनके हाथ लग गया वे जगत् की रात में जागते रहते हैं।

शब्द जड़ाऊ आभरणों की भांति है, अर्थ सहज लावण्य की तरह मोहक है। शब्द के पास बैठे हुए भी अपना पता बोलकर देना पड़ता है, अर्थ का सौरभ सौ कोस से अपनी ओर खींचता है। शब्द परकोटे खींच कर भेद-भाव उत्पन्न करता है, अर्थ के उदार प्राङ्गण में

स्थान की कमी नहीं। शब्द शरीर है, अर्थ प्राण है। शब्दरूपी शरीर की श्री अर्थरूपी प्राण में है। अर्थ से विरहित शब्द 'अश्रील तनू' होता है। अश्रील ही अश्लील है। शब्द के पचड़े में विषय हमें अपनी ओर खींचते हैं, हम अश्लील रहते हैं। अर्थ का जीवन में जितना साक्षात् अवतार होता है उतना ही हम श्रीयुक्त होकर सुसंस्कृत और सम्भ्रान्त बनते हैं। अर्थ शब्द का सिर है, केवल शब्द कबन्ध है। शिर में श्री निवास करती है। शरीर में सौन्दर्य का प्रतीक शिर है। शब्द में आकर्षण का हेतु अर्थ है। अपने कर्म और संस्कारों से मनुष्य ने विश्व के पुष्कल सौन्दर्य में जो भाग पाया है, उस श्री का निवास शिर में रहता है। शब्द को भी कल्याण-साधन का जो वरदान मिला है उसका स्रोत अर्थ में है। शब्द कमल की भांति उमंगते हुए सौन्दर्य से सुहावना लगता है, पर अर्थ उस पद्मनाल के भीतर का संचारी जीवन रस है। पद्मदल के शतदलों पर जो श्री विहार करती है, उस इन्दिरा का निवास तो वस्तुतः वहां है जहां इन्दीवर के गुह्य सप्त स्रोतों में रस का अजस्र प्रवाह है। शब्द का माधुर्य अनन्त होता है, पर काव्य में रस का मधुमय सोता तो उस अर्थ में है जिसके साथ शब्द हमारा परिचय करा देता है।

अर्थ कहां है ? क्या अर्थ के साथ जीवन में हमारा कभी परिचय हो सका है ? अर्थ अव्यक्त भाव है सही, पर है नितान्त सत्य। वह कहां नहीं है ? क्या अर्थ की संप्राप्ति के लिये हमारा हृदय आन्दोलित होता है ? ब्रह्मचर्य, तप इन शब्दों का मूर्त्तरूप क्या सहस्रवार भी हमने नहीं देखा है ? पर इन शब्दों के पीछे जो अर्थ है उसके साथ हमारा कितनी बार संपर्क हुआ है ? ब्रह्मचर्य किस स्थिति का नाम है, क्या हमें एक बार भी उस आनन्द से गद्‌गद्‌ होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अर्थ में जो मिठास, जो अम्हत, जैसा स्वाद है उसको चक्खे बिना शब्द के चाटने से भी क्या होगा ? शब्दों से भरा हुआ यह महान् आकाश है। सत्य-धर्म-तप-ब्रह्मचर्य दीक्षा—ज्ञान-कर्म-प्राण, कैसे-कैसे अनमोल शब्द इस गंभीर प्रदेश में भरे हैं! विचित्र महिमा है कि हम जब चाहते हैं इन शब्दों का आवाहन कर लेते हैं। शब्दों के पीछे उनकी व्यंजना से समवेत अर्थ का महान् अर्णव है। शब्द और अर्थ में सरस्वती के दो बड़े फौव्वारे हैं। शब्द वाक् है, और अर्थ मन है। शब्द और अर्थ के बीच में जब प्राण का मेरुदण्ड जुड़ता है तभी जीवन में कर्म के द्वारा अर्थ की तहें खुलने लगती हैं। शब्द के अध्ययन का फल अर्थ का ज्ञान है। अध्ययन का व्रत लेकर भी जिसने अर्थ को नहीं जाना, या जानने का सचाई से कभी प्रयत्न नहीं किया, या प्रयत्न करता हुआ भी जो अपने संकल्प को विजयी नहीं बना सका, उस अधीती के लिये शोक है। अर्थ का साक्षात्कार ज्ञान का सार और साहित्य का अन्तिम फल है। हे मनीषियो! मन से इस अर्थ को पूछो और रस के दिव्य स्वाद को प्राप्त करो।

गांधीजी का पेट

मूल लेखक—चुआङ्-युन

[मूल चीनी से शान्ति भिक्षु द्वारा अनुवादित]

जन भीत-भीत अति

स्तालिन-पुरी पर—

कम्पिता धरित्री के हृदयपर—

हो रहा है, क्रूर घात-प्रतिघात !

स्तालिन-पुरी स्वतंत्र,

जय-घोष से तुम्हारे मैंने सुना, कि

है इस धरती का हृदय धड़कने लगा।

बूढ़ा वह गान्धी एक दुःख में,

लोग करते थे जब उत्सव का समारम्भ,

किया उसने था तब निज उपवासारम्भ।

उत्सवोत्साह का प्रदर्शन सड़क पर,

मुंह ढांप रोता बूढ़ा रंक गली-मुख पर।

स्तालिन-पुरी है यदि हृदय धरित्री का

गान्धी का तब तो उदर पाक-यंत्र है।

खड़े होंगे कैसे हम !

उछले हृदय क्यों न—कितना ही

जब जलता है पेट खाली शुष्क-ज्वालासे—क्लेशसे

और (हाय,) न्याय की, स्वतंत्रता की, मानकी मनोज्ञ आशा

जगके महान् उन रेडियो के केन्द्रों से—

घोषित हैं केवल दो चार बूंद नीबूरस—

कोरे जलबीच, (जिसे गान्धी हाय पीता है ।)

पश्चिम की ओर मुंह किए हम ताकते हैं

उठता जहां से है प्रकाश !

हरे खेत पुश्किन के, शेली और बायरन के जलधि दुरवगाह

निर्निमेष देखता हूं होकर समुत्सुक मैं

आशा हूं लगाए कि

हमारी इस प्राची की निगाह में प्रतीची सा प्रकाश हो।

मामूली लड़की

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

[गद्य कविता का हिंदी रूपान्तर]

मैं अंतःपुर की लड़की हूँ,—

तुम मुझे नहीं पहचानेगे ।

तुम्हारी आखिरी कहानी की पुस्तक मैंने पढ़ी है, शरत्‌बाबू,*

"बासी फूलों की माला ।"—

तुम्हारी नायिका एलोकेशी को मरण-दशा प्राप्त हुई थी

पैंतीस वर्ष की उमर में ।

पच्चीस वर्ष की उमर के साथ उसकी तनातनी थी

देखती हूँ तुम महाशय व्यक्ति हो,

जिता दिया है उसे ।

अपनी बात बताऊँ ।

उमर मेरी थोड़ी ही है ।

किसी एक के मन को स्पर्श किया था

मेरी इस कच्ची उमर की माया ने ।

यही जानकर मेरा शरीर पुलकित होता था,—

मैं भूल ही गई थी कि मैं एक मामूली लड़की हूँ ।

मेरी तरह ऐसी हज़ार हज़ार लड़कियां हैं

बारी उमर का मंत्र उनके यौवन में ।

दुहाई है

एक मामूली लड़की की कहानी लिखो

---

* बंगाल के प्रसिद्ध औपन्यासिक स्वर्गीय शरत्‌चंद्र चट्टोपाध्याय ।

बड़ा दुःख है उसे ।

उसके भी स्वभाव की गहराई में

कहीं अगर कोई असाधारण बात छिपी हो,

किस प्रकार वह प्रमाणित करेगी उसे,

ऐसे कितने हैं जो उसे परख सकें ।

उनकी आँखों में कच्ची उमर का जादू लगता है

सत्य की तलाश में उनका मन नहीं जाता

हम बिक जाती हैं मरीचिका के दामों ।

बात क्यों उठी, बताती हूँ ।

मानलो उसका नाम नरेश है

उसने कहा था कि मेरी जैसी कोई उसकी आँखों नहीं पड़ी

इतनी बड़ी बात विश्वास करूं, ऐसा साहस नहीं है

न करूं, ऐसा ज़ोर कहाँ है ।

एक दिन वह गया विलायत को ।

कभी कभी चिठ्ठी-पत्री मिल भी जाती थी मुझे ।

मन ही मन सोचती, राम राम, इतनी लड़कियां हैं उस देश में,

इतनी उनकी ठेलमठेल भीड़ ।

और फि क्या सभी असाधारण हैं

इतनी बुद्धि, इतनी उज्ज्वलता ।

और उन सबने ही क्या आविष्कार किया है एक नरेश सेन को

स्वदेश में जिसका परिचय दस जनों में दबा था ।

पिछली मेल की चिठ्ठी में उसने लिखा है, लीजी के साथ समुद्र

में नहाने गया था ।

बंगाली कवि की कविता की कई लाइनें उद्धृत कर दी हैं

वही, जिसमें उर्व्वशी उठती है समुद्र से ।

इसके बाद बालू पर बैठ गए

एक दूसरे के बगल में,—

सामने हिल रही हैं नील समुद्र की तरंगें,

आकाश में फैला हुआ है निर्मल सूर्यालोक

लीजी ने उससे खूब धीरे धीरे कहा,

"यही तो उस दिन तुम आए,

दो दिन बाद चले जाओगे

सीपी के दो पर्दे,

बीच में भरा रहने दो

एक ठोस अश्रु-बिंदु से,—

दुर्लभ मूल्यहीन।"

बात कहने का कैसा असाधारण ढंग है।

उसीके साथ नरेश ने लिखा है

"बातें यदि बनाई हुई हों तौभी दोष क्या है

लेकिन है चमत्कार—

हीरा जड़ा सोने का फूल क्या सत्य है

तो भी क्या सत्य नहीं है।"

समझ ही तो सकते हो

एक तुलना का इशारा

उसकी चिट्ठी में एक अदृश्य कांटे की तरह

मेरे हृदय में चुभो कर बता देता है—

मैं एक अत्यंत मामूली लड़की हूं।

मूल्यवान् को पूरा मूल्य चुका दूं

ऐसा धन तो मेरे हाथ में नहीं है।

अजी न हो यही सही,
न हो मैं सारे जीवन ऋणी ही बनी रही ।
पैरों पड़ती हूँ एक कहानी लिखो तुम शरत् बाबू,
अत्यन्त मामूली लड़की की कहानी,—
जिस अभागिनी को दूरसे मुकाबला करना होता है
अन्ततः पांच सात असामान्याओं के साथ—
अर्थात् सप्तरथिनी की मार ।
समझ गई हूं मेरा भाग्य खोटा है
हार हुई है मेरी ।

किंतु तुम जिसकी कहानी लिखोगे,
उसे जिता देना मेरी ओर से,
पढ़ते पढ़ते, ऐसा हो कि, छाती फूल उठे ।
फूल चंदन पड़े तुम्हारी कलम के मुंह में
उसे नाम देना मालती ।

वह नाम मेरा है ।
पकड़ जाने का कोई डर नहीं है ;
ऐसी अनेक मालतियां हैं इस बंगाल में,
वे सभी मामूली लड़कियां हैं,
वे फ्रेंच जर्मन नहीं जानतीं
रोना जानती हैं ।

कैसे जिता दोगे ।
उच्च है तुम्हारा मन, महीयसी है तुम्हारी लेखनी
खूब संभव तुम उसे त्याग के रास्ते ले जाओगे
दुःख के चरम बिंदु पर,
शकुंतला की तरह ।
दया करो मेरे ऊपर ।
उतर जाओ मेरे धरातल पर ।

बिछौने पर सोई हुई रात के अन्धकार में
देवता के निकट जो असंभव वर मांगती हूं—
वह वर मैं नहीं पाऊंगी,
किन्तु ऐसा करना कि तुम्हारी नायिका को वह मिले।
रहने दो ना नरेश को सात वर्ष लंडन में,
बार बार वह फेल हो अपनी परीक्षा में,
रहने दो आदर के साथ उसे अपनी उपासिका मंडली में।
इसी बीच मालती एम. ए. पास करे,
कलकत्ता विश्वविद्यालय से,
होने दो उसे गणित में प्रथम तुम्हारी कलम की एक खरोंच से।

किन्तु वहीं यदि रुकते हो
तो तुम्हारे साहित्य सम्राट नाम को धब्बा लगेगा।
मेरी दशा जो भी हो
तुम अपनी कल्पना को छोटी मत बनाओ
तुम तो विधाता की भांति कृपण नहीं हो।

लड़की को भेज दो यूरोप में।
वहां जो लोग ज्ञानी हैं,
विद्वान हैं, वीर हैं
जो कवि हैं, जो शिल्पी हैं, जो राजा हैं,
वे दल बांधकर उसके इर्द गिर्द इकट्ठे हों।

ज्योतिर्विद् की भांति वे आविष्कार करें उसे
सिर्फ विदुषी जान कर नहीं,
नारी जानकर।

उसमें जो विश्वविजयी जादू है
वह रहस्य प्रकट होवे,
मूढ़ों के देश में नहीं

उस देश में जहां समझदार हैं, मर्मज्ञ हैं,
जहां अंग्रेज हैं, फ्रेंच हैं, जर्मन हैं।

मालती के सम्मान के लिये क्यों न एक सभा बुलवाई जाय,—
बड़े बड़े नामी गरामी लोगों की सभा।
मान लिया जाय वहां मूसलाधार खुशामद
की वर्षा हो रही है,
और बीच में से वह लापर्वाही के साथ चली है—
तरंगों पर से चला करती है जिसप्रकार पालवाली नाव।
उसकी आंखें देखकर वे कानाफूंसी कर रहे हैं,
सभी कह रहे हैं, भारतवर्ष का सजल मेघ
और उज्ज्वल धूप
दोनों ही मिले हुए हैं इसकी मोहिनी दृष्टि में।
(यहीं जनान्तिक में कह रखूं,
सृष्टिकर्ता का प्रसाद सचमुच मेरी आंखों में है।
अपने ही मुंह अपनी बात कहनी पड़ी, लाचारी है,
आज भी किसी यूरोपीय रसज्ञ का
साक्षात्कार भाग्य को नसीब नहीं हुआ।)
नरेश आकर खड़ा हो उसी कोने में,
और खड़ा हो उसकी असाधारण लड़कियों का दल।
और इसके बाद ?
इसके बाद 'बनिया की बेटी रतनी
मोर कहानिया एतनो'
मेरा सपना खतम हुआ।
हाय रे मामूली लड़की,
हाय रे विधाता की शक्ति का अपव्यय॥

(अनु०—क्षो० शा०)

प्रस्तावित हिन्दी विश्वविद्यालय

हजारीप्रसाद द्विवेदी

"मैं अपनी प्यासी मातृभाषा की तरफसे, अपने ही देश के विश्वविद्यालय के द्वार पर खड़ा, चातक की तरह उत्कंठित वेदना के साथ प्रार्थना करता हूं।—तुम्हारे अभ्रभेदी शिखर को घेरे हुए जो पुंज के पुंज श्यामल मेघ घूम फिर रहे हैं, उनका प्रसाद आज फलों और शस्यों पर बरसने दो ; पुष्प और पल्लवों से पृथ्वी सुन्दर हो उठे, मातृभाषा का अपमान दूर हो, युगशिक्षा की उमड़ती हुई धारा हमारे चिन्ता की सूखी नदी के रीते मार्ग से बाढ़ की तरह बह निकले, दोनों तट पूर्ण चेतना से जाग उठें, घाट घाट पर आनन्दध्वनि मुखरित हो उठे।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ऊपर का वाक्य स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में व्याख्यान देते हुए कहा था। इन वाक्यों में वृद्ध कवि की वेदना मूर्तिमान हो उठी है। किसी देश के बालक को उसीकी मातृभाषा में शिक्षा देनी चाहिए यह अत्यन्त सहज बात भी अवस्था दुर्विपाक से आज बड़े बड़े शिक्षित और विद्वान् कहे जानेवाले व्यक्तियों के दिमाग में नहीं आती। हमारे विश्वविद्यालयों में शिक्षा के प्रसार के लिये विराट आयोजन हैं परवे सभी विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा बांटते हैं। देशी भाषाएं इन विश्वविद्यालयों में उपेक्षित रही हैं। यह राष्ट्रीय अपमान विद्वान लोग दीर्घकाल से सहते आ रहे हैं ; कभी इस स्थान पर तो कभी उस स्थान पर विश्वविद्यालयों के उपाधि-वितरण के अवसर पर देशी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बना देने की आवाज उठाई जाती है और उक्त वक्ता के इस साहस पूर्ण सुझाव पर उल्लास भी प्रकट कर लिया जाता है पर सब मिलाकर इस दिशा में व्यावहारिक रूप में अग्रसर होने का प्रयत्न बहुत कम किया जाता है। ऐसे समय महामान्य श्रीमान् ग्वालियर-नरेश की छत्र-छाया में देशी भाषा के माध्यम से विश्वविद्यालय संचालित करने का उत्साहवर्धक समाचार मिला है। देशी राज्यों के शासकों से जो आशा जनसाधारण दीर्घकाल से लगाए हुए है उसके अनुरूप ही यह समाचार है। शिक्षा और ज्ञान को सहज सुलभ और ग्राह्य बनाने का यह सर्वोत्तम उपाय है। हम इस शुभसंवाद का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

इस देश में अंग्रेजी भाषा ने हमारे शिक्षित और विद्यावान् व्यक्तियों को भी बुरी तरह अभिभूत कर रखा है। वे अंग्रेजों जैसी अंग्रेजी बोलने में जितनी शक्ति लगाते हैं वह

बिल्कुल ही बेकार जाती है। इन पंक्तियों के लेखक को अनेक विदेशी विद्वानों के संसर्ग में आने का अवसर मिला है। उनमें से अधिकांश अपने ही देश की भाषा के माध्यम से शिक्षित हुए हैं और उनकी विद्या का लोहा देश में और विदेश में सर्वत्र माना गया है। उनमें अंग्रेजी बोलने की शक्ति भी होती है पर उसमें गलती होने को लज्जाका कारण वे नहीं मानते और न अंग्रेजों की भांति अंग्रजी बोलने का थोथा पागलपन ही उन्हें ग्रसे हुए है। फिर भी वे सम्मान्य हो सके हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है :

"अन्य स्वाधीन देशों के साथ हमारा एक जबरदस्त अन्तर है। वहाँ, शिक्षा की पूर्णता के लिये जो-कोई उसकी जरूरत समझते हैं, वे ही विदेशी भाषा सीखते हैं। परंतु विद्या के लिये जितना सीखना आवश्यक है, उससे ज्यादा न भी सीखें, तो उनका काम चल जाता है। क्योंकि उनके देश का सारा काम ही अपनी भाषा में होता है। जो हमपर शासन करते हैं, वे हमारी भाषा सीखने, कम-से-कम पर्याप्त रूप से सीखने के लिये बाध्य नहीं हैं। पर्वतराज हिलने के नहीं, लिहाजा मनुष्य को ही जरूरत की गरज से पर्वत की ओर जाना पड़ता है। अंग्रेजी भाषा सिर्फ हमें जाननी ही होगी, सो बात नहीं, उसका व्यवहार भी करना होगा। वह व्यवहार विदेशी आदर्श के अनुसार जितना ही निर्दोष होगा, उसीके नाम पर स्वदेशियों और अधिकारियों के दरबार में हमारा समादर होगा। मैं एक अंग्रेज मजिष्ट्रेट को जानता हूं ; वे आसानी से बंगला पढ़ सकते थे। बंगला साहित्य में उनकी रुचि की प्रशंसा करूँगा ही। कारण, रवीन्द्रनाथ की रचना वे पढ़ते थे और पढ़कर आनंद पाते थे। एक बार ग्रामवासियों की एक सभा में वे उपस्थित थे। ग्राम-हितैषी वक्ताओं में से जिनको जो कुछ कहना था, कह चुकने पर मजिष्ट्रेट को ऐसा मालूम हुआ कि गांव के लोगों को बंगला में कुछ कहना उनका भी कर्तव्य है। किसी प्रकार से दस मिनट तक उन्होंने अपना कर्तव्य पालन किया था। गाँव के लोगों ने घर लौटकर अपने घरवालों से कहा कि वे अभी हाल साहब का अंग्रेजी लेक्चर सुनकर आरहे हैं! पराई भाषा व्यवहार के विषयमें, विदेशियों से बहुत ज्यादा आशा न करनेपर भी, उससे उनका असम्मान नहीं होता। मजिष्ट्रेट खुद ही जानते थे कि उनकी बंगलाभाषा ऐसी नहीं है कि गौड़ लोग आनंदपूर्वक उसका अच्छी तरह अर्थ समझ सकें। इसपर वे खुद हंसे भी थे। हम होते, तो किसी भी तरह हंस नहीं सकते थे ; पृथिवी से प्रार्थना करते कि फट पड़ो धरणी, उसमें समा जाँय। अंग्रेजी के विषय में हमारी विदेशिता की कैफियत अपने और पराये किसी भी समाज में मंजूर नहीं होगी। एक दिन मैंने विश्वविख्यात तत्त्वज्ञानी अयकेन का अंग्रेजी भाषण सुना था। आशा है, इस बात को कोई अत्युक्ति न समझेंगे कि अंग्रेजी सुनकर मैं उसे समझ सकता हूं—बशर्तें कि वह अंग्रेजी ही हो।

किंतु अयकेन की अंग्रेजी सुनकर मैं गोरखधंधे में पड़ गया था। इस बारे में अयकेन की कोई अवज्ञा नहीं कर सका था। परंतु यही दशा अगर हमारी होती, तो क्या होता, उसकी कल्पना करने से हमारे कान तक सुर्ख हो उठते हैं। जबतक हमें अत्यावश्यक की अपेक्षा अतिरिक्त को ही बड़ा मानकर चलना होगा, तबतक अंग्रेजीभाषा के ठोक-पीटकर बनाए गए विश्वविद्यालय का विजातीय भार, आदि से अंत तक, ढोना हमारे लिये अनिवार्य ही है। क्योंकि हमारे अंदर इतना साहस ही नहीं कि हम मान लें कि अच्छी तरह मातृभाषा सीखने पर ही हमें अंग्रेजी सीखने में सहायता मिल सकती है।"

लेकिन सिर्फ भाषा का माध्यम हो जाना ही पर्याप्त नहीं है। शिक्षा को स्वाभाविक बनाना भी विश्वविद्यालय का कर्तव्य है। केवल पाठ्यपुस्तकों की भरमार कर देने से विद्या नहीं आती। इस देश के विश्वविद्यालयों में पाठ्यतालिका बढ़ाने की होड़-सी मची हुई है। पाठ्यपुस्तकों की प्रचुरता से ऊँचे स्टैंडर्ड का दावा करना विद्वज्जनोचित विवेक नहीं है। केवल पुस्तकें पढ़ाना शिक्षा का उद्देश्य नहीं है। आदमी बनाना ही बड़ी बात है। रवीन्द्रनाथ ने एकबार लिखा था :

"हमारे जीवन की दीवार जिस जगह खड़ी है उससे सैकड़ों हाथ की दूरी पर हमारी शिक्षा की वृष्टिधारा पड़ती है ऐसी अवस्थामें जो कुछ इस बीच की रुकावटों को दूर कर के हम तक पहुंचता है वह हमारे जीवन की शुष्कता दूर करने के लिये यथेष्ट नहीं है। हम जिस शिक्षा में अपना सारा जन्म व्यतीत करते हैं वह हमें केवल बाबूगिरी या ऐसे ही और किसी व्यवसाय के योग्य बना देती है। इससे अधिक वह हमारी कोई भलाई नहीं करती। जिस संदूक में हम अपने आफिस जानेके कपड़े घड़ी सजा करके रख देते हैं उसी संदूक में हम अपनी सारी विद्या भी उठाकर रख देते हैं, आठ पहर के दैनिक जीवन में हम उसका कोई उपयोग नहीं करते। यह सब वर्त्तमान शिक्षा प्रणाली की कृपा है। इसके लिये छात्रों को दोष देना अन्याय है, क्योंकि उनका ग्रन्थ-जगत् एक प्रान्त में रहता है और निवास-जगत् दूसरे प्रान्त में, बीच में केवल व्याकरण और कोश का एक पुल रहता है।"

विभिन्न देश के विश्वविद्यालयों के विकास में एक बात सामान्य रूप से पाई जाती है। सभी विश्वविद्यालय अपनी आवश्यकताओं के अनुसार विकसित होते हुए अपने नियमों और उपनियमों में संशोधन परिवर्धन और परिहार करते आए हैं। बौद्ध संघ के इस प्रकार के विकास की कहानी बड़े मनोरंजक रूप में सुरक्षित है। यही स्वाभाविक नियम और उपनियम् विश्व-विद्यालय की अनुश्रुति के रूप में चलते रहते हैं। दुर्भाग्यवश इस देश में उल्टा कायदा चलाया गया है। विश्वविद्यालयों के नियम उपनियम पहले से ही बने बनाए रहते हैं, उनमें से कितने ही

इस देश की आबहवा से एकदम संबद्ध नहीं हैं। उन्हीं नियमों के सांचे में विश्वविद्यालय को ढलना पड़ता है। यह अस्वाभाविक व्यवस्था उन जड़ संस्कारों और मिथ्या पदलोभों के लिये जिम्मेवार है जो विश्वविद्यालयों को भी दलबंदी का अखाड़ा बनाए हुए है। उस पवित्र विद्या-क्षेत्र में जो मानसिक और बौद्धिक पवित्रता आवश्यक है वह अनेक क्षेत्रों में कुंठित हो जाती है। नियम और उपनियम, कमेटियाँ और पदमर्यादा प्रधान हो जाते हैं और विद्या और तपस्या गौण। होना यह चाहिए कि विश्वविद्यालय अपने भीतर से ही अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप व्यक्ति पैदा करें और आवश्यकताओं का ध्यान रखकर ही नियमादि निश्चित करें परन्तु होता उल्टा है। व्यक्ति भी बाहर से आते हैं और नियम भी। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बड़ी बड़ी शिक्षण संस्थाओं के लिये दो प्रकार के आदमी अवश्य ही प्रयोजनीय होंगे। पहले वे जो व्यवस्थापन और नियमन में कुशल हों और दूसरे वे जो विद्या-वितरण और अध्यापन के उपयुक्त अधिकारी हों। दूसरी श्रेणी के व्यक्ति विश्वविद्यालय के प्राण हैं। उनकी मर्यादा प्रधान रूप से स्थापित होनी चाहिए। पहली श्रेणी के व्यक्ति चूंकि विश्वविद्यालय के व्यवस्थापक और नियामक होते हैं इसलिये उनका विद्या और ज्ञान की प्रगति का जानकार होना आवश्यक है, परन्तु व्यवस्थापक होने से ही कोई विद्या का पारदर्शी नहीं हो जाता, यह बात उन्हें माननी चाहिए। इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों को विश्वविद्यालय अपने भीतर से उत्पन्न जब तक नहीं करने लगता तब तक उसकी अनुश्रुति ठीक ठीक पालित नहीं हो सकती।

विश्वविद्यालयों की आवश्यकताएं क्या हैं? विश्वविद्यालय जब किसी स्थान पर स्थापित किया जाता है तो संस्थापकों के मन में उस स्थान की कुछ आवश्यकताओं की ओर ज़रूर दृष्टि रहती है जिन्हें उस विश्वविद्यालय को पूरा करना है। अबतक के दृष्टान्तों से ऐसा जान पड़ता है कि विश्वविद्यालयों की स्थापना करनेवालों के चित्र में शिक्षा प्रसार की धुन रही है परन्तु शिक्षा कैसी हो, इस बात में वे अपने पूर्ववर्ती विश्वविद्यालयों को आदर्श मानते चले आए हैं। फल यह हुआ है कि लगभग एक ही तरह की शिक्षा प्रत्येक विश्वविद्यालय बाँट रहा है। इसका दुष्परिणाम प्रत्यक्ष है। उपाधियों की मुहर लगाए हजारों युवक बेकार हो रहे हैं, सभी एक ही तरह की शिक्षा पाए हुए एक ही प्रकार के काम में ठेलमठेल भीड़ किए हुए एक ही प्रकार की हतोत्साहिता से परेशान हैं। वस्तुतः विश्वविद्यालयों में यदि अपनी अपनी अलग विशेषताएं न हों तो इतने विश्वविद्यालय स्थापित करने का प्रयत्न व्यर्थ है। एक ही केंद्रीय विश्वविद्यालय काफ़ी होगा। हमारे देश का समाज भी एक जीवित वस्तु है, उसके भी भाषा है, धर्म है, विश्वास है, गति-मति है, आर्थिक प्रयोजन है इत्यादि बातें हम भूल जाते हैं। स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार कहा था कि विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करनेवाले लोग "यह बात

सोचते भी नहीं कि एक बड़ा भारी जन संप्रदाय अलक्ष्य गति से बिना किसी तरह की आहट किए हुए चल रहा है। यदि हम लोग अवज्ञा करके उसकी ओर नहीं देखते तो क्या वह हमारे दृष्टिपात के लिये स्थिर होकर बैठा रहेगा? नहीं, नये ज़माने की नई शक्ति उसके बीच में परिवर्तन का काम बराबर कर रही है। वह परिवर्तन किस रास्ते जा रहा है और कौन कौन रूप धारण कर रहा है इसे जाने बिना देश का जानना नहीं होता। यह हम नहीं कहते कि केवल देश को जान लेना ही अन्तिम लक्ष्य है; परन्तु यह अवश्य कहेंगे कि चाहे जिस जगह हो, जनसाधारण में जो कुछ क्रियाएं और प्रतिक्रियाएं चलती हैं, उन्हें अच्छी तरह जानने में ही एक बड़ी भारी सार्थकता है और पुस्तक को छोड़कर सजीव मनुष्य को प्रत्यक्ष पढ़ने की चेष्टा में ही एक शिक्षा है। उससे केवल जानना ही नहीं होता किन्तु जानने की शक्ति का एक ऐसा विकास होता है जो किसी भी क्लास में पढ़ने से नहीं हो सकता।'

यह जो प्रत्यक्ष मनुष्य का पढ़ना है वही बड़ी बात है। हमारी शिक्षा का अधिक भाग जिन सब दृष्टान्तों का आश्रय लेता है वे हमारे सामने नहीं आते। हमारा इतिहास पढ़ना तब तक व्यर्थ है जब तक हम उसे उस जीवन्त मानव-प्रवाह के साथ एक करके न देख सकें। हमारे देश का इतिहास—यदि सचमुच ही वह हमारे देश का है—आज भी निश्चय ही हमारे घरों में गांवों में जातियों में खँड़हरों में और इस देश के ज़र्रे ज़र्रे में अपना चिन्ह छोड़ गया है। जब तक देश के इन प्रत्येक कारणों से हमारा प्रत्यक्ष संबंध नहीं स्थापित होता तब तक हम इतिहास का वास्तविक ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकेंगे। हमारे भिन्न भिन्न प्रान्तों में अवस्थित विश्वविद्यालयों को अपनी उच्च अट्टालिका से नीचे उतरकर इस प्रदेश के इर्द-गिर्द फैले हुए विशाल जनसमूह, विस्तृत भूखण्ड और सजीव चिन्ता-प्रवाह को ही प्रधान पाठ्यपुस्तक बनाना होगा। पुस्तकें इसी महाग्रंथ को समझाने का साधन मानी जानी चाहिए। नोटों और कुंजियों को उत्पन्न करनेवाली मनोवृत्ति का निर्दयतापूर्वक गला घोंट देना चाहिए।" हम लोग नृतत्त्व (एथनोलाजी) के ग्रंथ न पढ़ते हों सो बात नहीं है, किन्तु जब हम देखते हैं कि ग्रंथ पढ़ने के कारण हमारे घरों के निकट जो चमार धीवर कोरी कुम्हार आदि रहते हैं उनका पूरा परिचय पाने के लिये हमारे हृदयों में जरा भी उत्सुकता नहीं उत्पन्न होती तब अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि पुस्तकों के संबंध में हमें कितना औंधा विश्वास हो गया है—पुस्तकों को हम कितना बड़ा समझते हैं और पुस्तकें वस्तुतः जिनकी छापा हैं उनको कितना तुच्छ मानते हैं! हमें पं० बनारसीदास जी के इस सुझाव से बड़ी प्रसन्नता हुई कि ग्वालियर में जो विश्वविद्यालय बने उसका एक प्रधान लक्ष्य आसपास की भाषा संस्कृति और सभ्यता का अध्ययन हो। यही वह वस्तु है जिसे रवीन्द्रनाथ ने मनुष्य के साथ प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करना कहा है और यही वह मूल सत्य है पुस्तकें जिनकी छापा हुआ

करती हैं। ग्वालियर के प्रस्तावित विश्वविद्यालय को दृढ़तापूर्वक इस जीवन्त ग्रन्थागार पर आस्था रखकर कार्य आरंभ करना चाहिए।

विद्या के क्षेत्र में 'सेकेंड हैंड' ज्ञान की प्रधानता स्थापित होना वाञ्छनीय नहीं है। दुर्भाग्यवश अपने देश में ऐसे ही ज्ञान की प्रधानता स्थापित हो गई है। प्रस्तावित विश्वविद्यालयों को यदि सचमुच कुछ नया करना है तो उसे बड़े विकट प्रयास करने पड़ेंगे। समूचे देश के मस्तिष्क में जो जड़ संस्कार पैदा कर दिए गए हैं उन से जूझना पड़ेगा। इसका संयमन तभी हो सकता है जब विद्यायतन दृढ़ होकर प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रसर हों। जिन तरुण मस्तिष्कों पर ज्ञान का संस्कार जमाना है उनको रूढ़िमुक्त करने के लिये गुरुजनों का प्रथम और प्रधान कर्तव्य यह है कि वे पुस्तकों का रोब गालिब न होने दें। विश्वविद्यालय का प्रधान कर्तव्य है बुद्धि को मोहमुक्त करना, ज्ञान को सहज ग्राह्य बनाना और समूची जातिको उद्‌बुद्ध करना, ग्वालियर का प्रस्तावित विश्वविद्यालय इस महान् आदर्श को लेकर ही अपना कार्य शुरू करे तो कल्याण की वर्षा कर सकेगा। मातृभाषा को शिक्षा का वाहन करने के संकल्प की यह युक्तिसंगत परिणति है। मातृभाषा को माध्यम बनाने का अर्थ ही है रटन्त बोली से मुक्ति, प्रत्यक्ष ज्ञान से संबंध और पुस्तकी विद्या से छुटकारा। इससे छोटा अर्थ करना अनुचित होगा। अन्त में मातृभाषा के वाहन बनाने के संबंध में रवीन्द्रनाथ की वाणी फिर याद कर लें—

मैं कहता हूँ, परिपूर्ण सुयोग (मौका) के लिये सुदीर्घकाल तक प्रतीक्षा न करके कम अर्ज या छोटे पैमाने का काम शुरू कर देना अच्छा—जैसे पौधा लगाया जाता है उसी तरह ; अर्थात् उसमें समग्र वृक्ष का आदर्श है, बढ़ते-बढ़ते दिनों-दिन वह आदर्श सम्पूर्ण हो जायगा। कोई छोटा बच्चा किसी प्रौढ़ व्यक्ति के बगल में खड़ा होता है, तो वह अपनी समग्रता का सम्पूर्ण संकेत लेकर ही खड़ा होता है। ऐसा नहीं कि किसी कोठरी में एक-दो वर्ष तक लड़के के सिर्फ पैर ही बनाए जा रहे हों, और दूसरी में हाथ की कुहनी तक लगा लग चुका हो। इतनी दूरी तक सृष्टिकर्त्ता की सतर्कता नहीं पहुँची। सृष्टि की भूमिका में भी, अपरिणति के होते हुए भी, समग्रता होती है। उसी तरह देशी विश्वविद्यालयों की एक सजीव समग्र शिशुमूर्त्ति देखना चाहता हूँ। वह मूर्त्ति कारखानों में बनी खंड-खंड विभागों की क्रमशः योजना नहीं होगी। पूरी उम्रवाले विद्यालय के पास आकर ही वह खड़ी हो जाय बालक-विद्यालय के रूपमें। उसकी बालक-मूर्त्ति में ही हम देखेंगे उसकी विजयी मूर्त्ति, और देखेंगे उसके ललाट पर राजासन अधिकार का प्रथम टीका।"

अफ्रीका

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

(हिंदी रूपान्तर)

उस उद्भ्रान्त आदिम युग में

जिस समय स्रष्टा अपने प्रति असन्तोष से

नई सृष्टि को बार बार विध्वस्त कर रहे थे,

अधैर्य के कारण बार बार सिर हिला रहे थे,—

उसी दिन

रुद्र समुद्र का बाहु

प्राची धरित्री की छाती से

छीन ले गया तुम्हें, ऐ अफ्रीका,

बांधा उसने तुम्हें, वनस्पति के कठिन पहरे से

कृपण आलोक के अन्तःपुर में

वहां चुपचाप एकान्त फुरसत के समय

तुमने संग्रह किया था दुर्गम का रहस्य,

पहचाना था जल स्थल और आकाश का दुर्बोध संकेत

प्रकृति का दृष्टि-अतीत जादू

मंत्र जगा रहा था चेतनातीत मन में ।

भीषण को तुम चिढ़ा रहे थे

विरूप के छद्मवेश में

शंका को हार मनाना चाहते थे

अपने को उग्र करके विभीषिका की प्रचण्ड महिमा से

ताण्डव के दुन्दुभि निनाद से ।

हाय छायावृता,

काले घूंघट के नीचे

अपरिचित था तुम्हारा मानव-रूप

उपेक्षा की आविल दृष्टि में ।

वे लोहे की हथकड़ी लेकर आए

जिनके नख तुम्हारे भेड़ियों से भी अधिक तीक्ष्ण हैं,

आया मनुष्य—पकड़ने वालों का दल

गर्व से जो अन्धे हैं, तुम्हारे सूर्यहीन अरण्यों से भी अधिक।

सभ्य के बर्बर लोभ ने

नंगा कर दिया अपनी अमानुषिक निर्लज्जता को।

तुम्हारे भाषाहीन क्रन्दन से

वाष्पाकुल वनमार्ग में

पंकिल हो उठी धूलि तुम्हारे रक्त से और आंसू से मिलकर ;

दस्यु-पदों के कांटे-ठुके जूतों के नीचे

वीभत्स कीचड़ का पिन्ड

तुम्हारे अपमानित इतिहास में दीर्घकालीन चिह्न छोड़ गया।

समुद्र के पार उसी समय उनके मुहल्ले-मुहल्ले में

मंदिरों में पूजा का घंटा बज रहा था

सबेरे और संध्यासमय

दयामय देवता के नाम पर ;

बच्चे खेल रहे थे माताओं की गोद में

कवि के संगीत में बज उठी थी

सुंदर की आराधना।

आज जब पश्चिम दिगन्त में

प्रदोषकाल झंझावायु से रुद्धश्वास हो रहा है,

जब गुप्त गह्वरों से पशु निकल आए हैं

अशुभध्वनि ने दिन का अन्तकाल घोषित किया है,

आओ, ऐ युगान्त के कवि,

आसन्न संध्या की अन्तिम रश्मिपात के समय

खड़े हो जाओ उस हृत-माना

मानवी के द्वार पर।

बोलो, क्षमा करो,—

हिंस्र प्रलाप के भीतर

यही हो तुम्हारी सभ्यता की अन्तिम पुण्य-वाणी॥

अपनी बात

द्वितीय वर्ष की समाप्ति

इस अंक के साथ साथ विश्वभारती पत्रिका का द्वितीय अंक समाप्त होता है। यह दूसरा वर्ष अपनी भयंकरता में प्रथम वर्ष से भी अधिक उग्र साबित हुआ है। हमारा देश—विशेष करके वह प्रान्त जहाँ से पत्रिका प्रकाशित होती है—ऐसे भयंकर अकाल का शिकार हुआ है जो इतिहास में शायद अभूतपूर्व कहा जा सकता है। सारे वर्ष अन्नाभाव, मारकाट और हाहाकार का ताण्डव मचा रहा है। आज भी इस विपत्ति का अन्त नहीं हुआ है। हम निश्चयपूर्वक कह नहीं सकते कि इस दुर्दशा का कब अन्त होगा। इस घोर संकट के काल में भी पत्रिका ने अपने लेखकों और पाठकों से अत्यन्त उदारता का व्यवहार पाया है, उसे ऐसे विद्वानों को लेखक और पाठक रूप में पाने का सौभाग्य रहा है जो इस देश के भूषण हैं और ऐसे महापुरुषों की सदिच्छा और आशीर्वाद मिला है जो अटूट भविष्य में संसार को महानाश के ग्रास से मुक्त कर सकेंगे। पत्रिका अपने सभी अनुग्रहीताओं का आभारी है। हम कृतज्ञतापूर्वक सब का अभिनंदन करते हैं।

वर्ष इतना भयंकर क्यों रहा?

निस्सन्देह यह वर्ष इस देश के इतिहास में अत्यन्त भयंकर माना जायगा, पर यह ऐसा क्यों हुआ? आज भी स्थिर हो कर सोचने का अवसर नहीं आया है, क्योंकि अभी भी ऐसे प्रमाण संग्रह नहीं किए जा सके हैं जिन्हें सम्पूर्ण रूप से विश्वसनीय कहा जा सके। परन्तु जहाँ तक मालूम है इस वर्ष ईति-भीति का कोई बड़ा भारी प्रकोप नहीं हुआ। एकाध जगह बाढ़ आई ज़रूर थी और उससे नुकसान भी काफी हुआ था, पर वह नित्य नैमित्तिक व्यापार है। ऐसी बाढ़ें हर साल ही इस देश में आ जाया करती हैं। उनसे समूचे देश में इतना भयंकर अकाल नहीं पड़ा करता। सब मिलाकर दैव को दोष देने का कोई कारण नहीं है फिर भी सहस्र-सहस्र लोग निरन्न निर्वस्त्र हो गए, हजारों बच्चों ने और ततोधिक माताओं, वृद्धों और रोगियों ने मुट्ठी भर अन्न के लिये तरस तरस कर प्राण दे दिए और आज महामारी से गांव के गाँव उजाड़ हो रहे हैं, पकी फ़सल काटने को आदमी नहीं मिल रहे हैं—यह सब क्यों हुआ? अर्थशास्त्र और राजनीति की जटिलताओं को समझने वालों ने इस के नाना कारण बताए हैं, मुद्रास्फीति हुई है, लोभांधता का बोलबाला रहा है, राजकीय अनुशासन पर्याप्त प्रभावशाली नहीं रहा है, भिन्न भिन्न अधिकारियों में मत विरोध रहा है, देश के विचारशील लोगों का सहयोग नहीं प्राप्त

हुआ है और और भी जाने क्या क्या कारण रहे हैं। औसत बुद्धि का आदमी हैरान होकर सोचता है कि क्या बुद्धिमान् कहे जाने वाले लोगों ने इतने दोष इकट्ठे होते देखकर भी समय रहते उन्हें नहीं पहचाना ? यह समझने में देर नहीं लगती कि यह मनुष्यों के जो समय रहते कुछ कर सकते थे—बुद्धिदोष से उत्पन्न नरसंहार है। इसकी जवाबदेही उन्हें इतिहास विधाता के दरबार में देनी पड़ेगी। इस अधिकारी का उस अधिकारी पर किया हुआ दोषारोप मनुष्य को भुलावा देनेका प्रयास है, उच्चतर न्यायालय में यह दोषारोप टिक नहीं सकता। इतिहास की निर्मम अदालत बिल्कुल परवा नहीं करेगी कि कौन भला आदमी कितनी ऊंची कुर्सी पर बैठा था। जो लोग अधिकार पाए हुए हैं वे यह बात याद रखते तो अच्छा होता कि दुनिया यहीं नहीं समाप्त हो जाती। इतिहास दीर्घकाल तक चलता रहेगा। हम केवल आशा कर सकते हैं कि लोग इतिहास से सबक़ सीखते और इस वर्ष की भयंकर प्राणहानि से कुछ अधिक बुद्धिमान और कुछ अधिक शुद्ध हो कर आगे बढ़ते।

मनुष्य को अपनी दुर्बलता का ज्ञान होता।

समुद्र पार के देशों में इस वर्ष अद्‌भुत परिणाम देखने को मिले। हिटलर की योजना विफल हो गई, मुसोलिनी का पतन हो गया और पराजित लाल सेना अद्‌भुत रणकौशल से विजयी के रूप में आगे बढ़ने लगी। जिन दिनों नेतृत्व का दम भरने वाले इन छोटे छोटे दिमागों ने अपनी विश्वविजय की योजना बनाई थी उन दिनों उन्हों ने क्या सोचा था कि मनुष्य से भी बड़ी कोई शक्ति है और व्यक्तियों के इच्छामात्र से ही संसार इशारे पर उठने बैठने नहीं लगता। व्यक्ति कितने भी शक्तिशाली हों, प्रचण्ड कालशक्ति के सामने वे भुनगे के समान नगण्य हैं। कालशक्ति व्यक्तियों को अपनी उद्देश्य-पूर्ति का साधन बनाती है। मदगर्वित सेनानियों की भ्रुकुटियां केवल उनकी मूर्खता का अभिनयमात्र है। वे सेनानी महाकाल के संदेशहर मात्र हैं। क्या ही अच्छा होता कि शक्तिशाली कहे जाने वाले लोग अपनी गर्वोद्धत उक्तियों और कार्यों के पहले एकबार सोच लेते कि वे हजार पाँचसौ अन्य जीवों की भांति स्वयं भी निमित्त मात्र हैं।